ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला : प्राकृत ग्रन्थांक १६

श्रीमद्‌वट्टकेराचार्य प्रणीत

मूलाचार

(श्री वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित
आचारवृत्ति संस्कृत टीका सहित)

सम्पादन
सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री
पं. (डॉ.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

हिन्दी टीकानुवाद
आर्यिकारत्न ज्ञानमतीजी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

द्वितीय संस्करण : १९९२ • मूल्य : ९०/-

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृति में

स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित

एवं

उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्य का अनुसंधानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य-ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक : प्रथम संस्करण

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : १८, इन्सटीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली--११०००३

मुद्रक-नव प्रभात प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा दिल्ली-३२

आवरण शिल्पी : हरिपाल त्यागी

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०, विक्रम सं० २०००, १८ फरवरी १९४४

JNANPITH MURTIDEVI JAINA GRANTHAMALA : Prakrit-grantha No. : 19

SHRI VATTAKERACHARYA'S

MULACHARA

(With Acharavritti, a Sanskrit commentary of
Acharya Vasunandi Sidhantachakravarti)

Edited by

Siddnantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Pt. Jaganmohanlal Shastri
Pt. (Dr.) Pannalal Jain Sahityacharya

Translated by

Venerable Aryikaratna Jnanmatiji

BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

Second Edition : 1992
Price : Rs. 90/-

BHARATIYA JNANAPITH

MURTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

FOUNDED BY

LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MURTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAINA AGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRAMSHA, HINDI, KANNADA, TAMIL, ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES.

ALSO

BEING PUBLISHED ARE

CATALOGUES OF JAINA-BHANDARS, INS. RIPTIONS, STUDIES ON ART AND ARCHITECTURE BY COMPETENT SCHOLARS AND ALSO POPULAR JAIN LITERATURE.

General Editors : First Edition

Siddhantacharya Pt Kailash Chandra Shastri

Dr. Jyoti Prasad Jain

Published by

Bharatiya Jnanpith

Head Office : 18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003

Printed at :

Navprabhat Printing Press, Shahdara, Delhi.

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944

प्रधान सम्पादकीय
(प्रथम संस्करण)

द्वादश अधिकारों में विभक्त प्राकृत भाषा की १२४३ गाथाओं में निबद्ध 'मूलाचार' नामक ग्रन्थराज दिगम्बर आम्नाय में मुनिधर्म के प्रतिपादक शास्त्रों में प्राय: सर्वाधिक प्राचीन तथा सर्वोपरि प्रमाण मान्य किया जाता है। अपने समय में उपलब्ध प्राय: सम्पूर्ण जैन साहित्य का गंभीर आलोडन करने वाले आचार्य वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम सिद्धान्त की अपनी सुप्रसिद्ध 'धवला' टीका (७८० ई०) में उक्त मूलाचार के उद्धरण 'आचारांग' नाम से देकर उसका आगमिक महत्त्व प्रदर्शित किया है। शिवार्य (प्रथम शती ई०) कृत 'भगवती आराधना' की अपराजित सूरि विरचित विजयोदशा टीका (लगभग ७०० ई०) में मूलाचार के कतिपय उद्धरण प्राप्त हैं और यतिवृषभाचार्य (२री शती ई०) कृत 'तिलोयपण्णत्ति' में भी मूलाचार का नामोल्लेख हुआ है। मूलाचार के सर्वप्रथम ज्ञात टीकाकार आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिक (लगभग ११०० ई०) ने अपनी आचारवृत्ति नाम्नी संस्कृत टीका की उत्थानिका में घोषित किया है कि ग्रन्थकार श्री वट्टकेराचार्य ने गणधरदेव रचित श्रुत के आचारांग नामक प्रथम अंग का अल्प क्षमतावाले शिष्यों के हितार्थ बारह अधिकारों में उपसंहार करके उसे मूलाचार का रूप दिया है। इन अधिकारों के प्रतिपाद्य विषय हैं क्रमश:—

मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यान, संक्षेप प्रत्याख्यान, समयाचार, पंचाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति। वस्तुत: प्रथम अधिकार में निर्देशित मुनिपद के अट्ठाईस मूलगुणों का विस्तार ही शेष अधिकारों में किया गया है।

ग्रन्थकर्ता आचार्य वट्टकेर के व्यक्तित्व, कृतित्व, स्थान, समयादि के विषय में स्वयं मूलाचार में, वसुनन्दिकृत आचारवृत्ति में, अथवा अन्यत्र भी कहीं कोई ज्ञातव्य प्राप्त नहीं होते। पं० जुगल किशोर मुख्तार के अनुसार, मूलाचार की कितनी ही ऐसी पुरानी हस्त-लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं जिनमें ग्रन्थकर्ता का नाम 'कुन्दकुन्दाचार्य' दिया हुआ है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये को भी कर्नाटक आदि दक्षिण भारत में ऐसी कई प्रतियाँ देखने में आयी थीं जो कि उन्हें सर्वथा असली (नकली या जाली नहीं) प्रतीत हुई। माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला बम्बई से मूलाचार की जो सटीक प्रति दो भागों में प्रकाशित हुई थी उसकी अन्त्य पुष्पिका—"इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्याय:। कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत-मूलाचाराख्यविवृति:। कृतिरियं वसुनन्दिन: श्रमणस्य' में भी मूलाचार को कुन्दकुन्द-प्रणीत घोषित किया गया है। इसके अति-रिक्त, भाषा-शैली, भाव आदि की दृष्टि से भी कुन्दकुन्द-साहित्य के साथ मूलाचार का अद्भुत साम्य लक्ष्य करके मुख्तार साहब की धारणा हुई कि वट्टकेराचार्य या वट्टेरकाचार्य संस्कृत शब्द 'प्रवर्त्तकाचार्य' का प्राकृत रूप हो सकता है, तथा वह आचार्य कुन्दकुन्द की एक उपयुक्त उपाधि या विरुद रहा हो सकता है, फलत: मूलाचार कुन्दकुन्द की ही कृति है। हमारी

सम्पादकीय

(प्रथम संस्करण)

'प्रवचनसार' के चारित्राधिकार के प्रारम्भ में कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि यदि दुःख से छुटकारा चाहता है तो निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त कर।[1] अनादि कालीन भवभ्रमण से संत्रस्त भव्यप्राणी के लिए कुन्दकुन्दाचार्य की उपर्युक्त देशना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'चारित्तं खलु धम्मो' लिखकर चारित्र को ही धर्म बताया है।[2] और धर्म का अर्थ बतलाया है साम्य परिणाम, और साम्य परिणाम की व्याख्या की है—मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा का साम्य भाव। वास्तव में राग-द्वेष तथा मोह से रहित आत्मा की जो परिणति है वही धर्म कहलाता है और ऐसे धर्म की प्राप्ति होना ही चारित्र है। पञ्च महाव्रत आदि धारणरूप व्यवहार-चारित्र इसी परमार्थ-चारित्र की प्राप्ति होने में साधक होने से चारित्र कहलाता है।

'समयसार' के मोक्षाधिकार के प्रारम्भ में उन्हीं कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जिस प्रकार बन्धन में पड़ा व्यक्ति, बन्धन के कारण और उसकी तीव्र, मन्द, मध्यम अवस्थाओं को जानता हुआ भी जब तक उस बन्धन को काटने का पुरुषार्थ नहीं करता तब तक बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।[3] इसी प्रकार कर्मबन्धन के कारण, उसकी स्थिति तथा अनुभाग के तीव्र, मन्द एवं मध्यमभाव को जानता हुआ भी तब तक कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता जब तक कि उस बन्धन को काटने का पुरुषार्थ नहीं करता। यहाँ पुरुषार्थ से तात्पर्य सम्यक्चारित्र से है। इसके बिना तेतीस सागर प्रमाण दीर्घकाल तक तत्त्वचर्चा करनेवाला सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र, सम्यग्दृष्टि और पदानुरूप सम्यग्ज्ञान के होने पर भी कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, जबकि वहाँ से आकर दैगम्बरी दीक्षा धारण करने के बाद अन्तर्मुहूर्त में भी बन्धन से मुक्त हो सकता है। यह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और समयग्ज्ञान पूर्वक ही होता है, इनके बिना होनेवाला चारित्र मोक्षमार्ग का साधक नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्चारित्र धर्म है, सम्यग्दर्शन उसका मूल है, तथा सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन का सहचर है।

कुन्दकुन्द स्वामी के प्रवचनसार, नियमसार, चारित्रपाहुड, बोधपाहुड तथा भाव पाहुड आदि में भव्य जीव को जो देशना दी है उससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि वे दिगम्बर साधु में रञ्चमात्र भी शैथिल्य को स्वीकृत नहीं करते थे। नव स्थापित श्वेताम्बर संघ के साधुओं में जो विकृतियाँ आयी थीं उनसे दिगम्बर साधु को दूर रखने का उन्होंने बहुत प्रयत्न किया था। विकृत आचरण करनेवाले साधु को उन्होंने नटश्रमण तक कहा है।

---

१. पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२०१॥ प्र. सा.

२. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥ प्र. सा.

३. समयसार, गाथा २८८-२९३

मूलसंघ के साधुओं का जैसा आचरण होना चाहिए, उसका वर्णन मूलाचार में वट्टकेर आचार्य ने किया है। मूल नाम प्रधान का है, साधुओं का प्रमुख आचार कैसा होना चाहिए, इसका दिग्दर्शन ग्रन्थकार ने मूलाचार में किया है। अथवा मूलसंघ भी होता है। मूलसंघ में दीक्षित साधु का आचार कैसा होना चाहिए, इसका दिग्दर्शन ग्रन्थकार ने मूलाचार में किया है। मूलाचार जैन साधुओं के आचार विषय का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह वर्तमान में दिगम्बर साधुओं का आचारांग सूत्र समझा जाता है। इसकी कितनी ही गाथाएँ उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत ही नहीं की हैं अपितु उन्हें अपने अपने ग्रन्थों का प्रकरणानुरूप अंग बना लिया है। दिगम्बर जैन वाङ्मय में मुनियों के आचार का सांगोपांग वर्णन करनेवाला यह प्रथम ग्रन्थ है। इसके बाद मूलाराधना, आचारसार, चारित्रसार, मूलाचारप्रदीप तथा अनगार धर्मामृत आदि जो ग्रन्थ रचे गये हैं उन सबका मूलाधार मूलाचार ही है। यह न केवल चारित्र विषयक ग्रन्थ है अपितु ज्ञान-ध्यान तथा तप में अनुरक्त रहनेवाले साधुओं की ज्ञानवृद्धि में सहायक अनेक विषय इसमें प्रतिपादित किये गये हैं। इसका पर्याप्ति अधिकार करणानुयोग सम्बन्धी अनेक विषयों से परिपूर्ण है।

आचारवृत्ति के कर्ता वसुनन्दी आचार्य ने इसकी संस्कृतटीका में इन सब विषयों को संदृष्टियों द्वारा स्पष्ट किया है। आचारवृत्ति के अनुसार मूलाचार में १२५२ गाथाएँ हैं तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ बारह अधिकारों में विभाजित है। इन अधिकारों के वर्णनीय का निदर्शन, टीका कर्त्री आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी ने अपने 'आद्य उपोद्घात' में किया है। माताजी ने टीका करने के लिए माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित मूलाचार को आधार माना है। साथ ही श्री पं० जिनदास जी शास्त्रीकृत हिन्दी टीका सहित मूलाचार को भी सामने रखा है। इस टीका में जो गाथाएँ परिवर्तित, परिवर्धित या आगे-पीछे हैं उन सबका उल्लेख टिप्पणी में किया है इससे पाठकों को दोनों संस्करणों की विशेषता विदित हो जाती है।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित दोनों भागों की प्रतियों का संशोधन दिल्ली से प्राप्त हस्तलिखित प्रति तथा स्याद्वाद संस्कृत महाविद्यालय में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति से किया गया है तथा उन्हीं प्रतियों के आधार से पाठभेद लिये गये हैं। माताजी ने मूलाचार की पाण्डुलिपि तैयार कर प्रकाशनार्थ भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली को भेजी। ज्ञानपीठ के अध्यक्ष और निदेशक ने पाण्डुलिपि को संशोधित करने के लिए हमारे पास भेजी तथा उसे प्रकाशित करने की सम्मति हम लोगों से चाही। फलतः हम तीनों ने कुण्डलपुर में एकत्रित हो आठ दिन तक टीका का वाचन किया। समुचित साधारण संशोधन तत्काल कर दिये परन्तु कुछ विशेषार्थ के लिए माताजी का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पाण्डुलिपि पुनः माताजी के पास भेजी। माताजी ने संकेतित स्थलों पर विचारकर आवश्यक विशेषार्थ बढ़ाकर पाण्डुलिपि पुनः ज्ञानपीठ को भेज दी। हम लोगों ने माताजी के श्रम और वैदुष्य की श्लाघना करते हुए प्रकाशन के लिए सम्मति दे दी। फलतः भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से इसका प्रकाशन हो रहा है। प्रकाशन दो भागों में नियोजित है। यह प्रथम-भाग पाठकों के समक्ष है।

माताजी ने मूलाचार का अन्तःपरीक्षण तथा विषय-निर्देश करते हुए अपने 'आद्य उपोद्घात' में ग्रन्थ कर्तृत्व पर भी प्रकाश डाला है तथा यह सम्भावना प्रकट की है कि मूलाचार के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य होना चाहिए और इसी सम्भावना पर उन्होंने अपने वक्तव्य में कुन्दकुन्द

स्वामी का जीवन परिचय भी निबद्ध किया है। मूलाचार के कर्ता के विषय में आचारवृत्ति के कर्ता वसुनन्दी आचार्य ने ग्रन्थकर्ता के रूप से वट्टकेराचार्य, वट्टकेर्याचार्य और वट्टेरकाचार्य का नामोल्लेख किया है। पहला रूप टीका के प्रारम्भिक प्रस्तावना-वाक्य में, दूसरा ९वें, १०वें और ११वें अधिकार के सन्धि-वाक्यों में तथा तीसरा ८वें अधिकार के सन्धि-वाक्य में किया है। परन्तु इस नाम के किसी आचार्य का उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियों, पट्टावलियों, शिलालेखों या ग्रन्थ प्रशस्तियों आदि में कहीं भी देखने में नहीं आता। इसलिए इतिहास के विद्वानों के सामने आज भी यह अन्वेषण का विषय है।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित मूलाचार की प्रति के अन्त में यह पुष्पिका वाक्य है—'इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रमणस्य।'

इस पुष्पिका के आधार पर मूलाचार को कुन्दकुन्द रचित माना जाने लगा है परन्तु इसका अभी तक प्रबल युक्तियों द्वारा निर्णय न होने से यह संस्करण वट्टकेराचार्य के नाम से ही प्रकाशित किया जा रहा है।

आचारवृत्ति के कर्ता वसुनन्दी हैं। इस नाम के अनेक आचार्य हुए हैं उनमें से आचारवृत्ति के कर्ता, स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्ये के लेखानुसार (जैनजगत् वर्ष ८ अंक ७), विक्रम की १२वीं शती में हुए। ये अनगार धर्मामृत के रचयिता आशाधर जी से पहले और सुभाषित-रत्नसंदोह आदि ग्रन्थों के कर्ता अमितगति से पीछे हुए हैं। आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में आचारवृत्ति का कई जगह उल्लेख किया है जबकि आचारवृत्ति में अमितगति के 'सुभाषित रत्नसंदोह' तथा 'संस्कृत पंचसंग्रह' के अनेक उदाहरण दिये हैं।

मूलाचार की अनेक गाथाएँ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों में पाई जाती हैं इससे यह स्पष्ट होता है कि कुछ गाथाएँ परम्परा से चली आ रही हैं और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने उन्हें अपने ग्रन्थों में यथास्थान संगृहीत कर अपने ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है।

हमें प्रसन्नता होती है कि कुछ आर्यिकाओं ने आगम ग्रन्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उनकी टीकाएँ लिखना प्रारम्भ किया है। उन आर्यिकाओं के नाम हैं श्री १०५ आर्यिका-रत्न ज्ञानमती माता जी (अष्टसहस्री, नियमसार, कातन्त्ररूपमाला आदि ग्रन्थों की टीकाकार), श्री १०५ आर्यिका विशुद्धमति जी (त्रिलोकसार, त्रिलोकसारदीपक तथा तिलोयपण्णत्ती आदि की टीकाकार), श्री १०५ आर्यिका जिनमति माता जी (प्रमेयकमलमार्तण्ड की टीका-कार), श्री १०५ आर्यिका आदिमति माता जी (गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीकाकार) तथा श्री १०५ सुपार्श्वमति माता जी (सागार धर्मामृत, आचारसार आदि की टीकाकार) आदि। ये माताएँ ज्ञान-ध्यान में तत्पर रहती हुई जैनवाङ्मय की उपासना करती रहें यह आकांक्षा है।

मूलाचार के इस सुन्दर संस्करण को प्रकाशित करने के लिए भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष तथा संचालक धन्यवाद के पात्र हैं। बहुत समय से अप्राप्य इस ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति भारतीय ज्ञानपीठ ने की है।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री
जगन्मोहनलाल शास्त्री
पन्नालाल साहित्याचार्य

आद्य उपोद्‍घात

सकल वाङ्‍मय द्वादशांग रूप है। उसमें सबसे प्रथम अंग का नाम आचारांग है, और यह संपूर्ण श्रुतस्कंध का आधारभूत 'श्रुतस्कंधाधारभूतं'[1] है। समवसरण में भी बारह कोठों में से सर्वप्रथम कोठे में मुनिगण रहते हैं। उनकी प्रमुखता करके भगवान् की दिव्यध्वनि में से प्रथम ही गणधरदेव आचारांग नाम से रचते हैं। इस अंग की १८ हजार प्रमाण पद संख्या मानी गयी है। ग्रन्थकर्ता ने चौदह सौ गाथाओं में इस ग्रन्थ की रचना की है। टीकाकार श्री वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इस ग्रन्थ की बारह हजार श्लोक प्रमाण बृहत् टीका लिखी है।

यह ग्रन्थ १२ अधिकारों में विभाजित है—

१. **मूलगुणाधिकार**—इस अधिकार में मूलगुणों के नाम बतलाकर पुनः प्रत्येक का लक्षण अलग-अलग गाथाओं में बतलाया गया है। अनन्तर इन मूलगुणों को पालन करने से क्या फल प्राप्त होता है यह निर्दिष्ट है। टीकाकार ने मंगलाचरण की टीका में ही कहा है—

"मूलगुणैः शुद्धिस्वरूपं साध्यं, साधनमिदं मूलगुणशास्त्रं"—इन मूलगुणों से आत्मा का शुद्ध-स्वरूप साध्य है, और यह मूलाचार शास्त्र उसके लिए साधन है।

२. **बृहत् प्रत्याख्यान-संस्तरस्तवाधिकार**—इस अधिकार में पापयोग के प्रत्याख्यान-त्याग करने का कथन है। संक्षेप में संन्यासमरण के भेद और उनके लक्षण को भी लिया है।

३. **संक्षेप प्रत्याख्यानाधिकार**—इसमें अति संक्षेप में पापों के त्याग का उपदेश है। दश प्रकार मुण्डन का भी अच्छा वर्णन है।

४. **समाचाराधिकार**—प्रातःकाल से रात्रिपर्यंत—अहोरात्र साधुओं की चर्या का नाम ही समाचार चर्या है। इसके औघिक और पद-विभागी ऐसे दो भेद किये गये हैं। उनमें भी औघिक के १० भेद और पद-विभागी के अनेक भेद किये हैं। इस अधिकार में आजकल के मुनियों को एकलविहारी होने का निषेध किया है। इसमें आर्यिकाओं की चर्या का कथन तथा उनके आचार्य कैसे हों, इस पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है।[2]

५. **पंचाचाराधिकार**—इसमें दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तप आचार और वीर्याचार इन पाँचों आचारों का बहुत ही सुन्दर विवेचन है।

६. **पिंडशुद्धि-अधिकार**—इस अधिकार में उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना,

---

१. प्रारम्भ टीका की पंक्ति।

२. पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो। संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥८३॥
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य। चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥८४॥

प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इन आठ दोषों से रहित पिण्डशुद्धि होती है। उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १०, इस प्रकार ४२ दोष हुए। पुनः संयोजना, प्रमाण, अंगार और धूम ये ४ मिलकर ४६ दोष होते हैं। मुनिजन इन दोषों को टालकर, ३२ अन्तरायों को छोड़कर आहार लेते हैं। किन कारणों से आहार लेते हैं, किन कारणों से छोड़ते हैं इत्यादि का इसमें विस्तार से कथन है।

७. षडावश्यकाधिकार—इसमें 'आवश्यक' शब्द का अर्थ बतलाकर समता, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओं का विस्तार से वर्णन है।

८. द्वादशानुप्रेक्षाधिकार—इसमें बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। लोकानुप्रेक्षा को आचार्य ने छठी अनुप्रेक्षा में लिया है। सप्तम अनुप्रेक्षा का नाम अशुभ अनुप्रेक्षा रखा है और आगे उसी अशुभ का लक्षण किया है। इन अनुप्रेक्षाओं के क्रम का मैंने पहले खुलासा कर दिया है।

९. अनगारभावनाधिकार—इसमें मुनियों की उत्कृष्ट चर्या का वर्णन है। लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर-संस्कार-त्याग, वाक्य, तप और ध्यान सम्बन्धी दश शुद्धियों का अच्छा विवेचन है। तथा अभ्रावकाश आदि योगों का भी वर्णन है।

१०. समयसाराधिकार—इसमें चारित्रशुद्धि के हेतुओं का कथन है। चार प्रकार के लिंग का और दश प्रकार के स्थितिकल्प का भी अच्छा विवेचन है। ये हैं—१. अचेलकत्व, २. अनौद्देशिक, ३. शैयागृहत्याग, ४. राजपिंडत्याग, ५. कृतिकर्म, ६. व्रत, ७. ज्येष्ठता, ८. प्रतिक्रमण, ९. मासस्थिति कल्प और १०. पर्यवस्थितिकल्प है।

११. शीलगुणाधिकार—इसमें १८ हजार शील के भेदों का विस्तार है। तथा ८४ लाख उत्तरगुणों का भी कथन है।

१२. पर्याप्त्यधिकार—जीव की छह पर्याप्तियों को बताकर संसारी जीव के अनेक भेद-प्रभेदों का कथन किया है। क्योंकि जीवों के नाना भेदों को जानकर ही उनकी रक्षा की जा सकती है। अनन्तर कर्म प्रकृतियों के क्षय का विधान है। क्योंकि मूलाचार ग्रन्थ के पढ़ने का फल मूलगुणों को ग्रहण करके अनेक उत्तरगुणों को भी प्राप्त करना है। पुनः तपश्चरण और ध्यान विशेष के द्वारा कर्मों को नष्ट कर देना ही इसके स्वाध्याय का फल है।

यह तो इस ग्रन्थ के १२ अधिकारों का दिग्दर्शन मात्र है। इसमें कितनी विशेषताएँ हैं, वे सब इसके स्वाध्याय से और पुनः पुनः मनन से ही ज्ञात हो सकेंगी। फिर भी उदाहरण के तौर पर दो-चार विशेषताओं का यहाँ उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा—

एकल विहार का निषेध

इस मूलाचार में आचार्य कुन्दकुन्द ने यह बताया है कि कौन से मुनि एकाकी विहार कर सकते हैं—

"जो बारह प्रकार के तपों में तत्पर रहते हैं, द्वादश अंग और चौदह पूर्वरूप श्रुत के ज्ञाता हैं, अथवा काल-क्षेत्र के अनुरूप आगम के वेत्ता हैं और प्रायश्चित्त शास्त्र में कुशल हैं, जिनका शरीर भी बलशाली है, जो शरीर में निर्मोही हैं, और एकत्व भावना को सदा भाते रहते हैं, जिनके सदा शुभ परिणाम रहते हैं, वज्र-वृषभ आदि उत्तमसंहनन होने से जिनकी हड्डियाँ मजबूत हैं, जिनका मनोबल श्रेष्ठ है, जो क्षुधा आदि परीषहों के जीतने में समर्थ हैं, ऐसे महामुनि ही एकल बिहारी हो सकते हैं।"

इससे अतिरिक्त, कौन से मुनि एकल विहारी नहीं हो सकते हैं—"जो स्वच्छन्द गमनागमन करता है, जिसकी उठना, बैठना, सोना आदि प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्द हैं, जो आहार ग्रहण करने में एवं किसी भी वस्तु के उठाने-धरने और बोलने में स्वैर है ऐसा मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे[1]।"

अकेले रहने से हानि क्या है, इसका उल्लेख करते हुए आचार्य लिखते हैं—

"गुरु निन्दा, श्रुत का विच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जड़ता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष हो जाते हैं। और फिर कण्टक, शत्रु, चोर, क्रूर पशु, सर्प, म्लेच्छ मनुष्य आदि से संकट भी आ जाते हैं। रोग, विष आदि से अपघात भी सम्भव है। एकल विहारी साधु के और भी दोष होते हैं—जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उलंघन, अनवस्था—और भी साधुओं का देखा-देखी एकलविहारी हो जाना, मिथ्यात्व का सेवन, अपने सम्यग्दर्शन आदि का विनाश अथवा अपने कार्य—आत्मकल्याण का विनाश, संयम की विराधना आदि दोष भी सम्भव हैं। अतः इस पंचमकाल में साधु को एकलविहारी नहीं होना चाहिए[2]।"

इसी ग्रन्थ के समयसार अधिकार में ऐसे एकलविहारी को 'पापश्रमण' कहा है—"जो आचार्य के कुल को अर्थात् संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है, और उपदेश को नहीं मानता है, वह 'पापश्रमण' कहलाता है[3]।"

संघ में पाँच आधार माने गये हैं—

"आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर। जहाँ ये नहीं हैं, वहाँ नहीं रहना चाहिए। जो शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करते हैं वे आचार्य हैं। जो धर्म का उपदेश देते हैं वे उपाध्याय हैं। जो संघ का प्रवर्तन करते हैं वे प्रवर्तक हैं। जो मर्यादा का उपदेश देते हैं वे स्थविर हैं और जो गण की रक्षा करते हैं वे गणधर हैं।"

"ये मूलगुण और यह जो सामाचार विधि मुनियों के लिए बतलायी गयी है वह सर्वचर्या ही अहोरात्र यथायोग्य आर्यिकाओं को भी करने योग्य है। यथायोग्य यानी उन्हें वृक्षमूल

---

१. सच्छंद गदागदी सयणणिसयणादाणभिक्खबोसरणे।
सच्छंद जंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥१५०॥ समाचाराधिकार।

२. मूलाचार गाथा-४,५,७ समाचाराधिकार।

३. आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दुएगामी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥ समाचाराधिकार

आतापन आदि योग वर्जित किये हैं।" उनके लिए दो साड़ी का तथा बैठकर करपात्र में आहार करने का विधान है।

अच्छे साधु भगवान् हैं

सुस्थित अर्थात् अच्छे साधु को 'भगवान्' संज्ञा दी है—

> भिक्खं वक्कं हियमं साधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
> एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं[1]॥

जो आहार शुद्धि, वचनशुद्धि और मन की शुद्धि को रखते हुए सदा ही चारित्र का पालन करता है, जैनशासन में ऐसे साधु की 'भगवान्' संज्ञा है। अर्थात् ऐसे महामुनि चलते-फिरते भगवान् ही हैं।

मुनियों के अहोरात्र किये जानेवाले कृतिकर्म का भी विवेचन है—

> चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
> पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥६०२॥

अर्थात् चार प्रतिक्रमण में और तीन स्वाध्याय में इस प्रकार सात कृतिकर्म हुए, ऐसे पूर्वाह्न और अपराह्न के चौदह कृतिकर्म होते हैं।

टीकाकार श्री वसुनन्दि आचार्य ने इन कृतिकर्म को स्पष्ट किया है—"पिछली रात्रि में प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म, स्वाध्याय में तीन और देववंदना में दो, सूर्योदय के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्न देववन्दना के दो इस प्रकार पूर्वाह्न सम्बन्धी कृतिकर्म चौदह हो जाते हैं। पुनः अपराह्न वेला में स्वाध्याय के तीन, प्रतिक्रमण के चार, देववन्दना के दो, रात्रियोग ग्रहण सम्बन्धी योगभक्ति का एक और प्रातः रात्रि योग निष्ठापन सम्बन्धी एक ऐसे दो और पूर्व रात्रिक स्वाध्याय के तीन, ये अपराह्न के चौदह कृतिकर्म हो जाते हैं। पूर्वाह्न के समीप काल को पूर्वाह्न और अपराह्न के समीप काल को अपराह्न से शब्द लिया जाता है।"

इस प्रकार मुनियों के अहोरात्र सम्बन्धी २८ कृतिकर्म होते हैं जो अवश्य करणीय हैं। इनका विशेष खुलासा इस प्रकार है—

साधु पिछली रात्रि में उठकर सर्वप्रथम 'अपररात्रिक' स्वाध्याय करते हैं। उसमें स्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रिया में लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्यभक्ति होती हैं। पुनः स्वाध्याय निष्ठापन क्रिया में मात्र लघु श्रुतिभक्ति की जाती है। इसलिए इन तीन भक्ति सम्बन्धी तीन कृतिकर्म होते हैं। पुनः 'रात्रिक प्रतिक्रमण' में चार कृतिकर्म हैं। इसमें सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण-भक्ति, वीरभक्ति और चतुर्विशति तीर्थंकर भक्ति सम्बन्धी चार कृतिकर्म हैं। पुनः रात्रियोग निष्ठापना हेतु योगिभक्ति का एक कृतिकर्म होता है। अनन्तर 'पौर्वाह्निक देववन्दना' में चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति के दो कृतिकर्म होते हैं। इसके बाद पूर्वाह्न के स्वाध्याय में तीन कृति-

---

१. षडावश्यक अधिकार

कर्म, मध्याह्न की देववंदना में दो, पुनः अपराह्न के स्वाध्याय में तीन और दैवसिक प्रतिक्रमण में चार, रात्रियोग प्रतिष्ठापना में योगभक्ति का एक, अनन्तर अपराह्निक देववन्दना के दो और पूर्वरात्रिक स्वाध्याय के तीन कृतिकर्म होते हैं। सब मिलकर २८ कृतिकर्म हो जाते हैं।

अनगार धर्मामृत आदि में भी इस प्रकरण का उल्लेख है। कृतिकर्म की विधि—

> दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव च।
> चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे[1]॥

अर्थात् यथाजात मुनि मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति सहित कृतिकर्म को करे।

इसकी विधि—किसी भी क्रिया के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की जाती है, पुनः पंचांग नमस्कार करके, खड़े होकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके सामायिक दण्डक पढ़ा जाता है, पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके सत्ताइस उच्छ्वास में नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़ते हुए कायोत्सर्ग करके, पुनः पंचांग नमस्कार किया जाता है। पुनः खड़े होकर तीन आवर्त, एक शिरोनति करके जिस भक्ति के लिए प्रतिज्ञा की थी वह भक्ति पढ़ी जाती है। इस तरह एक भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग में प्रतिज्ञा के बाद और कायोत्सर्ग के बाद दो बार पंचांग नमस्कार करने से 'दो प्रणाम' हुए। सामायिक दण्डक के प्रारम्भ और अन्त में तथा थोस्सामि स्तव के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से बारह आवर्त और चार शिरोनति हो गयीं। यह एक कृतिकर्म का लक्षण है, अर्थात् एक कृतिकर्म में इतनी क्रियाएँ करनी होती हैं। इसका प्रयोग इस प्रकार है—

"अथ पौर्वाह्निक देववंदनायां[2]......चैत्यभक्ति[3] कायोत्सर्ग करोम्यहम्"।

यह प्रतिज्ञा करके पंचांग या साष्टांग नमस्कार करना, पुनः खड़े होकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके सामायिक पढ़ना चाहिए, जो इस प्रकार है—

> णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
> णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

> चत्तारि मंगलं—अहरंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंत सरणं पव्वज्जामि सिद्ध सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं पव्वज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

---

१. षडावश्यक अधिकार।
२. जिस क्रिया को करना हो उसका नाम लेवे।
३. जिस भक्ति को पढ़ना हो उसका नाम लेवे।

अड्ढाइज्जदीवदो समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जाव अरहंताणं भयवंताणं आदियराणं तित्थयराणं जिणाणं जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं बुद्धाणं परिणिव्वुदाणं अंतयडाणं पारयडाणं, धम्माइरियाणं धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं धम्मवर चाउरंग चक्क वट्ठाणं देवहिदेवाणं णाणाणं दंसणाणं चरित्ताणं सदा करेमि किरियम्मं। करेमि भंत्ते! सामायियं सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा काएण ण कारेमि कीरंतंपि ण समणुमणामि, तस्स भंत्ते! अइचारं पच्चक्खामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(इतना पढ़कर तीन आवर्त, एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास में ९ बार णमोकार मन्त्र का जाप करके, पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके थोस्सामि स्तव पढ़े।

थोस्सामि स्तव—

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोययरे धम्मतित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चोवीसं चेव केवलिणो ॥२॥

उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥

सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥

कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ॥५॥

एवं मए अभित्थुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चोवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥

कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समहिं च मे बोहिं ॥७॥

चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहियपयासंता।
सायरमिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

(इस पाठ को पढ़कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे, पुनः चैत्यभक्ति या जो भक्ति पढ़नी हो वह पढ़े।)

इस प्रकार यह 'कृतिकर्म' करने की विधि है।

गाथा की छाया

प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया की परम्परा श्री वसुनन्दि आचार्य के समय से तो है

ही, उससे पूर्व से भी हो सकती है। इसके लिए स्वयं वसुनन्दि आचार्य ने लिखा है—

पर्याप्ति अधिकार में "वावीस सत्त तिण्णि य···" ये कुल कोटि की प्रतिपादक चार गाथायें हैं। उनकी टीका में लिखते हैं—

"एतानि गाथासूत्राणि पंचाचारे व्याख्यातानि अतो नेह पुनर्व्याख्यायते पुनरुक्तत्वादिति।
१६६-१६७-१६८-१६९ एतेषां संस्कृतच्छाया अपि तत एव ज्ञेया:।"

इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थकार एक बार ली गयी गाथाओं को आवश्यकतानुसार उसी ग्रन्थ में पुन: भी प्रयुक्त करते रहे हैं।

इसी पर्याप्ति अधिकार में देवियों की आयु के बारे में दो गाथाएँ आयी हैं। यथा—

पंचादी वेहिं जुदा सत्तावीसा य पल्ल देवीणं।
तत्तो सत्तुत्तरिया जावद अरणप्पयं कप्पं ॥७९॥

सौधर्म स्वर्ग में देवियों की उत्कृष्ट आयु ५ पल्य, ईशान में ७ पल्य, सानत्कुमार में ९, माहेन्द्र में ११, ब्रह्म में १३, ब्रह्मोत्तर में १५, लांतव में १७, कापिष्ठ में १९, शुक्र में २१, महाशुक्र में २३, शतार में २५, सहस्रार में २७, आनत में ३४, प्राणत में ४१, आरण में ४८ और अच्युत स्वर्ग में ५५ पल्य है।

दूसरा उपदेश ऐसा है—

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ पण्णपण्णाओ ॥८०॥

सौधर्म, ईशान इन दो स्वर्गों में देवियों की उत्कृष्ट आयु ५ पल्य, सानत्कुमार-माहेन्द्र में १७, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में २५, लांतव-कापिष्ठ में ३५, शुक्र-महाशुक्र में ४०, शतार-सहस्रार में ४५, आनत-प्राणत में ५० और आरण-अच्युत में ५५ पल्य की है।

यहाँ पर टीका में आचार्य वसुनन्दि कहते हैं—

"द्वाप्युपदेशौ ग्राह्यौ सूत्रद्वयोपदेशात्। द्वयोर्मध्य एकेन सत्येन भवितव्यं, नात्र संदेह मिथ्यात्वं, यदर्हत्प्रणीतं तत्सत्यमिति संदेहाभावात्। छद्मस्थैस्तु विवेक: कर्तुं न शक्यतेऽतो मिथ्यात्वभयादेव द्वयोर्ग्रहणमिति[1]।"

ये दोनों ही उपदेश ग्राह्य हैं। क्योंकि सूत्र में दोनों कहे गए हैं।

शंका—दोनों में एक ही सत्य होना चाहिए, अन्यथा संशय मिथ्यात्व हो जायेगा?

समाधान—नहीं, यहाँ संशय मिथ्यात्व नहीं है क्योंकि जो अर्हत देव के द्वारा कहा हुआ है वही सत्य है। इसमें संदेह नहीं है। हम लोग छद्मस्थ हैं। हम लोगों के द्वारा यह विवेक करना शक्य नहीं है कि "इन दोनों में से यह ही सत्य है" इसलिए मिथ्यात्व के भय से दोनों को ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् यदि पहली गाथा के कथन को सत्य कह दिया और था दूसरा सत्य। अथवा दूसरी गाथा को सत्य कह दिया और था पहला सत्य, तो हम मिथ्या-

१. पर्याप्त्यधिकार।

दृष्टि बन जायेंगे। अतएव केवली—श्रुतकेवली के मिलने तक दोनों को ही मानना उचित है।

इस समाधान से टीकाकार आचार्य की पापभीरुता दिखती है। ऐसे ही अनेक प्रकरण धवला टीका में भी आये हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि श्री वसुनन्दि आचार्य ग्रन्थकार की गाथाओं को 'सूत्र' रूप से प्रामाणिक मान रहे हैं।

सर्वप्रथम ग्रन्थ

मुनियों के आचार की प्ररूपणा करनेवाला यह 'मूलाचार' ग्रन्थ सर्वप्रथम ग्रन्थ है। आचारसार, भगवती आराधना, मूलाचारप्रदीप और अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थ इसी के आधार पर इसके बाद ही रचे गए हैं। अनगारधर्मामृत तो टीकाकार वसुनन्दि आचार्य के भी बाद का है। ग्रन्थकर्ता पण्डितप्रवर आशाधरजी ने स्वयं कहा है—

एतच्च भगवद् वसुनन्दि-सैद्धांतदेवपादैराचारटीकायां[1] दुओणदं…इत्यादि।

इस पंक्ति में पण्डित आशाधरजी ने वसुनन्दि को 'भगवान्' और 'सैद्धान्त देवपाद' आदि बहुत ही आदर शब्दों का प्रयोग किया है। क्योंकि वसुनन्दि आचार्य साधारण मुनि न होकर 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' हुए हैं। इस प्रकार से इस मूलाचार के प्रतिपाद्य विषय को बताकर इस ग्रन्थ में आई कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है।

मूलाचार ग्रन्थ

यह मूलाचार ग्रन्थ एक है। इसके टीकाकार दो हैं—१. श्री वसुनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य और २. श्री मेघचन्द्राचार्य।

श्री वसुनन्दि आचार्य पहले हुए हैं या श्री मेघचन्द्राचार्य यह अभी भी विवादास्पद है। श्री वसुनन्दि आचार्य ने संस्कृत में 'आचारवृत्ति' नाम से इस मूलाचार पर टीका रची है और श्री मेघचन्द्राचार्य ने 'मुनिजनचिन्तामणि' नाम से कन्नड़ भाषा में टीका रची है।

श्री वसुनन्दि आचार्य ने ग्रन्थकर्ता का नाम प्रारम्भ में श्री 'वट्टकेराचार्य' दिया है जबकि मेघचन्द्राचार्य ने श्री 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहा है।

आद्योपान्त दोनों ग्रन्थ पढ़ लेने से यह स्पष्ट है कि यह मूलाचार एक ही है। एक ही आचार्य की कृति है, न कि दो हैं या दो आचार्यों की रचनाएँ हैं। गाथाएँ सभी ज्यों की त्यों हैं। हाँ इतना अवश्य है कि वसुनन्दि आचार्य की टीका में गाथाओं की संख्या बारह सौ बावन (१२५२) है जबकि मेघचन्द्राचार्य की टीका में यह संख्या चौदह सौ तीन (१४०३) है।

श्री वसुनन्दि आचार्य अपनी टीका की भूमिका में कहते हैं—

"श्रुतस्कंधाधारभूतमष्टादश-पदसहस्रपरिमाणं, मूलगुण-प्रत्याख्यान-संस्तरस्तवा-राधना-समयाचार-पंचाचार-पिण्डशुद्धि-षडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानगार-भावना-समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्याद्यधिकार-निबद्ध-महार्थगम्भीरलक्षणसिद्ध-पद-

---

१. अनगार धर्मामृत, अध्याय ८, पृ. ६०५।

वाक्य-वर्णोपचितं, घातिकर्म-क्षयोत्पन्न-केवलज्ञान-प्रवुद्धाशेष-गुणपर्यायखचित-षड्द्रव्य-नवपदार्थ-जिनवरोपदिष्टं, द्वादशविधतपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धि-समन्वितं गणधर-देवरचितं, मूलगुणोत्तर-गुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणं प्रवणमाचा-रांगमाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबलमेधायुःशिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तु-कामः स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्री वट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकार-प्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते मूलगुणेस्वित्यादि ।"

इस भूमिका में टीकाकार ने वारह अधिकारों के नाम क्रम से दे दिए हैं। आगे इसी क्रम से उन अधिकारों को लिया है। तथा ग्रन्थकर्ता का नाम 'श्री वट्टकेराचार्य' दिया है।

ग्रन्थ समाप्ति में उन्होंने लिखा है—

"इति श्रीमदाचार्यवर्य - वट्टकेरिप्रणीतमूलाचारे श्रीवसुनन्दि - प्रणीतटीकासहिते द्वादशोऽधिकारः।" स्रग्धरा छन्द में एक श्लोक भी है। और अन्त में दिया है—

"इति मूलाचारविवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्री श्रमणस्य[1]।"

श्री मेघचन्द्राचार्य अपनी कन्नड़ी टीका के प्रारम्भ में लिखते हैं—

वीरं जिनेश्वरं नत्वा मंदप्रज्ञानुरोधतः।
मूलाचारस्य सद्वृत्तिं वक्ष्ये कर्णाटभाषया ॥

परमसंयमोत्कर्षजातातिशयरुं श्रीमदर्हत्प्रणीत-परमागमाम्भोधिपारगरुं, श्री वीर-वर्द्धमानस्वामितीर्थोद्धारकरुं, आर्यनिषव्यरुं, समस्ताचार्यवर्यरुं, मप्पश्री कोण्ड-कुन्दाचार्यरुं, परानुग्रहवुद्धियिं, कालानुरूपमागि चरणानुयोगनं संक्षेपिसि मंदवुद्धि-गलप्प शिष्यसंतानक्के किरिदरोले प्रतीतमप्पंतागि सकलाचारार्थमं निरूपि-सुवाचारग्रन्थमं पेलुत्तवा ग्रन्थदमोदलोलु निर्विघ्नतः शास्त्रसमाप्त्यादि चतुर्विध-फलमेक्षिसि नमस्कार गाथेयं पेलूद पदेंतें दोडे।"

अर्थ—उत्कृष्ट संयम से जिन्हें अतिशय प्राप्त हुआ है, अर्थात् जिनको चारण ऋद्धि की प्राप्ति हुई है, जो अर्हत्प्रणीत परमागम समुद्र के पारगामी हुए हैं, जिन्होंने श्री वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ का उद्धार किया है, जिनकी आर्यजन सेवा करते हैं, जिनको समस्त आचार्यों में श्रेष्ठता प्राप्त हुई है, ऐसे श्री कोण्डकुन्दाचार्य ने परानुग्रहवुद्धि धारण कर कालानुरूप चरणानु-योग का संक्षेप करके मन्दवुद्धि शिष्यों को वोध कराने के लिए सकल आचार के अर्थ को मन में धारण कर यह आचार ग्रन्थ रचा है।

यह प्रारम्भ में भूमिका है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में—"यह मूलाचारग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित है।" ऐसा दिया है। इस ग्रन्थ की टीका के अन्त में भी ऐसा उल्लेख है—

---

१. मूलाचार द्वि. भाग, पृ. ३२४। (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वम्वई)

"एवं मूलगुण-बृहत्प्रत्याख्यान-लघुप्रत्याख्यान-समाचार-पिण्डशुद्ध्यावश्यक-निर्युक्त्य-नगार-भावनानुप्रेक्षा-समाचार-पर्याप्ति-शीलगुणा इत्यन्तर्गत - द्वादशाधिकारस्य मूलाचारस्य सद्वृत्तिः श्रोतृजनान्तर्गतरागद्वेपमोहक्रोधादिदुर्भावकलंकपंकनिरवशेषं निराकृत्य पुनस्तदज्ञानविच्छित्ति सज्ज्ञानोत्पत्तिं प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरणादिकार्यं कुर्वन्ती 'मुनिजनचिन्तामणिसंज्ञेयं' परिसमाप्ता ।

मर्यादया ये विनीताः विशुद्धभावाः सन्तः पठन्ति पाठयन्ति, भावयन्ति च चित्ते ते खलु परमसुखं प्राप्नुवन्ति । ये पुनः पूर्वोक्तमर्यादामतिक्रम्य पठन्ति पाठयन्ति······ भवन्तो निरन्तरमनन्तसंसारं भ्रमन्ति यतस्तत एव परमदिव्येयं भवन्ती—मुनिजन-चिन्तामणिर्या सा श्रोतृचित्तप्रकाशिता ।

मूलाचारस्य सद्वृत्तिरिष्टसिद्धिं करोतु नः ॥

इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है—

मूलगुणादि द्वादश अधिकार युक्त मूलाचार की मुनिजन चिंतामणि नामक टीका समाप्त हुई । श्रोताओं को राग, द्वेषादि कलंकों को दूर करनेवाली और अज्ञान को नष्ट करने वाली, ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली, और प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी से कर्म-निर्जरा आदि कार्य करनेवाली यह 'मुनिजनचिंतामणि' नाम की टीका समाप्त हुई । जो आगम की मर्यादा को पालते हैं, विनीत और विशुद्ध भाव को धारण करते हैं, वे भव्य इस टीका का पठन करते हैं, और पढ़ाते हैं उनको परमसुख प्राप्त होता है । परन्तु जो मर्यादा का उलंघन कर पढ़ते हैं—पढ़ाते हैं, मन में विचारते हैं, वे अनन्त संसार में भ्रमण करते हैं ।

यह मुनिजन चिन्तामणि टीका श्रोताओं के चित्त को प्रकाशित करती है, मूलाचार की यह सद्वृत्ति हमारी इष्ट सिद्धि करे ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह मूलाचार ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्ददेव के द्वारा रचित है ।

संपूर्ण ग्रन्थ बारह अधिकारों में विभाजित है । श्री वट्टकेर आचार्य ने उन अधिकारों के नाम क्रम से दिये हैं—१. मूलगुण, २. वृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव, ३. संक्षेप-प्रत्याख्यान, ४. सामाचार, ५. पंचाचार, ६. पिण्डशुद्धि, ७. षडावश्यक, ८. द्वादशानुप्रेक्षा, ९. अनगारभावना, १०. समयसार, ११. शीलगुण और १२. पर्याप्ति ।

प्रथम अधिकार में कुल ३६ गाथा हैं । आगे क्रम से ७१, १४, ७६, २२२, ८३, १९३, ७६, १२४, १२५, २६ और २०६ हैं । इस तरह कुल गाथायें १२५२ हैं ।

श्री मेघचन्द्राचार्य ने भी ये ही १२ अधिकार माने हैं । अन्तर इतना ही है कि उसमें आठवां अधिकार अनगार भावना है और नवम द्वादशानुप्रेक्षा । ऐसे ही ११वां अधिकार पर्याप्ति है । पुनः १२वें में शीलगुण को लिया है । इसमें गाथाओं की संख्या क्रम से ४५, १०२, १३, ७७, २५१, ७८, २१८, १२८, ७५, १६०, २३७ और २७ हैं ।

कहीं-कहीं यह बात परिलक्षित होती है कि श्री मेघचन्द्राचार्य ने जो गाथायें अधिक ली हैं, वे श्री वसुनन्दि आचार्य को भी मान्य थीं।

षडावश्यक अधिकार में अरहंत नमस्कार की गाथा है। यथा—

> अरहंत णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदि।
> सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५॥

इस गाथा को दोनों टीकाकारों ने अपनी-अपनी टीका में यथास्थान लिया है। आगे सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार की भी ऐसे ही ज्यों की त्यों गाथाएँ हैं। मात्र प्रथम पद अरहंत के स्थान पर सिद्ध, आचार्य आदि बदला है। उन चारों गाथाओं को वसुनन्दि आचार्य ने अपनी टीका में छायारूप से ले लिया है। तथा मेघचन्द्राचार्य ने चारों गाथाओं को ज्यों की त्यों लेकर टीका कर दी। इसलिए ये चार गाथाएँ वहाँ अधिक हो गयीं और वट्टकेर-कृत प्रति में कम हो गयीं। षडावश्यक अधिकार में अरिहंत नमस्कार की एक और गाथा आयी है जिसे मेघचन्द्राचार्य ने इसी प्रकरण में क्रमांक ५ पर ली है जबकि श्री वसुनन्दि आचार्य ने आगे क्रमांक ६५ (प्रस्तुत कृति में गाथा क्र० ५६४) पर ली है। वह गाथा है—

> "अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।
> अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥५६४॥

सिद्ध परमेष्ठी आदि का लक्षण करने के बाद श्री मेघचन्द्राचार्य ने सिद्धो को नमस्कार आदि की जो गाथाएँ ली हैं उनकी ज्यों की त्यों छाया श्री वसुनन्दि आचार्य ने अपनी टीका में ही कर दी है और गाथाएँ नहीं ली हैं। एक उदाहरण देखिए—

> सिद्धाण णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
> सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण[1] ॥६॥

श्री वट्टकेरकृत प्रति में—

> "तस्मात् सिद्धत्वयुक्तानां सिद्धानां नमस्कारं भावेन यः करोति प्रयतन-मतिः स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति[2] ॥

इस प्रकरण से यह निश्चय हो जाता है कि मेघचन्द्राचार्य ने जो अधिक गाथाएँ ली हैं वे क्षेपक या अन्यत्र से संकलित नहीं हैं प्रत्युत मूलग्रन्थकर्ता की ही रचनाएँ हैं। आगे एक-दो ऐसे ही प्रकरण और हैं।

इस आवश्यक अधिकार में आगे पार्श्वस्थ, कुशील आदि पाँच प्रकार के शिथिल-चारित्री मुनियों के नाम आये हैं। उनके प्रत्येक के लक्षण पाँच गाथाओं में किये गये हैं। मेघ-चन्द्राचार्य कृत टीका की प्रति में वे गाथाएँ हैं, किन्तु वसुनन्दि आचार्य ने अपनी टीका में ही उन पाँचों के लक्षण ले लिये हैं। उदाहरण के लिए देखिये मेघचन्द्राचार्य टीका की प्रति में—

---

१. श्री कुन्दकुन्द कृत मूलाचार, पृ. २६४।
२. श्री वट्टकेरकृत मूलाचार, पृ. ३६६। (प्रस्तुत कृति, पृ. ३८७)

पासत्थो य कुसीलो संसत्तो सण्णमिगचरित्तो य।
दंसणणाण चरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा ॥११३॥
वसहीसु य पडिवद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होइ ॥११४॥
कोहादि कलुसिदप्पा वयगुणसीलेहि चावि परिहीणो।
संघस्स अयसकारी कुसील समणोत्ति णायव्वो ॥११५॥
वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिवद्धो।
राजादि सेवंतो संसत्तो णाम सो होई ॥११६॥
जिणवयण गयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्ठो।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्ण सेवाओ ॥११७॥
आइरियकुलं मुच्चा विहरदि एगागिणो य जो समणो।
जिणवयणं णिदंतो सच्छंदो होइ मिगचारी[1] ॥११८॥

वसुनन्दि आचार्य ने इसे टीका में इस प्रकार दिया है—

"संयतगुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः वसतिकादि प्रतिवद्धो मोहवहुलो रात्रिदिवमुपकरणानां कारको असंयतजनसेवी संयतजनेभ्यो दूरीभूतः। कुत्सितं शीलं आचरणं स्वभावो यस्यासौ कुशीलः क्रोधादिकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीनः संघस्यायशःकरणकुशलः। सम्यगसंयतगुणेष्वाशक्तः संसक्तः (संसक्तः) आहारादि-गृद्ध्या वैद्यमंत्रज्योतिषादिकुशलत्वेन प्रतिवद्धो राजादिसेवातत्परः। ओसण्णो अपगतसंज्ञो अपगता विनष्टा संज्ञा सम्यग्ज्ञानादिकं यस्यासौ अपगतसंज्ञश्चारित्राद्यप-हीनो जिनवचनमजानंचारित्रादिप्रभ्रष्टः करणालसः सांसारिकसुखमानसः। मृगस्येव पशोरिव चरित्रमाचरणं यस्यासौ मृगचरित्रः परित्यक्ताचार्योपदेशः स्वच्छन्द-गतिरेकाकी जिनसूत्रदूषणस्तपःसूत्राद्यविनीतो धृतिरहितश्चेत्येते पंचपार्श्वस्था दर्शनज्ञानचारित्रेषु अनियुक्ताश्चारित्राद्यननुष्ठानपरा मदसंवेगास्तीर्थधर्मायकृतहर्षाः सर्वदा न वंदनीया इति[2] ॥९६॥

यह प्रकरण भी उन अधिक गाथाओं को मूलाचार के कर्ता की ही सिद्ध करता है। एक और प्रकरण देखिए—इसी में—समयसार नामक अधिकार में गाथाएँ—

पुढविकाइगा जीवा पुढवि जे समस्सिदा।
दिट्ठा पुढविसमारंभे धुवा तेसि विराधणा ॥१२०॥
आउकायिगा जीवा आऊं जे समस्सिदा।
दिट्ठा आउसमारंभे धुवा तेसि विराधणा ॥१२१॥
तेउ कायिगा जीवा तेउ जे समस्सिदा।
दिट्ठा तेउसमारंभे धुवा तेसि विराधणा ॥१२२॥

---

१. मूलाचार श्री कुन्दकुन्द कृत, पृ. ३०५ से ३०७।
२. मूलाचार वट्टकेराचार्य कृत, पृ. ४०५। (प्रस्तुत कृति, पृ. ४३६)

वाउकायिगा जीवा वाउं जे समस्सिदा।
दिट्ठा वाउसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा ॥१२३॥
वणप्फदिकायिगा जीवा वणप्फदिं जे समस्सिदा।
दिट्ठा वणप्फदिसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा ॥१२४॥
जे तसकायिगा जीवा तसं जे समस्सिदा।
दिट्ठा तससमारंभे धुवा तेसिं विराधणा[1] ॥१२५॥

श्री वसुनन्दि आचार्य ने 'पुढविकायिगा जीवा' यह प्रथम गाथा ली है। उसी की टीका में आगे की पाँचों गाथाओं का भाव दे दिया है। गाथा में किंचित् अन्तर है जो इस प्रकार है—

पुढवीकायिगजीवा पुढवीए चावि अस्सिदा संति।
तम्हा पुढवीए आरंभे णिच्चं विराहणा तेसिं ॥११६॥

टीका—"पृथिवीकायिकजीवास्तद्वर्णगंधरसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च तदाश्रिताश्चान्ये जीवास्त्रसाः शेषकायाश्च संति तस्मात्तस्याः पृथिव्या विराधनादिके खननदहनादिके आरंभे आरंभसमारंभसंरंभादिके च कृते निश्चयेन तेषां जीवानां तदाश्रितानां प्राण-व्यपरोपणं स्यादिति। एवमप्कायिक-तेजःकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक-त्रसकायिकानां तदाश्रितानां च समारंभे ध्रुवं विराधनादिकं भवतीति निश्चेतव्यम्।"[2]

इसी प्रकार और भी गाथाएँ हैं—

तम्हा पुढविसमारंभो दुविहो तिविहेण वि।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥११७॥

वसुनन्दि आचार्य ने मात्र इसी गाथा की टीका में लिखा है—

"एवमप्तेजोवायुवनस्पतित्रसानां द्विप्रकारेऽपि समारंभे अवगाहनसेचनज्वालनतापन-वीजनमुखवातकरणच्छेदन तथणादिकं न कल्प्यते जिनमार्गानुचारिण इति।"

किन्तु मेघचन्द्राचार्य कृत टीका की प्रति में 'तम्हा आउसमारम्भो' आदि से लेकर पाँच गाथाएँ स्वतन्त्र ली हैं।

ऐसे ही इन गाथाओं के वाद गाथा है—

जो पुढविकाइजीवे ण वि सद्दहदि जिणेहिं णिद्दिट्ठे।
दूरत्थो जिणवयणे तस्स उवट्ठावणा णत्थि ॥११८॥

मेघचन्द्राचार्य कृत टीका की प्रति में इसके आगे भी 'जो आउकाइ जीवे' आदि से 'जो तसकाइगे जीवे' तक पाँच गाथाएँ हैं। किन्तु वसुनन्दि आचार्य ने उसी 'पृथिवीकायिक' जीव सम्बन्धी गाथा की टीका में ही सबका समावेश कर लिया है।

---

१. मूलाचार कुन्दकुन्दकृत, पृ. ४७३-७४।
२. मूलाचार द्वितीय भाग, पृ. १४७।

पुनरपि गाथा आगे है—

जो पुढविकाइजीवे अइसद्दहदे जिणेहिं पण्णत्ते।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥११६॥

इसके बाद भी कर्णाटक टीका की प्रति में 'जो आउकाइगे जीवे' आदि से—'जो तसकाइगे जीवे' पर्यंत पाँच गाथाएँ हैं। किन्तु वसुनन्दि आचार्य ने इस गाथा की टीका में इन पाँच गाथाओं का अर्थ ले लिया है—

"एवमप्कायिक-तेजःकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक-त्रसकायिकांस्तदाश्रितांश्च य श्रद्दधाति मन्यते अभ्युपगच्छति तस्योपलब्धपुण्यपापस्योपस्थाना विद्यते इति[1]।

पुनरपि आगे गाथा है—

ण सद्दहदि जो एदे जीवे पुढविदं गदे।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदि ॥१२०॥

इसके आगे भी श्री मेघचन्द्राचार्य की टीका में अप्कायिक आदि सम्बन्धी पाँच गाथाएँ हैं जबकि वसुनन्दि आचार्य ने इनकी टीका में ही सबको ले लिया है।

आगे इसी प्रकार से एक गाथा है—

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१२३॥

मेघचन्द्राचार्य कृत टीका की प्रति में इसके आगे छह गाथाएँ और अधिक हैं—

जदं तु चिट्ठमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१५२॥

जदं तु आसमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१५३॥

जदं तु सयमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१५४॥

जदं तु भुंजमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१५५॥

जदं तु भासमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१५६॥

दव्वं खेत्तं कालं भावं च पडुच्च तह य संघडणं।
चरणम्हि जो पवट्टइ कमेण सो णिरवहो होइ[2] ॥१५७॥

---

१. मूलाचार द्विभाग, पृ. १४८।
२. मूलाचार कुन्दकुन्द कृत, पृ. १८०, १८१।

श्री वसुनन्दि आचार्य ने अपनी १२३वीं गाथा की टीका में सबका अर्थ ले लिया है। यथा—

"एवं यत्नेन तिष्ठता यत्नेनासीनेन शयनेन यत्नेन भुंजानेन यत्नेन भाषमाणेन नवं कर्म न बध्यते चिरंतनं च क्षीयते ततः सर्वथा यत्नाचारेण भवितव्यमिति[1]।"

यही कारण है कि वसुनन्दि आचार्य ने उन गाथाओं का भाव टीका में लेकर सरलता की दृष्टि से गाथाएँ छोड़ दी हैं, किन्तु कर्णाटक टीकाकार ने सारी गाथाएँ रखी हैं।

आवश्यक अधिकार में नौ गाथाएँ ऐसी हैं जिनकी द्वितीय पंक्ति सदृश है, वही वही पुनरपि आती है। वसुनन्दि आचार्य ने दो गाथाओं को पूरी लेकर आगे सात गाथाओं में द्वितीय पंक्ति छोड़ दी है—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥२४॥
जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥२५॥
जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु ॥२६॥
जेण कोधो य माणो य माया लोभो य णिज्जिदो ॥२७॥
जस्स सण्णा य लेस्सा य वियडिं ण जणंति दु ॥२८॥
जो दु रसेय फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा ॥२९॥
जो रूवगंधसद्दे य भोगे वज्जदि णिच्चसा ॥३०॥
जो दु अट्ठं च रूच्छं च झाणं झायदि णिच्चसा ॥३१॥
जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणे झायदि णिच्चसा ॥३२॥

अन्तिम नवमी गाथा की टीका में कहा है—

"……यस्तु धर्मं चतुष्प्रकारं शुक्लं च चतुष्प्रकारं ध्यानं ध्यायति युनक्ति तस्य सर्वकालं सामायिकं तिष्ठतीति, केवलिशासनमिति सर्वत्र सम्बन्धो द्रष्टव्य इति[2]।"

इस प्रकरण में टीकाकार ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि "तस्स सामायियं ठादि इदि केवलि सासणे।" यह अर्थ सर्वत्र लगा लेना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ-जहाँ गाथाएँ वैसी-वैसी ही आती थीं, टीकाकार उन्हें छोड़ देते थे, और टीका में ही उनका अर्थ खोल देते थे। इसलिए कर्णाटक टीका में प्राप्त अधिक गाथाएँ मूल ग्रन्थकार की ही हैं, इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता है।

जितने भी ये उद्धरण दिए गये हैं, इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'मूलाचार' ग्रन्थ एक है, उसके टीकाकार दो हैं।

---

१. मूलाचार वट्टकेरकृत, द्वि. भाग, पृ. १५०।
२. मूलाचार वट्टकेर कृत, पृ. ४११।

श्रीमद्वट्टकेराचार्य विरचित 'मूलाचार', जिसमें आचार्य वसुनन्दि द्वारा रचित टीका संस्कृत में ही है, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से वीर संवत् २४४६ में प्रकाशित हुआ है। इसका उत्तरार्ध भी मूल के साथ ही वीर संवत् २४४६ में उसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है।

वीर संवत् २४७१ (सन् १९४४) में जब चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्ति सागर जी ने पं० जिनदास फडकुले को एक मूलाचार की प्रति हस्तलिखित दी थी, जिसमें कन्नड़ टीका थी, स्वयं पं० जिनदास जी ने उसी मूलाचार की प्रस्तावना में लिखा है—"इस मूलाचार का अभिप्राय दिखानेवाली एक कर्नाटक भाषा टीका हमको चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज ने दी थी। उसमें यह मूलाचार ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित है, ऐसा प्रति अध्याय की समाप्ति में लिखा है, तथा प्रारम्भ में एक श्लोक तथा गद्य भी दिया है। उस गद्य से भी यह ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत है ऐसा सिद्ध होता है।"[1]......यह कर्नाटक टीका श्री मेघचन्द्राचार्य ने की है। आगे अपनी प्रस्तावना में पण्डित जिनदास लिखते हैं कि "हमने कनडी टीका की पुस्तक सामने रखकर उसके अनुसार गाथा का अनुक्रम लिया है, तथा वसुनन्दि आचार्य की टीका का प्रायः भाषान्तर इस अनुवाद में आया है[2]।

पण्डित जिनदास फडकुले द्वारा हिन्दी भाषा में अनूदित कुन्दकुन्दाचार्य विरचित यह मूलाचार ग्रन्थ चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री की प्रेरणा से ही आचार्य शान्तिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटण से वीर संवत् २४८४ में प्रकाशित हुआ है।

मैंने मूलाचार ग्रन्थ के अनुवाद के पूर्व भी श्री वट्टकेराचार्य कृत मूलाचार और इस कुन्दकुन्द कृत मूलाचार का कई बार स्वाध्याय किया था। अपनी शिष्या आर्यिका जिनमती को वट्टकेर कृत मूलाचार की मूल गाथाएँ पढ़ाई भी थीं। पुनः सन् १९७७ में जब हस्तिनापुर में प्रातः इसका सामूहिक स्वाध्याय चलाया था, तब श्री वसुनन्दि आचार्य की टीका का वाचन होता था। यह ग्रन्थ और उसकी यह टीका मुझे अत्यधिक प्रिय थी। पण्डित जिनदास द्वारा अनूदित मूलाचार में बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण अंश नहीं आ पाये हैं यह बात मुझे ध्यान में आ जाती थी। अतः शब्दशः टीका का अनुवाद पुनरपि हो इस भावना से तथा अपने चरणानुयोग के ज्ञान को परिपुष्ट करने की भावना से मैंने उन्हीं स्वाध्यायकाल के दिनों में इस महाग्रन्थ का अनुवाद करना शुरू कर दिया। वैशाख वदी २, वीर संवत् २५०३ में मैंने अनुवाद प्रारम्भ किया था। जिनेन्द्रदेव के कृपाप्रसाद से, बिना किसी विघ्न बाधा के, अगले वैशाख सुदी ३ अक्षय तृतीया वीर संवत् २५०४ दिनांक १०-५-१९७८ दिन बुधवार को हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र पर ही इस अनुवाद को पूर्ण किया है।

इसके अनुवाद के समय भी तथा पहले भी 'मूलाचार दो हैं, एक श्री कुन्दकुन्द-विरचित, दूसरा श्री वट्टकेर विरचित' यह बात बहुचर्चित रही है। किन्तु मैंने अध्ययन-मनन

---

१. मूलाचार श्रीकुन्दकुन्दकृत की प्रस्तावना, पृ. १४

२. वही, पृ. १६

और चिन्तन से यह निष्कर्ष निकाला है कि मूलाचार एक ही है, इसके कर्ता एक हैं किन्तु टीकाकार दो हैं।

जो कर्नाटक टीका और उसके कर्ता श्री मेघचन्द्राचार्य हैं वह प्रति मुझे प्रयास करने पर भी देखने को नहीं मिल सकी है। पण्डित जिनदास फडकुले ने जो अपनी प्रस्तावना में उस प्रति के कुछ अंश उद्धृत किये हैं, उन्हीं को मैंने उनकी प्रस्तावना से ही लेकर यहाँ उद्धृत कर दिया है। यहाँ यह बात सिद्ध हुई कि—

श्री कुन्दकुन्द कृत मूलाचार में गाथाएँ अधिक हैं। कहीं-कहीं गाथायें आगे पीछे भी हुई हैं, और किन्हीं गाथाओं में कुछ अन्तर भी है। दो टीकाकारों से एक ही कृति में ऐसी बातें अन्य ग्रन्थों में भी देखने को मिलती हैं।

श्री कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में भी यही बात है। प्रसंगवश देखिए समयसार आदि में दो टीकाकारों से गाथाओं में अन्तर—

श्री कुन्दकुन्द के समयसार ग्रन्थ की वर्तमान में दो टीकाएँ उपलब्ध हैं। एक श्री अमृतचन्द्र सूरि द्वारा रचित है, दूसरी श्री जयसेनाचार्य ने लिखी है। इन दोनों टीकाकारों ने गाथाओं की संख्या में अन्तर माना है। कहीं-कहीं गाथाओं में पाठभेद भी देखा जाता है। तथा किंचित् कोई-कोई गाथाएँ आगे-पीछे भी हैं। संख्या में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने चार सौ पन्द्रह (४१५) गाथाओं की टीका की है। श्री जयसेनाचार्य ने चार सौ उनतालीस (४३९) गाथाएँ मानी हैं। यथा—"इति श्री कुन्दकुन्ददेवाचार्य-विरचित-समयसारप्राभृताभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीजयसेनाचार्यकृता दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकगाथाश्चतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता।"

गाथाओं में किंचित् अन्तर भी है। यथा—

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

श्री जयसेनाचार्य ने तृतीय चरण में अन्तर माना है। यथा—

तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिछिट्ठा ॥

अधिक गाथाओं के उदाहरण देखिए—

अज्झवसाणणिमित्तं···यह गाथा क्रमांक २६७ पर अमृतचन्द्रसूरि ने रखी है। इसे श्री जयसेनाचार्य ने क्रमांक २८० पर रखी है। इसके आगे पाँच गाथाएँ अधिक ली हैं। वे हैं—

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८१॥

वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८२॥

मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८३॥

सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि।
तम्हावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८४॥

इसी तरह सादृश्य लिये हुए अनेक गाथाएँ एक साथ कुन्दकुन्ददेव रखते हैं। जैसे—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥

इसी तरह की ८ गाथायें और हैं।

इसी प्रकार से प्रवचनसार ग्रन्थ में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने २७५ गाथाओं की टीका रची है। श्री जयसेनाचार्य ने इस ग्रन्थ में भी तीन सौ ग्यारह (३११) गाथाओं की टीका की है। यथा—

"इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ एवं पूर्वोक्तक्रमेण "एस सुरासुर···" इत्याद्येकोत्तरशतगाथापर्यन्तं सम्यग्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं "तम्हा तस्स णमाई" इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यंतं ज्ञेयाधिकारापरनाम सम्यक्त्वाधिकारः, तदनन्तरं "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्तं चारित्राधिकारश्चेति महाधिकार-त्रयेणेकादशाधिक-त्रिशतगाथाभिः प्रवचनसार प्राभृतं समाप्तं[1]।"

इस ग्रन्थ में जयसेनाचार्य ने जो अधिक गाथाएँ मानी हैं, उन्हें अन्य आचार्य भी श्री कुन्दकुन्द कृत ही मानते रहे हैं। जैसे—

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईहरियं।
तिहुवण पहाण दइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो॥

इस गाथा को नियमसार ग्रन्थ की टीका करते समय श्री प्रज्ञप्रभ मलधारीदेव ने भी लिया है। यथा—

तथा चोक्तं श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवैः[2]–
तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं······।

श्री जयसेनाचार्य प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में और अन्त में गाथाओं की संख्या और उनका सन्दर्भ बार-बार देते रहते हैं। यह बात उनकी टीका को पढ़नेवाले अच्छी तरह समझ लेते हैं। ऐसे ही पंचास्तिकाय में भी श्री अमृतचन्द्रसूरि ने १७३ गाथाओं की टीका रची है, तथा श्री जयसेनाचार्य ने १८१ गाथाओं की टीका लिखी है।

इन तीनों ग्रन्थों में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने उन गाथाओं को क्यों नहीं लिया है, उन्हें

---

१. प्रवचनसार, पृ. ६३३
२. नियमसार, गाथा ७ की टीका, पृ. १८

टीका करते समय जो प्रतियाँ मिलीं उनमें उतनी ही गाथाएँ थीं या अन्य कोई कारण था, कौन जाने !

श्री जयसेनाचार्य ने तो प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ और समाप्ति के समय बहुत ही जोर देकर उन अधिक गाथाओं को श्री कुन्दकुन्ददेव कृत सिद्ध किया है। 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ का उदाहरण देखिए—

> प्रथमतस्तावत् "इंदसयवंदियाण" मित्यादिपाठक्रमेणेकादशोत्तरशतगाथाभि: पंचास्तिकाय-षड्द्रव्य-प्रतिपादनरूपेण प्रथमो महाधिकार:, अथवा स एवामृतचन्द्र-टीकाभिप्रायेण त्र्यधिकशतपर्यन्तश्च। तदनन्तरं "अभिवंदिऊण सिरसा" इत्यादि पंचाशद्गाथाभि: सप्ततत्त्व-नवपदार्थ-व्याख्यानरूपेण द्वितीयो महाधिकार:, अथ च स एवामृतचन्द्र-टीकाभिप्रायेणाष्टाचत्वारिंशद्-गाथापर्यन्तश्च। अथानन्तरं जीवस्वभावो इत्यादि विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्ग-मोक्षस्वरूपकथनमुख्यत्वेन तृतीयो महाधिकार:, इति समुदायेनेकाशीत्युत्तरशतगाथाभिर्महाधिकारत्रयं ज्ञातव्यं[1]।"

यह तो प्रारम्भ में भूमिका बनायी है फिर एक-एक अंतराधिकार में भी इसी प्रकार गाथाओं का स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रथम अधिकार के समापन में देखिए—

> "अत्र पंचास्तिकायप्राभृतग्रन्थे पूर्वोक्तक्रमेण सप्तगाथाभि: समयशब्द-पीठिका चतुर्दशगाथाभिर्द्रव्यपीठिका, पंचगाथाभिर्निश्चयव्यवहारकालमुख्यता, त्रिपंचाशद्-गाथाभिर्जीवास्तिकायव्याख्यानं, दशगाथाभि: पुद्गलास्तिकाय-व्याख्यानं, सप्तगाथा-भिर्धर्मास्तिकायद्वयविवरणं, सप्तगाथाभिराकाशास्तिकाय-व्याख्यानं, अष्टगाथाभि-श्चूलिकामुख्यत्वमित्येकादशोत्तर-गाथाभिरष्टांतराधिकारा गता[2]।"

इस ग्रन्थ के अन्त में श्री जयसेनाचार्य लिखते हैं—

> "इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ प्रथमतस्तावदेकादशोत्तरशत-गाथा-भिरष्टभिरन्तराधिकारै:, तदनन्तरं पंचाशद्-गाथाभिर्दशभिरन्तराधिकारैर्नव-पदार्थ-प्रतिपादकाभिधानो द्वितीयो महाधिकार:, तदनन्तरं विंशतिगाथाभिर्द्वादशस्थलैर्मोक्ष-स्वरूप-मोक्षमार्गप्रतिपादकाभिधानस्तृतीय महाधिकारश्चेत्यधिकारत्रयसमुदायेनै-काशीत्युत्तरशतगाथाभि: पंचास्तिकायप्राभृत: समाप्त:[3]।"

जैसे इन ग्रन्थों में दो टीकाकार होने से गाथाओं की संख्या में अन्तर आ गया है, वैसे ही प्रस्तुत मूलाचार में है यह बात निश्चित है। इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो आचार्यों के नाम से दो जगह से प्रकाशित 'मूलाचार' ग्रन्थ एक ही है, एक ही आचार्य की रचना है।

---

१. पंचास्तिकाय, पृ. ६
२. पंचास्तिकाय, पृ. १६६
३. पंचास्तिकाय, पृ. २५५

श्री कुन्दकुन्दाचार्य और वट्टकेराचार्य

श्री वट्टकेर आचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य ये दोनों इस मूलाचार के रचयिता हैं या फिर दोनों में से कोई एक हैं, या ये दोनों एक ही आचार्य हैं—इस विषय पर यहाँ कुछ विचार किया जा रहा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के निर्विवाद सिद्ध समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध हैं। समयसार में एक गाथा आयी है—

"अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४६॥

यही गाथा प्रवचनसार में क्रमांक १८ पर आयी है। नियमसार में क्रमांक ४६ पर है। पंचास्तिकाय में क्रमांक १२७ पर है, और भावपाहुड में यह ६४वीं गाथा है।

इसी तरह समयसार की एक गाथा है—

"आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥२७७॥

यही गाथा नियमसार में १०० नम्बर पर है और भावसंग्रह में ५८वें नम्बर पर है।

इसी प्रकार से ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जो कि इनके एक ग्रन्थ में होकर पुनः दूसरे ग्रन्थ में भी मिलती हैं।

इसी तरह—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

यह गाथा समयसार में १५वीं है। मूलाचार में भी यह गाथा दर्शनाचार का वर्णन करते हुए पांचवें अध्याय में छठे क्रमांक पर आयी है। "आदा खु मज्झ णाणे" यह गाथा भी मूलाचार में आयी है।

रागो बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥५०॥

यह गाथा मूलाचार के अध्याय ५ में है। यही गाथा किंचित् बदलकर समयसार में है। अन्तिम चरण में "तम्हा कम्मेसु मा रज्ज" ऐसा पाठ बदला है। नियमसार ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्ददेव की रचना है। यह ग्रन्थ मुनियों के व्यवहार और निश्चय चारित्र का वर्णन करता है। इसमें व्यवहार चारित्र अति संक्षिप्त है—गौण है, निश्चयचारित्र ही विस्तार से है, वही मुख्य है। इस ग्रन्थ में अनेक गाथाएँ ऐसी हैं जो कि मूलाचार में ज्यों की त्यों पायी जाती हैं। यथा नियमसार में—

मू. गा. क्र.

१. जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥१०३॥ (३६)

२. सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि ।
आसाए वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥४२॥ (४२)

३. ममत्तिं परिवज्जामि णिममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोस्सरे[1] ॥ ॥ (४५)

४. एगो य मरइ जीवो एगो य जीवदि सयं ।
एगस्स जादिमरणं एगो सिज्झइ णीरओ[2] ॥१०१॥ (४७)

५. एओ मे सासओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा[3] ॥१०२॥ (४८)

६. णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो ।
संसार-भयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०५॥ (१०४)

७. मग्गो मग्गफलं त्ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादो ।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं[4] ॥२॥ (मू. अ. ५, गा. ४)

८. जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती ॥६६॥ (मू. अ. ५, गा. १२८)

९. कायकिरियाणियत्ती काउसग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि सेसा ॥७०॥ (मू. अ. ५, गा. १२९)

१०. ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासयंति बोधव्वा ।
जुत्तित्ति उवासयत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ॥१४२॥ (मू. अ. ७, गा. १४)

११. विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिओ ।
तस्स सामाइगं ठादि इदि केवलिसासणे[5] ॥१२५॥ (मू. अ. ७, गा. २३)

१२. जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइयं ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२६॥ (मू. अ, ७, गा. २४)

१३. जो समो सव्वभूदेसु भावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामायिगं ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२७॥ (मू. अ. ७, गा. २५)

१४. जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु ।
तस्स सामायिगं ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२८॥ (मू. अ. ७, गा. २६)

---

१. भावप्राभृत, गा. ५७ ।

२. भावप्राभृत एवं मूलाचार में इस गाथा में कुछ अन्तर है ।
"एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ । एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ ।"

३. भावप्राभृत, गाथा ५९ ।

४. इसमें कुछ अन्तर है—मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होई णिव्वाणं ॥ मूलाचार में ऐसा अन्तर है ।

५. जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं ॥२३॥

१५. जो दु अट्ठं च रुद्दं च झाणं वज्जदि णिच्चसा।
तस्स सामाइयं ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२६॥ (मू. अ. ७, गा. ३१)

१६. जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणे झायदि णिच्चसा।
तस्स सामायिगं ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२३॥ (मू. अ. ७, गा. ३२)

इन गाथाओं से अतिरिक्त और भी गाथाएँ पाहुड ग्रन्थ में मिलती हैं।

जैसे— "जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं[1] ॥९५॥"

यह गाथा मूलाचार में है और दर्शन पाहुड में भी है।

मूलाचार श्री कुन्दकुन्ददेव की कृति है, इसके लिए एक ठोस प्रमाण यह भी है कि उन्होंने 'द्वादशानुप्रेक्षा' नाम से एक स्वतन्त्र रचना की है। मूलाचार में भी द्वादशानुप्रेक्षाओं का वर्णन है। प्रारम्भ की दो गाथाएँ दोनों जगह समान हैं।

यथा— "सिद्धे णमंसिदूण य झाणुत्तमखविय दीहसंसारे।
दह दह दो दो य जिणे दह दो अणुपेहणा वुच्छं ॥१॥ मू. अ. ८
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण संसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं वोहिं च चिंतेज्जो ॥२॥ मू. अ. ८

अर्थ—जिन्होंने उत्तम ध्यान के बल से दीर्घ संसार को नष्ट कर दिया है ऐसे सिद्धों को तथा दश, दश, दो और दो ऐसे १० + १० + २ + २ = २४ जिन-तीर्थंकरों को नमस्कार करके मैं दस, दो अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा। अध्रुव, अशरण, एकत्त्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और वोधि ये १२ अनुप्रेक्षा के नाम हैं। वर्तमान में तत्त्वार्थसूत्र महाग्रन्थ के आधार से वारह अनुप्रेक्षाओं का यह क्रम प्रसिद्ध है—१. अनित्य-अध्रुव, २. अशरण. ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव, ८. संवर ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. वोधिदुर्लभ, १२. धर्म। यहाँ मूलाचार में तृतीय 'संसार' अनुप्रेक्षा को पाँचवें क्रम पर रक्खा है। दशवें क्रम की 'लोक' भावना को छठे क्रम पर लिया है। १२वीं अनुप्रेक्षा 'धर्म' को ११वें पर तथा ११वीं वोधि को १२वें पर लिया है। अथवा यों कहिए कि श्रीकुन्दकुन्ददेव पहले हुए हैं, उनके समय तक वारह अनुप्रेक्षाओं का यही क्रम होगा। उन्हीं के पट्टाधीश श्री उमास्वामी आचार्य वाद में हुए। उनके समय से क्रम वदल गया होगा। जो भी हो, 'द्वादशानुप्रेक्षा' ग्रन्थ में इसी क्रम से ही वारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तार किया है। तथा मूलाचार में भी उसी क्रम से अलग-अलग अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। इस प्रकरण से भी यह मूलाचार श्री कुन्दकुन्द कृत है यह वात पुष्ट होती है।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने चारित्रपाहुड में श्रावक के वारह व्रतों में जो क्रम लिया है, वही क्रम 'यतिप्रतिक्रमण' में श्री गौतमस्वामी द्वारा लिखित है। यथा—

"तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि······तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविधअणत्थदंडादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोगपरिमंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।

---

१. दर्शन पाहुड, गाथा १७।

तत्थ झमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे समाइयं, बिदिए पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिम सल्लेहणामरणं चेदि। इच्चेदाणि चक्खारि सिक्खावदाणि।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ते।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण मुद्दिट्ठ देसविरदो य[1]॥"

चारित्रपाहुड में—

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं॥२३॥

दिसिविदिसमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि॥२५॥

सामाइयं च पढमं विदियं च तेहव प्रोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते॥२६॥

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य॥२२॥

इस प्रकार से श्री गौतमस्वामी ने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत श्रावक के माने हैं। इसमें से अणुव्रत में तो कोई अन्तर है नहीं, गुणव्रत में दिश-विदिशप्रमाण, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं।

दर्शन, व्रत, सामायिकआदि ये ग्यारह प्रतिमा हैं। पूर्व में जैसे श्री गौतमस्वामी ने प्रतिक्रमण में इनका क्रम रखा है, वही क्रम श्री कुन्दकुन्ददेव ने अपने चारित्रपाहुड ग्रन्थ में रखा है। इसके अनन्तर उमास्वामी आदि आचार्यों ने गुणव्रत और शिक्षाव्रत में क्रम वदल दिया है। तथा सल्लेखना को वारह व्रतों से अतिरिक्त में लिया है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण में श्री गौतमस्वामी ने वारह तपों में जो क्रम रक्खा है, वही क्रम मूलाचार में देखा जाता है। तथा—"तवायारो वारसविहो, अब्भंतरो छव्विहो वाहिरोछव्विहो चेदि।" तत्थ वाहिरो अणसणं आमोदरियं वित्तिपरिसंखा, रसपरिच्चाओ सरीरपरिच्चाओ विवित्त सयणासणं चेदि। तत्थ अब्भतरो पायच्छित्तं विणओ वेज्जावच्चं सज्झाओ झाणं विउस्सग्गो चेदि[2]।"

तप आचार वारह प्रकार का है, अभ्यन्तर छह प्रकार का और वाह्य छह प्रकार का। उसमें वाह्य तप अनशन, अवमौदर्य, वृत्त परिसंख्यान, रस परित्याग, शरीर परित्याग—कायोत्सर्ग और विविक्तशयनासन के भेद वाला है। और अभ्यंतर तप प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग के भेद से छह भेद रूप है।

---

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण (धर्मध्यान दीपक)।
२. पाक्षिक प्रतिक्रमण।

यही क्रम मूलाचार में है--

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥४६॥ अ. ५
पायच्छित्त विणओ वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं विउस्सग्गो अब्भतरओ तवो एसो ॥१६३॥

इससे यह ध्वनित होता है कि श्री गौतमस्वामी ने वाह्य तपों में कायोत्सर्ग को पाँचवाँ और विविक्तशयनासन को छठा लिया है। तथा अभ्यन्तर तपों में भी ध्यान को पाँचवाँ और व्युत्सर्ग को छठा कहा है।

इसी क्रम को लेकर मूलाचार में भी श्री कुन्दकुन्ददेव ने गौतमस्वामी के कथनानुसार ही क्रम रखा है। वाद में श्री उमास्वामी से तपों के क्रम में अन्तर आ गया है।

प्रतिक्रमण के कुछ अन्य पाठ भी ज्यों के त्यों श्री कुन्दकुन्द की रचना में पाये जाते हैं—

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठि य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ[1] ॥

यह गाथा प्रतिक्रमण में है। यही की यही मूलाचार में है और चारित्रपाहुड में भी है।

और भी कई गाथायें हैं, जो 'प्रतिक्रमण' में हैं वे ही ज्यों की त्यों मूलाचार में भी हैं—

"खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्तीमे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि ॥४३॥ मूलाचार

रायवंध पदोसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोस्सरे[2] ॥४४॥

मिच्छत्त वेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरं गंथा[3] ॥२१०॥ मू. अ. ७

इन सभी प्रमाणों से यह वात सिद्ध हो जाती है कि यह मूलाचार श्री कुन्दकुन्ददेव की ही रचना है।

अव यह प्रश्न होता है कि तव यह 'वट्टकेर आचार्य' का नाम क्यों आया है। तव ऐसा कहना शक्य है कि कुन्दकुन्ददेव का ही अपरनाम वट्टकेर माना जा सकता है। क्योंकि श्री वसुनन्दि आचार्य ने प्रारम्भ में तो श्री मद्वट्टकेराचार्यः 'श्री वट्टकेराचार्य' नाम लिया है। तथा अन्त में "इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रवणस्य।" ऐसा कहा है। इस उद्धरण से तो संदेह को अवकाश ही नहीं मिलता है।

---

१. प्रतिक्रमण पाक्षिक। मूलाचार अ. ५, गाथा ४, चारित्रपाहुड गाथा ७।

२. दैवसिक प्रतिक्रमण।

३. पाक्षिक प्रतिक्रमण।

पण्डित जिनदास फडकुले ने भी श्री कुन्दकुन्द को ही 'वट्टकेर' सिद्ध किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'परिकर्म' नाम की जो षट्खण्डागम के त्रिखण्डों पर वृत्ति लिखी है, उससे उनका नाम 'वृत्तिकार'—'वट्टकेर' इस रूप से भी प्रसिद्ध हुआ होगा। इसी से वसुनन्दी आचार्य ने आचारवृत्ति (टीका) के प्रारम्भ में (वट्टकेर) नाम का उपयोग किया होगा, अन्यथा उस ही वृत्ति (टीका) के अन्त्य में वे "कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृत्तिः" ऐसा उल्लेख कदापि नहीं करते। अतः कुन्दकुन्दाचार्य 'वट्टकेर' नाम से भी दि० जैन जगत् में प्रसिद्ध थे[1]।"

'जैनेन्द्रकोश'[2] में श्री जिनेन्द्रवर्णी ने भी मूलाचार को श्री कुन्दकुन्ददेव कृत माना है। इसकी रचना शैली भी श्री कुन्दकुन्ददेव की ही है। जैसे उन्होंने समयसार और नियमसार में सदृश गाथायें प्रयुक्त की हैं। यही शैली मूलाचार में भी है। यथा—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥

इसी तरह की 'संजओ' 'दंसणं' आदि पद वदल कर गाथा ३६५ तक १० गाथायें हैं। ऐसे ही नियमसार में—

णाहं णारय भावो तिरियत्थो मणुवदेपज्जाओ।
कत्ता णाहि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७७॥

ऊपर की पंक्ति बदलकर नीचे की पंक्ति ज्यों की त्यो लेकर ८१ तक पाच गाथायें हैं। आगे ९वें अधिकार में भी "तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।" नौ गाथाओं तक यह पंक्ति बार-बार आयी है। इसी तरह मूलाचार में—

आउकायिगा जीवा आउं जे समस्सिदा।
दिट्ठा आउसमारंभे धुवा तेसिं विराधना ॥१२१॥

ऐसे ही 'तेउकायिगा' आदि पद वदल-बदल कर ये ही गाथायें पांच वार आई हैं। आगे भी इसी तरह बहुत सी सदृश गाथायें देखी जाती हैं जो कि रचना शैली की समानता को सिद्ध करती हैं।

तथा च—कन्नड़ भाषा में टीका करने वाले श्री मेघचन्द्राचार्य ने वार-वार इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्ददेव कृत कहा है। और वे आचार्य दिगम्बर जैनाचार्य होने से स्वयं प्रामाणिक हैं। उनके वाक्य स्वयं आगमवाक्य हैं—प्रमाणभूत हैं, उनको प्रमाणित करने के लिए और किसी

---

१. कुन्दकुन्द कृत मूलाचार, प्रस्तावना पृ. १५।
२. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश भाग २, पृ. १२६।

प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यह मूलाचार श्री कुन्दकुन्ददेव की कृति है, और श्री कुन्दकुन्ददेव का ही दूसरा नाम 'वट्टकेराचार्य' है, यह बात सिद्ध होती है।

जैन इतिहास के माने हुए विद्वान् स्व० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भी वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित 'पुरातनवाक्य सूची' की प्रस्तावना में मूलाचार को कुन्दकुन्द रचित मानते हुए वट्टकेर और कुन्दकुन्द को अभिन्न दिखलाया है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव

दिगम्बर जैन आम्नाय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम श्री गणधर देव के पश्चात् लिया जाता है। अर्थात् गणधर देव के समान ही इनका आदर किया जाता है और इन्हें अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। यथा—

> मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
> मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

यह मंगल-श्लोक शास्त्र-स्वाध्याय के प्रारम्भ में तथा दीपावली के वही-पूजन व विवाह आदि के मंगल प्रसंग पर भी लिया जाता है। ऐसे आचार्य के विषय में जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के लेखक लिखते हैं—

"आप अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे। आप अध्यात्म विषय में इतने गहरे उतर चुके थे कि आपके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छ बुद्धि व्यक्तियों की शक्ति के बाहर है। आपके अनेक नाम प्रसिद्ध हैं। तथा आपके जीवन में कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्म प्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयों के पारगामी थे और इसीलिए आपने सर्व विषयों पर ग्रन्थ रचे हैं। आज के कुछ विद्वान् इनके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि इन्हें करणानुयोग व गणित आदि विषयों का ज्ञान न था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योंकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्वप्रथम ग्रन्थ षट्-खंडागम पर आपने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नहीं है।

इनके आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़कर अज्ञानी जन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को एकदम शुद्ध-बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं, परन्तु वे स्वयं महान् चारित्रवान थे। भले ही अज्ञानी जगत् उन्हें न देख सके, पर उन्होंने अपने शास्त्रों में सर्वत्र व्यवहार व निश्चयनयों का साथ-साथ कथन किया है। जहाँ वे व्यवहार को हेय बताते हैं वहाँ उसकी कथंचित् उपादेयता बताये बिना नहीं रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानी जन उनके शास्त्रों को पढ़कर संकुचित एकान्तदृष्टि अपनाने के बजाय व्यापक अनेकान्त दृष्टि अपनायें[1]।"

---

१. जैनेन्द्रसिद्धांत कोश भाग २, पृ. १२६

यहाँ पर उनके नाम, उनका श्वेताम्बरों के साथ वाद, विदेहगमन, ऋद्धि-प्राप्ति, उनकी रचनायें, उनके गुरु, उनका जन्म स्थान और उनका समय इन आठ विषयों का किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है—

१. नाम—मूलनन्दि संघ की पट्टावली में पांच नामों का उल्लेख है—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दीति तन्नुतिः।.

कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनन्दि—मोक्षपाहुड की टीका की समाप्ति में भी ये पाँच नाम दिए गए हैं तथा देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य आदि ने भी इन्हें पद्मनन्दि नाम से कहा है। इनके नामों की सार्थकता के विषय में पं० जिनदास फडकुले ने मूलाचार की प्रस्तावना में कहा है—इनका कुन्दकुन्द यह नाम कौण्डकुण्ड नगर के वासी होने से प्रसिद्ध है। इनका दीक्षा नाम पद्मनन्दी है। विदेहक्षेत्र में मनुष्यों की ऊँचाई ५०० धनुष और इनकी वहाँ पर साढ़े तीन हाथ होने से इन्हें समवसरण में चक्रवर्ती ने अपनी हथेली में रखकर पूछा—'प्रभो, नराकृति का यह प्राणी कौन है?' भगवान ने कहा, 'भरतक्षेत्र के यह चारण ऋद्धिधारक महातपस्वी पद्मनन्दी नामक मुनि हैं' इत्यादि। इसलिए उन्होंने इनका एलाचार्य नाम रख दिया। विदेह क्षेत्र से लौटते समय इनकी पिच्छी गिर जाने से गृद्धपिच्छ लेना पड़ा, अतः 'गृद्धपिच्छ' कहलाये। और अकाल में स्वाध्याय करने से इनकी ग्रीवा टेढ़ी हो गयी तब ये 'वक्रग्रीव' कहलाये। पुनः सुकाल में स्वाध्याय से ग्रीवा ठीक हो गयी थी।" इत्यादि।

२. श्वेताम्बरों के साथ वाद—गुर्वावली में स्पष्ट है—

"पद्मनन्दि गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः,
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती।
उर्ज्जयंतगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्,
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने।"

बलात्कार गणाग्रणी श्री पद्मनन्दी गुरु हुए हैं जिन्होंने ऊर्जयंतगिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ, अतः उन पद्मनन्दी मुनीन्द्र को नमस्कार हो। पाण्डवपुराण में भी कहा है—

"कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके,
सोऽवदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिका कलौ॥

जिन्होंने कविकाल में ऊर्जयन्त गिरि के मस्तक पर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया। कवि वृन्दावन ने भी कहा है—

संघ सहित श्री कुन्दकुन्द,
गुरु वन्दन हेतु गये गिरनार।
वाद पर्यो तहं संसयमति सों,
साक्षी बनी अंबिकाकार।
'सत्यपंथ निर्ग्रंथ दिगम्बर,'
कही सुरी तहं प्रगट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे,
विघन हरण मंगल करतार।

अर्थात् श्वेताम्बर संघ ने वहाँ पर पहले वन्दना करने का हठ किया तब निर्णय यह हुआ कि जो प्राचीन सत्यपंथ के हों वे ही पहले वन्दना करें। तब श्री कुन्दकुन्द देव ने ब्राह्मी की मूर्ति से कहलवा दिया कि "सत्यपंथ निग्रन्थ दिगम्बर" ऐसी प्रसिद्धि है।

३. विदेह गमन—देवसेनकृत दर्शनसार ग्रन्थ सभी को प्रामाणिक है। उसमें लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहेइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

यदि श्री पद्मनन्दीनाथ सीमन्धर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सच्चे मार्ग को कैसे जानते ! पंचास्तिकाय टीका के प्रारम्भ में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—"···प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमन्धरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवर्ण···पुनरप्यागतैः श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः···।" श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्प्राभृत के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में "पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवंदितसीमन्धरापर-नाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजनेन···।" इत्यादिरूप से विदेहगमन की बात स्पष्ट कही है।

४. ऋद्धिप्राप्ति—श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' नामक पुस्तक के चौथे भाग के अन्त में बहुत-सी प्रशस्तियाँ दी हैं। उनमें देखिये—

"श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा
ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्य-
च्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धिः[1] ॥

"वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः,
कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारुचारणकराम्बुजचंचरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्[2]।

"श्रीकौण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्य-
स्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः[3] ॥४॥

"······चारित्र संजातसुचारणर्द्धि[4] ॥४॥

"तद्वंशाकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृतपान
—संतुष्टचित्तश्रीकुन्दकुन्दाचार्याणाम्[5] ॥५॥

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ. ३६८
२. पुस्तक वही पृ. ३७४
३. पु. वही पृ. ३८३
४. पु. वही पृ. ३८७
५. पु. वही पृ. ४०४

इन पाँचों प्रशस्तियों में श्री कुन्दकुन्द के चारण ऋद्धि का कथन है। जैनेंद्रसिद्धान्त कोश में, तथा शिलालेख नं० ६२, ६४, ६६, ६७, २५४, २६१, पृ० २६३, २६६ आदि सभी लेखों से यही घोषित होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे।

४. जैन शिलालेख संग्रह (पृ० १६७-१६८) के अनुसार—

रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्वाह्यापि संव्यंजयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय, चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥

यतीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेव रजःस्थान को और भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊँचे आकाश में चलते थे। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि वह अन्दर और बाहर में रज से अत्यन्त अस्पष्टपने को व्यक्त करते थे।

हल्ली नं० २१ ग्राम हेगरे में एक मन्दिर के पाषाण पर लेख है—"स्वस्ति श्रीवर्द्धमानस्य शासने। श्रीकुन्दकुन्दनामाभूत् चतुरंगुलचारणे।" श्री वर्द्धमानस्वामी के शासन में प्रसिद्ध श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमि से चार अंगुल ऊपर चलते थे।

ष० प्रा०। मो० प्रशस्ति। पृ० ३७६ में उल्लेख है—"नामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनदिना···" नाम पंचक विराजित (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने चतुरंगुल आकाश गमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगर में स्थित श्री सीमंधरप्रभु की वन्दना की थी।"

भद्रबाहु चरित में राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फल कहते हुए आचार्य ने कहा है कि "पंचमकाल में चारण ऋद्धि आदि ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं।" अतः यहाँ शंका होना स्वाभाविक है किन्तु वह ऋद्धि-निषेध कथन सामान्य समझना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि "पंचम काल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, तथा पंचमकाल के प्रारम्भ में ऋद्धि का अभाव नहीं है परन्तु आगे उसका अभाव है ऐसा भी अर्थ समझा जा सकता है। यही बात पं० जिनराज फडकुले ने मूलाचार की प्रस्तावना में कही है;

ये तो हुईं इनके मुनि-जीवन की विशेषतायें, अब आप इनके ग्रन्थों को देखिए—

५. ग्रन्थ रचनाएँ—कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार आदि ८४ पाहुड रचे, जिनमें १२ पाहुड ही उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में सर्व विद्वान एकमत हैं। परन्तु इन्होंने षट्खडांगम ग्रन्थ के प्रथम तीन खण्डों पर भी एक १२००० श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम की टीका लिखी थी, ऐसा श्रुतावतार में आचार्य इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके आधार पर ही आगे उनके काल सम्बन्धी निर्णय करने में सहायता मिलती है—

एवं द्विविधो द्रव्य भावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धांतः कोण्डकुण्डपुरे॥१६०॥

श्री पद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खंडाद्यत्रिखंडस्य॥१६१॥

इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के श्रुतज्ञान को प्राप्त कर गुरु-परिपाटी से आये हुए सिद्धान्त को जानकर श्री पद्मनन्दि मुनि ने कोण्डकुण्डपुर में १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्मनाम की षट्खंडगम के प्रथम तीन खण्डों की व्याख्या की। इनकी प्रधान रचनायें हैं—

षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नाम की टीका, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पंचास्तिकाय, रयणसार इत्यादि ८४ पाहुड, मूलाचार, दशभक्ति और कुरलकाव्य[1] :

इन ग्रन्थों में रयणसार श्रावक व मुनिधर्म दोनों का प्रतिपादन करता है। मूलाचार मुनि धर्म का वर्णन करता है। अष्टपाहुड के चारित्रपाहुड में संक्षेप से श्रावक धर्म वर्णित है। 'कुरल काव्य' नीति का अनूठा ग्रन्थ है। और परिकर्म टीका में सिद्धान्त का विवेचन है। 'दश भक्ति' सिद्ध, आचार्य आदि की उत्कृष्ट भक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। शेष सभी ग्रन्थ मुनियों के सराग चरित्र और निर्विकल्प समाधि रूप वीतराग चारित्र के प्रतिपादक हैं।

६. गुरु—गुरु के विषय में कुछ मतभेद हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली इनके परम्परा गुरु थे। कुमारनन्दि आचार्य शिक्षागुरु हो सकते हैं। किन्तु अनेक प्रशस्तियों से यह स्पष्ट है कि इनके दीक्षा गुरु 'श्री जिनचन्द्र' आचार्य थे।

७. जन्म स्थान—इसमें भी मतभेद हैं—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में कहा है—

"दक्षिणोदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्।
एलाचार्यो नाम्नो द्रविड गणाधीश्वरो धीमान्।

यह श्लोक हस्तलिखित मंत्र ग्रन्थ में से लेकर लिखा गया है जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देश के मलय प्रान्त में हेमग्राम के निवासी थे। और द्रविड़ संघ के अधिपति थे। मद्रास प्रेजीडेन्सी के मलया प्रदेश में 'पोन्नूरगाँव' को ही प्राचीनकाल में हेमग्राम कहते थे, और सम्भवतः वहीं कुन्दकुन्दपुर रहा होगा। इसीके पास नीलगिरि पहाड़ पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हुई हैं। पं० नेमिचंद्र जी भी लिखते हैं—"कुन्दकुन्द के जीवन परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है कि वे दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कोण्डकुन्दपुर' नामक ग्राम में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम 'कुरमरई' नामक जिले में है।"[2] "कुरल-काव्य। पृ० २१--पं० गोविन्दराय शास्त्री

८. समय—आचार्य कुन्दकुन्द के समय में भी मतभेद है। फिर भी डॉ० ए०एन० उपाध्ये ने इनको ई० सन् प्रथम शताब्दी का माना है। कुछ भी हो ये आचार्य श्री भद्रबाहु के अनन्तर ही हुए हैं यह निश्चित है, क्योंकि इन्होंने प्रवचनसार और अष्टपाहुड में सवस्त्र-मुक्ति और स्त्रीमुक्ति का अच्छा खण्डन किया है।

---

१. जैनेन्द्र सि. को, भाग २, पृ. १२६

२. तीर्थंकर महावीर, पृ. १०१।

नन्दिसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने और १५ दिन की थी[1]।"

आपने आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव का संक्षिप्त जीवन परिचय देखा है। इन्होंने अपन साधु जीवन में जितने ग्रन्थ लिखे हैं, उससे सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि इनके साधु जीवन का बहुभाग लेखन कार्य में ही बीता है, और लेखन कार्य वन में विचरण करते मुनि कर नहीं सकते। बरसात, आँधी, पानी, हवा आदि में लिखे गये पृष्ठों की या ताड़पत्रों की सुरक्षा असम्भव है। इससे ऐसा लगता है कि ये आचार्य मन्दिर, मठ, धर्मशाला, वसतिका आदि स्थानों पर भी रहते होंगे।

कुछ लोग कह देते हैं कि कुन्दकुन्ददेव अकेले ही आचार्य थे। यह बात भी निराधार है, पहले तो वे संघ के नायक महान् आचार्य गिरनार पर्वत पर संघ सहित ही पहुँचे थे। दूसरी बात गुर्वावली[2] में श्री गुप्तिगुप्त, भद्रबाहु आदि से लेकर १०२ आचार्यों की पट्टावली दी है। उसमें इन्हें पांचवें पट्ट पर लिखा है। यथा—१. श्री गुप्तिगुप्त, २. भद्रबाहु, ३. माघनन्दी, ४. जिनचंद्र, ५. कुन्दकुन्द, ६. उमास्वामि, आदि। इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र आचार्य ने इन्हें अपना पट्ट दिया, पश्चात् इन्होंने उमास्वामि को अपने पट्ट का आचार्य बनाया। यही बात नन्दिसंघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली में है। यथा—'४. जिनचन्द्र, ५. कुन्दकुन्दाचार्य, ६. उमास्वामी[3]।" इन उदाहरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि ये महान संघ के आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि इन्होंने स्वयं अपने 'मूलाचार्य' में "माभूद मेसत्तु एगागी" मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे ऐसा कहकर पंचम काल में एकाकी रहने का मुनियों के लिए निषेध किया है। इनके आदर्श जीवन, उपदेश व आदेश से आज के आत्म हितैषियों को अपना श्रद्धान व जीवन उज्ज्वल बनाना चाहिए। ऐसे महान जिनधर्म प्रभावक परम्पराचार्य भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव के चरणों में मेरा शतशत नमोऽस्तु !

—आर्यिका ज्ञानमती

---

१. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ. ८५।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ. ३९३।

३. वही, पृ. ४४१।

मूलाचार

पुण्यपाठ के योग्य कुछ गाथाएं

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि।
आसावोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥४२॥

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि ॥४३॥

एओ य मरइ जीवा एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ ॥४७॥

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥४८॥

सजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं।
तम्हा संजोगसम्बन्धं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥४९॥

णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
आलोचेमि य सव्वं अब्भतरवाहिरं उवहिं ॥५५॥

जह वालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि।
तह आलोचेमव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥५६॥

तिविहं भणंति मरणं वालाणं वालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥५९॥

मरणे विसहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर वोही।
संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले ॥६१॥

मिच्छादंसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा।
इह जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा वोही ॥६९॥

सम्मदंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे वोही ॥७०॥

एक्कं पंडिदमरणं छिंददि जादीसयाणि वहुगाणि।
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥७७॥

तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदी सहस्सेहिं।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥८०॥

हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्म संखलियं।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहसि ॥९०॥

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिवेयण खयकरणं सव्व दुक्खाणं ॥९५॥

णाणं सरण मे दंसणं च सरणं चरियसरण च।
तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो ॥९६॥

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥१००॥

णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो।
अणिदाणो ठिदिसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ ॥१०३॥

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥१०७॥

एयम्हि य भवगहणे समाहिमरणं लहिज्ज जदि जीवो।
सत्तटठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि ॥११८॥

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं।
जम्मणमरणादंकं छिंदि ममत्ति सरीरादो ॥११९॥

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥१५५॥

थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहुसुदं च तग्गसि वा।
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ॥१८१॥

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥१८३॥

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकादु हल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥१८४॥

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर बंधोमोक्खो य सम्मत्तं ॥२०३॥

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ॥२३४॥

णेहो उप्पदगत्तस्य रेणुओ लग्गदे जहा अंगे।
तह रागदोस-सिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ॥२३६॥

जद् धाऊ धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं व ॥२४३॥

रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥२४७॥

विणयेण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरात्थया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥३८५॥

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं!
विणएणाराहिज्जदि आइरियो सव्वसंघो य ॥३८६॥

कित्ता मित्ती माणस्स भंजण गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणय गुणा ॥३८८॥

जो समो सव्वभूदसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥५२६॥

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरिय पसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥५७१॥

विषयानुक्रमणिका

विषय	गाथा	पृष्ठ
प्रत्याख्यान	२७	३३-३४
कायोत्सर्ग	२८	३५
केशलोंच का समय	२९	३५-३६
अचेलकत्व (नाग्न्यव्रत)	३०	३७-३८
अस्नानव्रत	३१	३८-३९
क्षितिशयन व्रत	३२	४०
अदन्तधावन व्रत	३३	४१
स्थितिभोजन व्रत	३४	४२-४४
एकभक्त व्रत	३५	४४-४७
मूलगुण-पालन का फल	३६	४८
बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकार		
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	३७-३९	४९-५१
बाह्याभ्यन्तर उपधि का त्याग	४०-४१	५१-५२
सामायिक का स्वरूप और समाधि धारण की प्रतिज्ञा	४२	५२
समाधिधारण करनेवाले का क्षमाभाव धारण करना और उसके उपयुक्त चिन्तन	४३-५१	५३-५७
सप्त भय, आठ मद, चार संज्ञाएँ, तीन गारव, तेतीस आसादनाएँ और रागद्वेष-छोड़ने का संकल्प	५२	५७-५८
सात भय एवं आठ मदों के नाम	५३	५७-५८
तेतीस आसादनाएं (चार संज्ञाओं का स्वरूप टिप्पण में)	५४	५९
निन्दा, गर्हा और आलोचना करने की प्रतिज्ञा	५५	६१
आलोचना की विधि	५६	६२
जिसके पास आलोचना की जाए ऐसे आचार्य का स्वरूप	५६-५७	६२
आलोचना के अनन्तर क्षमापन की विधि	५८	६३
मरण के तीन भेद	५९	६४
आराधना के अपात्र	६०	६५
मृत्युकाल में सम्यक्त्व की विराधना का फल	६१	६५
कान्दर्पादि देव दुर्गतियों का स्वरूप व उनका कारण	६२-६३	६६-६
कान्दर्प देव दुर्गति का स्वरूप और फल	६४	६८

क्षेपप्रत्याख्यानाधिकार

पंचाचाराधिकार

विषय	गाथा	पृष्ठ
अमूर्तिक जीव के साथ मूर्तिक कर्म का बन्ध कैसे होता है इसके समाधान के साथ बन्धकारणों का निर्देश	२३६-२३८	२००-२०१
संवर-पदार्थ का व्याख्यान	२३९-२४१	२०१-२०२
निर्जरा-पदार्थ का वर्णन	२४२-२४६	२०२-२०६
मोक्षपदार्थ का वर्णन	२४७	२०६
नव-पदार्थ के विवेचन का समारोप करते हुए शंका, कांक्षादिक का वर्णन	२४८-२५१	२०६-२१०
निर्विचिकित्सांग का वर्णन	२५२-२५५	२११-२१५
अमूढ़दृष्टि अंग का विस्तार से वर्णन	२५६-२६०	२१५-२१८
उपगूहनांग का स्वरूप	२६१	२१८
स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना अंग के लक्षण	२६२-२६४	२१९-२२०
नैसर्गिक सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हुए दर्शनाचार के वर्णन का समारोप	२६५-२६६	२२१-२२२
ज्ञानाचार के वर्णन के सन्दर्भ में ज्ञान का स्वरूप	२६७-२६८	२२२-२२४
ज्ञानाचार के कालशुद्धि आदि आठ भेद	२६९	२२४-२२५
कालाचार का विस्तृत वर्णन	२७०-२७५	२२५-२३१
कालशुद्धि के पश्चात् द्रव्य, क्षेत्र और भावशुद्धि का विधान	२७६	२३१-२३३
सूत्र का लक्षण तथा अ-काल में स्वाध्याय का निषेध	२७७-२७८	२३४-२३६
जिनग्रन्थों का अ-काल में स्वाध्याय किया जा सकता है उनका उल्लेख	२७९-२८०	२३६-२३७
विनयशुद्धि और उपधानशुद्धि का स्वरूप	२८१-२८२	२३८-२३९
बहुमान, अनिह्नव तथा व्यंजनशुद्धि आदि का वर्णन व समारोप	२८३-२८७	२३९-२४२
चारित्राचार के कथन की प्रतिज्ञा	२८८	२४२-२४३
अहिंसादि महाव्रतों का वर्णन	२८९-२९४	२४३-२४६
रात्रिभोजननिवृत्ति का निरूपण करते हुए चारित्राचार वर्णन का समारोप	२९५-२९७	२४७-२४८
प्रशस्त प्रणिधान और अप्रशस्त प्रणिधान का स्वरूप	२९८	२४९
इन्द्रियप्रणिधान का स्वरूप	२९९-३००	२४९-२५२
ईर्या समिति का वर्णन	३०१-३०६	२५२-२५५
भाषा समिति का वर्णन और उसके अन्तर्गत दस प्रकार के सत्य का वर्णन	३०७-३१३	२५६-२६१
असत्य, उभय और अनुभयवचनों का स्वरूप	३१४-३१७	२६१-२६४

षडावश्यकाधिकार

श्रीवट्टकेराचार्यविरचितो

मूलाचारः

(श्रीवसुनंदिसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितया आचारवृत्त्या सहितः)

मूलगुणाधिकारः

श्रीमच्छुद्धेद्धबोधं सकलगुणनिधिं निष्ठिताशेषकार्यं
वक्तारं सत्प्रवृत्तेर्निहतमतिमलं शक्रसंवंदिताङ्घ्रिम् ।
भर्तारं मुक्तिवध्वा विमलसुखगतेः कारिकायाः समन्ता—
दाचारस्याप्तनीतेः परमजिनकृतेर्नौम्यहं वृत्तिहेतोः ॥

श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाणं, मूलगुणप्रत्याख्यान-संस्तर-स्तवाराधना-समयाचार-[समाचार] पंचाचार-पिंडशुद्धिषडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानगारभावना-समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्याद्यधिकारनिबद्धमहार्थगभीरं लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्द्रव्यनवपदार्थजिनवरोपदिष्टं, द्वादशविधतपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं,

---

मंगलाचरण—मैं वसुनन्दि आचार्य मूलकर्ता के रूप में वीतराग परम जिनदेव द्वारा प्रणीत, नीति—यति आचार का वर्णन करनेवाले आचारशास्त्र—मूलाचार ग्रन्थ की टीका के निमित्त उन सिद्ध भगवान् को नमस्कार करता हूँ जो अंतरंग और वहिरंग लक्ष्मी से विशिष्ट शुद्ध और श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त हैं, सकल गुणों के भण्डार हैं; जिन्होंने समस्त कार्यों को पूर्ण कर कृतकृत्य अवस्था प्राप्त कर ली है, जो सत्प्रवृत्ति—सम्यक्चारित्र के प्रवक्ता हैं, जिन्होंने अपनी बुद्धि के मल-दोष को नष्ट कर दिया है, जिनके चरणकमल इन्द्रों से वन्दित हैं और जो सर्व अंग से विमल सुख को प्राप्त करानेवाली मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी हैं।

जो श्रुतस्कन्ध का आधारभूत है; अठारह हजार पदपरिमाण है; जो मूलगुण, प्रत्याख्यान, संस्तर, स्तवाराधना, समयाचार, पंचाचार, पिंडशुद्धि, छह आवश्यक, वारह अनुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति आदि अधिकार से निबद्ध होने से महान् अर्थों से गम्भीर है; लक्षण—व्याकरण शास्त्र से सिद्ध पद, वाक्य और वर्णों से सहित है; घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए केवलज्ञान के द्वारा जिन्होंने अशेष गुणों और पर्यायों से खचित छह द्रव्य और नव पदार्थों को जान लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव के द्वारा जो उपदिष्ट है; वारह प्रकार के तपों के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित गणधर देव के द्वारा जो रचित है; जो मूलगुणों और उत्तरगुणों के

मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्य-पारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबल-मेधायु:शिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तुकामः स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकारणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते मूलगुणेस्वित्यादि—

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा।
इहपरलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ॥१॥

मंगलनिमित्तहेतुपरिमाणनामकर्तॄन् धात्वादिभिः प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धांश्च व्याख्याय पश्चादर्थः कथ्यते। मूलगुणेसु—मूलानि च तानि गुणाश्च ते मूलगुणाः। मूलशब्दोऽनेकार्थे यद्यपि वर्तते तथापि प्रधानार्थे वर्तमानः परिगृह्यते। तथा गुणशब्दोऽप्यनेकार्थे यद्यपि वर्तते तथाप्याचरणविशेषे वर्तमानः परिगृह्यते। मूलगुणाः प्रधानानुष्ठानानि उत्तरगुणाधारभूतानि तेषु मूलगुणेषु विषयभूतेषु कारणभूतेषु वा सत्सु ये। विसुद्धे—विशुद्धाः निर्मलाः संयतास्तान् मूलगुणेषु विशुद्धान्। वंदित्ता—वन्दित्वा मनोवाक्कायक्रियाभिः प्रणम्य, सव्वसंजदे—अयं सर्वशब्दो निरवशेषार्थवाचकः परिगृहीतो बह्वनुग्रहकारित्वात्तेन प्रमत्तसंयताद्ययोगिपर्यन्ता भूतपूर्वगत्या सिद्धाश्च परिगृह्यन्ते, सम्यक् यताः पापक्रियाभ्यो निवृत्ताः सर्वे च ते संयताश्च सर्वसंयतास्तान् सर्वसंयतान् प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसांपरायोपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्य-

---

स्वरूप भेद, उपाय, साधन, सहाय और फल के निरूपण करने में कुशल है; आचार्य परम्परा से चला आ रहा ऐसा यह आचारांग नाम का पहला अंग है। उस आचारांग का अल्पशक्ति, अल्प बुद्धि और अल्प आयु वाले शिष्यों के लिए बारह अधिकारों में उपसंहार करने की इच्छा करते हुए अपने और श्रोताओं के प्रारम्भ किये गये कार्यों के विघ्नों को दूर करने में समर्थ शुभ परिणाम को धारण करते हुए श्री वट्टकेराचार्य सर्वप्रथम मूलगुण नामक अधिकार का प्रतिपादन करने के लिए 'मूलगुणेसु' इत्यादि रूप मंगल पूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं—

गाथार्थ—मूलगुणों में विशुद्ध सभी संयतों को सिर झुकाकर नमस्कार करके इस लोक और परलोक के लिए हितकर मूलगुणों का मैं वर्णन करूँगा ॥१॥

आचारवृत्ति—मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता तथा प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध इनका व्याख्यान करके पश्चात् धातु आदि के द्वारा शब्दों का अर्थ करते हैं। मूलभूत जो गुण हैं वे मूलगुण कहलाते हैं। यद्यपि 'मूल' शब्द अनेक अर्थ में रहता है फिर भी यहाँ पर प्रधान अर्थ में लिया गया है। उसी प्रकार 'गुण' शब्द भी यद्यपि अनेक अर्थ में विद्यमान है तथापि यहाँ पर आचरण विशेष में वर्तमान अर्थ ग्रहण किया गया है। अतः उत्तरगुणों के लिए आधारभूत प्रधान अनुष्ठान को मूलगुण कहते हैं। ये मूलगुण यहाँ विषयभूत हैं अथवा कारणभूत हैं। इन मूलगुणों में जो विशुद्ध अर्थात् निर्मल हो चुके हैं ऐसे सर्व संयतों को, सर्व शब्द यहाँ सम्पूर्ण अर्थ का वाचक है क्योंकि वह बहुत का अनुग्रह करने वाला है इसलिए इस सर्व शब्द से प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगी पर्यन्त सभी संयत और भूतपूर्व गति के न्याय से सिद्ध भी लिये जाते हैं। जो सं-सम्यक् प्रकार से यत-उपरत हो चुके

योगकेवलिसंयतान् सप्ताद्यष्टपर्यन्तपणवमध्यसंख्यया समेतान् सिद्धांश्चानन्तान् । सिरसा—शिरसा मस्तकेन मूर्ध्ना । इहपरलोगहिदत्थे—इहशब्दः प्रत्यक्षवचनः, परशब्द उपरतेन्द्रियजन्मवचनः, लोकशब्दः सुरैश्वरादिवचनः । इह च परश्चेहपरौ तौ च तौ लोकौ च इहपरलोकौ ताभ्यां तयोर्वा हितं सुखैश्वर्यपूजासत्कारचित्तनिवृत्तिफलादिकं तदेवार्थः प्रयोजनं फलं येषां ते इहपरलोकहितार्थास्तान् इहलोकपरलोकसुखैश्वर्यादिनिमित्तान् ।

इहलोके पूजां सर्वजनमान्यतां गुरुतां सर्वजनमैत्रीभावादिकं च लभते मूलगुणानाचरन्, परलोके च सुरैश्वर्यं तीर्थकरत्वं चक्रवर्तिवलदेवादिकत्वं सर्वजनकान्ततादिकं च मूलगुणानाचरन् लभत इति । मूलगुणे—मूलगुणान् सर्वोत्तरगुणाधारतां गतानाचरणविशेषान् । कित्तइस्सामि—कीर्तयिष्यामि व्याख्यास्यामि । अत्र संयतशब्दस्य चत्वारोऽर्था नाम स्थापना द्रव्यं भाव इति । तत्र जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म नामसंयतः । संयतस्य गुणान् बुद्ध्याध्यारोप्याकृतिवति अनाकृतिवति च वस्तुनि स एवायमिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासंयतः । संयतस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यासितोऽनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्य-

---

हैं—पाप-क्रियाओं से निवृत्त हो चुके हैं वे संयत कहलाते हैं। प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सांपराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली इसप्रकार छठवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के सभी मुनि संयत कहलाते हैं जोकि आदि में ७ और अन्त में ८ तथा मध्य से छह वार नव संख्या रखने से तीन कम नौ करोड़ (८९९९९९९७) होते हैं। इस संख्या सहित सभी संयतों को और अनन्त सिद्धों को सिर झुकाकर नमस्कार करके इस लोक और परलोक में हितकर मूलगुणों का वर्णन करूँगा।

'इह' शब्द प्रत्यक्ष को सूचित करने वाला है, 'पर' शब्द इन्द्रियातीत जन्म को कहने वाला है और 'लोक' शब्द देवों के ऐश्वर्य आदि का वाचक है।

'हित' शब्द से सुख, ऐश्वर्य, पूजा-सत्कार और चित्त की निवृत्ति फल आदि कहे जाते हैं और अर्थ शब्द से प्रयोजन अथवा फल विवक्षित है। इस प्रकार से इहलोक और परलोक के लिए अथवा इन उभयलोकों में सुख ऐश्वर्य आदि रूप ही है प्रयोजन जिनका, वे इहपरलोकहितार्थ कहे जाते हैं। अर्थात् ये मूलगुण इहलोक और परलोक में सुख ऐश्वर्य आदि के निमित्त हैं। इन मूलगुणों का आचरण करते हुए जीव इस लोक में पूजा, सर्वजन से मान्यता, गुरुता (बड़प्पन) और सभी जीवों से मैत्रीभाव आदि को प्राप्त करते हैं तथा इन मूलगुणों को धारण करते हुए परलोक में देवों के ऐश्वर्य, तीर्थंकरपद, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के पद और सभी जनों में मनोज्ञता-प्रियता आदि प्राप्त करते हैं। ऐसे मूलगुण जो कि सभी उत्तरगुणों के आधारपने को प्राप्त आचरण विशेष हैं, उनका मैं व्याख्यान करूँगा।

यहाँ पर संयत शब्द के चार अर्थ हैं—नाम संयत, स्थापना संयत, द्रव्य संयत और भाव संयत। उनमें से जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'संयत' यह नामकरण कर देना नाम-संयत है। आकारवान् अथवा अनाकारवान् वस्तु में 'यह वही है' ऐसा मूर्ति में संयत के गुणों का अध्यारोप करना, इस प्रकार से स्थापित मूर्ति को स्थापना-संयत कहते हैं। संयत के स्वरूप का प्रकाशक जो परिज्ञान है उसकी परिणति की सामर्थ्य से जो अधिष्ठित है किन्तु वर्तमान में उससे अनुपयुक्त है, ऐसा आत्मा आगमद्रव्य-संयत है।

संयतः। नोआगमद्रव्यं त्रिविधः। ज्ञायकशरीरसंयतः संयतप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूतं भवन् भावि वा। भविष्यत्संयतत्वपर्यायो जीवो भाविसंयतः। तद्व्यतिरिक्तमसम्भवि कर्म नोकर्म, तयोः संयतत्वस्य कारणत्वाभावात्। संयतगुणव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञ उपयुक्तः सम्यगाचरणसमन्वित आगमभावसंयतस्तेनेह प्रयोजनं, कुतः मूलगुणेषु विशुद्धानिति विशेषणादिति। मूलगुणादिस्वरूपावगमनं प्रयोजनम्। ननु[1] पुरुषार्थो हि प्रयोजनं न च मूलगुणादिस्वरूपावगमनं[2], पुरुषार्थस्य धर्मार्थकाममोक्षरूपत्वात्, यद्येवं सुष्ठु मूलगुणस्वरूपावगमनं प्रयोजनं यतस्तेनैव ते धर्मादयो लभ्यन्ते इति। मूलगुणैः शुद्धस्वरूपं साध्यं साधनमिदं[3] मूलगुणशास्त्रं, साध्यसाधनरूपसम्बन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरतएव वाक्याल्लभते, अभिधेयभूता मूलगुणाः तस्माद् ग्राह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रय[4]समन्वितत्वादिति। सर्वसंयतान् शिरसाभिवन्द्य मूलगुणान् इहपरलोकहितार्थान् कीर्तयिष्यामीति पदघटना। अथवा मूलगुणसंयतानामयं नमस्कारो मूलगुणान् सुविशुद्धान् संयतांश्च[5] वन्दित्वा

नोआगम द्रव्य के ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं। उनमें से संयम के शास्त्रों को जाननेवाले का शरीर ज्ञायकशरीर कहलाता है। उसके भी भूत, वर्तमान और भावि ऐसे तीन भेद हैं। भविष्यत् में संयत की पर्याय को प्राप्त होनेवाला जीव भावि संयत है। यहाँ पर तद्व्यतिरिक्त नाम का जो नोआगम द्रव्य का तीसरा भेद है वह असम्भव है क्योंकि वह कर्म और नोकर्मरूप है तथा इन कर्म और नोकर्म में संयतपने के कारणत्व का अभाव है। अर्थात् द्रव्यनिक्षेप के आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य ऐसे दो भेद किये हैं। पुनः नोआगमद्रव्य के ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त की अपेक्षा तीन भेद किये हैं। यहाँ तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य कर्म का अभाव है।

संयत के गुणों का वर्णन करने में तत्पर जो प्राभृत-शास्त्र है उसको जानने वाला और उसी में उपयुक्त जीव अर्थात् सम्यक् प्रकार के आचरण से समन्वित साधु आगमभाव-संयत कहलाता है—यहाँ पर इन्हीं भावसंयत से प्रयोजन है। क्योंकि 'मूलगुणेषु विशुद्धान्' गाथा में ऐसा विशेषण दिया गया है। मूलगुण आदि के स्वरूप को जान लेना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

शंका—पुरुषार्थ ही प्रयोजन है न कि मूलगुण आदि के स्वरूप का जानना, क्योंकि पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप है।

समाधान—यदि ऐसी बात है तो मूलगुणों के स्वरूप का जान लेना यह प्रयोजन ठीक ही है क्योंकि उस ज्ञान से ही तो वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं।

इन मूलगुणों के द्वारा आत्मा का शुद्ध स्वरूप साध्य है और मूलगुणों का प्रतिपादक यह शास्त्र साधन है—इस प्रकार से साध्य-साधनरूप सम्बन्ध भी शास्त्र और प्रयोजन के इन्हीं वाक्यों से प्राप्त हो जाता है। यहाँ पर ये मूलगुण अभिधेयभूत वाच्य हैं इसलिए यह शास्त्र ग्राह्य है, प्रामाणिक है क्योंकि यह प्रयोजन आदि तीन गुणों से समन्वित है। अतः सर्वसंयतों को सिर से नमस्कार करके इस लोक एवं परलोक में हितकारी ऐसे मूलगुणों का मैं वर्णन करूँगा—ऐसा पदघटना रूप अर्थ हुआ। अथवा मूलगुण और संयतों को—दोनों को नमस्कार किया समझना चाहिए। मूलगुणों को और सुविशुद्ध अर्थात् निर्मल चारित्रधारी संयतों

---

१. क 'न तु। २. क 'न स्वरूपावगमनम्'। ३. क 'मिदं शास्त्रं'। ४. क 'संबन्धित्वा'। ५. क 'तांश्च'।

मूलगुणान् कीर्तयिष्यामि, चशब्दोऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः। यथा पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशमित्यत्र।

मूलगुणकथनप्रतिज्ञां निर्वहन्नाचार्यः संग्रहसूत्रगाथाद्वयमाह*—

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोओ ॥२॥

आचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥

को नमस्कार करके मैं मूलगुणों को कहूँगा ऐसा अर्थ करना। यहाँ पर 'मूलगुणों को और संयतों को' इसमें जो चकार शब्द लेकर उसका अर्थ किया है वह गाथा में अनुक्त होते हुए भी लिया गया है। जैसे 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशम्' सूत्र में चकार अनुक्त होते हुए भी लिया जाता है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ऐसा अर्थ किया जाता है उसी प्रकार से उपर्युक्त में भी चकार के अर्थ के बारे में समझ लेना चाहिए ॥१॥

अब मूलगुणों के कथन की प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए आचार्य संग्रहसूत्र रूप दो गाथाओं को कहते हैं—

अर्थ—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्रदेव ने यतियों के लिए कहे हैं ॥२-३॥

---

*निम्नलिखित दो गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक हैं—

रत्नत्रय के साधक परिणाम—

(१) णाणादिरयणतियमिह, सज्झं तं साधयंति जमणियमा।
जत्थ जमा सस्सदिया, णियमा णियतप्पपरिणामा ॥२॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय साध्य है, यम और नियम इस रत्नत्रयरूप साध्य को सिद्ध करने वाले हैं। इसमें यम नामक उपाय शाश्वतिक यावज्जीवन के लिए होता है और नियम अल्पकालिक होने से नियतकाल के लिए ग्रहण किया जाता है।

भावार्थ—महाव्रत आदि आजीवन धारण करने योग्य होने से यमरूप हैं और सामायिक प्रतिक्रमण आदि अल्पकालावधि होने से नियम कहलाते हैं। ये यम-नियमरूप परिणाम रत्नत्रय प्राप्ति के साधन हैं।

मूलगुण और उत्तरगुण—

(२) ते मूलुत्तरसण्णा मूलगुणा महव्वदादि अडवीसा।
तवपरिसहादिभेदा, चोत्तीसा उत्तरगुणक्खा ॥३॥

अर्थ—ये मूलगुण और उत्तरगुण जीव के परिणाम हैं। महाव्रत आदि मूलगुण अट्ठाईस हैं, बारह तप और बाईस परीषह ये उत्तरगुण चौंतीस होते हैं।

पंच य—पंचसंख्यावचनमेतत् । चशब्द एवकारार्थः पंचैव न षट् । महव्वयाइं—महान्ति च तानि व्रतानि महाव्रतानि, महान् शब्दो महत्त्वे प्राधान्ये वर्तते, व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिवृत्तौ मोक्षावाप्ति-निमित्ताचरणे वर्तते, महद्भिरनुष्ठितत्वात् । स्वतः एव वा मोक्षप्रापकत्वेन महान्ति व्रतानि महाव्रतानि प्राणा-संयमनिवृत्तिकारणानि । समिदीओ—समितयः सम्यगयनानि समितयः सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेण गमना-दिषु प्रवृत्तयः समितयः व्रतवृत्तय इत्यर्थः । जिणवरुद्दिट्ठा—कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषां वराः श्रेष्ठास्तैरुपदिष्टाः प्रतिपादिता जिनवरोपदिष्टाः । एतेन स्वमनीषिकार्चचिता इमाः सर्वमूलगुणाभिधा न भवन्ति । आप्तवचनानुसारितया प्रामाण्यमासां समितीनां व्याख्यातं भवति । कियन्त्यस्ताः पंचैव नाधिकाः । पंचेंविदियरोहा—इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रियं, अथवा इन्द्रो नामकर्म तेन सृष्टमिन्द्रियं, तद् द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं च, चक्षुरिन्द्रियाद्यावरणक्षयोपशमजनितशक्तिर्भावेन्द्रियं तदुपकरणं द्रव्येन्द्रियं यतो 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं' चेति, रोधा अप्रवृत्तयः इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां रोधा इन्द्रियरोधाः सम्यक्ध्यानप्रवेशप्रवृत्तयः कियन्तस्ते पंचैव । छप्पि य—षडपि च षडव न सप्त नापि पंच । आवासया

आचारवृत्ति—गाथा में आया हुआ 'पंच' शब्द संख्यावाची है। 'च' शब्द एवकार के लिए है अर्थात् ये महाव्रत पाँच ही होते हैं, छह नहीं। जो महान् व्रत हैं उनको महाव्रत कहते हैं। यहाँ पर महान् शब्द महत्त्व अर्थ में और प्राधान्य अर्थ में लिया गया है। व्रत शब्द भी सावद्य से निवृत्तिरूप अर्थ में और मोक्ष की प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण अर्थ में है, क्योंकि ऐसे आचरण का महान् पुरुषों के द्वारा अनुष्ठान किया जाता है। अथवा स्वतः ही मोक्ष को प्राप्त करानेवाले होने से ये महान् व्रत महाव्रत कहलाते हैं। ये महाव्रत प्राणियों की हिंसा की निवृत्ति में कारणभूत हैं।

सम्यक् अयन अर्थात् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। सम्यक् अर्थात् शास्त्र में निरूपित क्रम से गमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करना समिति है। ये समितियाँ व्रत की रक्षा के लिए बाड़स्वरूप हैं। इनका जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है। कर्मशत्रु को जो जीतते हैं वे 'जिन' कहलाते हैं। उनमें वर अर्थात् जो श्रेष्ठ हैं वे जिनवर हैं। उनके द्वारा ये उपदिष्ट हैं, इस कथन से ये सभी मूलगुण अपनी बुद्धि से चर्चित नहीं हैं किन्तु ये आप्त वचनों का अनुसरण करनेवाले होने से प्रामाणिक हैं, ऐसा समझना चाहिए।

ये समितियाँ कितनी हैं? ये पाँच ही हैं, अधिक नहीं हैं। पाँच ही इन्द्रियनिरोध व्रत हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं, अथवा इन्द्र अर्थात् नामकर्म, उसके द्वारा जो निर्मित हैं वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की अपेक्षा दो भेद हैं। चक्षुइन्द्रिय आदि इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई शक्ति भावेन्द्रिय और उसके उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि 'लब्धि और उपयोग ये भावेन्द्रिय हैं तथा निर्वृत्ति और उपकरण ये द्रव्येन्द्रिय हैं' ऐसा सूत्रकारों का कथन है। इन इन्द्रियों की अर्थात् कर्ण आदि इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति नहीं करना रोध कहलाता है। सम्यक् ध्यान के प्रवेश में प्रवृत्ति करना अर्थात् धर्म-शुक्ल ध्यान में इन्द्रियों को प्रविष्ट करना यह इन्द्रियनिरोध है। ये कितने हैं? ये भी पाँच ही हैं।

अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। इन्हें निश्चय-क्रिया भी कहते हैं।

—अवश्यकर्तव्यानि आवश्यकानि निश्चयक्रियाः सर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थनियमाः। लोचो—लोचः हस्ताभ्यां मस्तककूर्चगतवालोत्पाटः। आचेलकं—चेलं वस्त्रं, उपलक्षणमात्रमेतत्, तेन सर्वपरिग्रहः श्रामण्यायोग्यः चेलशब्देनोच्यते न विद्यते चेलं यस्यासावचेलकः अचेलकस्य भावोऽचेलकत्वं वस्त्राभरणादिपरित्यागः। अण्हाणं—अस्नानं जलसेकोद्वर्तनाभ्यंगादिवर्जनम्। खिदिसयणं—क्षितौ पृथिव्यां तृणफलकपाषाणादौ शयनं स्वपनं क्षितिशयनं [1]स्थाण्डिलशायित्वम्। अदंतघंसणं चेव—दन्तानां घर्षणं मलापनयनं दन्तघर्षणं न दन्तघर्षणं अदन्तघर्षणं ताम्बूलदन्तकाष्ठादिवर्जनम्। चशब्दः समुच्चयार्थः। एवकारोऽवधारणार्थः। अदन्तघर्षणमेव च। ठिदिभोयणं—स्थितस्योर्ध्वतनोः[2]चतुरंगुलपादान्तरस्य भोजनम्। एयभत्तं—एकं च तद्भक्तं चैकभक्तं, एकवेलाहारग्रहणम्। मूलगुणा—मूलगुणा उत्तरगुणाधारभूताः। अट्ठवीसा दु—अष्टाविंशतिः तु शब्दोऽवधारणार्थः, अष्टभिरधिका विंशतिरष्टाविंशतिरष्टाविंशतिरेव मूलगुणा नोनाः नाप्यधिका इति।

द्रव्यार्थिकशिष्यानुग्रहाय संग्रहेण संख्यापूर्वकान् मूलगुणान् प्रतिपाद्य पर्यायार्थिकशिष्यावबोधनार्थं विभागेन वार्तिकद्वारेण तानेव प्रतिपादयन्नाह—

अर्थात् सर्व कर्म के निर्मूलन करने में समर्थ नियम विशेष को आवश्यक कहते हैं। ये आवश्यक छह ही हैं, सात अथवा पाँच नहीं हैं। हाथों से मस्तक और मूंछ के बालों का उखाड़ना लोच कहलाता है। चेल—यह शब्द उपलक्षण मात्र है, इससे श्रमण अवस्था के अयोग्य सम्पूर्ण परिग्रह को चेल शब्द से कहा गया है। नहीं है चेल जिनके, वे अचेलक हैं, अचेलक का भाव अचेलकत्व है अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्र आभरण आदि का परित्याग करना आचेलक्य व्रत है। जल का सिंचन, उबटन, (तैलमर्दन) अभ्यंगस्नान आदि का त्याग करना अस्नान व्रत है। क्षिति—पृथ्वी पर एवं तृण, फलक (पाटे), पाषाण-शिला आदि पर सोना क्षितिशयन गुण कहलाता है। यही स्थाण्डिल—खुले स्थान पर सोने रूप स्थाण्डिलशायी गुण है। दाँतों का घर्षण करना—दन्तमल को दूर करना दन्तघर्षण कहलाता है। दन्तघर्षण नहीं करना अदन्तघर्षण है अर्थात् तांबूल, दन्तकाष्ठ (दातोन) आदि का त्याग करना। पैरों के चार अंगुल अन्तराल से खड़े होकर भोजन करना स्थितिभोजन है। एक वेला में आहार ग्रहण करना एकभुक्त नाम का मूलगुण है। यहाँ गाथा में च शब्द समुच्चय अर्थ के लिए है और एवकार शब्द अवधारण अर्थात् निश्चय के लिए है। ये मूलगुण उत्तरगुणों के लिए आधारभूत हैं अर्थात् उत्तरगुणों के लिए जो आधारभूत हैं वे ही मूलगुण कहलाते हैं। मूलगुणों के बिना उत्तरगुण नहीं हो सकते हैं, ऐसा अभिप्राय है। ये मूलगुण अट्ठाईस होते हैं। यहाँ पर गाथा में तु शब्द अवधारण के लिए है अर्थात् ये मूलगुण अट्ठाईस ही हैं, न इससे कम हैं और न इससे अधिक ही हो सकते हैं।

द्रव्यार्थिक नय (सामान्य) से समझने वाले शिष्यों के अनुग्रह-हेतु संग्रह रूप से संख्यापूर्वक मूलगुणों का प्रतिपादन करके अब पर्यायार्थिक नय विशिष्टरूप से समझने वाले शिष्यों को समझाने के लिए विभागरूप से वार्तिक द्वारा उन्हीं मूलगुणों को प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं—

---

१. क °दंशोः। २. अस्य स्थाने जानोरिति पाठः।

हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च।
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ॥४॥

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्याचाराख्यस्य प्रवृत्तिः, उद्देशो, लक्षणं, परीक्षा इति। तत्र नामधेयेन मूलगुणाभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टानां तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्। लक्षितानां यथालक्षणमुपपद्यते नेति, प्रमाणैरर्थावधारणं परीक्षा तत्रोद्देशार्थमिदं सूत्रम्। उत्तरं पुनर्लक्षणम्, परीक्षा पुनरुत्तरत्र, एवं त्रिविधा व्याख्या। अथवा संग्रहविभागविस्तरस्वरूपेण त्रिविधा व्याख्या। अथवा सूत्रवृत्तिवार्तिकस्वरूपेण त्रिविधा। अथवा सूत्र-प्रतिसूत्र-विभाषासूत्रस्वरूपेण त्रिविधेति। एवं सर्वत्राभिसम्बन्धः कर्तव्य इति। हिंसाविरदी—प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं, प्रमादः सकषायत्वं, तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः, प्रमत्तस्य योगः प्रमत्तयोगस्तस्मात्प्रमत्तयोगाद्दशप्राणानां वियोगकरणं हिंसेति, तस्या विरतिः परिहारः हिंसाविरतिः सर्वजीवविषया दया। सच्चं—सत्यं असदभिधानत्यागः "असदभिधानमनृतं" सच्छब्दः प्रशंसावाची न सदसत् अप्रशस्तमिति यावत् असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानं, अनृतं—ऋतं सत्यं न ऋतं अनृतं किंपुनस्तदप्रशस्तं प्राणिपीडाकरं यद्वचनं तदप्रशस्तं विद्यमानार्थविषयमविद्यमानार्थविषयं वा तस्यासदभिधानस्य त्यागः सत्यं। अदत्तपरिवज्जणं

गाथार्थ—हिंसा का त्याग, सत्य बोलना, अदत्त वस्तुग्रहण का त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग ये पाँच महाव्रत जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गये हैं ॥४॥

आचारवृत्ति—इस आचार अर्थात् मूलाचार नाम के ग्रन्थ की प्रवृत्ति (रचना) तीन प्रकार की है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। उनमें से नाम रूप से मूलगुणों का कथन करना उद्देश है। कहे गये पदार्थों के स्वरूप की व्यवस्था करने वाला धर्म लक्षण कहलाता है और जिनका लक्षण किया गया है ऐसे पदार्थों का जैसे-का-तैसा लक्षण है या नहीं, इस प्रकार से प्रमाणों के द्वारा अर्थ का निर्णय (निश्चय) करना परीक्षा है। इनमें से उद्देश के लिए यह गाथा-सूत्र है। पुनः इसके आगे इनका लक्षण है, और परीक्षा आगे-आगे यथास्थान की गई है। इस प्रकार से व्याख्या तीन प्रकार की होती है।

अथवा संग्रह, विभाग और विस्तर रूप से तीन प्रकार की व्याख्या मानी गई है। अथवा सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के स्वरूप से भी व्याख्या तीन प्रकार की हो जाती है या सूत्र, प्रतिसूत्र और विभाषा सूत्र के स्वरूप से भी व्याख्या के तीन भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार से सभी जगह सम्बन्ध लगा लेना चाहिए।

प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण—वियोग करना हिंसा है। कषायसहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। कषायसहित आत्मा का परिणाम प्रमत्त कहलाता है। इस प्रमत्त का योग अर्थात् कषाय सहित परिणामों से मन-वचन-काय की क्रिया प्रमत्तयोग है। इस प्रमत्त-योग से दशप्राणों का वियोग करना हिंसा है। उस हिंसा का परिहार करना—सभी जीवों के ऊपर दया का होना ही अहिंसा महाव्रत है।

असत् बोलने का त्याग करना सत्यव्रत है। चूँकि 'असत् कथन करना अनृत है' ऐसा सूत्रकार का वचन है। यहाँ पर 'सत्' शब्द प्रशंसावाची है। जो सत् अर्थात् प्रशस्त नहीं है वह अप्रशस्तवचन असत् कहलाता है। अर्थात् अप्रशस्त अर्थ का कथन असत् अभिधान है। ऋत

—अदत्तपरिवर्जनं अदत्तस्य परिवर्जनं अदत्तपरिवर्जनं, "अदत्तादानं स्तेयं" आदानं ग्रहणं अदत्तस्य पतित-विस्मृत-स्थापितानुज्ञातादिकस्य ग्रहणं अदत्तादानं तस्य परित्यागोऽदत्तपरिवर्जनम्। चशब्दः समुच्चयार्थः। **बंभं च**—ब्रह्मचर्यं च, ब्रह्मेत्युच्यते जीवस्तस्यात्मवतः परांगसम्भोगनिवृत्तवृत्तेश्चर्या ब्रह्मचर्यमित्युच्यते मैथुनपरित्यागः। स्त्रीपुंसोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रतीच्छा मिथुनः, मिथुनस्य कर्म मैथुनं तस्य परित्यागो ब्रह्मचर्यमिति। **संगविमुत्तीय**—संगस्य परिग्रहस्य बाह्याभ्यन्तर-लक्षणस्य विमुक्तिः परित्यागः संगविमुक्तिः श्रामण्यायोग्यसर्ववस्तुपरित्यागः परिग्रहासक्त्यभावः। **तहा**—तथा तेनैवागमोक्तेन प्रकारेण। **महव्वयाइं**—महाव्रतानि सर्वसावद्यपरिहारकारणानि पंच न षट्। **पण्णत्ता**—प्रज्ञप्तानि प्रतिपादितानि कैर्जिनेन्द्रैरिति शेषः। महद्भिरनुष्ठितत्वात् स्वत एव वा महान्ति व्रतानि महाव्रतानि पंचैवेति ॥

जीवस्थानस्वरूपं [1]बन्धस्थानपरित्यागं च प्रतिपादयन् हिंसाविरतेर्लक्षणं प्रपंचयन्नाह—

सत्य को कहते हैं। जो ऋत नहीं है वह अनृत है। वह क्या है? जो प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न करनेवाले वचन हैं वे अप्रशस्त हैं। वे चाहे विद्यमान अर्थविषयक हों चाहे अविद्यमान अर्थविषयक हों, अप्रशस्त ही कहे जाते हैं। ऐसे वचनों का त्याग करना ही सत्य महाव्रत है।

अदत्त का वर्जन करना अचौर्यव्रत है, चूंकि 'अदत्त का ग्रहण चोरी है' ऐसा सूत्रकार का कथन है। गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुई और विना पूछे ग्रहण की हुई वस्तु अदत्त शब्द से कही जाती है। ऐसी अदत्त वस्तुओं का ग्रहण अदत्तादान है और इनका त्याग करना अचौर्यव्रत कहलाता है।

ब्रह्म शब्द का अर्थ जीव होता है। उस आत्मवान्—जितेन्द्रिय जीव की परांग संभोग के अभावरूप वृत्ति का नाम चर्या है। इस प्रकार से ब्रह्मचर्य शब्द की परिभाषा है जो कि मैथुन के परित्याग रूप है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग परिणाम आविष्ट हुए स्त्री और पुरुष की परस्पर में स्पर्श के प्रति जो इच्छा है उसका नाम मिथुन है और मिथुन की क्रिया को मैथुन कहते हैं। उसका परित्याग ब्रह्मचर्य है।

संग—बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की विमुक्ति—त्याग करना संगविमुक्ति है। अर्थात् श्रमण के अयोग्य सर्ववस्तु का त्याग करना और परिग्रह में आसक्ति का अभाव होना ही परिग्रह-त्याग महाव्रत है। इस तरह ही आगमोक्त प्रकार से सर्वसावद्य—पापक्रियाओं के परिहार में कारणभूत ये महाव्रत पाँच ही हैं, छह नहीं हैं और न चार हैं। ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने प्रतिपादन किया है। चूंकि महान् पुरुषों ने इनका अनुष्ठान किया है अथवा ये स्वतः ही महान् व्रत हैं इसीलिए ये महाव्रत कहलाते हैं। ये पाँच ही हैं ऐसा समझना चाहिए।

जीवस्थान का स्वरूप और बन्ध का परित्याग प्रतिपादित करते हुए हिंसाविरति के लक्षण को विस्तार से कहने के लिए आचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

---

१. क 'वध'।

कायेंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥५॥

काय—कायाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः तात्स्थ्यात् साहचर्याद्वा पृथिवीकायिकादयः काया इत्युच्यन्ते, आधारनिर्देशो वा, एवमन्यत्रापि योज्यम्। **इंदिय**—इन्द्रियाणि पंच स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। एकं स्पर्शनमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः। द्वे स्पर्शनरसने इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः। त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणानीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। पंच स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि येषां ते पंचेन्द्रियाः। **गुण**—गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिः, सासादनसम्यग्दृष्टिः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, असंयतसम्यग्दृष्टिः, संयतासंयतः, प्रमत्तसंयतः, अप्रमत्तसंयतः, अपूर्वकरणः उपशमकः क्षपकः, अनिवृत्तिकरणः उपशमकः क्षपकः, सूक्ष्मसाम्परायः उपशमकः क्षपकः, उपशान्तकषायः, क्षीणकषायः, सयोगकेवली, अयोगकेवली चेति चतुर्दशगुणस्थानानि। एतेषां स्वरूपं पर्याप्त्यधिकारे व्याख्यास्यामः, इति नेह प्रपंचः कृतः। **मग्गण**—मार्गणा यासु यकाभिर्वा जीवा मृग्यन्ते ताश्चतुर्दश मार्गणाः, गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञ्याहाराः एतासामपि स्वरूपं

गाथार्थ—काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि—इनमें सभी जीवों को जान करके कायोत्सर्ग (ठहरने) आदि में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है ॥५॥

आचारवृत्ति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये काय हैं, क्योंकि पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीव इन कायों में रहते हैं अथवा वे इन कायों के साथ रहते हैं इसलिए ये जीव ही यहाँ काय शब्द से कहे जाते हैं। अथवा यहाँ काय शब्द से जीवों के आधार का कथन किया गया है ऐसा समझना और इसी प्रकार से अन्यत्र भी लगा लेना चाहिए।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। एक स्पर्शनेन्द्रिय जिनके है वे जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ जिनके हैं वे द्वीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ जिनके हैं वे त्रीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ जिनके हैं वे चतुरिन्द्रिय हैं तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ जिनके हैं वे पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

गुण शब्द से गुणस्थान का ग्रहण होता है। ये गुणस्थान मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण में उपशम श्रेणी चढ़ने वाले उपशमक और क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले क्षपक, अनिवृत्तिकरण में उपशमक और क्षपक, सूक्ष्म साम्पराय में उपशमक और क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली—इस प्रकार से चौदह होते हैं। इनका स्वरूप आगे पर्याप्ति नामक अधिकार में कहेंगे, इसलिए यहाँ पर इनका विस्तार नहीं किया है।

जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीव खोजे जाते हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं। उनके चौदह

तत्रैव व्याख्यास्यामः। जीवस्थानानि चैकेन्द्रियवादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्त - द्वीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त - त्रीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त-चतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त - पंचेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताः। कुल—कुलानि जातिभेदाः, वटपलाशशंखशुक्तिमत्कुणपिपीलिकाभ्रमरपतङ्गमत्स्यमनुष्यादयः, सीमन्तकादिनारकभेदाः, भवनादिदेवविशेषाश्च। आऊ—आयुः देहधारणं, नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिस्थितिकारणानि। जोणि—योनयः जीवोत्पत्तिस्थानानि, सचित्ताचित्तमिश्रशीतोष्णमिश्रसंवृतविवृतमिश्राणि। एतेषां संख्याविशेषमुत्तरत्र व्याख्यास्यामः। कायाश्चेन्द्रियाणि च गुणस्थानानि च मार्गणाश्च कुलानि चायुश्च योनयश्च कायेन्द्रियगुणमार्गणाकुलायुर्योनयस्तासु तान् वा। सव्वजीवाणं—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवाः। सर्वशब्दः कात्स्न्यवचनः, जीवाः द्रव्यप्राणभावप्राणधारणसमर्थाः, तेषां सर्वजीवानाम्। णाऊण—ज्ञात्वा स्वरूपमवबुध्य। ठाणादिसु—स्थानं कायोत्सर्गः स आदिर्येषां ते स्थानादयस्तेषु स्थानादिषु, स्थानासनशयनगमनभोजनोद्वर्तनाकुंचनप्रसारणादिक्रियाविशेषेषु। हिंसा—प्राणव्यपरोपणं आदिर्येषां ते हिंसादयस्तेषां विवर्जनं हिंसादिविवर्जनं वधपरितापमर्दनादिपरिहरणमहिंसा। एतदहिंसाव्रतं कायेन्द्रियगुणमार्गणाकुलायुर्योनिविषयेषु स्थितानां जीवानां कायोत्सर्गादिषु प्रदेशेषु प्रयत्नवतो हिंसादिवर्जनं यत्तदहिंसाव्रतं स्यात्। अथवा

भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक। इनका स्वरूप भी उसी पर्याप्ति अधिकार में कहेंगे। जीवस्थान—जीव समास के भी चौदह भेद हैं जो इस प्रकार हैं—एकेन्द्रिय बादर-सूक्ष्म के पर्याप्त और अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय सैनी-असैनी के पर्याप्त और अपर्याप्त। जाति के भेद को कुल कहते हैं। वड़-पलाश, शंख-सीप, खटमल-चिवटी, भ्रमर-पतंग, मत्स्य और मनुष्य इत्यादि जातियों के भेद हैं। सीमन्त-पटल आदि की अपेक्षा नारकियों में भेद हैं। भवनवासी आदि से देवों में भेद हैं। ये भेद ही जाति-कुल नाम से यहाँ कहे गये हैं। शरीर के धारण को आयु कहते हैं। यह आयु नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति में स्थिति—रहने के लिए कारण है। जीव की उत्पत्ति के स्थान को योनि कहते हैं। इसके सचित्त, अचित्त, मिश्र; शीत, उष्ण, मिश्र; और संवृत, विवृत, मिश्र—ऐसे नव भेद हैं। इन योनियों की विशिष्ट संख्या आगे कहेंगे। इन काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनियों में सभी जीवों को जानकर अथवा इनको और सभी जीवों के स्वरूप को जानकर हिंसा से विरत होता है।

जीव के साथ जो सर्व विशेषण है वह सम्पूर्ण को कहने वाला है। जो द्रव्यप्राण और भावप्राण को धारण करने में समर्थ हैं वे जीव कहलाते हैं। स्थान शब्द से यहाँ कायोत्सर्ग अर्थात् खड़े होना, ठहरना यह अर्थ विवक्षित है और आदि शब्द से आसन, शयन, गमन, भोजन, शरीर का उद्वर्तन, संकोचन, प्रसारण आदि क्रियाविशेषों में जीवों के प्राणों का व्यपरोपण—वियोग करना हिंसा आदि है और इस हिंसा आदि का वर्जन करना—वध, परिताप, मर्दन आदि का परिहार करना अहिंसा है।

ठहरना आदि क्रियाओं के प्रदेशों में प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनि के हिंसादि का जो त्याग है वह अहिंसाव्रत है। अथवा काय, इन्द्रिय आदि को जान करके ठहरने आदि

कायेन्द्रियादीन् ज्ञात्वा स्थानादिषु क्रियासु जीवानां हिंसादिविवर्जनमहिंसा। कायादिस्वरूपेण
जीवानां हिंसादिपरिहरणमहिंसेति भावः ॥

द्वितीयस्य व्रतस्य स्वरूपमाह—

रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्ति।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥६॥

रागादीहिं—रागः स्नेहः स आदिर्येषां ते रागादयस्तै रागादिभी रागद्वेषमोहादि
र्ष्यादिभिश्च। **असच्चं**—असत्यं मृषाभिधानम्। **चत्ता**—त्यक्त्वा परिहृत्य। **परतावसच्च**
परतापसत्यवचनोक्ति परतापसत्यवचनमिति वा। परान् प्राणिनः तपति पीडयति परतापं,
तत्सत्यवचनं च परतापसत्यवचनम्। येन सत्येनापि वचनेन परेषां परितापादयो भवन्ति
त्यक्त्वा। **अयधावयणुज्झणं**—न यथा अयथा तच्च तद्वचनं चायथावचनं अपरमार्थवचनं। द्र
भावाद्यनपेक्षं सर्वथास्त्येवेत्येवमादिकं तस्य सर्वस्य उज्झनं परिहरणमयथावचनोज्झनं सदा

क्रियाओं में जीवों की हिंसादि का परिहार करना अहिंसा है। अर्थात् कायादि
रहने वाले जीवों की हिंसादि का परिहार करना अहिंसा है यह अभिप्राय है।

विशेषार्थ—जो काय आदि के आश्रित रहने वाले जीवों के भेद प्रभेदों क
पुनः गमन-आगमन भोजन, शरीर का हिलाना-डुलाना, संकोचना, हाथ-पैर आ
इत्यादि प्रसंगों में जीवों के वध से—उनको पीड़ा देने या कुचल देने इत्यादि से—घ
है वह हिंसा है, उसका त्याग ही अहिंसाव्रत है। अथवा कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं
में सावधानी रखते हुए जीवों के वध का परिहार करना अहिंसाव्रत है।

द्वितीय व्रत के स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—रागादि के द्वारा असत्य बोलने का त्याग करना और पर को त
वाले सत्य वचनों के भी कथन का त्याग करना तथा सूत्र और अर्थ के कहने मे
वचनों का त्याग करना सत्य महाव्रत है ॥६॥

आचारवृत्ति—राग—स्नेह है आदि में जिनके वे रागादि हैं। उन रागा
द्वेष, मोह आदि के द्वारा और पैशून्य, ईर्ष्या आदि के द्वारा असत्य वचनों का त्याग
पर प्राणियों को जो तपाते हैं, पीड़ा देते हैं वे वचन परताप कहलाते हैं। ऐसे सत्य
अर्थात् जिस सत्य वचन के द्वारा भी परजीवों को परिताप आदि होते हैं उन सत्य
भी छोड़ देवे। जो जैसे के तैसे नहीं हैं वे अयथा वचन हैं अर्थात् अपरमार्थ वचन हैं। द्र
काल और भाव आदि की अपेक्षा न करके 'सर्वथा अस्ति एव—सर्वथा ऐसा
इत्यादि प्रकार के सभी वचनों का परिहार करना अयथा वचन त्याग है। अथवा
आचार्य के द्वारा अन्यथा अर्थ कर देने पर भी दोष नहीं है अर्थात् यदि आचार्य

न्यथार्थकथने दोपाभावो वा सत्यमिति सम्बन्धः। सुत्तत्थाणविकहणे—सूत्रं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणि, अर्थो जीवादयः पदार्थास्तयोर्विकथनं प्रतिपादनं तस्मिन् सूत्रार्थविकथने, सूत्रस्य अर्थस्य च विकथने अयथावचनस्योत्सर्गोऽन्यथा न प्रतिपादनम्। सदाचारस्याचार्यस्य स्खलने दोपाभावो वा। सच्चं—सत्यमिति। रागादिभिरसत्यमभिधानमभिप्रायं च त्यक्त्वा, परितापकरं सत्यमपि त्यक्त्वा सूत्रार्थान्यथाकथनं च त्यक्त्वा आचार्यादीनां वचनस्खलने दोपं वा त्यक्त्वा यद्वचनं तत्सत्यव्रतमिति।

तृतीयव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु ॥७॥

गामादिसु—ग्रामो वृत्तिपरिक्षिप्तजननिवासः स आदिर्येषां ते ग्रामादयस्तेषु ग्रामादिषु ग्रामखेटकर्वटमटंवनगरोद्यानपथिशैलाटव्यादिषु। पडिदाइं—पतितमादिर्येषां तानि पतितादीनि पतितनष्टविस्मृतस्थापितादीनि। अप्पप्पहुदिं—अल्पं स्तोकं प्रभृतिरादिर्येषां तान्यल्पप्रभृतीनि स्तोकबहुसूक्ष्मस्थूलादीनि। परेण—अन्येन। संगहिदाइं—संगृहीतानि चात्मवशकृतानि च क्षेत्रवास्तुधनधान्यपुस्तकोपकरणच्छात्रादीनि तेपां सर्वेपां। णादाणं—नादानं न ग्रहणं आत्मीयकरणविवर्जनम्। परदव्वं—परद्रव्याणां। अदत्तपरिवज्जणं—अदत्तस्यापरित्यक्तस्यानभ्युपगतस्य च परिवर्जनं परिहरणं अदत्तपरिवर्जनं, अदत्तग्रहणेऽभिलापाभावः। तं तु—तदेतत्। परद्रव्याणां ग्रामादिषु पतितादीनामल्पबह्वादीनां

द्वादशांग अंग और चौदह पूर्वसूत्र कहलाते हैं। जीवादि पदार्थ अर्थ शब्द से कहे जाते हैं। इन सूत्र और अर्थ के प्रतिपादन करने में अयथावचन का त्याग करना अर्थात् सूत्र और अर्थ का अन्यथा कथन नहीं करना। अथवा सदाचार प्रवृत्तिवाले आचार्य के वचन स्खलन में दोप का अभाव मानना सत्य है। तात्पर्य यह है कि रागादि के द्वारा असत्य वचन ओर असत्य अभिप्राय को छोड़कर, पर के तापकारी ऐसे सत्यवचनों को भी छोड़ करके तथा सूत्र और अर्थ के अन्यथा कथन रूप वचन को भी छोड़ करके अथवा आचार्यादि के वचन स्खलन में दोष को छोड़ कर अर्थात् दोप को न ग्रहण करके जो वचन वोलना है वह सत्यव्रत है।

तृतीय व्रत का स्वरूप वतलाने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—ग्राम आदि में गिरी हुई, भूली हुई इत्यादि जो कुछ भी छोटी-बड़ी वस्तु है और जो पर के द्वारा संगृहीत है ऐसे परद्रव्य को ग्रहण नहीं करना सो अदत्त-परित्याग नाम का महाव्रत है ॥७॥

आचारवृत्ति—बाड़ से परिवेष्टित जनों के निवास को ग्राम कहते हैं। तथा 'आदि' शब्द से खेट, कर्वट, मटंब, नगर, उद्यान, मार्ग, पर्वत, अटवी आदि में गिरी हुई, खोई हुई, भूली हुई अथवा रखी हुई अल्प या वहुत अथवा सूक्ष्म-स्थूल आदि जो वस्तुएँ हैं; तथा जो अन्य के द्वारा संगृहीत है—अपने वनाये गये हैं ऐसे क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, पुस्तक, उपकरण और छात्र आदि हैं उनको ग्रहण नहीं करना अर्थात् उनको अपने वनाने का त्याग करना और पर के द्रव्यों को विना दिये हुए नहीं लेना, पर से विना पूछे हुए किसी वस्तु के ग्रहण

परेण संगृहीतानां च यदेतन्नादानमग्रहणं तददत्तपरिवर्जनं व्रतमिति। अथवा परद्रव्यं परेण संगृहीतं च ग्रामादिषु पतितादिकं चाल्पादिकं च नादानं नादेयं आत्मीयं न कर्तव्यमिति योऽयमभिप्रायस्तददत्तपरि-वर्जनं नामेति ॥

चतुर्थव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

मादुसुदाभगिणीव य दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥८॥

मादु—माता जननी। **सुदा**—सुता दुहिता। **भगिणीव य**—भगिनी स्वसा। इवौपम्ये द्रष्टव्य इवशब्द उपमार्थः चशब्दः समुच्चयार्थः। **दट्ठूण**—दृष्ट्वा सम्यक् ज्ञात्वा। **इत्थित्तियं**—स्त्रीणां त्रिकं वृद्धबालयौवनभेदात्। **पडिरूवं च**—प्रतिरूपं च। चित्रलेपभेदादिषु स्थितं प्रतिबिंबं देवमनुष्यतिरश्चां च रूपं। **इत्थिकहादिणियत्ती**—स्त्रीकथा आदिर्येषां ते स्त्रीकथादयस्तेभ्यो निवृत्तिः परिहारः स्त्रीकथादि-निवृत्तिः, वनिताकोमलालाप-मृदुस्पर्श-रूपालोकन-नृत्यगीतहासकटाक्षनिरीक्षणाद्यनुरागत्यागः। अथवा स्त्रीभक्तराजचौरकथानां परित्यागः रागादिभावेन तत्र प्रबन्धाभावः। **तिलोयपुज्जं**—त्रिभिर्लोकैः पूज्यं

का त्याग करना अदत्त परिवर्जन व्रत है अर्थात् अदत्त के ग्रहण करने में अभिलाषा का अभाव होना ही अचौर्यव्रत है। तात्पर्य यह हुआ कि ग्राम आदि में गिरा हुआ, भूला हुआ, अल्प अथवा बहुत जो परद्रव्य है और जो पर के द्वारा संगृहीत वस्तुएँ हैं उनका ग्रहण न न करना अदत्त त्याग नाम का व्रत है। अथवा परद्रव्य और पर के द्वारा संगृहीत वस्तु तथा ग्राम आदि में पतित इत्यादि अल्प-बहु आदि वस्तुओं को ग्रहण नहीं करना अर्थात् उनको अपनी नहीं करने रूप जो अभिप्राय है वह अचौर्य नाम का तृतीय व्रत है।

चतुर्थ व्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—तीन प्रकार की स्त्रियों को और उनके प्रतिरूप (चित्र) को माता, पुत्री और बहन के समान देखकर जो स्त्रीकथा आदि से निवृत्ति है वह तीन लोक में पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है ॥८॥

आचारवृत्ति—वृद्धा, बाला और युवती के भेद से तीन प्रकार की स्त्रियों को माता, पुत्री और बहिन के समान सम्यक् प्रकार से समझकर तथा चित्र, लेप आदि भेदों में बने हुए स्त्रियों के प्रतिबिम्ब को एवं देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी स्त्रियों के रूप देखकर उनसे विरक्त होना; स्त्रियों के कोमलवचन, उनका मृदुस्पर्श, उनके रूप का अवलोकन, उनके नृत्य, गीत, हास्य, कटाक्ष-निरीक्षण आदि में अनुराग का त्याग करना स्त्रीकथादि-निवृत्ति का अर्थ है। अथवा स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और चोरकथा इन विकथाओं का त्याग करना अर्थात् रागादि भाव से उनमें सम्बन्ध—आसक्ति—का अभाव होना, यह त्रिलोकपूज्य देवों से, भवनवासियों से और मनुष्यों से अर्चनीय ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है। गाथा में 'इव' शब्द उपमा के लिए है और 'च' शब्द समुच्चय के लिए।

तात्पर्य यह है कि देवी, मानुषी और तिर्यंचनियों के वृद्ध, बाल और यौवन स्वरूप

त्रिलोकपूज्यं देवभावनमनुष्यैरर्चनीयम्। हवे—भवेत्। बंभं—ब्रह्मचर्यम्। देवमनुष्यतिरश्चां वृद्धबालयौवनस्वरूपं स्त्रीत्रिकं दृष्ट्वा यथासंख्येन माता सुता भगिनीव चिन्तनीयम्। तेषां प्रतिरूपाणि च तथैव चिन्तनीयानि। स्त्रीकथादिकं च वर्जनीयम्। अनेन प्रकारेण सर्वपूज्यं ब्रह्मचर्यं नवप्रकारमेकाशीतिभेदं द्वाषष्ट्यधिकं शतं चेति ॥

पंचमव्रतस्वरूपपरीक्षार्थमुत्तरसूत्रमाह—

जीवणिबद्धाऽबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हि य णिम्ममोऽसंगो ॥९॥

जीवणिबद्धा—जीवेषु प्राणिषु निबद्धाः प्रतिबद्धा जीवनिबद्धाः प्राण्याश्रिता मिथ्यात्व-वेद राग-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-क्रोध-मान-माया-लोभादयः दासीदासगोऽश्वादयो वा। **अबद्धा**—अप्रतिबद्धा अनाश्रिता जीवपृथग्भूताः क्षेत्रवास्तुधनधान्यादयः। **परिग्गहा**—परिग्रहाः समन्तत आदानरूपा मूर्च्छा। **जीवसम्भवा**—जीवेभ्यः सम्भवो येषां ते जीवसम्भवा जीवोद्भवा मुक्ताफलशङ्खशुक्ति-

---

तीन प्रकार की अवस्थाओं को देखकर क्रम से उन्हें माता, पुत्री और बहन के समान समझना चाहिए। उनके प्रतिबिम्बों को भी देखकर वैसा समझना चाहिए। तथा स्त्रीकथा आदि का भी त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार से सर्वपूज्य ब्रह्मचर्य व्रत नवप्रकार का, इक्यासी प्रकार का और एक सौ बासठ प्रकार का होता है।

विशेषार्थ—स्त्री पर्याय तीन गतियों में पाई जाती है इसलिए स्त्री के मूलरूप से तीन भेद किये गये हैं। देवी में यद्यपि स्वभावतः बाल, वृद्ध और युवती का विकल्प नहीं होता तथापि विक्रिया से यह भेद सम्भव है। इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के बाल, वृद्ध और यौवन की अपेक्षा तीन अवस्थाएँ होती हैं। इस प्रकार ९ भेद हुए। ९ प्रकार के भेदों में मन वचन काय से गुणा करने पर २७ भेद एवं २७ को कृत, कारित अनुमोदना से गुणा करने पर ८१ भेद होते हैं। फिर ८१ को चेतन और अचेतन दो भेदों से गुणा कर दिया जाए तो १६२ की संख्या प्राप्त होती है। अचेतन का विकल्प काष्ठ-पाषाण आदि की प्रतिमाओं एवं चित्रों से सम्भव है।

अब पंचमव्रत के स्वरूप की परीक्षा के लिए अगला सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—जीव से सम्बन्धित, जीव से असम्बन्धित और जीव से उत्पन्न हुए ऐसे ये तीन प्रकार के परिग्रह हैं। इनका शक्ति से त्याग करना और इतर परिग्रह में (शरीर उपकरण आदि में) निर्मम होना यह असंग अर्थात् अपरिग्रह नाम का पाँचवाँ व्रत है। ९॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि अथवा दासी, दास, गो, अश्व आदि ये जीव से निबद्ध अर्थात् जीव के आश्रित परिग्रह हैं। जीव से पृथग्भूत क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य आदि जीव से अप्रतिबद्ध, जीव से अनाश्रित, परिग्रह हैं। जीवों से उत्पत्ति है जिनकी ऐसे मोती, शंख, सीप, चर्म, दाँत, कम्बल आदि अथवा श्रमणपने के अयोग्य क्रोध आदि परिग्रह जीवसम्भव कहलाते हैं। सब तरफ से ग्रहण करने रूप मूर्च्छा परिणाम को परिग्रह कहते हैं। इन सभी प्रकार के

चर्मदन्तकम्बलादयः क्रोधादयो वा श्रामण्यायोग्याः । चेव—चैव । तेसिं—तेषां सर्वेषां पूर्वोक्तानां । सक्कच्चागो—शक्त्या त्यागः सर्वात्मस्वरूपेणानभिलापः सर्वथापरिहारः । अथवा तेषां संगानां परिग्रहाणां त्यागः पाठान्तरम् । इयरम्हि य—इतरेषु च संयमज्ञानशौचोपकरणेषु । णिम्ममो—निर्मम ममत्वरहितत्वं निःसंगत्वम् । असंगो—असंगव्रतत्वम् । किमुक्तं भवति—जीवाश्रिता ये परिग्रहा ये चानाश्रिताः क्षेत्रादयः जीवसम्भवाश्च ये तेषां सर्वेषां मनोवाक्कायैः सर्वथा त्यागः इतरेषु च संयमाद्युपकरणेषु च असङ्गमतिमूर्च्छारहितत्वमित्येतदसङ्गव्रतमिति ॥

पंचमहाव्रतानां स्वरूपं भेदं च निरूप्य पंचसमितीनां भेदं स्वरूपं च निरूपयन्नाह—

इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥१०॥

इरिया—ईर्या गमनागमनादिकं । भाषा—भाषा वचनं सत्यमृषा - सत्यमृषाऽसत्यमृषाप्रवृत्तिकारणम् । एसणा—एषणा चतुर्विधाहारग्रहणवृत्तिः । णिक्खेवादाणं—निक्षेपो ग्रहीतस्य संस्थापनं आदानं स्थितस्य ग्रहणं निक्षेपादाने एवकारोऽवधारणार्थः । समिदीओ—समितयः सम्यक्प्रवृत्तयः । समितिशब्दः

परिग्रहों का शक्तिपूर्वक त्याग करना, सर्वात्मस्वरूप से इनकी अभिलाषा नहीं करना अर्थात् सर्वथा इनका परिहार करना, अथवा 'तेसिं संगच्चागो' ऐसा पाठान्तर होने से उसका यह अर्थ है—इन संग (परिग्रहों) का त्याग करना, और इतर अर्थात् संयम, ज्ञान तथा शौच के उपकरण में ममत्व रहित होना यह असंगव्रत अर्थात् अपरिग्रहव्रत कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि जो जीव के आश्रित परिग्रह हैं, जो जीव से अनाश्रित क्षेत्र आदि परिग्रह हैं और जो जीव से सम्भव परिग्रह हैं उन सबका मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करना और इतर संयम आदि के उपकरणों में आसक्ति नहीं रखना, अति मूर्च्छा से रहित होना, इस प्रकार से यह परिग्रहत्याग महाव्रत है।

पाँच महाव्रत का स्वरूप और भेदों का निरूपण करके अब पाँच समितियों के भेद और स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान तथा मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन—सम्यक्परित्याग ये समितियाँ पाँच प्रकार की ही हैं ॥१०॥

आचारवृत्ति—गमन-आगमन को ईर्या कहते हैं। सत्य, मृषा, सत्यमृषा, और असत्यमृषा अर्थात् सत्य, असत्य, उभय और अनुभय रूप प्रवृत्ति में कारणभूत वचन को भाषा कहते हैं। चतुर्विध आहार के ग्रहण की वृत्ति को एषणा कहते हैं। ग्रहण की हुई वस्तु को रखना निक्षेप है और रखी हुई का ग्रहण करना आदान है ऐसा निक्षेपादान का लक्षण है। मल-मूत्रादि का प्रतिष्ठापन अर्थात् सम्यक् प्रकार से परित्याग करना प्रतिष्ठापनिका का लक्षण है।

सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। यह समिति प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है। ईर्या की समिति ईर्यासमिति है अर्थात् सम्यक् प्रकार से अवलोकन करना, एकाग्रमना होते हुए प्रयत्नपूर्वक गमन-आगमन आदि करना। भाषा की समिति भाषा समिति है अर्थात् शास्त्र और धर्म से अविरुद्ध पूर्वापर विवेक सहित निष्ठुर आदि वचन न बोलना। एषणा आहार

प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ईर्यायाः समितिः ईर्यासमितिः सम्यगवलोकनं समाहितचित्तस्य प्रयत्नेन गमनागमनादिकम्। भाषायाः समितिः भाषासमितिः श्रुतधर्माविरोधेन पूर्वापरविवेकसहितमनिष्ठुरादिवचनम् । एषणायाः समितिरेषणासमितिः लोकजुगुप्सादिपरिहीनविशुद्धपिण्डग्रहणम् । निक्षेपादानयोः समितिर्निक्षेपादानसमितिश्चक्षुःपिच्छकप्रतिलेखनपूर्वकसयत्नग्रहणनिक्षेपादिः । **पदिठावणिया य**—प्रतिष्ठापनिका च, अत्रापि समितिशब्दः सम्बन्धनीयः, प्रतिष्ठापनासमितिर्जन्तुविवर्जितप्रदेशे सम्यगवलोक्य मलाद्युत्सर्गः। **तहा**—तथैव। **उच्चारादीण**—उच्चारादीनां मूत्रपुरीषादीनां प्रतिष्ठापना सम्यक्परित्यागो यः सा प्रतिष्ठापनासमितिः। **पंचविहा एव**—पंचप्रकारा एव समितयो भवन्तीत्यर्थः ।

सामान्येन पंचसमितीनां स्वरूपं निरूप्य विशेषार्थमुत्तरमाह—

फासुयमग्गेण दिवा जुंगतरप्पेहिणा सकज्जेण।
जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥११॥

फासुगमग्गेण—प्रगता असवो जीवा यस्मिन्नसौ प्रासुकः प्रासुकश्चासौ मार्गश्च प्रासुकमार्गो निरवद्यः पंथास्तेन प्रासुकमार्गेण, गजखरोष्ट्रगोमहिषीजनसमुदायोपमर्दितेन वर्त्मना। **दिवा**—दिवसे सूरोद्गमे प्रवृत्तचक्षुःप्रचारे। **जुगंतरप्पेहिणा**—युगान्तरं चतुर्हस्तप्रमाणं प्रेक्षते पश्यतीति युगान्तरप्रेक्षी तेन युगान्तरप्रेक्षिणा सम्यगवहितचित्तेन पदनिक्षेपप्रदेशमवलोकमानेन । **सकज्जेण**—कार्यं प्रयोजनं शास्त्रश्रवणतीर्थयात्रागुरुप्रेक्षणादिकं सह कार्येण वर्तते इति सकार्यस्तेन सकार्येण सप्रयोजनेन धर्मकार्यमन्तरेण न गन्तव्यमित्यर्थः। **जंतूणि**—जन्तून् जीवान् एकेन्द्रियप्रभृतीन् । **परिहरंतेण**—परिहरता अविराधयता।

की समिति एषणा समिति है अर्थात् लोक-निन्दा आदि से रहित विशुद्ध आहार का ग्रहण करना। निक्षेप और आदान की समिति निक्षेपादान समिति है अर्थात् नेत्र से देखकर और पिच्छिका से परिमार्जित करके यत्नपूर्वक किसी वस्तु को उठाना और रखना। प्रतिष्ठापना की समिति प्रतिष्ठापन समिति है अर्थात् जन्तु से रहित प्रदेश में सम्यक् प्रकार से देखकर मल-मूत्र आदि का त्याग करना। इस तरह ये पाँच प्रकार की ही समितियाँ होती हैं ऐसा अभिप्राय है।

सामान्य से पाँच समितियों का स्वरूप निरूपित करके अब उनके विशेष अर्थ के लिए उत्तरसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखनेवाले साधु के द्वारा दिवस में प्रासुकमार्ग से जीवों का परिहार करते हुए जो गमन है वह ईर्यासमिति है ॥११॥

आचारवृत्ति—'प्रगता असवो यस्मिन्'—निकल गये हैं प्राणी जिनमें से उसे प्रासुक कहते हैं। ऐसा प्रासुक—निरवद्य मार्ग है। उस प्रासुक मार्ग से अर्थात् हाथी, गधा, ऊँट, गाय, भैंस और मनुष्यों के समुदाय के गमन से उपमर्दित हुआ जो मार्ग है उस मार्ग से। दिवस में—सूर्य के उदित हो जाने पर, चक्षु से वस्तु स्पष्ट दिखने पर चार हाथ आगे जमीन को देखते हुए अर्थात् अच्छी तरह एकाग्रचित्तपूर्वक पैर रखने के स्थान का अवलोकन करते हुए, सकार्य अर्थात् शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन आदि प्रयोजन से, एकेन्द्रिय आदि जन्तुओं की विराधना न करते हुए, जो गमन करना होता है, वह ईर्यासमिति है। इससे यह भी समझना कि धर्मकार्य के बिना साधु को नहीं चलना चाहिए।

इरियासमिदी—ईर्यासमितिः। **हवे**—भवेत्। **गमणं**—गमनम्। सकार्येण युगान्तरप्रेक्षिणा संयतेन दिवसे प्रासुकमार्गेण यद्गमनं क्रियते सेर्यासमितिर्भवतीत्यर्थः। अथवा संयतस्य जन्तून् परिहरतो यद्गमनं सेर्यासमितिः॥

भाषासमितेः स्वरूपनिरूपणायोत्तरसूत्रमाह—

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं॥१२॥

पेसुण्ण—पिशुनस्य भावः **पैशून्यं** निर्दोषस्य दोषोद्भावनम्। **हास**—हसनं हासः हास्यकर्मोदयवशादधर्मार्थिहर्षः। **कक्कस**—कर्कशः श्रवणनिष्ठुरं कामयुद्धार्थप्रवर्तकं वचनम्। **परणिंदा**—परेषां निंदा जुगुप्सा परनिंदा। परेषां तथ्यानामतथ्यानां वा दोषाणामुद्भावनं प्रति समीहा अन्यगुणासहनम्। **अप्पपसंसा**—आत्मनः प्रशंसा स्तवः आत्मप्रशंसा स्वगुणाविष्करणाभिप्रायः। **विकहादी**—विकथा आदिर्येषां ते विकथादयः स्त्रीकथा, भक्तकथा, चौरकथा, राजकथादयः। एतेषां **पैशून्यादीनां** द्वंद्वसमासः। **वज्जित्ता**—वर्जयित्वा परिहृत्य। **सपरहियं**—स्वश्च परश्च स्वपरौ ताभ्यां हितं स्वपरहितं, आत्मनोऽन्यस्य च मुक्तकरं कर्मबंधकारणविमुक्तम्। **भासासमिदी**—भाषासमितिः। **हवे**—भवेत्। **कहणं**—कथनम्। **पैशून्य**-हासकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसाविकथादीन् वर्जयित्वा स्वपरहितं यदेतत् कथनं भाषासमितिर्भवतीत्यर्थः॥

एषणासमितिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

तात्पर्य यह है कि धर्मकार्य के निमित्त चार हाथ आगे देखते हुए साधु के द्वारा दिवस में प्रासुक मार्ग से जो गमन किया जाता है वह ईर्यासमिति कहलाती है। अथवा साधु का जीवों की विराधना न करते हुए जो गमन है वह ईर्यासमिति है।

अब भाषा समिति का निरूपण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—चुगली, हँसी, कठोरता, परनिन्दा, अपनी प्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर अपने और पर के लिए हितरूप बोलना भाषासमिति है॥१२॥

आचारवृत्ति—पिशुन—चुगली के भाव को पैशून्य कहते हैं अर्थात् निर्दोष के दोषों का उद्भावन करना, निर्दोष को दोष लगाना। हास्यकर्म के उदय से अधर्म के लिए हर्ष होना हास्य है। कान के लिए कठोर, काम और युद्ध के प्रवर्तक वचन कर्कश हैं। पर के सच्चे अथवा झूठे दोषों को प्रकट करने की इच्छा का होना अथवा अन्य के गुणों को सहन नहीं कर सकना यह परनिन्दा है। अपनी प्रशंसा-स्तुति करना अर्थात् अपने गुणों को प्रकट करने का अभिप्राय रखना और स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राजकथा आदि को कहना विकथादि हैं। इन चुगली आदि के वचनों को छोड़कर अपने और पर के लिए सुखकर अर्थात् कर्मबन्ध के कारणों से रहित वचन बोलना भाषासमिति है।

तात्पर्य यह है कि पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर स्व और पर के लिए हितकर जो कथन करना है वह भाषासमिति है।

अब एषणासमिति के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी।
सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणासमिदी ॥१३॥

छादालदोससुद्धं—षड्भिरधिका चत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशतश्च [षट्चत्वारिंशच्च] ते दोषाश्च षट्चत्वारिंशद्दोषाः तैः शुद्धं निर्मलं षट्चत्वारिंशद्दोषशुद्धं उद्गमोत्पादनैषणादिफलंकरहितम्। कारणजुत्तं—कारणैर्निमित्तैर्युक्तं सहितं कारणयुक्तं असातोदयजातबुभुक्षाप्रतीकारार्थं वैयावृत्यादिनिमित्तं च। विसुद्धणवकोडी—नव च ताः कोटयश्च विकल्पाश्च नवकोटयः विशुद्धा निर्गता नवकोटयो यस्माद्विशुद्धनवकोटि मनोवचनकायकृतकारितानुमतिरहितम्। सीदादि—शीतमादिर्यस्य तच्छीतादि शीतोष्णलवणसरसविरसरूक्षादिकम्। समभुत्ती—समा सदृशी भुक्तिर्भोजनं समभुक्तिः। शीतादौ समभुक्तिः शीतादिसमभुक्तिः शीतोष्णादिषु भक्ष्येषु रागद्वेषरहितत्वम्। परिसुद्धा—समन्ततो निर्मला। एसणासमिदी—एषणासमितिः। षट्चत्वारिंशद्दोषरहितं यदेतत् पिंडग्रहणं सकारणं मनोवचनकायकृतकारितानुमतिरहितं च शीतादौ समभुक्तिश्च, अनेन न्यायेनाचरतो निर्मलैषणासमितिर्भवतीत्यर्थः॥

आदाननिक्षेपसमितिस्वरूपं निरूपयन्नाह—

णाणुवहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥१४॥

णाणुवहि—ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्योपधिरुपकरणं ज्ञानोपधिर्ज्ञाननिमित्तं पुस्तकादि। संजमुवहिं—संयमस्य पापक्रियानिवृत्तिलक्षणस्योपधि[1]रुपकरणं संयमोपधिः प्राणिदयानिमित्तं पिच्छिकादिः। सउचुवहिं

गाथार्थ—छयालीस दोषों से रहित शुद्ध, कारण से सहित, नव कोटि से विशुद्ध और शीत-उष्ण आदि में समान भाव से भोजन करना यह सम्पूर्णतया निर्दोष एषणा समिति है ॥१३॥

आचारवृत्ति—उद्गम, उत्पादन, एषणा आदि छयालीस दोषों से शुद्ध आहार निर्दोष कहलाता है। असाता के उदय से उत्पन्न हुई भूख के प्रतीकार हेतु और वैयावृत्य आदि के निमित्त किया गया आहार कारणयुक्त होता है। मन-वचन-काय को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणित करने पर नव होते हैं। इन नवकोटि-विकल्पों से रहित आहार नव-कोटि-विशुद्ध है। ठण्डा, गर्म, लवण से सरस या विरस अथवा रूक्ष आदि भोजन में समानभाव अर्थात् शीत, उष्ण आदि भोज्य वस्तुओं में राग-द्वेषरहित होना, इस प्रकार सब तरफ से निर्मल-निर्दोष आहार ग्रहण करना एषणासमिति होती है। तात्पर्य यह है कि छयालीस दोषरहित जो आहार का ग्रहण है जो कि कारण सहित है और मन-वचन-कायपूर्वक कृत-कारित-अनुमोदना से रहित तथा शीतादि में समता भावरूप है वह साधु के निर्मल एषणासमिति होती है।

अब आदाननिक्षेपण समिति के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान का उपकरण, संयम का उपकरण, शौच का उपकरण अथवा अन्य भी उपकरण को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है ॥१४॥

आचारवृत्ति—ज्ञान—श्रुतज्ञान के उपधि—उपकरण अर्थात् ज्ञान के निमित्त पुस्तक आदि ज्ञानोपधि हैं। पापक्रिया से निवृत्ति लक्षणवाले संयम के उपकरण अर्थात् प्राणियों की

१. क °धिः कारणं।

—शौचस्य पुरीषादिमलापहरणस्योपधि उपकरणं[1] शौचोपधिर्मूत्रपुरीषादिप्रक्षालननिमित्तं कुंडिकादिद्रव्यम्। ज्ञानोपधिश्च संयमोपधिश्च शौचोपधिश्च ज्ञानोपधिसंयमोपधिशौचोपधयस्तेषां ज्ञानाद्युपधीनाम्। **अण्णमवि**—अन्यस्यापि संस्तरादिकस्य। **उवहिं वा**—उपधेर्वा उपकरणस्य संस्तरादिनिमित्तस्य उपकरणस्य प्राकृतलक्षणबलादत्र षष्ठीविभक्तिर्द्रष्टव्या। **पयदं**—प्रयत्नेनोपयोगं कृत्वा। **गहणिक्खेवो**—ग्रहणं ग्रहः निक्षेपणं निक्षेपः, ग्रहश्च निक्षेपश्च ग्रहनिक्षेपौ। **समिदी**—समितिः। **आदाणणिक्खेवा**—आदाननिक्षेपौ। ज्ञानोपधिसंयमोपधिशौचोपधीनामन्यस्य चोपधेर्यत्नेन यौ ग्रहणनिक्षेपौ प्रतिलेखनपूर्वकौ सा आदाननिक्षेपा समितिर्भवतीत्यर्थः॥

पंचमसमितिस्वरूपनिरूपणायाह—

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी॥१५॥

एगंते—एकान्ते विजने यत्रासंयतजनप्रचारो नास्ति। **अच्चित्ते**—हरितकायत्रसकायादिविविक्ते दग्धे—दग्धसमे स्थण्डिले। **दूरे**—ग्रामादिकाद्विप्रकृष्टे प्रदेशे। **गूढे**—संवृते जनानामचक्षुर्विषये। **विसालं**—

दया के निमित्त पिच्छिका आदि संयमोपधि हैं। मल आदि के दूर करने के उपकरण अर्थात् मलमूत्रादि प्रक्षालन के निमित्त कमण्डलु आदि द्रव्य शौचोपधि हैं। अन्य भी उपधि का अर्थ है संस्तर आदि उपकरण। अर्थात् घास, पाटा आदि वस्तुएँ। इन सब उपकरणों को प्रयत्नपूर्वक अर्थात् उपयोग स्थिर करके सावधानीपूर्वक ग्रहण करना तथा देख शोधकर ही रखना यह आदान-निक्षेपण समिति है। यहाँ गाथा में 'उपधि' शब्द में द्वितीया विभक्ति है किन्तु प्राकृतव्याकरण के बल से यहाँ पर षष्ठी विभक्ति का अर्थ लेना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण तथा अन्य भी उपधि (वस्तुओं) का सावधानीपूर्वक पिच्छिका से प्रतिलेखन करके जो उठाना और धरना है वह आदान-निक्षेपण समिति है।

अब पाँचवीं समिति का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—एकान्त, जीवजन्तु रहित, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोधरहित स्थान में मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है॥१५॥

आचारवृत्ति—जहाँ पर असंयतजनों का गमनागमन नहीं है ऐसे विजन स्थान को एकान्त कहते हैं। हरितकाय और त्रसकाय आदि से रहित जले हुए अथवा जले के समान ऐसे स्थण्डिल—खुले मैदान को अचित्त कहा है।* ग्राम आदि से दूर स्थान को यहाँ दूर शब्द

---

१. क °धिः कारणं।

* निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥१८॥

अर्थ—जीव मरें चाहे न मरें किन्तु अयत्नाचारप्रवृत्ति वाले के निश्चित ही हिंसा होती है और समितियुक्त यत्नाचार प्रवृत्ति करनेवाले के हिंसा हो जाने मात्र से भी बन्ध नहीं होता है।

विशाले विस्तीर्णे विलादिविरहिते। अविरोहे—अविरोधे यत्र लोकापवादो नास्ति । उच्चारादि—उच्चारो मलं आदिर्यस्य स उच्चारादिस्तस्य उच्चारादेः मूत्रपुरीषादेः । चाओ—त्यागः । पदिठावणिया—प्रतिष्ठापतिका। हवे—भवेत् । समिदी—समितिः । एकान्ताचित्तदूरगूढविशालाविरोधेषु प्रदेशेषु यत्नेन कायमलादेर्यस्त्यागः सा उच्चारप्रस्रवणप्रतिष्ठापनिका समितिर्भवतीत्यर्थः।

इन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणायोत्तरविभागसूत्रमाह—

चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥१६॥

चक्खु—चक्षुः। सोदं—श्रोत्रम् । घाणं—घ्राणम् । जिब्भा—जिह्वा। फासं—स्पर्शः । च समुच्चयार्थः । इंदिया—इन्द्रियाणि मतिज्ञानावरणक्षयोपशमशक्तयः । इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं चेति । तत्र द्रव्येन्द्रियं द्विविधं निर्वृत्तिरुपकरणं च। कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः, सा च द्विविधा बाह्याभ्यन्तरा चेति उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुःश्रोत्रघ्राण-रसनस्पर्शनेन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । तेषु आत्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाग् यः प्रतिनियतसंस्थाननामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः। येन निर्वृत्ते-रुपकारः क्रियते तदुपकरणं । तदपि द्विविधं आभ्यन्तरबाह्यभेदेन। तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलं। बाह्य-

---

से सूचित किया है । संवृत्त—मर्यादा सहित स्थान अर्थात् जहाँ लोगों की दृष्टि नहीं पड़ सकती ऐसे स्थान को गूढ़ कहते हैं । विस्तीर्ण या विलादि से रहित स्थान विशाल कहा गया है और जहाँ पर लोगों का विरोध नहीं है वह अविरुद्ध स्थान है । ऐसे स्थान में शरीर के मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना नाम की समिति है। तात्पर्य यह हुआ कि एकान्त, अचित्त, दूर, गूढ़, विशाल और विरोधरहित प्रदेशों में सावधानीपूर्वक जो मल आदि का त्याग करना है वह मल-मूत्र विसर्जन के रूप में प्रतिष्ठापन समिति होती है ।

अब इन्द्रियनिरोध व्रत के स्वरूप का निरूपण करने के लिए उत्तरविभाग सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—मुनि को चाहिए कि वह चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन इन पांच इन्द्रियों को अपने विषयों से हमेशा रोके ॥१६॥

आचारवृत्ति—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श ये इन्द्रियाँ हैं अर्थात् मतिज्ञाना-वरण के क्षयोपशम की शक्ति का नाम इन्द्रिय है। इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। उनमें द्रव्येन्द्रिय के भी दो भेद हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। कर्म के द्वारा जो बनायी जाती है वह निर्वृत्ति है । उसके भी दो भेद हैं— आभ्यंतर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण, शुद्ध आत्मा के प्रदेशों का प्रतिनियत चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियों के आकार से अवस्थित होना आभ्यन्तर-निर्वृत्ति है और उन आत्म-प्रदेशों में इन्द्रिय इस नाम को प्राप्त प्रतिनियत आकार रूप नामकर्म के उदय से होनेवाला अवस्था विशेष रूप जो पुद्गल वर्गणाओं का समूह है वह बाह्य निर्वृत्ति है। जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है वह उपकरण है। आभ्यन्तर और बाह्य की अपेक्षा उसके

मक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रियरसनेन्द्रियस्पर्शनेन्द्रियाणां वक्तव्यं वाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यम्। भावेन्द्रियमपि द्विविधं लब्ध्युपयोगभेदेन। लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते सा लब्धिः। तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात्। वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमांगोपांगनामलाभावष्टम्भवलादात्मना स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्, रस्यतेऽनेनेति रसनम्, घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम्, चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः, श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्। स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते कर्तृकरणयोरभेदात्। इदं मे चक्षुः सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति। स्पृशतीति स्पर्शनम्। रसतीति रसनम्। जिघ्रतीति घ्राणम्। चष्टे इति चक्षुः। शृणोतीति श्रोत्रमिति। एवमिन्द्रियाणि पंच। तद्विषयाश्च पंच। वर्ण्यत इति वर्णः। शब्द्यते इति शब्दः। गन्ध्यत इति गन्धः। रस्यत इति रसः। स्पृश्यत इति स्पर्शः इति। **पंच**—संख्यावचनमेतत्। **सगसगविसएहिंतो**—स्वकीयेभ्यः स्वकीयेभ्यो विषयेभ्यो रूपशब्दगन्धरसस्पर्शेभ्यः स्वभेद-

---

भी दो भेद हैं। चक्षु इन्द्रिय का काला और सफेद जो मण्डल है वह आभ्यन्तर उपकरण है और नेत्रों की पलक विरूनि आदि बाह्य उपकरण हैं। ऐसे ही श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय इनमें बाह्य और आभ्यन्तर निर्वृत्ति तथा उपकरण के भेदों को समझना चाहिए।

भावेन्द्रियों के भी दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग। लंभनं लब्धिः अर्थात् प्राप्त करना लब्धि है। वह ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष है अर्थात् जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापार करता है वह लब्धि है। उस निमित्तक आत्मा का परिणाम उपयोग है क्योंकि कारण का धर्म कार्य में देखा जाता है। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामक नामकर्म के लाभ से प्राप्त हुए वल से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन है। इन्हीं उपर्युक्त कर्मो के क्षयोपशम और उदय के वल से अर्थात् वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण के अन्तर्गत रसनेन्द्रिय आवरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से आत्मा जिसके द्वारा चखता है उसको रसना कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा जिसके द्वारा सूँघता है वह घ्राणेन्द्रिय है। आत्मा जिसके द्वारा पदार्थों को 'चष्टे' अर्थात् देखता है वह चक्षु है और जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र है। ये उपर्युक्त लक्षण करण की अपेक्षा से कहे गये हैं अर्थात् 'स्पर्श्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्' इत्यादि। इस व्युत्पत्ति के अर्थ में इन्द्रियाँ अप्रधान हैं। इनमें स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है क्योंकि कर्ता और करण में अभेद पाया जाता है। जैसे—'इदं मे चक्षुः सुष्ठु पश्यति' इत्यादि। अर्थात् यह मेरी आँख ठीक से देखती है, यह मेरा कान अच्छा सुनता है, इत्यादि। इसी प्रकार जो स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जो चखता है वह रसना है, जो सूँघता है वह घ्राण है, जो देखती है वह चक्षु है और जो सुनता है वह कान है। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ पाँच हैं।

इन इन्द्रियों के विषय भी पाँच प्रकार के हैं—जो देखा जाता है वह वर्ण है; जो ध्वनित होता है, सुना जाता है वह शब्द है; जो सूँघा जाता है वह गन्ध है; जो चखा जाता है वह रस है और जो स्पर्शित किया जाता है वह स्पर्श है। गाथा में 'पंच' शब्द संख्यावाची है। स्वकीय भेदों से भेदरूप सुन्दर और असुन्दर ऐसे रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श स्वरूप अपने-

भिन्नेभ्यो मनोहरामनोहररूपेभ्यः । णिरोहियव्वा—निरोधयितव्यानि—सम्यक् ध्याने प्रवेशयितव्यानि। सया—सदा सर्वकालम्। मुणिणा—मुनिना संयमप्रियेण। स्वकीयेभ्यः स्वकीयेभ्यो विषयेभ्यो रूपशब्द-गन्धरसस्पर्शेभ्यश्चक्षुरादीनां निरोधनानि मुनेर्यानि तानि पंच इन्द्रियनिरोधनानि पंच मूलगुणा भवन्तीत्यर्थः। अथवा ये पंच निरोधा इंद्रियाणां क्रियंते मुनिना स्वविषयेभ्यस्ते पंचेंद्रिय-निरोधाः पंच मूलगुणा भवन्तीत्यर्थः।

प्रथमस्य चक्षुर्निरोधव्रतस्य स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु ।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥१७॥

सच्चित्ताचित्ताणं—सहचित्तेन सामान्यज्ञानदर्शनोपयोगनिमित्तचैतन्येन वर्तन्त इति सचित्तानि सजीवरूपाणि देवमनुष्यादियोषिद्रूपाणि, न चित्तानि अचित्तानि सचित्तद्रव्यप्रतिबिम्बानि, अजीव-द्रव्याणि च। सचित्तानि, चाचित्तानि च सचित्ताचित्तानि, तेषां सचित्ताचित्तानाम्। **किरियासंठाणवण्ण-भेएसु**—क्रिया गीतविलासनृत्यचंक्रमणात्मिका, संस्थानं समचतुरस्रन्यग्रोधाद्यात्मकं वैशाखवन्धपुटाद्यात्मकं च, वर्णाः गौरश्यामादयः। क्रिया च संस्थानं च वर्णाश्च क्रियासंस्थानवर्णाः, तेषां भेदा विकल्पाः क्रियासंस्थान-

---

अपने विषयों से इन पाँचों इन्द्रियों का निरोध करना चाहिए अर्थात् मुनियों को हमेशा इन्हें समीचीन ध्यान में प्रवेश कराना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श-स्वरूप अपने-अपने विषयों से मुनि के जो चक्षु आदि इन्द्रियों के निरोध होते हैं वे पांच इन्द्रिय निरोध मूलगुण कहलाते हैं। अथवा मुनि के द्वारा पाँच इन्द्रियों का जो अपने विषयों से रोकना है वे ही पाँच इन्द्रिय-निरोध नाम के मूलगुण होते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर पाँच इन्द्रियों में चक्षुइन्द्रिय को पहले लेकर पुनः कर्णेन्द्रिय को लिया है, अनन्तर घ्राण, रसना और स्पर्शन को लिया है। सिद्धान्त ग्रन्थों में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ऐसा क्रम लिया जाता है। इन दोनों प्रकारों में परस्पर में कोई बाधा नहीं है। वहाँ सिद्धान्त में उत्पत्ति की अपेक्षा इन्द्रियों का क्रम है क्योंकि जो एकेन्द्रिय हैं उनके एक स्पर्शन ही है न कि चक्षु; जो दो-इन्द्रिय जीव हैं उनके स्पर्शन और रसना, जो तीन-इन्द्रिय जीव हैं उनके स्पर्शन, रसना और घ्राण; चार-इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु तथा पाँच-इन्द्रिय जीवों के कर्ण और मिलाकर पाँच इन्द्रियाँ हो जाती हैं। परन्तु यहाँ पर क्रम की कोई विवक्षा नहीं, मात्र पांचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकने में पाँच मूलगुण हो जाते हैं अतः यहाँ अक्रम से लेने में भी कोई बाधा नहीं है।

अब प्रथम चक्षुनिरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—सचेतन और अचेतन पदार्थों के क्रिया, आकार और वर्ण के भेदों में मुनि के जो राग-द्वेष आदि संग का त्याग है वह चक्षुनिरोध व्रत होता है ॥१७॥

आचारवृत्ति—सामान्य ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग निमित्तक चैतन्य को चित्त कहते हैं। उसके साथ जो रहते हैं वे सचित्त हैं अर्थात् देव, मनुष्य आदि के, स्त्रियों के सजीव रूप सचित्त हैं, सचित्त द्रव्य के प्रतिबिम्ब और अजीवद्रव्य अचित्त हैं। इन सचेतन और अचेतन पदार्थों की गीत, विलास, नृत्य, गमन आदि क्रियाओं में, इनके समचतुरस्र, न्यग्रोध आदि

सवर्णभेदास्तेषु क्रियासंस्थानवर्णभेदेषु, नृत्यगीतकटाक्षनिरीक्षणसमचतुरस्राकारगौरश्यामादिविकल्पेषु, शोभनाशोभनेषु। रागादिसंगहरणं—राग आदिर्येषां ते रागादयः रागादयश्च ते संगाश्च रागादिसंगाः संगाश्चासक्तयस्तेषां हरणं निराकरणं रागादिसंगहरणं रागद्वेषाद्यनभिलापः। चक्खुणिरोहो—चक्षुषोर्निरोधश्चक्षुर्निरोधः चक्षुरिन्द्रियाप्रसरः। हवे—भवेत्। मुणिणो—मुनेरिन्द्रियसंयमनायकस्य। स्त्रीपुरुषाणां स्वरूपलेपकर्मादिव्यवस्थितानां ये क्रियासंस्थानवर्णभेदास्तद्विषये यदेतत् रागादिनिराकरणं तच्चक्षुर्निरोधव्रतं मुनेर्भवतीत्यर्थः॥

श्रोत्रेन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

सड्जादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु॥१८॥

सड्जादिजीवसद्दे—षड्जः स्वरविशेषः स आदिर्येषां ते षड्जादयः जीवस्य शब्दा जीवशब्दाः षड्जा-

---

आकारों और वैशाख तथा बन्धपुट आदि आसनों में और गौर श्याम आदि वर्णों में अर्थात् नर्तन, गीत, कटाक्ष, निरीक्षण, समचतुरस्र आकार और गौर-श्याम आदि तथा सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक भेदों में राग-द्वेषपूर्वक आसक्ति का त्याग करना अर्थात् राग-द्वेष आदि पूर्वक अभिलाषा नहीं होना—यह इन्द्रियसंयम के स्वामी मुनि का चक्षुनिरोध व्रत है।

विशेषार्थ—उपयोग को भावेन्द्रिय में भी लिया है और जीव का आत्मभूत लक्षण भी उपयोग है जोकि सिद्धों में भी पाया जाता है, दोनों में क्या अन्तर है? और यदि अन्तर न माना जाये तो सिद्धों में भी भावेन्द्रिय का सद्भाव मानना पड़ेगा। इसपर धवला टीकाकार ने बताया है*—'क्षयोपशमजनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति, तस्य क्षायिकभावेनापसारित्वात्।' अर्थात् क्षयोपशम से उत्पन्न हुए उपयोग को इन्द्रिय कहते हैं। किन्तु जिनके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे सिद्धों में क्षयोपशम नहीं पाया जाता है क्योंकि वह क्षायिकभाव के द्वारा दूर कर दिया जाता है। अभिप्राय यह कि भावेन्द्रियों में जो उपयोग लिया है वह भी यद्यपि आत्मा का ही परिणाम है तो भी वह कर्मों के क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है और सिद्धों को भावेन्द्रियाँ न होने के कारण उनका उपयोग पूर्णतया ज्ञान-दर्शन रूप होने से क्षायिक है अतः वह इन्द्रियों में गर्भित नहीं है।

तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप में या लेपकर्म आदि में बने हुए जो स्त्री या पुरुष हैं उनकी क्रियाओं, आकार और वर्णभेदों में जो राग-द्वेष आदि का निराकरण करना है वह मुनि का चक्षुनिरोध नाम का व्रत है।

अब श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि शब्द और वीणा आदि अजीव से उत्पन्न हुए शब्द—ये सभी रागादि के निमित्त हैं। इनका नहीं करना कर्णेन्द्रिय-निरोध व्रत है॥१८॥

आचारवृत्ति—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत, पंचम और निषाद के भेदों की

---

* धवला पु. प्र. पृ. २५१।

दयश्च जीवशब्दाश्च षड्जादिजीवशब्दाः षड्जर्षभगान्धारमध्यमधैवतपंचमनिषादभेदा उरःकण्ठशिरःस्थान-भेदभिन्नाः, आरोह्यवरोहिस्थायिसंचारिवर्णयुक्ता मन्द्रतारादिसमन्विताः, अन्ये च दुःस्वरशब्दा रासभादि-समुत्था ग्राह्याः। वीणादिअजीवसंभवा—वीणा आदिर्येषां ते वीणादयो वीणादयश्च ते अजीवाश्च वीणाद्यजीवा-स्तेभ्यः संभवन्तीति वीणाद्यजीवसम्भवा वीणा-त्रिशरी-रावणहस्तालावनि-मृदंग-भेरी-पटहादुद्भवाः । सद्दे-शब्दाः। रागादीण—राग आदिर्येषां ते रागादयस्तेषां रागादीनां रागद्वेषादीनाम्। णिमित्ते—निमित्तानि हेतवो रागादिकारणभूताः। तदकरणं—तेषां षड्जादीनामकरणमश्रवणं च तदकरणं स्वतो न कर्तव्या नापि तेऽन्यैः क्रियमाणा रागाद्याविष्टचेतसा श्रोतव्या इति। सोदरोधो दु—श्रोत्रस्य श्रोत्रेन्द्रियस्य रोधः श्रोत्ररोधः। दु विशेषार्थः। रागादिहेतवो ये षड्जादयो जीवशब्दा वीणाद्यजीवसम्भवाश्च, तेषां यदश्रवणं आत्मना अकरणं च तच्छ्रोत्रव्रतं मुनेर्भवतीत्यर्थः। अथवा षड्जादिजीवशब्दविषये वीणाद्यजीवसंभवे शब्दविषये च रागादीनां यन्नि-मित्तं तस्याकरणमिति ॥

तृतीयस्य घ्राणेन्द्रियनिरोधव्रतस्य स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे[1] सुहे असुहे ।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥१९॥

अपेक्षा जीव से उत्पन्न हुए शब्दों के सात भेद हैं। छाती, कण्ठ, मस्तक स्थान से उत्पन्न होने की अपेक्षा भी शब्दों के अनेक भेद हैं। आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी वर्णों से युक्त मन्द्र तार आदि ध्वनि से सहित भी नाना प्रकार के शब्द जीवगत देखे जाते हैं और अन्य भी, गधे आदि से उत्पन्न हुए दुःस्वर शब्द भी यहाँ ग्रहण किये जाते हैं। वीणा, त्रिशरी, रावण के हाथ की आलावनि°, मृदंग, भेरी, पटह आदि से होनेवाले शब्द अजीव से उत्पन्न होते हैं अतः ये अजीवसंभव कहलाते हैं। ये सभी प्रकार के शब्द राग-द्वेष आदि के निमित्तभूत हैं। इन शब्दों को न करना और न सुनना अर्थात् राग-द्वेष के कारणभूत इन शब्दों को न स्वयं करना और न ही दूसरों द्वारा किये जाने पर रागादि युक्त मन से इनको सुनना—यह श्रोत्रेन्द्रिय-निरोधव्रत है। तात्पर्य यह कि षड्ज आदि जीव-शब्द और वीणा आदि से उत्पन्न हुए अजीव-शब्द—ये सभी राग-द्वेष आदि के हेतु हैं। इनका जो नहीं सुनना और नहीं करना है मुनि का वह श्रोत्रव्रत कहलाता है। अथवा संक्षेप में यह समझिए कि षड्जादि जीव शब्द के विषयों में और वीणादि से उत्पन्न अजीव शब्द के विषयों में राग-द्वेषादि का निमित्त है। उसे नहीं करना श्रोत्रेन्द्रियजय है।

अब तृतीय घ्राणेन्द्रियनिरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—जीव और अजीवस्वरूप सुख और दुःखरूप प्राकृतिक तथा पर-निमित्तिक गन्ध में जो राग-द्वेष का नहीं करना है वह मुनिराज का घ्राणेन्द्रियजय व्रत है ॥१९॥

---

१. क 'रस्यगे'।

° पद्मपुराण में चर्चा है कि रावण ने बालि मुनि की स्तुति अपने हाथ की नसें निकालकर की थी। इसी को लक्ष्य कर रावणहस्तालावनि वाद्य विशेष का नाम प्रचलित हुआ जान पड़ता है।

पयडीवासणगंधे—प्रकृतिः स्वभावः, वासना अन्यद्रव्यकृतसंस्कारः, प्रकृतिश्च वासना च प्रकृतिवासने ताभ्यां गन्धः सौरभ्यादिगुणः प्रकृतिवासनागन्धस्तस्मिन् स्वस्वभावान्यद्रव्यसंस्कारकृते सौरभ्यादिगुणे। जीवाजीवप्पगे—जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा चेतनालक्षणो जीवः सुखदुःखयोः कर्ता, न जीवोऽजीवस्तद्विपरीतः, जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ तौ प्रगच्छतीति जीवाजीवप्रगः जीवाजीवस्वरूपः तस्मिन् जीवाजीवस्वरूपे कस्तूरीयक्षकर्दमचंदनादिसुगन्धद्रव्ये। सुहे—सुखे स्वात्मप्रदेशाह्लादनरूपे। असुहे—असुखे स्वप्रदेशपीडाहेतौ सुखदुःखयोर्निमित्ते। रागद्देसाकरणं—रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तयोरकरणं अनभिलापः[1] रागद्वेषाकरणमनुरागजुगुप्सानभिलापः। घाणणिरोहो—घ्राणेन्द्रियनिरोधः घ्राणेन्द्रियाप्रसरः। मुणिवरस्स—मुनीनां वरः श्रेष्ठो मुनिवरः यतिकुञ्जरस्तस्य मुनिवरस्य। जीवगते अजीवगते च प्रकृतिगन्धे वासनागन्धे च सुखरूपेऽसुखरूपे च यदेतद्रागद्वेषयोरकरणं मुनिवरस्य तत् घ्राणेन्द्रियनिरोधव्रतं भवतीत्यर्थः॥

चतुर्थं रसनेन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओ'ऽगिद्धी ॥२०॥

आचारवृत्ति—स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, अन्य द्रव्य के द्वारा किये गये संस्कार को वासना कहते है और सुरभि आदि गुण को गन्ध कहते हैं। जो जीता है, जियेगा और पहले जीवित था वह जीव है अथवा चेतना लक्षणवाला जीव है जो कि सुख और दुःख का कर्ता है। जीव के लक्षण से विपरीत लक्षणवाला अजीव है। इन जीव और अजीव को प्राप्त होनेवाली अर्थात् जीव और अजीव स्वरूप से गन्ध दो प्रकार की होती है। इसमें से कस्तूरी मृग की नाभि से उत्पन्न होती है, अतः यह जीवस्वरूप गन्ध है। यक्षकर्दम, चन्दन आदि अजीव स्वरूप गन्ध हैं। जो सुगन्धित हैं वे अपनी आत्मा के प्रदेशों में आह्लादनरूप सुख की निमित्त हैं। इनसे विपरीत जीव-अजीव रूप दुर्गन्ध आत्म-प्रदेशों में पीड़ा के निमित्त होने से दुःखरूप हैं। इनमें राग-द्वेष नहीं करना अर्थात् अनुराग और ग्लानि का भाव नहीं होना—यह मुनिपुंगवों का घ्राणेन्द्रिय निरोध नाम का व्रत है। तात्पर्य यह कि जीवगत और अजीव जो स्वाभाविक अथवा अन्य निमित्त से की गयी गन्ध हैं जो कि सुख और दुःख रूप हैं अर्थात् अच्छी या बुरी हैं उनमें जो राग-द्वेष का नहीं करना है वह मुनिवरों का घ्राणेन्द्रियनिरोध व्रत है।

विशेषार्थ*—जिसमें कस्तूरी, अगुरु, कपूर और कंकोल समान मात्रा में डाले जाते हैं वह यक्षकर्दम है अथवा महासुगन्धित लेप यक्षकर्दम कहलाता है।

अब चौथे रसना इन्द्रियनिरोध का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—अशन आदि से चार भेदरूप, पंच रसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, पर के द्वारा दिये गये रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार में लम्पटता का नहीं होना जिह्वाइन्द्रियनिरोध व्रत है ॥२०॥

---

१. क 'पः अननुरागजु'। २. जऊ द।

* कर्पूरागुरुकस्तूरीकक्कोलैर्यक्षकर्दमः इत्यमरकोषः।

असणादिचदुवियप्पे—अशनमादिर्येषां तेऽशनादयो भोजनादयः चत्वारश्च ते विकल्पाश्च चतुर्विकल्पाः अशनादयश्चतुर्विकल्पा यस्मिन्नसौ अशनादिचतुर्विकल्पस्तस्मिन्नशनपानखाद्यस्वाद्यभेदे भक्तदुग्धलड्डुकैलादिस्वभेदभिन्ने। पंचरसे—पंचरसा यस्मिन्नसौ पंचरसस्तस्मिन् पंचरसे तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदभिन्ने। लवणस्य मधुररसेऽन्तर्भावः। फासुए—प्रासुके जीवसम्मूर्च्छनादिरहिते। णिरवज्जे—अवद्याद्दोषान्निर्गतो निरवद्यस्तस्मिन् निरवद्ये पापागमविरहिते कुत्सादिदोषमुक्ते च। इट्ठाणिट्ठ—इष्टोऽभिप्रेतो मनोह्लादकः, अनिष्टोऽनभिप्रेतः मनोदुःखदः, इष्टश्च अनिष्टश्चेष्टानिष्टस्तस्मिन्निष्टानिष्टे। आहारे—आहारो बुभुक्षाद्युपशामकं द्रव्यं तस्मिन्नाहारे। दत्ते—प्राप्ते दातृजनोपनीते। जिब्भाजओ[1]—जिह्वाया जयो जिह्वाजयो रसनेन्द्रियात्मवशीकरणम्। अगिद्धी—अगृद्धिरनाकांक्षा। आहारे अशनादिचतुष्प्रकारे पंचरससमन्विते प्रासुके निरवद्ये च प्राप्ते[2] सति येयमगृद्धिस्तज्जिह्वाजयव्रतं भवतीत्यर्थः॥

स्पर्शनेन्द्रियनिरोधव्रतस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्नुत्तरसूत्रमाह—

जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे।
फासे[3] सुहे य असुहे फासणिरोहो[4] असंमोहो॥२१॥

जीवाजीवसमुत्थे—जीवश्च अजीवश्च जीवाजीवौ तयोः जीवाजीवयोः समुत्तिष्ठते सम्भवतीति जीवाजीवसमुत्थस्तस्मिंश्चेतनाचेतनसम्भवे। कक्कडमउगादि अट्ठभेदजुदे—कर्कशः कठिनः, मृदुः कोमलं

आचारवृत्ति—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य के भेद से भोज्य वस्तु के चार भेद हैं। इनके उदाहरण में भक्त अर्थात् रोटी-भात आदि अशन हैं, दूध आदि पीने योग्य पदार्थ पान हैं, लड्डू आदि खाद्य हैं और इलायची आदि स्वादिष्ट वस्तुएँ स्वाद्य हैं। तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे के भेद से रस के पाँच भेद हैं। यहाँ पर नमक को मधुररस में अन्तर्भूत किया गया है। अर्थात् नमक भोजन में सबसे अधिक रुचिकर होने से इसका अन्तर्भाव मधुररस में ही हो जाता है। सम्मूर्च्छन आदि जीवों से रहित को प्रासुक कहते हैं। आगम कथित आहार के दोषों से रहित भोजन निर्दोष कहलाता है, अर्थात् जो पाप के आस्रव का कारण नहीं है और कुत्सा-निन्दा, ग्लानि आदि दोषों से रहित है तथा जो दातारों के द्वारा दिया गया एवं भूख आदि को शमन करनेवाला द्रव्य जो कि आहार इस नाम से विवक्षित है ऐसा आहार चाहे मन को आह्लादकर होने से इष्ट हो या मन को अरुचिकर होने से अनिष्ट हो उसमें गृद्धि अर्थात् आसक्ति या आकांक्षा नहीं रखना, अपनी रसना इन्द्रिय को अपने वश में करना—यह जिह्वाजय व्रत है। तात्पर्य यह कि अशन आदि के भेद से चार प्रकार रूप, पाँच रसों से समन्वित, प्रासुक तथा निर्दोष ऐसे आहार के मिलने पर उसमें गृद्धता नहीं होना जिह्वाजयव्रत कहलाता है।

अब स्पर्शनेन्द्रिय निरोधव्रत के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उत्तरसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—जीव और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर, कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दुःखरूप स्पर्श में मोह रागादि नहीं करना स्पर्शनेन्द्रियनिरोध है॥२१॥

आचारवृत्ति—कठोर, कोमल शीत, उष्ण, चिकने, रूखे, भारी और हल्के ये आठ प्रकार स्पर्श हैं। ये स्त्री आदि के निमित्त से होने पर चेतन से उत्पन्न हुए कहे जाते हैं और गद्दे

---

१ जओ द.। २ क 'प्राप्तेऽप्रा'। ३ क फस्से। ४ क फस्स।

कर्कशश्च मृदुश्च कर्कशमृदू तावादिर्येषां ते कर्कशमृद्वादयः अष्टौ च ते भेदाश्चाष्टभेदाः कर्कशमृद्वादयश्च ते अष्टभेदाश्च कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदास्तैर्युक्तः कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदयुक्तस्तस्मिन् कर्कशमृदुशीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुगुण-विकल्पसमन्विते वनितातूलिकाद्याधारभूते। **फासे**—स्पर्शे। **सुहे**—सुखे सुखहेतौ। **असुहे य**—असुखे[1] च दुःखहेतौ। **फासणिरोहो**—स्पर्शनिरोधः स्पर्शनेन्द्रियजयः। **असंमोहो**—न सम्मोहः असम्मोहोऽनाह्लाद इत्यर्थः। जीवाजीवसमुद्भवे कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदयुक्ते सुखासुखस्वरूपनिमित्ते स्पर्शविषये योऽयमसम्मोहोऽनभिलाषः स्पर्शनेन्द्रियनिरोधव्रतं भवतीत्यर्थः ॥

पचेन्द्रियनिरोधव्रतानां स्वरूपं निरूप्य षडावश्यकव्रतानां स्वरूपं नामनिर्देशं च निरूपयन्नाह—

समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥२२॥

समदा—समस्य भावः समता रागद्वेषादिरहितत्वं[2] त्रिकालपंचनमस्कारकरणं वा। **थवो**—स्तवः चतुर्विंशतितीर्थकरस्तुतिः। **वंदणा**—वन्दना एकतीर्थकृत्प्रतिबद्धा दर्शनवन्दनादिपंचगुरुभक्तिपर्यन्ता वा। **पडिक्कमणं**—प्रतिक्रमणं प्रतिगच्छति पूर्वसंयमं येन तत् प्रतिक्रमणं स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः दैवसिकादयः सप्तकृतापराधशोधनानि। **तहेव**—तथैव तेनैव प्रकारेणागमाविरोधेनैव। **णादव्वं**—ज्ञातव्यं सम्यगवबोद्धव्यम्। **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यानमयोग्यद्रव्यपरिहारः, तपोनिमित्तं योग्यद्रव्यस्य वा परिहारः। **विसग्गो**—व्युत्सर्गः, देहे ममत्वनिरासः जिनगुणचिन्तायुक्तः कायोत्सर्गः। **करणीया**—करणीया अनुष्ठेयाः। **आवसया**—

वस्त्र आदि के निमित्त से होने पर अचेतनजन्य माने जाते हैं। ये सुख हेतुक हों या दुःख हेतुक, इनमें आह्लाद नहीं करना अर्थात् हर्ष-विषाद नहीं करना—यह स्पर्शनेन्द्रियजय है। तात्पर्य यह है कि जीव या अजीव से उत्पन्न हुए, कर्कश आदि आठ भेदों से युक्त, सुख अथवा दुःख में निमित्तभूत स्पर्श नामक विषय में जो अभिलाषा का नहीं होना है वह स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत है।

पाँचों इन्द्रियों के निरोधरूप व्रतों का स्वरूप बताकर अब छह आवश्यक व्रतों का स्वरूप और नाम निर्देश बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण और उसी प्रकार प्रत्याख्यान तथा व्युत्सर्ग ये करने योग्य आवश्यक क्रियाएँ छह ही जानना चाहिए ॥२२॥

आचारवृत्ति—समभाव को समता कहते हैं अर्थात् राग-द्वेषादि से रहित होना, अथवा त्रिकाल में पंचनमस्कार का करना। चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति स्तव है। एक तीर्थंकर से सम्बन्धित वन्दना है अथवा दर्शन, वन्दन आदि में जो ईर्यापथ—शुद्धिपूर्वक चैत्यभक्ति से लेकर पंच-गुरु भक्तिपर्यन्त क्रिया है अर्थात् विधिवत् देववन्दना क्रिया है वह वन्दना आवश्यक है। पूर्वसंयम के प्रति जो गमन करना है, प्राप्त करना है वह प्रतिक्रमण है अर्थात् अपने द्वारा किये हुए अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना—छूटना। इसके दैवसिक आदि सात भेद हैं जोकि सात प्रसंग में किये गये अपराधों का शोधन करनेवाले हैं। अयोग्य द्रव्य का त्याग करना प्रत्याख्यान है अथवा तपश्चरण के लिए योग्य द्रव्य का परिहार करना भी प्रत्याख्यान है। शरीर से ममत्व का त्याग करना और

---

१ क असुखहेतौ २ क 'त्वं क्रियाकलापं न'।

आवश्यका आवश्यकानि वा, न वशोऽवशः अवशस्य कर्मावश्यकाः निश्चयक्रियाः। छप्पी—षडपि न पंच नापि सप्त। समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणानि तथैव प्रत्याख्यानकायोत्सर्गौ, एवं षडावश्यका निश्चयक्रिया यास्ता नित्यं षडपि कर्तव्याः।

मूलगुणा इति कृत्वेति सामान्यस्वरूपं प्रतिपाद्य विशेषार्थं प्रतिपादयन्नाह—

जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य।
[1]वंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम ॥२३॥

जीविदमरणे—जीवितमौदारिकवैक्रियिकादिदेहधारणं, मरणं मृत्युः प्राणिप्राणवियोगलक्षणं, जीवितं च मरणं च जीवितमरणे तयोर्जीवितमरणयोः। लाभालाभे—लाभोऽभिलषितप्राप्तिः, अलाभोऽभिलषितस्याप्राप्तिः लाभश्चालाभश्च लाभालाभौ तयोर्लाभालाभयोराहारोपकरणादिषु प्राप्त्यप्राप्त्योः। संजोयविप्पओगे य—संयोग इष्टादिसन्निकर्षः, विप्रयोग इष्टवियोगः संयोगश्च विप्रयोगश्च संयोगविप्रयोगौ तयोः संयोगविप्रयोगयोः, इष्टानिष्टसन्निकर्षासन्निकर्षयोः। [2]वन्धूरिसुखदुक्खादिसु—वन्धुश्च अरिश्च सुखं च दुःखं च वन्ध्वरिसुखदुःखानि तान्यादीनि येषां ते वन्ध्वरिसुखदुःखादयस्तेषु स्वजनमित्रशत्रुसुखदुःखक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिषु। समदा—समता चारित्रानुविद्धसमपरिणामः। सामाइयं णाम—सामायिकं नाम भवति। जीवितमरणलाभालाभसंयोगविप्रयोगवन्ध्वरिसुखदुःखादिषु यदेतत्समत्वं समानपरिणामः त्रिकालदेववन्दनाकरणं च तत्सामायिकं व्रतं भवतीत्यर्थः ॥

जिनेन्द्रदेव के गुणों का चिन्तवन करना—यह कायोत्सर्ग है। इन सबको आगम के अविरोधरूप से ही सम्यक् जानना चाहिए। ये करने योग्य आवश्यक छह ही हैं। जो वश में नहीं है (इन्द्रियों के अधीन नहीं है) वह अवश है, अवश के कार्य आवश्यक हैं। इन्हें निश्चयक्रिया भी कहते हैं। ये आवश्यक क्रियाएँ छह ही हैं, न पाँच हैं न सात। तात्पर्य यह कि समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इस प्रकार छह आवश्यक हैं जो कि निश्चयक्रियाएँ हैं अर्थात् नियम से करने योग्य हैं। इन छहों को नित्य ही करना चाहिए।

ये मूलगुण हैं ऐसा होने से इनका सामान्य स्वरूप प्रतिपादित करके अब इनका विशेष अर्थ बतलाने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में तथा सुख-दुःख इत्यादि में समभाव होना सामयिक नाम का व्रत है ॥२३॥

आचारवृत्ति—औदारिक वैक्रियिक आदि शरीर की स्थिति रहना जीवन है। प्राणियों के प्राणवियोगलक्षण मृत्यु को मरण कहते हैं। अभिलषित वस्तु आहार उपकरण आदि की प्राप्ति का नाम लाभ है और अभिलषित की प्राप्ति न होना अलाभ है। इष्ट आदि पदार्थ का सम्बन्ध होना—मिल जाना संयोग है और इष्ट का अपने से पृथक् हो जाना वियोग है अर्थात् इष्ट का संयोग या वियोग हो जाना अथवा अनिष्ट का संयोग या वियोग हो जाना संयोग-वियोग है। इन सभी में तथा स्वजन, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख में और आदि शब्द से भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि में चारित्र से समन्वित समभाव का होना ही सामायिक व्रत है।

---

१ क वंध्वरि। २ क वंध्वरि'।

चतुर्विंशतिस्तवस्वरूपं निरूपयन्नाह—

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ॥२४॥

उसहादिजिणवराणं—ऋषभः प्रथमतीर्थंकर आदिर्येषां ते ऋषभादयस्ते च ते जिनवराश्च ऋषभादिजिनवरास्तेषामृषभादिजिनवराणां वृषभादिवर्धमानपर्यन्तानां चतुर्विंशतितीर्थंकराणां। **णामणिरुत्तिं**—नाम्नामभिधानानां निरुक्तिर्नामनिरुक्तिस्तां नामनिरुक्तिं प्रकृतिप्रत्ययकालकारकादिभिर्विनिश्चयेन अनुगतार्थकथनं ऋषभाजितसम्भवाभिनन्दनसुमतिपद्मप्रभसुपार्श्वचन्द्रप्रभपुष्पदन्तशीतलश्रेयोवासुपूज्यविमलानन्तधर्मशान्तिकुन्थ्वरमल्लिमुनिसुव्रतनम्यरिष्टनेमिपार्श्ववर्धमानाः नामकीर्तनमेतत्। **गुणाणुकित्तिं च**—गुणानामसाधारणधर्माणामनुकीर्तिरनुख्यापनं गुणानुकीर्तिस्तां गुणानुकीर्तिं च निर्दोषाप्तलक्षणस्तुतिम् लोकस्योद्योतकरा धर्मतीर्थंकराः सुरासुरमनुष्येन्द्रस्तुताः दृष्टपरमार्थतत्त्वस्वरूपाः विमुक्तघातिकठिनकर्माणः, इत्येवमादिगुणानुकीर्तनं। **काऊण**—कृत्वा गुणग्रहणपूर्वकं नामग्रहणं प्रकृत्य। **अच्चिदूण य**—[1]अर्चयित्वा च गन्धपुष्पधूपदीपादिभिः प्रासुकैरानीतैर्दिव्यरूपैश्च दिव्यैर्निराकृतमलपटलसुगन्धैश्चतुर्विंशतितीर्थंकरपदयुगलानामर्चनं कृत्वान्यस्याश्रुतत्वात्तेषामेव ग्रहणम्। **तिसुद्धिपणमो**—तिस्रश्च ताः शुद्धयश्च त्रिशुद्धयस्ताभिः त्रिशुद्धिभिः प्रणामः त्रिशुद्धिप्रणामः मनो-

तात्पर्य यह है कि जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, बन्धु-शत्रु और सुख-दुःख आदि प्रसंगों में जो समान परिणाम का होना है और त्रिकाल में देववन्दना करना है वह सामायिक व्रत है।

चतुर्विंशतिस्तव का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—ऋषभ आदि तीर्थंकरों के नाम का कथन और गुणों का कीर्तन करके तथा उनकी पूजा करके उनको मन, वचन, काय पूर्वक नमस्कार करना स्तव नाम का आवश्यक जानना चाहिए ॥२४॥

आचारवृत्ति—ऋषभदेव को आदि से लेकर वर्धमान पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का प्रकृति, प्रत्यय, काल, कारक आदि के द्वारा निश्चय करके अनुगत—परम्परागत अर्थ करना नामनिरुक्तिपूर्वक स्तवन है। अथवा ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और वर्धमान इस प्रकार से नाम-उच्चारण करना नाम स्तवन है। इन्हीं तीर्थंकरों के असाधारण धर्मरूप गुणों का वर्णन करना गुणानुकीर्तन है, अर्थात् निर्दोष आप्त का लक्षण करते हुए उनकी स्तुति करना, जैसे, हे भगवन्! आप लोक में उद्योत करनेवाले हैं, धर्मतीर्थ के कर्ता हैं; सुर, असुर और मनुष्यों के इन्द्रों से स्तुति को प्राप्त हैं, वास्तविक तत्त्व के स्वरूप को देखनेवाले हैं, और कठोर घातिया कर्मों को नष्ट कर चुके हैं—इत्यादि प्रकार से अनेक-अनेक गुणों का कीर्तन करना भी गुणानुकीर्तन है। इस प्रकार इन तीर्थंकरों का गुणग्रहणपूर्वक नामग्रहण करके तथा मलपटल से रहित सुगन्धित दिव्यरूप लाये गये प्रासुक गन्ध पुष्प धूप-दीप आदि के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों के पद-युगलों की अर्चना करके मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक उनको प्रणाम करना—स्तवन करना स्तव आवश्यक है।

१ क अर्चित्वा।

वाक्कायशुद्धिभिः स्तुतेः करणं। थवो—स्तवः, चतुर्विंशतितीर्थकरस्तुतिः, नामैकदेशेऽपि शब्दस्य प्रवर्तनात् यथा सत्यभामा भामा, भीमो भीमसेनः। एवं चतुर्विंशतिस्तवः स्तवः। णेयो—ज्ञातव्यः। ऋषभादिजिनवराणां नामनिरुक्तिं गुणानुकीर्तनं च कृत्वा योऽयं मनोवचनकायशुद्ध्या प्रणामः स चतुर्विंशतिस्तव इत्यर्थः।

वन्दनास्वरूपं निरूपयन्नाह—

अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं।
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥२५॥

अरहंतसिद्धपडिमा—अर्हन्तश्च सिद्धाश्चार्हत्सिद्धास्तेषामर्हत्सिद्धानां प्रतिमा अर्हत्सिद्धप्रतिमा अर्हत्सिद्धप्रतिबिम्बानि स्वरूपेण चार्हन्तः घातिकर्मक्षयादर्हन्तः, अष्टविधकर्मक्षयात्सिद्धाः। अथवा गतिवचनस्थानभेदात्तयोर्भेदः, अष्टमहाप्रातिहार्यसमन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्धप्रतिमा। अथवा कृत्रिमा यास्ता अर्हत्प्रतिमाः, अकृत्रिमाः सिद्धप्रतिमाः। तवसुदगुणगुरुगुरूणं—तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपो द्वादशप्रकारमनशनादिकं, श्रुतमंगपूर्वादिरूपं मतिपूर्वकं, गुणा व्याकरणतर्कादिज्ञानविशेषाः, तपश्च श्रुतं च गुणाश्च तपःश्रुतगुणास्तैर्गुरवो महान्तस्तपःश्रुतगुणगुरवः, गुरुश्च येन दीक्षा दत्ता, तेषां, द्वादशविधतपोधिकानां, श्रुताधि-

---

यहाँ पर अन्य श्रुतादि को नहीं सुना जाने से अर्थात् श्रुत या गुरु आदि का प्रकरण न होने से तीर्थंकरों का स्तवन ही ग्रहण किया जाना चाहिए। अर्थात् स्तव का अर्थ चौबीस तीर्थंकरों का स्तव है ऐसा समझना चाहिए। चूंकि नाम के एक देश में भी शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे भामा शब्द से सत्यभामा और भीम शब्द से भीमसेन को समझ लिया जाता है इसी प्रकार से स्तव नाम से चतुर्विंशति तीर्थंकर का स्तव जानना चाहिए। तात्पर्य यह कि ऋषभ आदि जिनवरों की नाम निरुक्ति और गुणों का अनुकीर्तन करके जो मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक प्रणाम किया जाता है वह चतुर्विंशतिस्तव है

अब वन्दना आवश्यक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अर्हन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा; तप में श्रुत या गुणों में बड़े गुरु का और स्वगुरु का कृतिकर्म पूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करना वन्दना है ॥२५॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने घाति कर्मों का क्षय कर दिया है वे अर्हन्त हैं और जो आठों कर्मों का क्षय कर चुके हैं वे सिद्ध हैं। इनके प्रतिबिम्ब को प्रतिमा कहते हैं। अथवा गति, वचन और स्थान के भेद से भी अर्हन्त और सिद्ध में भेद है। अर्थात् अर्हन्त मनुष्य गति में हैं, सिद्ध चारों गतियों से परे सिद्धगति में हैं। इसी प्रकार जो अन्य जनों में नहीं पायी जानेवाली इन्द्रादि द्वारा की गयी पूजा के योग्य हैं वे अर्हन्त हैं और जो अपने स्वरूप से पूर्णतया निष्पन्न हो चुके हैं वे सिद्ध हैं। अर्हन्तों का स्थान मध्यलोक है और सिद्धों का स्थान लोकशिखर का अग्रभाग है—इनकी अपेक्षा अर्हन्त और सिद्धों में भेद है। अष्ट महाप्रतिहार्य से समन्वित अर्हन्त प्रतिमा हैं और इनसे रहित सिद्ध प्रतिमा हैं। अथवा जो कृत्रिम प्रतिमाएँ हैं वे अर्हन्त प्रतिमा हैं और जो अकृत्रिम हैं वे सिद्ध प्रतिमा हैं। जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है, दहन करता है, वह तप है जो कि अनशनादि के भेद से बारह प्रकार का है। अंग और पूर्व आदि श्रुत हैं। यह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। व्याकरण, तर्क आदि के ज्ञान विशेष को गुण कहते हैं। इन

[illegible], गुणाधिकानां, स्वगुरोः, अर्हत्सिद्धप्रतिमानां च । रादीणं—राज्यधिकानां दीक्षया महतां च । किदियम्मेण—क्रियाकर्मणा कायोत्सर्गादिकेन सिद्धभक्तिश्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकेण । इदरेण—इतरेण श्रुतभक्त्यादिक्रियापूर्वकमन्तरेण शिरःप्रणामेन मुंडवंदनया । तियरणसंकोचणं—त्रयश्च ते करणाश्च त्रिकरणा मनोवाक्कायक्रियाः तेषां संकोचनं त्रिकरणसंकोचनं मनोवाक्कायशुद्धक्रियं मनःशुद्ध्या वाक्शुद्ध्या कायशुद्ध्या इत्यर्थः । पणमो—प्रणामः स्तवनम् । अर्हत्सिद्धप्रतिमानां, तपोगुरूणां श्रुतगुरूणां गुणगुरूणां दीक्षागुरूणां दीक्षया महत्तराणां कृतकर्मणेतरेण च त्रिकरणसंकोचनं यथा भवति तथा योऽयं प्रणामः क्रियते सा वन्दना नाम मूलगुण इति ।।

अथ किं प्रतिक्रमणमित्याशंकायामाह—

दव्वे खेत्ते[1] काले भावे य कयावराहसोहणयं ।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं ।।२६।।

दव्वे—द्रव्ये आहारशरीरादिविषये । खेत्ते—क्षेत्रे वसतिकाशयनासनगमनादिमार्गविषये । काले—पूर्वाह्णापराह्णदिवसरात्रिपक्षमाससंवत्सरातीतानागतवर्तमानादिकालविषये । भावे—परिणामे चित्तव्यापार-

---

तप, श्रुत और गुणों से जो महान् हैं अर्थात् जो तपों में अधिक हैं, श्रुत में अधिक हैं तथा गुण में अधिक हैं वे तपोगुरु, श्रुतगुरु और गुणगुरु कहलाते हैं। तथा अपने गुरु को यहाँ गुरु से लिया है, ऐसे ही जो दीक्षा की अपेक्षा एक रात्रि भी बड़े हैं वे रात्र्यधिक गुरु हैं। इन सभी की कृतिकर्म पूर्वक वन्दना करना अर्थात् सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि के द्वारा मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक इनको प्रणाम करना वन्दना है। अथवा श्रुतभक्ति आदि क्रिया के बिना भी सिर झुकाकर इनको नमस्कार करना वन्दना है। अर्थात् समय-समय पर कृतिकर्मपूर्वक वन्दना की जाती है और हर क्रिया के प्रारम्भ में सिर झुकाकर नमोऽस्तु शब्द का प्रयोग करके भी वन्दना की जाती है। वह सभी वन्दना है।

तात्पर्य यह है कि अर्हन्त-सिद्धों की प्रतिमा तपोगुरु, श्रुतगुरु, गुणगुरु, दीक्षागुरु और दीक्षा में अपने से बड़े गुरु—इन सबका कृतिकर्मपूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के नमस्कार मात्र करके मन-वचन-काय की विशुद्धि द्वारा विधिपूर्वक जो नमस्कार किया जाता है वह वन्दना नाम का मूलगुण कहलाता है।

प्रतिक्रमण क्या है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—निन्दा और गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है ।।२६।।

आचारवृत्ति—आहार शरीर आदि द्रव्य के विषय में; वसतिका, शयन, आसन और गमन-आगमन आदि मार्ग के रूप क्षेत्र के विषय में; पूर्वाह्ण-अपराह्ण, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर तथा भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदि काल के विषय में और परिणाम—मन के व्यापार रूप भाव के विषय में जो अपराध हो जाता है अर्थात् इन द्रव्य आदि विषयों में या इन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों के द्वारा व्रतों में जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं उनका निन्दा-गर्हापूर्वक निराकरण

---

१ क खित्ते ।

विषये। **कयावराहसोहणयं**—कृतश्चासावपराधश्च कृतापराधस्तस्य शोधनं कृतापराधशोधनं द्रव्यादिद्वारेण व्रतविषयोत्पन्नदोषनिर्हरणं। **णिंदणगरहणजुत्तो**—निन्दनमात्मदोषाविष्करणं, आचार्यादिषु आलोचनापूर्वकं दोषाविष्करणं गर्हणं, निन्दनं च गर्हणं च निन्दनगर्हणे ताभ्यां युक्तो निन्दनगर्हणयुक्तस्तस्य निन्दनगर्हणयुक्तस्यात्मप्रकाशपरप्रकाशसहितस्य। **मणवचकाएण**—मनश्च वचश्च कायश्च मनोवचःकायं तेन मनोवचःकायेन शुभमनोवचःकायक्रियादिभिः। **पडिक्कमणं**—प्रतिक्रमणं स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः, अशुभपरिणामपूर्वककृतदोषपरित्यागः। निन्दनगर्हणयुक्तस्य मनोवाक्कायक्रियाभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावविषये तैर्वा कृतस्यापराधस्य व्रतविषयस्य शोधनं यत्तत् प्रतिक्रमणमिति॥

प्रत्याख्यानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

णामादीणं छण्हं अजोगपरिवज्जणं तियरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले॥२७॥

णामादीणं—जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकरणं नामाभिधानं तदादिर्येषां ते नामादयस्तेषां नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावानाम्। **छण्हं**—षण्णाम्। **अजोगपरिवज्जणं**—न योग्या अयोग्यास्तेषां नामादीनामयोग्यानां पापागमहेतूनां परिवर्जनं परित्यागः। **तियरणेण**—त्रिकरणैः शुभमनोवाक्कायक्रियाभिः अशुभाभिधानं कस्यचिन्न करोमि, न कारयामि, नानुमन्ये, तथा वचनेन न वच्मि, नापि वाचयामि, नाप्यनुमन्ये,

---

करना। अपने दोषों को प्रकट करना निन्दा है और आचार्य आदि गुरुओं के पास आलोचनापूर्वक दोषों का कहना गर्हा है। निन्दा में आत्मसाक्षीपूर्वक ही दोष कहे जाते हैं तथा गर्हा में गुरु आदि पर के समक्ष दोषों को प्रकाशित किया जाता है—यही इन दोनों में अन्तर है। इस तरह शुभ मन-वचन-काय की क्रियाओं के द्वारा, अपने द्वारा किये गये अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना—वापिस अपने व्रतों में आ जाना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक किये गये दोषों का परित्याग करना इसका नाम प्रतिक्रमण है।

तात्पर्य यह है कि निन्दा और गर्हा से युक्त होकर साधु मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में अथवा इन द्रव्यादिकों के द्वारा किये गये व्रत विषयक अपराधों का जो शोधन करते हैं उसका नाम प्रतिक्रमण है।

अब प्रत्याख्यान का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—भविष्य में आनेवाले तथा निकटवर्ती भविष्यकाल में आनेवाले नाम, स्थापना आदि छहों अयोग्य का मन-वचन-काय से वर्जन करना—इसे प्रत्याख्यान जानना चाहिए॥२७॥

आचारवृत्ति—पाप के आस्रव में कारणभूत अयोग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का मन-वचन-काय से त्याग करना प्रत्याख्यान है। शुभ मन-वचन-काय की क्रियाओं से किसी के अशुभ नाम को न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, न करते हुए की अनुमोदना करता हूँ अर्थात् अशुभ नाम को न करूँगा, न कराऊँगा और न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा; उसी प्रकार न वचन से बोलूँगा न बुलवाऊँगा, न बोलते हुए की अनुमोदना करूँगा। न मन से अशुभ नाम का चिन्तवन करूँगा, न अन्य से उनकी भावना कराऊँगा, न ही करते हुए की अनुमोदना

तथा मनसा न चिन्तयामि, नाप्यन्यं भावयामि, नानुमन्ये। एवं अशुभस्थापनामेनां कायेन न करोमि, न कारयामि, नानुमन्ये, तथा वाचा न भणामि, न भाणयामि, नानुमन्ये, तथा मनसा न चिंतयामि, नाप्यन्यं भावयामि नानुमन्ये। तथा सावद्यं द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च न सेवे, न सेवयामि, सेवन्तं, [सेवमानं] नानुमन्ये। तथा वचसा त्वं सेवस्वेति न भणामि, न भाणयामि, नापि चिन्तयामीति । **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यानं परिहरणं अयोग्यग्रहणपरित्यागः। **णेयं**—ज्ञातव्यम्। **अणागयं च**—अनागतं चानुपस्थितं च। अथवा अनागते दूरेणागते काले। **आगमे काले**—आगते उपस्थिते। अथवा आगमिष्यति सन्निकृष्टे काले मुहूर्तदिवसादिके। नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावानां षण्णां अनागतानां त्रिकरणैर्यदेतत् परिवर्जनं आगते चोपस्थिते च [1]यदेतद्दोषपरिवर्जनं तत्प्रत्याख्यानं ज्ञातव्यमिति। अथवा दूरे भविष्यति काले आगमिष्यति चासन्ने वर्तमाने तेषां षण्णामपि अयोग्यानां वर्जनं प्रत्याख्यानम्। अथवा अनागते काले अयोग्यपरिवर्जनं नामादिषट्प्रकारं यदेतदागतं मनोवचनकायैः तत्प्रत्याख्यानं ज्ञातव्यमिति। अथ प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयोः को विशेष इति चेन्नैष दोषः, अतीतकालदोषनिर्हरणं प्रतिक्रमणम्। अनागते वर्तमाने च काले द्रव्यादिदोषपरिहरणं प्रत्याख्यानमनयोर्भेदः। [2]तपोऽर्थं निरवद्यस्यापि द्रव्यादेः परित्यागः प्रत्याख्यानं, प्रतिक्रमणं पुनर्दोषाणां निर्हरणायैवेति ॥

करूँगा। इसी प्रकार अशुभ स्थापना को न काय से करूँगा, न कराऊँगा, न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा; उसी प्रकार वचन से अशुभ स्थापना को न कहूँगा, न कहलाऊँगा और न ही अनुमोदना करूँगा तथा मन से उस अशुभ स्थापना का न चिन्तवन करूँगा, न अन्य से भावना कराऊँगा और न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा। इसी प्रकार से सावद्य-सदोष द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का न सेवन करूँगा, न सेवन कराऊँगा और सेवन करते हुए की अनुमोदना कराऊँगा; उसी प्रकार इन सदोष द्रव्यादि का 'तुम सेवन करो' ऐसा वचन से न कहूँगा, न कहलाऊँगा, न कहते हुए की अनुमोदना करूँगा। न मन से चिन्तवन करूँगा, न कराऊँगा, न करते हुए की अनुमोदना करूँगा। इस प्रकार अयोग्य के ग्रहण का परित्याग करना प्रत्याख्यान है।

उपस्थित होनेवाला काल अनागत काल है अथवा यहाँ अनागत शब्द से दूर भविष्य में आनेवाला काल लिया गया है और आगत शब्द से उपस्थित काल अर्थात् निकट में आनेवाले मुहूर्त दिन आदि रूप भविष्य काल को लिया है। इन अनागतसम्बन्धी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों का मन-वचन-काय से वर्जन है और उपस्थित हुए काल में जो दोषों का वर्जन है वह प्रत्याख्यान है। अथवा दूरवर्ती भविष्यकाल तथा आनेवाले निकटवर्ती वर्तमान काल में इन अयोग्यरूप नाम स्थापना आदि छहों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। अथवा अनागतकाल में अयोग्यरूप नाम आदि छह प्रकार जो आयेंगे उनका मन-वचन-काय से त्याग करना प्रत्याख्यान है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है?

उत्तर—अतीतकाल के दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है और अनागत तथा वर्तमानकाल में होनेवाले द्रव्यादिसम्बन्धी दोषों का निराकरण करना प्रत्याख्यान है, यही इन दोनों में भेद है। अथवा तपश्चरण के लिए निर्दोष द्रव्य आदि का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है तथा दोषों के निराकरण करने हेतु ही प्रतिक्रमण होता है।

---

१ क यदेषैतां प'। २ क तदर्थं।

कायोत्सर्गस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण [1]उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काउस्सग्गो[2] तणुविसग्गो ॥२८॥

देवस्सियणियमादिसु—दिवसे भवो दैवसिकः स आदिर्येषां ते दैवसिकादयस्तेषु दैवसिकरात्रिक-पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादिषु नियमेषु निश्चयक्रियासु। **जहुत्तमाणेण**—उक्तमनतिक्रम्य यथोक्तं, यथोक्तं च तन्मानं च यथोक्तमानं तेन अर्हत्प्रणीतेन[3] कालप्रमाणेन पंचविंशतिसप्तविंशत्यष्टोत्तरशताद्युच्छ्वासपरिमाणेन। **उत्तकालम्हि**—उक्तः प्रतिपादितः कालः समय उक्तकालस्तस्मिन्नुक्तकाले आत्मीयात्मीयवेलायां। यो यस्मिन् काले कायोत्सर्ग उक्तः स तस्मिन् कर्तव्यः। **जिणगुणचिंतणजुत्तो**—जिनस्य गुणा जिनगुणास्तेषां चिन्तनं स्मरणं तेन युक्तो जिनगुणचिंतनयुक्तः, दयाक्षमासम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशुक्लध्यानधर्मध्यानानन्तज्ञानादिचतुष्टयादिगुण-भावनासहितः। **काउस्सग्गो**[4]—कायोत्सर्गः। **तणुविसग्गो**—तनोः शरीरस्य विसर्गस्तनुविसर्गो देहे ममत्वस्य[5] परित्यागः। दैवसिकादिषु नियमेषु यथोक्तकाले योऽयं यथोक्तमानेन जिनगुणचिन्तनयुक्तस्तनु-विसर्गः स कायोत्सर्ग इति॥

लोच उक्तः स कथं क्रियते इत्यत आह—

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥२९॥

अब कायोत्सर्ग का स्वरूप निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक आदि नियम क्रियाओं में आगम में कथित प्रमाण के द्वारा आगम में कथित काल में जिनेन्द्रदेव के गुणों के चिन्तवन से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक है ॥२८॥

आचारवृत्ति—दिवस में होने वाला दैवसिक है अर्थात् दिवस सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण है। इसी तरह रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक आदि नियमरूप निश्चयक्रियाओं में अर्हन्तदेव के द्वारा कथित पच्चीस, सत्ताईस, एक सौ-आठ आदि उच्छ्वास प्रमाण काल के द्वारा उन्हीं-उन्हीं क्रिया सम्बन्धी काल में जिनेन्द्रदेव के गुणों के स्मरण से युक्त होकर अर्थात् दया, क्षमा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, शुक्लध्यान धर्मध्यान तथा अनन्तज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय गुणों की भावना से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का परित्याग करना कायोत्सर्ग है। तात्पर्य यह है कि दैवसिक आदि नियमों में शास्त्र में कथित समयों में जो शास्त्रोक्त उच्छ्वास की गणना से णमोकार मंत्र पूर्वक जिनेन्द्रगुणों के चिन्तनसहित शरीर से ममत्व का त्याग किया जाता है उसका नाम कायोत्सर्ग है॥

जो लोच मूलगुण कहा है वह कैसे किया जाता है? इसके उत्तर में कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण सहित दिवस में, दो, तीन या चार मास में उत्तम, मध्यम या जघन्य रूप लोच उपवास पूर्वक ही करना चाहिए ॥२९॥

---

१ क वुत्त'। २ काऊ द०। ३ क 'प्रणीत का'। ४ काऊ द। ५ क °त्वस्य'।

वियतियचउक्कमासे—द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वित्रिचत्वारस्ते च ते मासाश्च द्वित्रिचतुर्मासास्तेषु द्वित्रिचतुर्मासेषु, मासशब्दः प्रत्येकं अभिसम्बध्यते द्वयोर्मासयोः, त्रिषु मासेषु चतुर्षु मासेषु वा सम्पूर्णेषु असंपूर्णेषु वा। द्वयोर्मासयोरतिक्रान्तयोः सतोर्वा। त्रिषु मासेषु अतिक्रान्तेष्वनतिक्रान्तेषु सत्सु वा। चतुर्षु मासेषु पूर्णेष्वपूर्णेषु वा नाधिकेषु इत्याध्याहारः कार्यः सर्वसूत्राणां सोपस्कारत्वादिति। **लोचो**—लोचः बालोत्पाटनं हस्तेन मस्तककेशश्मश्रूणामपनयनं जीवसम्मूर्च्छनादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं स्ववीर्यप्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति। **उक्कस्स**—उत्कृष्टः, अत्यर्थमाचरणार्थाभिप्रायः। **मज्झिम**—मध्यमः अजघन्योत्कृष्टः। जहण्ण—जघन्यः मन्दाचरणाभिप्रायः। **सपडिक्कमणे**—सप्रतिक्रमणे सह प्रतिक्रमणेन वर्तते इति सप्रतिक्रमणस्तस्मिन्सप्रतिक्रमणे। **दिवसे**—अहोरात्रमध्ये। **उववासेण**—उपवासेन अशनादिपरित्यागयुक्तेन। एवकारोऽवधारणार्थः। **कायव्वो**—कर्तव्यः निर्वर्तनीयः। लोचस्य निरुक्तिर्नोक्ता सर्वस्य प्रसिद्धो यतः। सप्रतिक्रमणे दिवसे पाक्षिकचातुर्मासिकादौ उपवासेनैव द्वयोर्मासयोर्यत् केशश्मश्रूत्पाटनं स उत्कृष्टो लोचः। त्रिसु मासेषु मध्यमः, चतुर्षु मासेषु जघन्यः। अथवा विधानमेतत्, एतेषु कालविशेषेषु एवंविशिष्टो लोचः कर्तव्यः। एवकारेणोपवासे लोचोऽवधार्यते न दिवसः, तेन प्रतिक्रमणरहितेऽपि दिवसे लोचस्य सम्भवः। अथवा सप्रतिक्रमणे दिवसे इत्यनेन किमुक्तं भवति लोचं कृत्वा प्रतिक्रमणं कर्तव्यमिति। [1]लुंचृधातुरपनयने वर्तते तच्चापनयनं क्षुरादिनापि सम्भवति तत्किमर्थमुत्पाटनं मस्तके केशानां श्मश्रूणां चेति

आचारवृत्ति—दो मास के उल्लंघन हो जाने पर अथवा पूर्ण होने पर, तीन मास के उल्लंघन के हो जाने पर अथवा कमती रहने पर या पूर्ण हो जाने पर एवं चार मास के पूर्ण हो जाने पर अथवा अपूर्ण रहने पर किन्तु अधिक नहीं होने पर लोच किया जाता है ऐसा अध्याहार करके अर्थ किया जाना चाहिए क्योंकि सभी सूत्र उपस्कार सहित होते हैं अर्थात् सूत्रों में आगम से अविरुद्ध वाक्यों को लगाकर अर्थ किया जाता है क्योंकि सूत्र अतीव अल्प अक्षरवाले होते हैं। संमूर्च्छन आदि जीवों के परिहार के लिए अर्थात् जूं आदि उत्पन्न न हो जावें इसलिए, शरीर से रागभाव आदि को दूर करने के लिए, अपनी शक्ति को प्रकट करने के लिए, सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण के लिए और लिंग—निर्ग्रंथ मुद्रा आदि के गुणों को बतलाने के लिए हाथ से मस्तक तथा मूंछ के केशों का उखाड़ना लोच कहलाता है। यह लोच पाक्षिक चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणों के दिन उपवासपूर्वक ही करना चाहिए।

दो महीने में किया गया लोच अतिशय रूप आचरण को सूचित करने वाला होने से उत्कृष्ट कहलाता है, तीन महीने में किया गया मध्यम है और चार महीने में किया गया मन्द आचरण रूप जघन्य है। इस प्रकार से प्रतिक्रमण सहित दिनों में उपवास करके लोच करना यह विधान हुआ है अथवा गाथा में एवकार शब्द उपवास शब्द के साथ है जिससे उपवास में ही लोच करना चाहिए ऐसा अवधारण होता है, इससे प्रतिक्रमण से रहित भी दिवसों में लोच संभव है। अथवा प्रतिक्रमण सहित दिवस का यह अर्थ समझना कि लोच करके प्रतिक्रमण करना चाहिए।

प्रश्न—लुंचृ धातु अपनयन—दूर करने अर्थ में है। वह केशों को दूर करना रूप अर्थ तो क्षुरा—उस्तरा कैंची आदि से भी सम्भव है तो फिर मस्तक और मूंछों के केशों को हाथ से क्यों उखाड़ना?

---

१ लुंचृ द०।

त्वेन्नैप दोषः, दैन्यवृत्तियाचनपरिग्रहपरिभवादिदोषपरित्यागादिति ॥

अचेलकत्वस्वरूपप्रतिपादनायोत्तरसूत्रमाह—

वत्थाजिणवक्केण[1]य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥

वत्थाजिणवक्केण—वस्त्रं पटचीवरकम्वलादिकं, अजिनं चर्म मृगव्याघ्रादिसमुद्भवं, वल्कं वृक्षादित्वक्, वस्त्रं चाजिनं च वल्कं च वस्त्राजिनवल्कानि तैर्वस्त्राजिनवल्कैः पटचीवरचर्मवल्कलैरपि । अहवा—अथवा । **पत्ताइणा**—पत्रमादिर्येषां तानि पत्रादीनि तैः पत्रादिभिः पत्रवालतृणादिभिरसंवरणमनावरणमनाच्छादनं । **णिब्भूसणं**—भूषणानि कटककेयूरहारमुकुटाद्याभरणमंडनविलेपनधूपनादीनि तेभ्यो निर्गतं निर्भूषणं

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उस्तरा आदि से केशों को दूर करने में दैन्यवृत्ति होना, याचना करना, परिग्रह रखना, या तिरस्कारित होना आदि दोषों का होना सम्भव है किन्तु हाथ से केशों को दूर करने में ये उपर्युक्त दोष नहीं आ सकते हैं।

भावार्थ—अपने हाथों से केशों को उखाड़ने से उसमें जीवों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, शरीर के संस्कार रूप केशों को न रखने से शरीर से अनुराग भाव समाप्त हो जाता है, अपनी शक्ति वृद्धिगत होती है, कायक्लेश होने से उत्तम से उत्तम तपश्चरणों का अभ्यास होता है और मुनि के जो चार लिंग माने गये हैं आचेलक्य केशलोच, पिच्छिका ग्रहण और शरीर-संस्कार-हीनता, इनमें से केशलोच से लिंग ज्ञापित होता है ये तो केशलोच के गुण हैं। यदि उस्तरा आदि से केशों को निकलावें तो नाई के सामने माथा नीचा करने से उसकी गरज करने से दीनवृत्ति दिखती है, स्वाभिमान और स्वावलम्बन समाप्त होता है, नाई को देने हेतु पैसे की याचना करनी पड़ेगी, या कैंची आदि परिग्रह अपने पास रखना पड़ेगा अथवा लोगों से नाई के लिए या कैंची के लिए कहने से किसी समय उनके द्वारा अपमान, तिरस्कार आदि भी किया जा सकता है। इन सब दोषों से बचने के लिए और शरीर से निर्ममता को सूचित करने के लिए जैन साधु साध्वी अपने हाथ से केशों को उखाड़कर लोच मूलगुण पालते हैं।

अचेलकत्व का स्वरूप बतलाने के लिए उत्तरसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदिकों से शरीर को नहीं ढकना, भूषण अलंकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ वेष जगत् में पज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है ॥३०॥

आचारवृत्ति—वस्त्र—धोती दुपट्टा कंबल आदि; अजिन—मृग, व्याघ्र आदि से उत्पन्न चर्म; वल्कल—वृक्षादि की छाल, इनसे शरीर को नहीं ढकना अथवा पत्ते और छोटे-छोटे तृण आदि से शरीर को नहीं ढकना, भूषण—कड़े, बाजूबंद, हार, मुकुट आदि आभरण और मंडन विलेपन धूपन आदि वस्तुएँ ये सब भूषण शब्द से विवक्षित हैं इनसे निर्गत-रहित जो वेष है वह निर्भूषण वेष है अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार के राग और अंग के विकारों का अभाव होना, ग्रन्थ—

---

१ क वक्कं।

सर्वरागांगविकाराभावः। णिग्गंथं—ग्रन्थेभ्यः संयमविनाशकद्रव्येभ्यो निर्गतं निर्ग्रंथं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाभावः। अच्चेलक्कं—अचेलकत्वं चेलं वस्त्रं तस्य मनोवाक्कायैः संवरणार्थमग्रहणं। जगदिपूज्जं—जगति पूज्यं महापुरुषैरभिप्रेतवंदनीयम्। वस्त्राजिनवल्कलैः पत्रादिभिर्वा यदसंवरणं निर्ग्रंथं निर्भूषणं च तदचेलकत्वं व्रतं जगति पूज्यं भवतीत्यर्थः। अथ वस्त्रादिषु सत्सु दोषः इति चेन्न[1] हिंसार्जनप्रक्षालनयाचनादिदोषप्रसंगात्, ध्यानादि-विघ्नाच्चेति॥

अस्नानव्रतस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं।
अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो ॥३१॥

ण्हाणादिवज्जणेण य—स्नानं जलावगाहनं आदिर्येषां ते स्नानादयः स्नानोद्वर्तनाञ्जनजलसेकताम्बूललेपनादयस्तेषां वर्जनं परित्यागः स्नानादिवर्जनं तेन स्नानादिवर्जनेन जलप्रक्षालनसेचनादिक्रियाकृतांगोपांगसुखपरित्यागेन। **विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं**—जल्लं सर्वांगप्रच्छादकं मलं अंगैकदेशप्रच्छादकं स्वेदः प्रस्वेदो

संयम के विनाशक द्रव्य उनसे रहित निर्ग्रंथ अवस्था होती है अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का अभाव होना ही निर्ग्रंथ है। इह प्रकार से चेल—वस्त्र को शरीर-संवरण के लिए मन, वचन-काय से ग्रहण नहीं करना यह आचेलक्य व्रत है जो कि जगत् में पूज्य है, महापुरुषों के द्वारा अभिप्रेत है और वंदनीय है। तात्पर्य यह निकला कि वस्त्र, चर्म, वल्कल से अथवा पत्ते आदि से जो शरीर का नहीं ढकना है, निर्ग्रंथ और निर्भूषण वेष का धारण करना है वह आचेलक्य व्रत जगत् में पूज्य होता है।

प्रश्न—वस्त्र आदिकों के होने पर क्या दोष है?

उत्तर—ऐसा नहीं कहें, क्योंकि हिंसा, अर्जन, प्रक्षालन, याचना आदि अनेक दोष आते हैं तथा ध्यान, अध्ययन आदि में विघ्न भी होता है। अर्थात् किसी भी प्रकार के वस्त्र से शरीर को ढकने की बात जहाँ तक होगी वहाँ तक उन वस्त्रों के आश्रित हिंसा अवश्य होगी उनको संभालना, धोना, सुखाना, फट जाने पर दूसरों से मांगना आदि प्रसंग अवश्य आयेंगे। पुनः इन कारणों से साधु को ध्यान और अध्ययन में बाधा अवश्य आयेगी इसीलिए नग्नवेष धारण करना यह आचेलक्य नाम का मूलगुण है।

अस्नानव्रत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—स्नान आदि के त्याग कर देने से जल्ल, मल और पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाना मुनि के प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयम पालन करने रूप, घोर गुणस्वरूप अस्नानव्रत होता है ॥३१॥

आचारवृत्ति—जल में अवगाहन करना—जल में प्रवेश करके नहाना स्नान है। आदि शब्द से उबटन लगाना, आँख में अंजन डालना, जल छिड़कना, ताम्बूल भक्षण करना, शरीर में लेपन करना अर्थात् जल से प्रक्षालन, जल का छिड़कना आदि क्रियाएँ जो कि शरीर के अंग-उपांगों को सुखकर हैं उनका परित्याग करना स्नानादि-वर्जन कहलाता

१ क चेत्तन्न।

रोमकूपोद्गतजलं, जल्लं च मलं च स्वेदश्च जल्लमलस्वेदास्तैः विलिप्तं सर्वांगं[1] विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांगं। विलिप्तशब्दस्य पूर्वनिपातः। अथवा जल्लमलाभ्यां स्वेदो यस्मिन् जल्लमलस्वेदं, सर्वं च तदंगं च सर्वांगं सर्वशरीरं विलिप्तं च तज्जल्लमलस्वेदं च सर्वांगं च तद्विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांगम्। अथवा विलिप्ताः [2]सूपचिता जल्लमलस्वेदा यस्मिन् सर्वांगे तद्विलिप्तजल्लमलस्वेदं तच्च तत् सर्वांगं च। अण्हाणं—अस्नानं जलावगाहनाद्यभावः। घोरगुणो—महागुणः प्रकृष्टव्रतं, अथवा घोराः प्रकृष्टा गुणा यस्मिन् तद् घोरगुणम्। संजमदुगपालयं—संयमः कषायेन्द्रियनिग्रहः संयमस्य द्विकं द्वयं संयमद्विकं तस्य पालकं संयमद्विकपालकं इन्द्रियसंयमप्राणसंयमरक्षकम्। मुणिणो—मुनेः चारित्राभिमानिनो मुनेः। स्नानादिवर्जनेन विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांगं महाव्रतपूतं यत्तदस्नानव्रतं घोरगुणं संयमद्वयपालकं भवतीत्यर्थः। नात्राशुचित्वं स्यात् स्नानादिवर्जनेन मुनेः व्रतैः शुचित्वं यतः। यदि पुनर्व्रतरहिता जलावगाहनादिना शुचयः स्युस्तदा मत्स्यमकरदुश्चरित्रासंयताः सर्वेऽपि शुचयो भवेयुः। न चैवं, तस्मात् व्रतनियमसंयमैर्यः शुचिः स शुचिरेव। जलादिकं तु बहु कश्मलं नानासूक्ष्मजन्तुप्रकीर्णं सर्वसावद्यमूलं न तत्संयतैर्यत्र तत्र प्राप्तकालमपि सेवनीयमिति॥

क्षितिशयनव्रतस्य स्वरूपं प्रपंचयन्नाह—

है। जल्ल—सर्वांग को प्रच्छादित करनेवाला मल; मल—शरीर के एकदेश को प्रच्छादित करने वाला मल और स्वेद—रोमकूप से निकलता हुआ पसीना। स्नान आदि न करने से शरीर इन जल्ल, मल और पसीने से लिप्त हो जाता है अर्थात् शरीर में खूब पसीना और धूलि आदि चिपककर शरीर अत्यन्त मलिन हो जाता है यह अस्नानव्रत घोरगुण अर्थात् महान गुण है। अर्थात्—प्रकृष्ट—सबसे श्रेष्ठ व्रत है अथवा घोर अर्थात् प्रकृष्ट गुण इस व्रत में पाये जाते हैं। यह कषाय और इन्द्रियों का निग्रह करनेवाला होने से दो प्रकार के संयम का रक्षक है अथवा इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम का रक्षक है अर्थात् स्नान नहीं करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है तथा प्राणियों को बाधा नहीं पहुँचने से प्राणिसंयम भी पलता है। इस प्रकार से चारित्र के अभिलाषी मुनि के स्नान आदि के न करने से जल्ल, मल और स्वेद से सर्वांग के लिप्त हो जाने पर भी जो महाव्रत से पवित्र है वह अस्नान नामक व्रत घोर गुणरूप है और दो प्रकार के संयम की रक्षा करने वाला है। अर्थात् यहाँ स्नानादि का वर्जन करने से मुनि के अशुचिपना नहीं होता है क्योंकि उनके व्रतों से पवित्रता मानी गयी है।

पुनः व्रतों से रहित भी जन यदि जल-स्नान आदि से पवित्र हो जावें तब तो फिर मत्स्य मकर आदि जलजन्तु और दुश्चारित्र से दूषित असंयत जन आदि सभी पवित्र हो जावें। किन्तु ऐसी बात नहीं है, इसलिए व्रत, नियम और संयम के द्वारा जो पवित्रता है वह ही पवित्रता है। किन्तु जल आदि तो बहुत कश्मल रूप है, नाना प्रकार के सूक्ष्म जन्तुओं से व्याप्त है और संपूर्ण सावद्य-पापयोग का मूल है वह यद्यपि जहाँ-तहाँ प्राप्त हो सकता है तो भी संयतों के द्वारा सेवनीय नहीं है ऐसा समझना।

क्षितिशयन व्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

---

१ क 'गं स वि'''सर्वांगः। २ वृद्धिगताः।

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडं धणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥३२॥

फासुयभूमिपएसे—प्रगता असवः प्राणा यस्मिन्नसौ प्रासुको जीववधादिहेतुरहितः भूमेः प्रदेशो भूमिप्रदेशः प्रासुकश्चासौ भूमिप्रदेशश्च प्रासुकभूमिप्रदेशस्तस्मिन् जीवहिंसामर्दनकलहसंक्लेशादिविमुक्तभूमिप्रदेशे। **अप्पमसंथारिदम्हि**—अल्पमपि स्तोकमपि असंस्तरितं अप्रक्षिप्तं यस्मिन् सोऽल्पासंस्तरितस्तस्मिन्नल्पासंस्तरिते अथवा अल्पवति संस्तरिते येन वहुसंयमविघातो न भवति तस्मिन् तृणमये काष्ठमये शिलामये भूमिप्रदेशे च संस्तरे गृहस्थयोग्यप्रच्छादनविरहिते आत्मना वा संस्तरिते नान्येन। अथवा आत्मानं मिमीत इति आत्ममं आत्मप्रमाणं संस्तरितं चारित्रयोग्यं तृणादिकं यस्मिन् स आत्ममसंस्तरितप्रदेशस्तस्मिन्। **पच्छण्णे**—प्रच्छन्ने गुप्तैकप्रदेशे [1]स्त्रीपशुपंडकविवर्जिते असंयतजनप्रचारविवर्जिते। **दण्डं**—दण्ड इव शयनं दण्ड इत्युच्यते। **धणु**—धनुरिव शयनं धनुरित्युच्यते। शय्याशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। दण्डेन शय्या धनुषा शय्या। अधोमुखेनोत्तानेन शय्या न कर्तव्या दोषदर्शनात्। **खिदिसयणं**—क्षितौ शयनं क्षितिशयनं। विवर्जितपल्यंकादिकं। **एयपासेण**—एकपार्श्वेन शरीरैकदेशेन। प्रासुकभूमिप्रदेशे चारित्राविरोधेनाल्पसंस्तरिनेऽसंस्तरिते आत्मप्रमाणेनात्मनैव वा

गाथार्थ—अल्प भी संस्तर से रहित अथवा किंचित् मात्र संस्तर से सहित एकान्त स्थान रूप प्रासुक भूमि प्रदेश में दण्डाकार या धनुषाकार शयन करना अथवा एक पसवाड़े से सोना क्षितिशयन व्रत है ॥३२॥

आचारवृत्ति—जीव वध आदि हेतु से रहित प्रदेश प्रासुक प्रदेश है अर्थात् जीवों की हिंसा से, उनके मर्दन से अथवा कलह संक्लेश आदि से रहित जो प्रदेश है वह प्रासुक प्रदेश है। जहाँ पर किंचित् भी संस्तरण नहीं किया है अर्थात् कुछ भी नहीं विछाया है वह अल्प असंस्तरित है, अथवा जहाँ पर अल्पवान संस्तर किया गया है जिससे बहुत संयम का विघात न हो ऐसे तृणमय, काष्ठमय, शिलामय और भूमिमय इन चार प्रकार के संस्तर में से किसी एक प्रकार का संस्तर किया गया है ऐसा संस्तर जोकि गृहस्थ के योग्य प्रच्छादन से रहित है, अथवा जो अपने द्वारा विछाया गया है अन्य के द्वारा नहीं, वह संस्तर यहाँ विवक्षित है।

अथवा जो 'आत्मानं मिमीते' आत्मा को मापता है अर्थात् अपने शरीर प्रमाण है ऐसा विछाया गया संस्तर यहाँ विवक्षित है जोकि चारित्र के योग्य तृण आदि रूप है वह आत्म प्रमाण संस्तरित प्रदेश साधु के शयन के योग्य है। वह प्रच्छन्न होवे अर्थात् वहाँ पर स्त्री, पशु और नपुंसक लोग न होवें और असंयतजनों के आने-जाने से रहित हो ऐसे गुप्त-एकान्त प्रदेश साधु के शयन योग्य है। वहाँ पर दण्ड के समान शरीर को करके अर्थात् दण्डाकार, या धनुष के समान सोना, अथवा एक पसवाड़े से शयन करना—इन तीन प्रकार से सोने का विधान होने से यहाँ पर अधोमुख होकर या ऊपर मुख करके सोना नहीं चाहिए यह आशय है क्योंकि इनमें दोष देखे जाते हैं। उपर्युक्त विधि से शयन ही क्षितिशयन व्रत है। तात्पर्य यह हुआ कि चारित्र से अविरोधी ऐसे अल्प संस्तर को डाल करके अथवा संस्तर नहीं भी विछा करके, अपने शरीर प्रमाण में अथवा अपने द्वारा विछाये गये ऐसे संस्तरमय, एकान्त-

---

१ क 'षपंडक'।

संस्तरिते प्रच्छन्ने दण्डेन धनुषा एकपार्श्वेन मुनेर्या शय्या शयनं तत् क्षितिशयनव्रतमित्यर्थः। किमर्थमेतदिति चेत् इन्द्रियसुखपरिहारार्थं तपोभावनार्थं शरीरादिनिस्पृहत्वाद्यर्थं चेति ॥

अदन्तमनव्रतस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं[1] पासाणछल्लियादीहिं ।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥३३॥

अंगुलि—अंगुलिः हस्ताग्रावयवः। णह—नखः कररुहः। अवलेहणि—अवलिख्यते मलं निराक्रियतेऽनया सा अवलेखनी दन्तकाष्ठं। कलिहिं[2]—कलिस्तृणविशेषः, अत्र बहुवचनं द्रष्टव्यं प्राकृतलक्षणबलात्। अंगुलिनखावलेखनीकलयस्तैः। पासाणं—पाषाणं। छल्लि—त्वक् वल्कलावयवः। पाषाणं च त्वक् च पाषाणत्वचं तदादिर्येषां ते पाषाणत्वचादयस्तैः पाषाणत्वचादिभिश्च। आदिशब्देन खर्परखण्डतन्दुलवर्तिकादयो गृह्यन्ते। संजमगुत्ती—संयमगुप्तिः। दंतमलासोहणयं—दन्तानां मलं तस्याशोधनमनिराकरणं दन्तमलाशोधनं। संजमगुत्ती—संयमस्य गुप्तिः संयमगुप्तिः संयमरक्षा इन्द्रियसंयमरक्षणनिमित्तम्। [3]समुदायार्थः—अंगुलिनखावलेखनीकलिभिः पाषाणत्वचादिभिश्च यदेतद्दन्तमलाशोधनं संयमगुप्तिनिमित्तं तददन्तमनव्रतं भवतीत्यर्थः। किमर्थं वीतरागख्यापनार्थं सर्वज्ञाज्ञानुपालननिमित्तं चेति ॥

रूप प्रासुक भूमि-प्रदेश में दण्डरूप से, धनुषाकार से या एक पसवाड़े से जो मुनि का शयन करना है वह क्षितिशयन व्रत है।

प्रश्न—यह किसलिए कहा है?

उत्तर—इन्द्रिय सुखों का परिहार करने के लिए, तप की भावना के लिए और शरीर आदि से निःस्पृहता आदि के लिए यह भूमिशयन व्रत होता है। अर्थात् पृथ्वी पर सोने से या तृण-घास पाटे आदि पर सोने पर कोमल-कोमल बिछौने आदि का त्याग हो जाने से इन्द्रियों का सुख समाप्त हो जाता है, तपश्चरण में भावना बढ़ती चली जाती है, शरीर से ममत्व का निरास होता है, और भी अनेकों गुण प्रकट होते हैं।

अदंतधावन व्रत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अंगुली, नख, दांतोन और तृण विशेष के द्वारा पत्थर या छाल आदि के द्वारा दाँत के मल का शोधन नहीं करना यह संयम की रक्षारूप अदन्तधावन व्रत है ॥३३॥

आचारवृत्ति—अंगुली—हाथ के अग्रभाग का अवयव, नख, अवलेखनी—जिसके द्वारा मल निकाला जाता है वह दांतोन आदि, कलि—तृण विशेष, पत्थर और वृक्षों की छाल। यहाँ आदि शब्द से खप्पर के टुकड़े, चावल की बत्ती आदि ग्रहण की जाती हैं। इन सभी के द्वारा दाँतों का मल नहीं निकालना यह इन्द्रियसंयम की रक्षा के निमित्त अदंतधावन व्रत है। समुदाय अर्थ यह हुआ कि अंगुली, नख, दांतोन, तृण, पत्थर, छाल आदि के द्वारा जो दंतमल को दूर नहीं करना है वह संयमरक्षा निमित्त अदंतमनव्रत कहलाता है।

प्रश्न—यह किसलिए है?

---

१ क °कलि न। २ क कलि न। ३ क समु°।

स्थितिभोजनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइ[1]विवज्जणेण समपायं[2]।
[3]पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥३४॥

अंजलिपुडेण—अञ्जलिरेव पुटं अञ्जलिपुटं तेन—अञ्जलिपुटेन पाणिपात्रेण स्वहस्तपात्रेण[4]। **ठिच्चा**—स्थित्वा ऊर्ध्वांध:[5] स्वरूपेण नोपविष्टेन नापि सुप्तेन न तिर्यग्व्यवस्थितेन भोजनं कार्यमित्यर्थ:। ऊर्ध्व-जंघ: संस्थाय। **कुड्डाइविवज्जणेण**—कुड्यमादिर्येषां ते कुड्यादयस्तेषां विवर्जनं परिहरणं कुड्यादिविवर्जनं तेन कुड्यादिविवर्जनेन भित्तिविभागस्तंभादीननाश्रित्य। **समपायं**—समौ पादौ यस्य क्रियाविशेषस्य तत्समपादं चतुरंगुलप्रमाणं पादयोरन्तरं कृत्वा स्थातव्यमित्यर्थ:। **परिसुद्धे**—परिशुद्धे जीववधादिविरहिते। **भूमितिए**—भूमित्रिके भूमेस्त्रिकं भूमित्रिकं तस्मिन् स्वपादप्रदेशोत्सृष्टपतनपरिवेषकप्रदेशे। **असणं**—अशनं आहारग्रहणम्। **ठिदिभोयणं**—स्थितस्य भोजनं स्थितिभोजनं नामसंज्ञकं भवति। परिशुद्धे भूमित्रिके कुड्यादिविवर्जनेनाञ्जलि-पुटेन समपादं यथाभवति तथा स्थित्वा यदेतदशनं क्रियते तत्स्थितिभोजनं नाम व्रतं भवतीति। समपादाञ्जलि-

---

उत्तर—यह व्रत वीतारागता को वतलाने के लिए और सर्वज्ञदेव की आज्ञा के पालन हेतु कहा गया है।

स्थितिभोजन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दीवाल आदि का सहारा न लेकर जीव-जन्तु से रहित तीन स्थान की भूमि, में समान पैर रखकर खड़े होकर दोनों हाथ की अंजली वनाकर भोजन करना स्थितिभोजन नाम का व्रत है ॥३४॥

आचारवृत्ति—दीवाल का भाग या खंभे आदि का सहारा न लेकर, पैरों में चार अंगुल प्रमाण का अन्तर रखकर खड़े होकर अपने कर-पात्र में आहार लेना स्थितिभोजन है। यहाँ 'खड़े होकर' कहने से ऐसा समझना कि साधु न वैठकर आहार ले सकते हैं, न लेटकर, न तिरछे आदि स्थित होकर ही ले सकते हैं किन्तु दोनों पैरों में चार अंगुल अन्तर से खड़े होकर ही लेते हैं। वे तीन स्थानों का निरीक्षण करके आहार करते हैं। अपने पैर रखने के स्थान को, उच्छिष्ट गिरने के स्थान को और परोसने वाले के स्थान को जीवों के गमनागमन या वध आदि से रहित—विशुद्ध देखकर आहार ग्रहण करना होता है। उसका स्थितिभोजन नामक व्रत कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि तीनों स्थानों को जीव-जन्तु रहित देखकर भित्ति आदि का सहारा न लेकर समपाद रखकर खड़े होकर अंजलिपुट मे जो आहार ग्रहण किया जाता है वह स्थिति-भोजन व्रत है।

समपाद और अंजलिपुट इन दो विशेषणों से तीन मुहूर्त मात्र भी एकभक्त का जो काल है वह संपूर्णकाल नहीं लिया जाता है किन्तु मुनि का भोजन ही इन विशेषणों से विशिष्ट होता है। इससे यह अर्थ हुआ कि साधु जव-जव भोजन करते हैं तव-तव समपाद को करके

---

१ क दिवि°। २ क °पादं। ३ क परिसु°। ४ क °त भाजनेन। ५ क °र्ध्वजंघस्य°।

पुटाभ्यां न सर्वः एकभक्तकालः त्रिमुहूर्तमात्रोऽपि विशिष्यते किन्तु भोजनं मुनेर्विशिष्यते तेन त्रिमुहूर्तकालमध्ये यदा यदा भुङ्क्ते तदा तदा समपादं कृत्वा अञ्जलिपुटेन भुञ्जीत। यदि पुनर्भोजनक्रियायां प्रारब्धायां समपादौ न विशिष्यते अञ्जलिपुटं च न विशिष्यते हस्तप्रक्षालने कृतेऽपि तदानीं जानूपरिव्यतिक्रमो योऽयमन्तरायः पठितः स न स्यात्। नाभेरधो निर्गमनं योऽन्तरायः सोऽपि न स्यात्। अतो ज्ञायते त्रिमुहूर्तमध्ये एकत्र भोजनक्रियां प्रारभ्य केनचित् कारणान्तरेण हस्तौ प्रक्षाल्य मौनेनान्यत्र गच्छेत् भोजनाय यदि पुनः सोऽन्तरायो भुञ्जानस्यैकत्र भवतीति मन्यते जानूपरिव्यतिक्रमविशेषणमनर्थकं स्यात्। एवं विशेषणमुपादीयेत समपादयोर्मनागपि चलितयोरन्तरायः स्यात् नाभेरधो निर्गमनं दूरत एव न[1] सम्भवतीति अन्तरायपरिहारार्थमनर्थकं ग्रहणं स्यात् तथा पादेन किञ्चित् ग्रहणमित्येवमादीन्यन्तरायव्यापकानि सूत्राण्यनर्थकानि स्युः। तथाञ्जलिपुटं यदि न भिद्यते करेण किञ्चिद् ग्रहणमन्तरायस्य विशेषणमनर्थकं स्यात्। गृह्णातु वा मा वा अञ्जलिपुटभेदेन अन्तरायः स्यादित्येवमुच्यते। तथा जान्वधः परामर्शः सोऽप्यन्तरायस्य विशेषणं न स्यात्। एवमन्येऽपि अन्तराया न स्युरिति। न चैतेऽन्तरायाः सिद्धभक्तावकृतायां गृह्यन्ते सर्वदैव भोजनाभावः स्यात्। न चैवं, यस्मात्सिद्धभक्तिं यावन्न[2] करोति तावदुपविश्य पुनरुत्थाय भुङ्क्ते। मांसादीन् दृष्ट्वा च रोदनादिश्रवणेन च उच्चारादींश्च

अंजलिपुट से ही करते हैं। यदि पुनः भोजन क्रिया के प्रारम्भ कर देने पर समपाद विशेष नहीं है और अंजलिपुट विशेष नहीं है तो हाथ के प्रक्षालन करने पर भी उस समय जानूपरिव्यतिक्रम नाम का जो अंतराय कहा गया है वह नहीं हो सकेगा और नाभि के नीचे निर्गमन नाम का जो अंतराय है वह नहीं हो सकेगा इसलिए यह जाना जाता है कि तीन मुहूर्त के मध्य एक जगह भोजन क्रिया को प्रारम्भ करके किसी अन्य कारण से हाथों को धोकर मौन से अन्यत्र भोजन के लिए जा सकते हैं। यदि पुनः वह अंतराय भोजन करते हुए के एक जगह होती है ऐसा मान लो तो जानूपरिव्यतिक्रम विशेषण अनर्थक हो जावेगा। किन्तु ऐसा विशेषण ग्रहण करना चाहिए था कि सम पैरों के किंचित् भी चलित होने पर अंतराय हो जावेगा, पुनः नाभि के नीचे से निकलने रूप अंतराय दूर से ही संभव नहीं हो सकेगा इसलिए अंतराय परिहार के लिए है ऐसा ग्रहण अनर्थक ही हो जावेगा। उसी प्रकार से 'पैर से किंचित् ग्रहण करना' इत्यादि प्रकार के अंतरायों को कहनेवाले सूत्र भी अनर्थक ही हो जावेंगे। तथा यदि अंजलिपुट नहीं छूटना चाहिए ऐसा मानेंगे तो 'कर से किंचित् ग्रहण करने रूप' अंतराय का विशेषण अनर्थक हो जायेगा। ग्रहण करो अथवा मत करो किन्तु अंजलिपुट के छूट जाने से अंतराय हो जावेगा ऐसा कहना चाहिए था। तथा जान्वधः परामर्श नामक जो अंतराय है वह भी नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार से अन्य भी अंतराय नहीं हो सकेंगे।

सिद्धभक्ति के नहीं करने पर ये अंतराय ग्रहण किये जाते हैं ऐसा भी नहीं कह सकते हैं अन्यथा हमेशा ही भोजन का अभाव हो जावेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जब तक सिद्धभक्ति को नहीं करते हैं तब तक बैठे रहकर पुनः खड़े होकर भोजन करते हैं। मांस आदि को देखकर, रोना आदि सुनकर अथवा मलमूत्र आदि विसर्जन करके भोजन करते हैं और उन्हीं पर काक आदि के द्वारा पिण्ड ग्रहण अंतराय भी सम्भव नहीं है।

१-२ न नास्ति क प्रतौ।

कृत्वा भुङ्क्ते न च तत्र काकादिपिंडहरणं[1] सम्भवति। अथ किमर्थं स्थितिभोजनमनुष्ठीयते चेन्नैष दोषः यावद्धस्तपादौ मम संवहतस्तावदाहारग्रहणं योग्यं नान्यथेति ज्ञापनार्थं। स्थितस्तस्य हस्ताभ्यां भोजनं उपविष्टः सन् भाजनेनान्यहस्तेन वा न भुञ्जेऽहमिति प्रतिज्ञार्थं च, अन्यच्च स्वकरतलं शुद्धं भवति अन्तराये सति बह्वोविसर्जनं च न भवति अन्यथा पात्रीं सर्वाहारपूर्णां त्यजेत् तत्र च दोषः स्यात्। इन्द्रियसंयमप्राणसंयमप्रतिपालनार्थं च स्थितिभोजनमुक्तमिति॥

एकभक्तस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु॥३५॥

उदयत्थमणे—उदयश्चास्तमनं च उदयास्तमने तयोः सवित्रुरुदयास्तमनयोः। **काले**—कालयोः, अथवा उदयास्तमनकालौ द्वितीयान्तौ द्रष्टव्यौ। **णालीतियवज्जियम्हि**—नाड्या घटिकायास्त्रिकं नाडीत्रिकं तेन नाडीत्रिकेण वर्जितं नाडीत्रिकवर्जितं तस्मिन् घटिकात्रिकवर्जिते। **मज्झम्हि**—मध्ये। **एकम्हि**—एकस्मिन्। **दुअ**—द्वयोः। **तिए वा**—त्रिषु वा। **मुहुत्तकाले**—मुहूर्तकाले। **एयभत्तं तु**—एकभक्तं तु। उदयकालं नाडीत्रिकप्रमाणं वर्जयित्वा। अस्तमनकालं च नाडीत्रिकप्रमाणं वर्जयित्वा शेषकालमध्ये एकस्मिन् मुहूर्ते द्वयोर्मुहूर्तयोस्त्रिषु वा मुहूर्तेषु यदेतदशनं तदेकभक्तसंज्ञकं व्रतमिति पूर्वगाथासूत्रादशनमनुवर्तते तेन सम्बन्ध

प्रश्न—पुनः किसलिए स्थितिभोजन का अनुष्ठान किया जाता है ?

उत्तर—यह दोष नहीं है, क्योंकि जब तक मेरे हाथ पैर चलते हैं तब तक ही आहार ग्रहण करना योग्य है अन्यथा नहीं ऐसा सूचित करने के लिए मुनि खड़े होकर आहार ग्रहण करते हैं। बैठकर दोनों हाथों से या बर्तन में लेकर के या अन्य के हाथ से मैं भोजन नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा के लिए भी खड़े होकर आहार करते हैं। और दूसरी बात यह भी है कि अपना पाणिपात्र शुद्ध रहता है तथा अंतराय होनेपर बहुत सा भोजन छोड़ना नहीं पड़ता है अन्यथा थाली में खाते समय अंतराय हो जाने पर पूरी भोजन से भरी हुई थाली को छोड़ना पड़ेगा, इसमें दोष लगेगा। तथा इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम का परिपालन करने के लिए भी स्थिति-भोजन मूलगुण कहा गया है ऐसा समझना।

एकभक्त का स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—उदय और अस्त के काल में से तीन-तीन घड़ी से रहित मध्यकाल के एक, दो अथवा तीन मुहूर्त काल में एकबार भोजन करना यह एकभक्त मूलगुण है॥३५॥

आचारवृत्ति—सूर्योदय के बाद तीन घड़ी और सूर्यास्त के पहले तीन घड़ी काल को छोड़कर शेषकाल के मध्य में एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त पर्यंत जो आहार ग्रहण है वह एकभक्त नाम का व्रत है। इस प्रकार से पूर्वगाथा सूत्र में 'अशन' शब्द है, उसका यहाँ सम्बन्ध किया गया है। अथवा तीन घड़ी प्रमाण सूर्योदय काल और तीन घड़ी प्रमाण सूर्यास्त काल को छोड़कर मध्यकाल में तीन मुहूर्त तक जो भोजन क्रिया की निष्पत्ति—पूर्ति है वह एकभक्त है।

---

१ क 'ग्रहणं'।

इति। अथवा नाडीत्रिकप्रमाणे उदयास्तमनकाले च वर्जिते मध्यकाले त्रिषु मुहूर्तेषु भोजनक्रियाया या निष्पत्तिस्तदेकभक्तमिति। अथवा अहोरात्रमध्ये द्वे भक्तवेले तत्र एकस्यां भक्तवेलायां आहारग्रहणमेकभक्तमिति। एकशब्दः संख्यावचनः भक्तशब्दोऽपि कालवचन इति। एकभक्तैकस्थानयोः को विशेष इति चेन्न पादविक्षेपाविक्षेपकृतत्वाद्विशेषस्य, एकस्मिन् स्थाने त्रिमुहूर्तमध्ये पादविक्षेपमकृत्वा भोजनमेकस्थानं, त्रिमुहूर्तकालमध्ये एकक्षेत्रावधारणरहित भोजनमेकभक्तमिति। अन्यथा मूलगुणोत्तरगुणयोरविशेषः स्यात् न चैवं प्रायश्चित्तेन विरोधः स्यात्। तथा चोक्तं प्रायश्चित्तग्रन्थेन, 'एकस्थानमुत्तरगुणः एकभक्तं तु मूलगुण' इति। तत्किमर्थमिति [1]चेन्न इन्द्रियजयनिमित्तं, आकांक्षानिवृत्त्यर्थं, महापुरुषाचरणार्थं चेति। किमर्थं महाव्रतानां भेद इति चेन्न, छेदोपस्थापन-शुद्धिसंयमाश्रयणात्। नापि महाव्रतसमितीनामभेदः चेष्टाचेष्टाचरणविशेषाश्रयणात्। नाप्यात्मदुःखार्थमेतत्, अन्यथार्थत्वात् भिषक्क्रियावदिति। अत्र गुप्तीनां क्वान्तर्भाव इति प्रश्ने उत्तरमाह—

अथवा अहोरात्र में भोजन की दो वेला होती हैं उसमें एक भोजन वेला में आहार ग्रहण करना एक भक्त है। यहाँ पर एक शब्द संख्यावाची है और भक्त शब्द कालवाची है ऐसा समझना।

प्रश्न—एक भक्त और एक स्थान में क्या अन्तर है?

उत्तर—पाद विक्षेप करना और पाद विक्षेप न करना यही इन दोनों में अन्तर है। तीन मुहूर्त के बीच में एक स्थान में खड़े होकर अर्थात् चरणविक्षेप न करके भोजन करना एक स्थान है और तीन मुहूर्त के काल में एक क्षेत्र की मर्यादा न करते हुए भोजन करना एकभक्त है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो मूलगुण और उत्तरगुण में कोई अन्तर नहीं रहेगा किन्तु ऐसा है नहीं, नहीं तो प्रायश्चित्त शास्त्र से विरोध आ जायेगा, उसमें कहा हुआ था कि एकस्थान उत्तरगुण है और एकभक्त मूलगुण है।

ऐसा भेद क्यों है?

इन्द्रियों को जीतने के लिए, आकांक्षा का त्याग करने के लिए और महापुरुषों के आचरण के लिए ही भेद है।

महाव्रतों में भेद क्यों है?

छेदोपस्थापना शुद्धि नामक संयम के आश्रय से यह भेद है। महाव्रत और समिति में भी अभेद नहीं है क्योंकि क्रियात्मक और अक्रियात्मक आचरण विशेष देखा जाता है अर्थात् समिति क्रियारूप हैं उनमें यत्नाचारपूर्वक गमन करना, बोलना आदि होता है और महाव्रत अक्रियारूप हैं क्योंकि ये परिणामात्मक हैं।

ये महाव्रत समिति आदि आत्मा को दुःख देने वाले हैं ऐसा भी नहीं समझना क्योंकि वैद्य की शल्यक्रिया के समान ये दुःख से विपरीत अन्यथा अर्थवाले ही हैं अर्थात् जैसे वैद्य रोगी के फोड़े को चीरता है तो यह ऑपरेशन तत्काल में दुःखप्रद दिखते हुए भी उसके स्वास्थ्य के लिए है वैसे ही इन महाव्रत समितियों के अनुष्ठान में तत्काल में भले ही दुःख दीखे किन्तु ये आत्मा को स्वर्ग मोक्ष के लिए होने से सुखप्रद ही हैं।

---

१ क चेत् इ।

अनशनं नाम अशनत्यागः स च त्रिप्रकारः। मनसा च न भुञ्जे न भोजयामि, भोजने व्यापृतस्य नानुमतिं करोमि भुञ्जे भुङ्क्ष्व वचसा न भणामीति चतुर्विधाहारस्याभिसन्धिपूर्वकं कायेनादानं न करोमि हस्तसंज्ञया प्रवर्तनं न करोमि नानुमतिसूचनं कायेन करोमि इत्येवं मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारणानां त्यागोऽनशनं नाम। तथा योगत्रयेण तृप्तिकारिण्या भुजिक्रियाया दर्पवाहिन्या निराकृतिरवमोदर्यं। तथा आहारसंज्ञाया जयः गृहादिगणनान्यायेन वृत्तिपरिसंख्यानं। तथा मनोवाक्कायक्रियाभी रसगोचरगार्द्धत्यजनं रसपरित्यागः। काये सुखाभिलापत्यजनं कायक्लेशः। चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम्। स्वकृतापराधगूहनत्यजनं आलोचना। स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणं। तदुभयोज्झनमुभयम्। येन यत्र वा अशुभयोगोऽभूत्

प्रश्न—तपों का और गुप्तियों का कहाँ पर अन्तर्भाव होता है ?

उत्तर—नित्य युक्त—नित्य करने योग्य तप और गुप्तियों का मूलगुणों में अन्तर्भाव हो जाता है और कादाचित्क—कभी-कभी करने योग्य इनका उत्तरगुणों में अन्तर्भाव होता है। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भी मूलगुणों में ही अन्तर्भाव माना है क्योंकि इनके विना मूलगुण ही नहीं होते हैं।

तप और गुप्तियों का संक्षिप्त लक्षण—

तप के बारह भेद हैं। अनशन, अवमौदर्य आदि छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय आदि छह अभ्यन्तर तप हैं।

भोजन का त्याग करना अनशन है उसके तीन प्रकार हैं। मैं मन से भोजन नहीं करता हूँ, न अन्य को कराता हूँ और न भोजन करते हुए अन्य को अनुमोदना ही देता हूँ। तुम भोजन करो ऐसा वचन से नहीं कहता हूँ, न कहलाता हूँ और न अनुमोदना ही देता हूँ। चार प्रकार के आहार को अभिप्रायपूर्वक काय से न मैं ग्रहण करता हूँ, न हाथ से इशारे के प्रवृत्ति करता हूँ और न काय से अनुमति की सूचना करता हूँ इस प्रकार से कर्मों के ग्रहण में कारणभूत ऐसी मन, वचन और काय की क्रियाओं का त्याग करना ही अनशन नाम का तप है।

(इन्द्रियों की) तृप्ति और दर्प (प्रमाद) को करने वाले भोजन का मन, वचन, काय से त्याग करना अर्थात् भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है।

गृह आदि की संख्या के न्याय से अर्थात् गृह पात्र आदि नियम विशेष करके आहार संज्ञा को जीतना वृत्ति-परिसंख्यान तप है।

मन-वचन-काय से रसविषयक गृद्धि का त्याग करना रसपरित्याग तप है।

शरीर में सुख की अभिलाषा का त्याग करना कायक्लेश तप है।

चित्त की व्याकुलता को जीतना अर्थात् चित्त की व्याकुलता के कारणभूत स्त्री, पशु, नपुंसक आदि जहां नहीं हैं ऐसे विविक्त—एकान्त स्थान में सोना बैठना यह विविक्त शयनासन तप है।

ये छह प्रकार के बाह्य तप हैं। अभ्यन्तर तप में पहला तप प्रायश्चित्त है उसके दश भेद हैं। उनका वर्णन कर रहे हैं—

तन्निराक्रिया[1] ततोऽपगमनं विवेकः। देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः । तपोऽनशनादिकम्। असंयमजुगुप्सार्थं प्रव्रज्याहापनं छेदः। पुनश्चारित्रादानं मूलं। कालप्रमाणेन चतुर्वर्ण्यश्रमणसंघाद्बहिष्करणं परिहारः। विपरीतं गतस्य मनसः निवर्तनं श्रद्धानं, दर्शनज्ञानचारित्रतपसामतीचारो[2] अशुभक्रियास्तासामपोहनं विनयः। चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्यम्। अंगपूर्वाणां सम्यक् पठनं स्वाध्यायः। शुभविषये एकाग्रचिन्तानिरोधनं ध्यानम्। सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं गुप्तिः। सा च मनोवाक्कायक्रियाभेदात्त्रिप्रकारा। एतेषां नवधां तपसां गुप्तीनां च नित्ययुक्तानां च मूलगुणेष्वेवान्तर्भावः। कादाचित्कानां चोत्तरगुणेष्वन्तर्भाव इति, तथा सम्यक्त्वज्ञान चारित्राणामपि मूलगुणेष्वन्तर्भावस्तैर्विना तेषामभावादिति ॥

स्वयं किये हुए अपराध नहीं छिपाना आलोचना है।

अपने द्वारा किये हुए अशुभ योग की प्रवृत्तियों से हटना प्रतिक्रमण है।

आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय तप है।

जिससे अथवा जिसमें अशुभयोग हुआ हो उस वस्तु का छोड़ना विवेक है।

शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

अनशन अर्थात् उपवास आदि तपों का अनुष्ठान करना तपप्रायश्चित्त है।

असंयम से ग्लानि उत्पन्न होने पर दीक्षा के दिन, मास आदि कम करना छेद है।

पुनः चारित्र अर्थात् दीक्षा ग्रहण करना मूल है।

कुछ काल के प्रमाण से चतुर्विध श्रमणसंघ से साधु का बहिष्कार कर देना परिहार प्रायश्चित्त है।

विपरीत-मिथ्यात्व को प्राप्त हुए मन को वापस लौटाकर सम्यक्त्व में स्थिर करना श्रद्धान प्रायश्चित्त है।

ये प्रायश्चित्त तप के दश भेद हुए। अब अन्य विनय आदि अभ्यन्तर तपों को कहते हैं—

दर्शन ज्ञान चारित्र और तप में अतिचाररूप जो अशुभ क्रियाएँ हैं उनका त्याग करना विनय है।

चारित्र के कारणों का अनुमनन करना वैयावृत्य है।

अंग और पूर्व का सम्यक् पढ़ना स्वाध्याय है।

शुभ विषय में एकाग्र चिन्ता का निरोध करना अर्थात् चित्त को स्थिर करना ध्यान है।

इस प्रकार बारह विध तपों का वर्णन हुआ। अब गुप्ति को कहते हैं—

सावद्य अर्थात् पाप योग से आत्मा का गोपन—रक्षण करना गुप्ति है। इसके मन, वचन, और काय की क्रिया के भेद से तीन भेद हो जाते हैं। अर्थात् सावद्य परिणामों से मन को रोकना मनोगुप्ति है, सावद्य वचनों को नहीं बोलना वचनगुप्ति है और सावद्य काययोग से बचना कायगुप्ति है। नित्ययुक्त ये तप और गुप्तियां मूलगुणों में गर्भित हैं और नैमित्तिक रूप ये उत्तरगुणों में गर्भित हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी मूलगुणों में अन्तर्भूत हैं क्योंकि इनके बिना मूलगुण हो ही नहीं सकते।

---

१ क 'नियते ततोपयोगगमनं। २ क 'चारणमशु'।

मूलगुणफलप्रतिपादनार्थोपसंहारगाथामाह—

एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिऊण तिविहेण।
होऊण जगदि पुज्जो अक्खयसोक्खं लहइ मोक्खं ॥३६॥

एवं—अनेन प्रकारेण। विहाणजुत्ते—विधानयुक्तान् पूर्वोक्तक्रमभेदभिन्नान् सम्यक्त्वाद्यनुष्ठानपूर्वकान्। मूलगुणे—मूलगुणान् पूर्वोक्तलक्षणान्। पालिऊण—पालयित्वा सम्यगनुष्ठाय आचर्य। तिविहेण—त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन वा। होऊण—भूत्वा। जगदिपुज्जो—जगति लोके पूज्योऽर्चनीयः। अक्खयसोक्खं—अक्षयसौख्यं व्याघातरहितं। लभइ—लभते प्राप्नोति। मोक्खं—मोक्षं अष्टविधकर्मापायोत्पन्नजीवस्वभावम्॥

इत्याचारवृत्तौ वसुनंदिविरचितायां प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

अब मूलगुणों का फल प्रतिपादन करने के लिए उपसंहाररूप गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधान से सहित मूलगुणों को मन, वचन, काय से पालन करके मनुष्य जगत् में पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥३६॥

आचारवृत्ति—पूर्वोक्त क्रम से भेद रूप तथा सम्यक्त्व आदि अनुष्ठानपूर्वक मूलगुणों को मन, वचन, काय से पालन करके साधु इस जगत् में अर्चनीय हो जाता है और आगे बाधारहित अक्षयसुखमय और अष्टविध कर्मों के अभाव से उत्पन्न हुए जीव के स्वभाव रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार श्री वसुनन्दि आचार्य विरचित मूलाचार की आचारवृत्ति
नामक टीका में प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

२. बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकारः

प्रत्याख्यान[1]संस्तरस्तवप्रतिपत्तृभ्यां[2] सहाभेदं कृत्वात्मनः ग्रंथकर्ता प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवनामधेय-द्वितीयाधिकारार्थमाह। अथवा षट्काला यतीनां भवन्ति तत्रात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थकालास्त्रय. आराधनायां कथ्यते। शेषा दीक्षाशिक्षागणपोषणकाला आचारे, तत्राद्येषु त्रिषु कालेषु यद्युपस्थितं मरणं तत्रैवंभूतं परिणामं विदधेऽहमित्यत आह—

सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो।
सद्दहे जिणपण्णत्तं पच्चक्खामि य पावयं ॥३७॥

सव्वदुक्खप्पहीणाणं—सर्वाणि च तानि दुःखानि च सर्वदुःखानि समस्तद्वन्द्वानि तैः प्रहीणा रहिताः। अथवा सर्वाणि दुःखानि प्रहीणानि येषां ते सर्वदुःखप्रहीणास्तेभ्यः। सिद्धाणं—सिद्धेभ्यः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणैश्वर्येभ्यः। अरहदो—अर्हद्भ्यश्च नवकेवललब्धिप्राप्तेभ्यश्चा(च)शब्दोऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः। णमो—नमो नमोऽस्त्वित्यर्थः तेभ्यः। सद्दहे—श्रद्दधे रुचिं कुर्वे। जिणपण्णत्तं—कर्मारातीन् जयन्तीति जिनाः तैः प्रज्ञप्तं कथितं जिनप्रज्ञप्तं जिनकथितं। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यामि परिहरे। पावयं—पापकं दुःखनिमित्तम्। सर्वद्वंद्वरहितेभ्यः सिद्धेभ्योऽर्हं-

---

प्रत्याख्यान और संस्तरस्तव इन दो विषयों का उनको जाननेवाले मुनियों के साथ अभेद सम्बन्ध दिखाकर ग्रन्थकार प्रत्याख्यान संस्तर-स्तव नामक द्वितीय अधिकार का वर्णन करते हैं। अथवा यतियों के छह काल होते हैं उसमें आत्म संस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन तीन कालों का वर्णन 'भगवती आराधना' में कहा गया है। शेष अर्थात् दीक्षा-काल, शिक्षाकाल और गणपोषणकाल इन तीनों का इस आचार-ग्रन्थ—मूलाचार में वर्णन करेंगे। उनमें से पहले के तीन कालों में यदि मरण उपस्थित हो जावे तो मैं इस प्रकार के (निम्न कथित) परिणाम को धारण करता हूँ, इस प्रकार से आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त हुए सिद्धों को और अर्हंतों को मेरा नमस्कार होवे। मैं जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित (तत्त्व) का श्रद्धान करता हूँ और पाप का त्याग करता हूँ ॥३७॥

आचारवृत्ति—सम्पूर्ण दुःखों से अर्थात् समस्त द्वन्द्वों से जो रहित हैं, अथवा जिन्होंने सम्पूर्ण दुःखों को नष्ट कर दिया है ऐसे सम्यक्त्व आदि आठ गुण रूप ऐश्वर्य से विशिष्ट सिद्धों को और नव केवललब्धि को प्राप्त हुए अर्हंतों को मेरा नमस्कार होवे। यहाँ गाथा में 'च' शब्द न होते हुए भी उसको समझना चाहिए। सर्वज्ञदेवपूर्वक ही आगम होता है इसीलिए मैं नमस्कार के अनन्तर जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आगम का श्रद्धान करता हूँ अर्थात् सम्यक्त्वपूर्वक जो आचरण है उसका श्रद्धान करता हूँ और इसी हेतु से दुःखनिमित्तक सम्पूर्ण पापों का त्याग

---

१. क 'अभिसं'। २. 'पतिभ्यां'।

द्भ्यो नमोस्तु। सर्वज्ञपूर्वक आगमो यतोऽतस्तन्नमस्कारानन्तरमागमश्रद्धानं श्रद्दधे जिनप्रज्ञप्तमित्युक्तं सम्यक्त्वपूर्वकं च, यतः आचरणमतः प्रत्याख्यामि सर्वपापकमित्युक्तं। अथवा क्त्वान्तोऽयं नमःशब्दः प्राकृते लोपबलेन सिद्धः। सिद्धानर्हतश्च नमस्कृत्वा जिनोक्तं श्रद्दधे पापं च प्रत्याख्यामीत्यर्थः। अथवा [1]मिङन्तोऽयं नमःशब्दः तेनैवं सम्बन्धः कर्तव्यः—सर्वदुःखप्रहीणान् सिद्धान् अर्हतश्च नमस्यामि जिनागमं च श्रद्दधे। पापं च प्रत्याख्यामीत्येकक्षणे[2]ऽनेकक्रिया एकस्य कर्तुः संभवंति इत्यनेकान्तद्योतनार्थमनेन न्यायेन सूत्रकारस्य कथनमिति॥

भक्तिप्रकर्षार्थं पुनरपि नमस्कारमाह—

णमोत्थु धुदपावाणं सिद्धाणं च महेसिणं।
[3]संथरं पडिवज्जामि जहा केवलिदेसियं॥३८॥

अथवा प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवौ द्वावधिकारौ, द्वे शास्त्रे वा गृहीत्वा एकोऽयं अधिकारः कृतः, कुतो ज्ञायते नमस्कारद्वितयकरणादिति। **णमोत्थु**—नमोऽस्तु। **धुदपावाणं**—धुतं विहतं पापं कर्म यैस्ते धुतपापस्तेभ्यः। **सिद्धाणं च**—सिद्धेभ्यश्च। **महेसिणं**—महर्षिभ्यश्च केवलर्द्धिप्राप्तेभ्यः। [3]**संथरं**—संस्तरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोमयं भूमिपाषाणफलकतृणमयं वा। **पडिवज्जामि**—प्रपद्ये अभ्युपगच्छामि। जहा—यथा। **केवलिदेसियं**—केवलिभिर्दृष्टः केवलिदृष्टस्तं केवलज्ञानिभिः प्रतिपादितमित्यर्थः। धुतपापेभ्यः सिद्धेभ्यो महर्षिभ्यश्च नमोऽस्तु। केवलिदृष्टं संस्तरं प्रतिपद्येऽहं इति पूर्ववत्सम्बन्धः कर्तव्यः। सिद्धानां नमस्कारो मंगलादिनिमित्तं महर्षीणां च तदनुष्ठितत्वाच्चेति।

करता हूँ। अथवा क्त्वा प्रत्ययान्त यह नमः शब्द प्राकृत में लोप के बल से सिद्ध है, इस कथन से सिद्धों और अर्हंतों को [illegible]स्कार करके जिनेन्द्र कथित का श्रद्धान करता हूँ और पाप का त्याग करता हूँ। अथवा यह नमः शब्द मिङन्त है। इसका ऐसा सम्बन्ध करना कि सर्व दुःखों से र[illegible]त सिद्धों को और अर्हंतों को नमस्कार करता हूँ, जिनागम का श्रद्धान करता हूँ तथा पाप का त्याग करता हूँ। इस प्रकार से एकक्षण में एक कर्ता के अ[illegible]क क्रियाएँ सम्भव हैं, अतः अनेकान्त को प्रकट करने हेतु इस न्याय से सूत्रकार का कथन है ऐसा समझना।

भक्ति की प्रकर्षता के लिए पुनः नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—पापों से रहित सिद्धों को और महर्षियों को मेरा नमस्कार होवे, जैसा केवली भगवान् ने कहा है वैसे ही संस्तर को मैं स्वीकार करता हूँ॥३८॥

आचारवृत्ति—अथवा यहाँ पर प्रत्याख्यान और संस्तरस्तव ये दो अधिकार हैं या इन दो शास्त्रों को ग्रहण करके यह एक अधिकार किया गया है। ऐसा कैसे जाना जाता है?

नमस्कार को दो बार करने से जाना जाता है। जिन्होंने पापों को धो डाला है ऐसे सिद्धों को और केवल ऋद्धि को प्राप्त ऐसे महर्षियों को नमस्कार होवे। केवली भगवान् ने जैसा प्रतिपादित किया है वैसा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपोमय अथवा भूमि, पाषाण, पाटे और तृणमय संस्तर को मैं स्वीकार करता हूँ। यहाँ पर सिद्धों का नमस्कार मंगल आदि के लिए है और महर्षियों का नमस्कार इसलिए है कि इन्होंने उपर्युक्त संस्तर को प्राप्त करने का अनुष्ठान किया है।

---

१. क तिङन्तो। २. क [illegible]पे नैका क्रिया। ३. क संथारं।

प्रतिज्ञानिर्वहणार्थमाह—

जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥३९॥

जं किंचि—यत्किंचित्। मे—मम। दुच्चरियं—दुश्चरितं पापक्रियाः। सव्वं—सर्वं निरवशेषं। तिविहेण—त्रिविधेन मनोवचनकायैः। वोसरे—व्युत्सृजामि परिहरामि। सामाइयं च—सामायिकं [1]समन्वीभावं च। तिविहं—त्रिप्रकारं मनोवचनकायगतं कृतकारितानुमतं वा। करेमि—कुर्वेऽहम्। सव्वं—सर्वं सकलम्। णिरायारं—आकारान्निर्गतं निराकारं निर्विकल्पम्। समस्ताचरणं निर्दोषं यत्स्तोकमपि दुश्चरितं तत्सर्वं व्युत्सृजामि त्रिविधेन, सामायिकं च सर्वं निरतिचारं निर्विकल्पं च यथा भवति तथा करोमीत्यर्थः, दुश्चरित्रकारणं यत् तत्सर्वं त्रिप्रकारैः मनोवाक्कायैः परिहरामीति।

उत्तरसूत्रमाह—

बज्झब्भंतरमुवहिं सरीराइं च सभोयणं।
मणसा वचि कायेण सव्वं तिविहेण वोसरे ॥४०॥

बज्झं—बाह्यं क्षेत्रादिकम्। अब्भंतरं—अभ्यन्तरमन्तरंगं मिथ्यात्वादि। उवहिं—उपधिं परिग्रहम्। सरीराइं च—शरीरमादिर्यस्य तच्छरीरादिकम्। सभोयणं—सह भोजनेन वर्तत इति सभोजनं आहारेण सह। मणसा वचि काएण—मनोवाक्कायैः। सव्वं—सर्वम्। तिविहेण—त्रिप्रकारैः कृतकारितानुमतैः।

अब प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—जो किंचित् भी मेरा दुश्चरित है उस सभी का मैं मन-वचन काय से त्याग करता हूँ और सभी तीन प्रकार के सामायिक को निर्विकल्प करता हूँ ॥३९॥

आचारवृत्ति—जो कुछ भी मेरी पाप क्रियाएँ हैं उन सभी का मन-वचन-काय से मैं परिहार करता हूँ और मन-वचन-कायगत अथवा कृत-कारित-अनुमोदनारूप सम्पूर्ण समन्वय भाव सामायिक को आकार विरहित निराकार अर्थात् निर्विकल्प करता हूँ। समस्त आचरण निर्दोष हैं उसमें जो अल्प भी दुश्चरितरूप दोष हुए हों उन सभी को मैं त्रि प्रकार से त्याग करता हूँ और सम्पूर्ण सामायिक को निरतिचार या निर्विकल्प जैसे हो सके वैसा करता हूँ अर्थात् जो भी दुश्चरित के कारण हैं उन सभी का मैं मन-वचन-काय से परिहार करता हूँ।

अब आगे का सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह को, शरीर आदि को और भोजन को सभी को मन-वचन-कायपूर्वक तीन प्रकार से त्याग करता हूँ ॥४०॥

आचारवृत्ति—क्षेत्र आदि बाह्य और मिथ्यात्व आदि अभ्यन्तर परिग्रह को, आहार के साथ शरीर आदि को सभी को मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से मैं त्याग

---

1. क समत्वभावं च।

वोसरे—व्युत्सृजामि । बाह्यं शरीरादि सभोजनं परिग्रहं, अन्तरंगं च मिथ्यात्वादिकं सर्वं त्रिप्रकारैर्मनोवाक्कायैः परिहरामीत्यर्थः ।

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं मेहूण परिग्गहं चेव ॥४१॥

सव्वं पाणारंभं—सर्वं प्राणारम्भं जीववधपरिणामम् । पच्चक्खामि—प्रत्याख्यामि दयां कुर्वेऽहम् । अलीयवयणं च—अलीकवचनं च । सव्वं—सर्वम् । अदत्तादाणं—अदत्तस्यादानं ग्रहणमदत्तादानम् । मेहूण—मैथुनं स्त्रीपुरुषाभिलापम् । परिग्गहं चेव—परिग्रहं चैव बाह्याभ्यन्तरलक्षणं । सर्वं हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्ममूर्च्छा-स्वरूपं परित्यजामीत्यर्थः ।

सामायिकं करोमीत्युक्तं तत्किं स्वरूपमित्यतः प्राह—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसा[1] वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥४२॥

करता हूँ। तात्पर्य यह है कि भोजन सहित शरीर आदि बाह्य परिग्रह को और अन्तरंग मिथ्यात्व आदि को, इन सभी को कृत-कारित-अनुमोदना सहित मन-वचन-काय से त्याग करता हूँ।

गाथार्थ—सम्पूर्ण प्राणिवध को, असत्यवचन को, और सम्पूर्ण अदत्त ग्रहण को, मैथुन को तथा परिग्रह को भी मैं छोड़ता हूँ ॥४१॥

आचारवृत्ति—सम्पूर्ण जीववध परिणाम का मैं त्याग करता हूँ अर्थात् दया करता हूँ। असत्य वचन का, सम्पूर्ण विना दी हुई वस्तु के ग्रहण का, स्त्री-पुरुष के अभिलाषारूप मैथुन का और बाह्य अभ्यन्तर लक्षण परिग्रह का मैं त्याग करता हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छास्वरूप परिग्रह का मैं परिहार करता हूँ।

*मैं सामायिक स्वीकार करता हूँ ऐसा जो कहा है उसका क्या स्वरूप है—ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मेरा सभी जीवों में समताभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है, सम्पूर्ण आशा को छोड़कर इस समाधि को स्वीकार करता हूँ ॥४२॥

---

१. क आसाए।

*फलटन से प्रकाशित प्रति में यह गाथा अधिक है—

छक्करण चउव्विहत्थी किदकारिद अणुमोदिदं चेव ।
जोगेसु अबम्भस्स य भंगा खलु होंति अवसंचारे ॥६॥

अर्थ—स्पर्शन आदि मन सहित छह इन्द्रियाँ, देवांगना, मनुष्यनी, तिर्यंचनी और चित्रस्त्री इन चार प्रकार की स्त्रियों के साथ स्वयं मैथुन करना, अन्य से कराना और मैथुन कर्म में प्रवृत्त हुए अन्य को अनुमति देना, ये भेद मन, वचन और काय से इन तीनों से इस प्रकार से, ६ × ४ × ३ × ३ = २१६ भेद अब्रह्मचर्य के हो जाते हैं।

सम्मं—समता सदृशत्वम्। मे—मम। सव्वभूदेसु—सर्वाणि च तानि भूतानि च सर्वभूतानि तेषु शत्रुमित्रादिषु प्राणिषु। वेरं—वैरं शत्रुभावः। मज्झं—मम। ण केण वि—न केनापि। आसा[1]—आशाः तृष्णाः। वोसरित्ता—व्युत्सृज्य परित्यज्य। अणं—इमम्। समाहिं—समाधिं समाधानं। पडिवज्जामि (पडिवज्जए)—[2]प्रतिपद्येऽहम्। वैरं मम न केनापि सह यतः समता मे सर्वभूतेषु अतः आशा व्युत्सृज्य समाधिं [3]प्रतिपद्येऽहमिति।

कथं वैरं भवतो नास्तीत्यत आह—

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
[4]मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥४३॥

खमामि—क्षमेऽहं क्रोधादिकं [5]त्यक्त्वा मैत्रीभावं करोमि। सव्वजीवाणं—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवास्तान् शुभाशुभपरिणामहेतून्। सव्वे जीवा—सर्वे जीवाः समस्तप्राणिनः। खमंतु—क्षमन्तां सुष्ठूपशमभावं कुर्वन्तु। मे—मम। [6]मित्ती—मैत्री मित्रत्वं। सव्वभूदेसु—सर्वभूतेषु। वेरं—वैरं। मज्झ—मम। ण केण वि—न केनापि। सर्वजीवान् क्षमेऽहं, सर्वे जीवा मे क्षमन्तां, एवं परिणामं यतः करोमि ततो वैरं मे न केनाऽपि, मैत्री सर्वभूतेष्विति।

न केवलं वैरं त्यजामि, वैरनिमित्तं च यत् तत्सर्वं त्यजामीत्यतः प्राह—

रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं [7]रदिमरदिं च वोसरे ॥४४॥

रायबंधं—रागस्य रागेण वा बन्धो रागबन्धः स्नेहानुबन्धस्तम्। पदोसं च—प्रद्वेषमप्रीतिं च।

आचारवृत्ति—शत्रु मित्र आदि सभी प्राणियों में मेरा समताभाव है, किसी के साथ मेरा शत्रुभाव नहीं है इसलिए मैं सम्पूर्ण तृष्णा को छोड़कर समाधि को स्वीकार करता हूँ।

आपका किसी के साथ वैर क्यों नहीं है इस बात को कहते हैं—

गाथार्थ—सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, सभी जीवों के साथ मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है ॥४३॥

आचारवृत्ति—शुभ-अशुभ परिणाम में कारणभूत सभी जीवों के प्रति क्रोधादि का त्याग करके मैं क्षमाभाव—मैत्रीभाव धारण करता हूँ। सभी प्राणी मेरे प्रति क्षमाभाव अर्थात् अच्छी तरह शान्तिभाव धारण करें इस प्रकार के परिणाम जो मैं करता हूँ इसी हेतु से मेरा किसी के साथ वैर नहीं है प्रत्युत सभी जीवों में मैत्रीभाव ही है।

मैं केवल वैर का ही त्याग नहीं करता हूँ किन्तु वैर के निमित्त जो भी हैं उन सबका त्याग करता हूँ इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—राग का अनुबन्ध, प्रकृष्ट द्वेष, हर्ष, दीनभाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति, और अरति का त्याग करता हूँ ॥४४॥

आचारवृत्ति—स्नेह का अनुबन्ध, अप्रीति, लाभ आदि से होने वाला आनन्दरूप हर्ष,

---

१. क आसाए। २-३. क प्रपद्ये। ४. क मेत्ती। ५. क मुक्त्वा। ६. क मेत्ती। ७. क रइं अरइं।

हरिसं—हर्षं लाभादिना आनन्दम्। दीणभावयं—दीनभावं याञ्चादिना करुणाभिलापदैन्यं च। उस्सुगत्तं—उत्सुकत्वं सरागमनसा'न्यचिंतनं। भयं—भीतिम्। सोयं—शोकं इष्टवियोगवशादनुशोचनम्। रइं—रतिमभिप्रेतप्राप्तिम्। अरइं—अरतिं अभिप्रेताऽप्राप्तिं। वोसरे—व्युत्सृजामि। रागानुबन्धद्वेषहर्षदीनभावमुत्सुकत्वभयशोकरत्यरतिं च त्यजामीत्यर्थः।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥४५॥

ममत्तिं—ममत्वं। परिवज्जामि—परिवर्जामि परिहरेऽहं। णिम्ममत्ति—निर्ममत्वमसंगत्वं। उवट्ठिदो—उपस्थितः। यदि सर्वं भवता त्यज्यते किमालम्बनं भविष्यतीत्यत आह—आलंबणं च—आलम्बनं चाश्रयः। मे—मम। आदा—आत्मा। अवसेसाइं—अवशेषाणि अधिकानि। वोसरे—व्युत्सृजामि। किं बहुनोक्तेनानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यरत्नत्रयादिकं मुक्त्वान्यत्सर्वं त्यजामीत्यर्थः।

आत्मा च भवता किमिति कृत्वा न परित्यज्यते इत्यत आह—

आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए ॥४६॥

आदा—आत्मा। हु—स्फुटं। मज्झ—मम। णाणे—ज्ञाने। आदा—आत्मा। मे—मम। दंसणे—

याचना आदि से करुणामय अभिलाषारूप दीनता, सराग मन से अन्य के चिन्तनरूप उत्सुकता, भीति, इष्ट वियोग के निमित्त से होनेवाला शोचरूप शोक, इच्छित की प्राप्ति रूप रति, इच्छित की अप्राप्तिरूप अरति—इन सबका मैं त्याग करता हूँ।

गाथार्थ—मैं ममत्व को छोड़ता और निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता हूँ, आत्मा ही मेरा आलम्बन है और मैं अन्य सभी का त्याग करता हूँ ॥४५॥

आचारवृत्ति—मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निःसंगपने को प्राप्त होता हूँ।

प्रश्न—आप यदि सभी कुछ छोड़ देंगे तो आपको अवलम्बन किसका है?

उत्तर—मेरी आत्मा का ही मुझे अवलम्बन है इसके अतिरिक्त सभी का मैं त्याग करता हूँ। अर्थात् अधिक कहने से क्या, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप अनन्तचतुष्टय को और रत्नत्रय निधि को छोड़कर अन्य सभी का मैं त्याग करता हूँ।

आप आत्मा का त्याग क्यों नहीं करते हैं? इस बात को कहते हैं—

गाथार्थ—निश्चितरूप से मेरा आत्मा ही ज्ञान में है, मेरा आत्मा ही दर्शन में और चारित्र में है, प्रत्याख्यान में है और मेरा आत्मा ही संवर तथा योग में है ॥४६॥

आचारवृत्ति—मेरा आत्मा ही स्पष्टरूप से ज्ञान में, तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन में

---

१. क 'न्यत्रांच'।

दर्शने तत्त्वार्थश्रद्धाने आलोके वा। चरित्ते य—चारित्रे च पापक्रियानिवृत्तौ। आदा—आत्मा। पच्चक्खाणे—प्रत्याख्याने। आदा—आत्मा। मे—मम। संवरे—आस्रवनिरोधे। जोए—योगे शुभव्यापारे॥

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ॥४७॥

एओ य—एकश्चासहायश्च। मरइ—म्रियते शरीरत्यागं करोति। जीवो—जीवः चेतनालक्षणः एओ य—एकश्च। उववज्जइ—उत्पद्यते। एयस्स—एकस्य। जाइ—जातिः। मरणं—मृत्युः। एओ—एकः सिज्झइ—सिद्ध्यति मुक्तो भवति। णीरओ—नीरजाः कर्मरहितः।

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥४८॥

एओ—एकः। मे—मम। सस्सओ—शाश्वतो नित्यः। अप्पा—आत्मा। णाणदंसणलक्खणो—ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने ते एव लक्षणं यस्यासौ ज्ञानदर्शनलक्षणः। सेसा मे—शेषाः शरीरादिका मम। बाहिरा—बाह्या अनात्मीयाः। भावा—पदार्थाः। सव्वे—सर्वे समस्ताः। संजोगलक्खणा—संयोगलक्षणाः अनात्मनीनस्यात्मभावः संयोगः, संयोग एव लक्षणं येषां ते संयोगलक्षणा विनश्वरा इत्यर्थः। ज्ञानदर्शनचारित्र प्रत्याख्यानसंवरयोगेषु ममात्मैव, यतो म्रियते उत्पद्यते च एक एव, यतः एकस्य[1] जातिमरणे, यतः एकश्च नीरजा सन् सिद्धिं याति, यतः शेषाश्च सर्वे भावाः संयोगलक्षणा बाह्या यतः, अत एक एवात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः नित्यं ममेति।

अथवा सामान्य सत्तामात्र के अवलोकन रूप दर्शन में है। पाप क्रिया के अभावरूप चारित्र में त्याग में, आस्रवनिरोधरूप संवर में और शुभ व्यापाररूप योग में भी मेरा आत्मा ही है।

गाथार्थ—जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है। एक जीव के ही यह जन्म और मरण हैं और अकेला ही कर्म रहित होता हुआ सिद्ध पद प्राप्त करता है मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है और ज्ञानदर्शन लक्षणवाला है। शेष सभी संयोगलक्षणवाले जो भाव हैं वे मेरे से बहिर्भूत हैं॥४७,४८॥

आचारवृत्ति—यह चेतनालक्षणवाला जीव एक असहाय ही शरीर के त्यागरूप मरण को करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि इस एक जीव के ही जन्म और मरण होते हैं और यह अकेला ही कर्मरज से रहित होता हुआ मुक्त होता है। मेरा आत्मा नित्य है, ज्ञानदर्शन स्वभाववाला है। शेष जो शरीर आदि अनात्मीय पदार्थ हैं वे सभी संयोगरूप हैं अर्थात् जो अपने नहीं हैं उनमें आत्मभाव होना संयोग है। इस संयोग स्वभाववाले होने से सभी बाह्य पदार्थ विनश्वर हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र, त्याग, संवर और शुभक्रियारूप योग इन सभी में मेरा आत्मा ही है। अभिप्राय यह है कि जिस हेतु से यह अकेला ही जन्म-मरण करता है, इस अकेले के ही जन्ममरणरूप संसार है और जिस हेतु से यह अकेला ही कर्मरज रहित होता हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है तथा जिस हेतु से अन्य सभी पदार्थ संयोग

1. क °स्य च जातिः मरणं।

अथ किमिति कृत्वा ... लक्षणो भावः परिह्रियते इति चेदत आह—

संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं।
तम्हा संजोयसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥४९॥

संजोयमूलं—संयोगनिमित्तं। **जीवेण**—जीवेन। **पत्तं**—प्राप्तं, लब्धं। **दुक्खपरंपरं**—दुःखानां परम्परा दुःखपरम्परा क्लेशनैरन्तर्यम्। **तम्हा**—तस्मात्। **संजोयसंबंधं**—संयोगसम्बन्धम्। **सव्वं**—सर्वम्। **तिविहेण**—त्रिविधेन मनोवचनकायैः। **वोसरे**—व्युत्सृजामि। संयोगहेतोर्जीवेन यतो दुःखपरम्परा प्राप्ता, तस्मात् संयोगसम्बन्धं सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृजामीत्यर्थः।

पुनरपि दुश्चरित्रस्य परिहारार्थमाह—

मूलगुणउत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण।
तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे [1]आगममिस्साणं ॥५०॥

मूलगुणउत्तरगुणे—मूलगुणाः प्रधानगुणाः, उत्तरगुणा अभ्रावकाशादयो मूलगुणदीपकास्तेषु मध्ये। **जो मे**—यः कश्चिन्मया। **णाराहिओ**—नाराधितो नानुष्ठितः। **पमाएण**—प्रमादेन केनचित्कारणान्तरेण [2]आल-सभावात्। **तमहं**—तच्छब्दः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी, तदहं मूलगुणाद्यनाराधनम्। **सव्वं**—सर्वम्। **णिंदे**—निन्दामि

स्वभावी होने से बाह्य हैं, इसी हेतु से ज्ञानदर्शन स्वभाववाला अकेला आत्मा ही नित्य है और मेरा है।

अब, किस प्रकार से संयोगलक्षणवाले भाव का परिहार किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—इस जीव ने संयोग के निमित्त से दुःखों के समूह को प्राप्त किया है इसलिए मैं समस्त संयोग सम्बन्ध को मन-वचन-कायपूर्वक छोड़ता हूँ ॥४९॥

आचारवृत्ति—यह जीव संयोग के कारण ही निरन्तर दुःखों को प्राप्त करता रहा है इसलिए मैं सम्पूर्ण संयोगजन्य भावों का त्रिविध से त्याग करता हूँ।

पुनः आचार्य दुश्चरित के त्याग हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने मूलगुण और उत्तर गुणों में प्रमाद से जिस किसी की आराधना नहीं की है उस सम्पूर्ण की मैं निन्दा करता हूँ और भूत-वर्तमान ही नहीं, भविष्य में आनेवाले का भी मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ॥५०॥

आचारवृत्ति—प्रधानगुण मूलगुण हैं और मूलगुणों के उद्योतन करनेवाले अभ्रावकाश आदि उत्तरगुण है। इनमें से जिस किसी का भी मैंने यदि प्रमाद से या अन्य किसी कारण से अथवा आलस्यभाव से अनुष्ठान नहीं किया हो तो उस अनुष्ठान नहीं किए रूप दोष की मैं निन्दा करता हूँ, आत्मा में उस विषय की ग्लानि करता हूँ तथा उस अनाराधन रूप दोष का परिहार करता हूँ। उसमें भी केवल भूतकाल और वर्तमान काल के विषय में ही नहीं, बल्कि भविष्यकाल में होनेवाले अनुष्ठानाभाव रूप दोष का भी प्रतिक्रमण करता हूँ। अर्थात् जो गुण हैं उनमें से जिस किसी गुण की आराधना नहीं की है वह दोष हो गया, उस सम्पूर्ण दोष की

---

1. क आगमेस्साणं। 2. क आलस्य'।

आत्मानं जुगुप्से। पडिक्कमे—प्रतिक्रमामि निर्हरे न केवलमतीतवर्तमानकाले 'आगमिस्साणं—आगमिष्यति च काले। ये गुणास्तेषां मध्ये यो नाराधितो गुणस्तमहं सर्वं निन्दयामि प्रतिक्रमामि चेति।

तथा—

अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्ति।
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि ॥५१॥

अस्संजमं—असंयमं पापकारणम्। अण्णाणं—अज्ञानं अश्रद्धानपूर्वकवस्तुपरिच्छेदम्। मिच्छत्तं—मिथ्यात्वमतत्त्वार्थश्रद्धानम्। सव्वमेव य—सर्वमेव च। ममत्ति—ममत्त्वमनात्मीये आत्मीयभावम्। जीवेसु अजीवेसु य—जीवाजीवविषयं च। तं णिंदे—तं निन्दामि। तं च—तच्च। गरिहामि—गर्हेऽहं परस्य प्रकटयामि। मूलोत्तरगुणेषु मध्ये यन्नाराधितं प्रमादतोऽतीतानागतकाले तत्सर्वं निन्दामि प्रतिक्रमामि च। असंयमाज्ञानमिथ्यात्वादि[2] जीवाजीवविषयं ममत्वं च सर्वं गर्हे निन्दामि चेति प्रमाददोषेण दोषास्त्यज्यन्ते।

प्रमादाः पुनः किं न परिह्रियन्त इति चेन्न तानपि परिहरामीत्यत आह—

सत्त भए अट्ठ मए सण्णा चत्तारि गारवे तिण्णि।
तेत्तीसाच्चासणाओ रायद्दोसं च गरिहामि ॥५२॥

सत्तभए—सप्तभयानि। अट्ठमए—अष्टौ मदानि। सण्णा चत्तारि—संज्ञाश्चतस्रः आहारभयमैथुन-

---

मैं निन्दा करता हूँ और प्रतिक्रमण करके उस दोष को दूर करता हूँ यह अभिप्राय हुआ। उसी प्रकार से—

गाथार्थ—असंयम, अज्ञान और मिथ्यात्व तथा जीव और अजीव विषयक सम्पूर्ण ममत्व—उन सबकी मैं निन्दा करता हूँ और उन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ॥५१॥

आचारवृत्ति—पाप का कारण असंयम है; अश्रद्धानपूर्वक वस्तु का जाननेवाला ज्ञान अज्ञान है और अतत्त्व श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। अनात्मीय अर्थात् अपने से भिन्न जो वस्तु हैं, चाहे जीवरूप हों, चाहे अजीवरूप हों, उनमें अपनेपन का भाव ममत्व कहलाता है। इन सम्पूर्ण असंयम आदि भावों को जो मैंने किया हो मैं उनकी निन्दा करता हूँ तथा पर अर्थात् गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करते हुए मैं उनकी गर्हा करता हूँ। अभिप्राय यह कि अपने मूलगुणों और उत्तरगुणों में से मैंने प्रमाद से भूत, भविष्यत् काल में जिनकी आराधना नहीं की हो उन सभी के लिए निन्दा करता हूँ और प्रतिक्रमण करता हूँ। असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्व तथा जीव और अजीव विषयक जो ममत्व परिणाम हैं उन सबकी भी मैं निन्दा करता हूँ। इस प्रकार प्रमाद के दोष से जो अपराध हुए हैं उन सभी का त्याग हो जाता है, ऐसा समझना।

आप प्रमाद का पुनः क्यों नहीं परिहार करते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर 'सम्पूर्ण प्रमादों को भी छोड़ता हूँ', ऐसा उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गारव, तेतीस आसादना तथा राग और द्वेष इन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ॥५२॥

आचारवृत्ति—सात भय और आठ मदों के नाम आचार्य स्वयं आगे बतायेंगे।

---

1. क आगमेसाणं। 2. क त्वानि

परिग्रहाभिलापान्। गारवे—गौरवाणि ऋद्धिरससातविषयगर्वान्। तिण्णि—त्रीणि। तेत्तीसाच्चासणाओ—त्रिभिरधिका त्रिंशत् त्रयस्त्रिंशत् पदार्थैः सह सम्बन्धः। त्रयस्त्रिंशतां पदार्थानां, अच्चासणा—आसादनाः परिभवास्तास्त्रयस्त्रिंशदासादनाः, अथवा तन्निमित्तत्वात् ताच्छब्द्यन्ते। रायद्दोसं च—रागद्वेषौ च, आत्मनीनानात्मनीनवस्तुप्रीत्यप्रीती। गरिहामि—गर्हे नाचरामीत्यर्थः। सप्तभयाष्टमदसंज्ञागारवाणि त्रयस्त्रिंशत्पदार्थासादनं च रागद्वेषौ च त्यजामीत्यर्थः।

अथ कानि सप्तभयानि के चाष्टौ मदा इति पृष्टे तत आह—

इहपरलोयत्ताणं अगुत्तिमरणं च वेयणाकम्हिभया।
विण्णाणिस्सरियाणा कुलबलतवरूवजाइ मया ॥५३॥

इहपरलोयं—इह च परश्च इहपरौ तौ च तौ लोकौ चेहपरलोकौ। **अत्ताणं**—अत्राणमपालनं, इहलोकभयं, परलोकभयं, अत्राणभयं। **अगुत्ति**—अगुप्तिः प्राकाराद्यभावः। **मरणं च**—मृत्युश्च। **वेयणा**—वेदना पीडा। **अकम्हिभया**—आकस्मिकं घनादिगर्जोद्भवम्। भयशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। इहलोकभयं, परलोकभयं, अत्राणभयं, अगुप्तिभयं, मरणभयं, वेदनाभयं, आकस्मिकभयं चेति। **विण्णाण**—विज्ञानं अक्षरगन्धर्वादिविषयम्। **इस्सरिय**—ऐश्वर्यं द्रव्यादिसम्पत्। **आणा**—आज्ञा वचनानुल्लंघनम्। **कुलं**—शुद्धपैतृकाम्नायः इक्ष्वाक्वाद्युत्पत्तिर्वा। **बलं**—शरीराहारादिप्रभवा शक्तिः। **तव**—तपः कायसन्तापः। **रूवं**—रूपं समचतुरस्र-

---

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये अभिलाषारूप चार संज्ञाएँ हैं। ऋद्धि, रस और साता—इनके विषय में गर्व के निमित्त से गौरव के ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरव नामक तीन भेद हो जाते हैं। अर्थात् मैं ऋद्धिशाली हूँ, मुझे नाना रसों से युक्त आहार सुलभ है या मेरे साता का उदय होने से सर्वत्र सुख सुविधाएँ हैं इत्यादि रूप से जो बड़प्पन का भाव या अहंभाव है वह यहाँ पर गारव शब्द से विवक्षित है। उसी को गौरव भी कहा गया है। तेतीस पदार्थों के परिभव या अनादर को आसादना कहते हैं। अथवा उन तेतीस पदार्थों के निमित्त से जो आसादनाएँ होती हैं वे ही यहाँ तेतीस कही गयी हैं। अपने से सम्बद्ध वस्तु में प्रीति का नाम राग है और अपने से भिन्न वस्तु में अप्रीति का नाम द्वेष है। इस प्रकार से मैं सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गौरव तेतीस पदार्थों की आसादना और रागद्वेष का त्याग करता हूँ। दूसरे शब्दों में, मैं इन्हें आचरण में नहीं लाऊँगा।

अब वे सात भय और आठ मद कौन-कौन हैं? इसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक ये सात भय हैं। विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कुल, बल, तप, रूप और जाति इनके निमित्तक आठ मद हैं ॥५३॥

आचारवृत्ति—इहलोक आदि सभी के साथ भय शब्द का प्रयोग करना चाहिए। यथा—इहलोकभय—अर्थात् इस लोक में शत्रु, विष, कंटक आदि से भयभीत होना। परलोकभय अर्थात् अगले भव में कौन-सी गति मिलेगी? क्या होगा? इत्यादि सोचकर भयभीत होना। अत्राणभय अर्थात् मेरा कोई रक्षक नहीं है ऐसा सोचकर डरना। अगुप्तिभय अर्थात् इस ग्राम में परकोटे आदि नहीं है अतः शत्रु आदि से कैसे मेरी रक्षा होगी? मरणभय अर्थात् मरने से

संस्थानगौरादिवर्णकान्तियौवनोद्भवरमणीयता। जाइ—जातिः मातृकसन्तानशुद्धिः। एतैरेतेषां वा, मया—मदा गर्वाः। मदशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। विज्ञानमदः, ऐश्वर्यमदः, आज्ञामदः, कुलमदः, बलमदः, जातिमदः, तपोमदः, रूपमद इति संज्ञा[1]भेदैः सुगमत्वान्न विस्तरः[2]।

अथ के त्रयस्त्रिंशत्पदार्था येषां त्रयस्त्रिंशदासादनानीत्यत आह—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाय महव्वया पंच।
पवयणमाउपयत्था तेतीसच्चासणा भणिया ॥५४॥

पंचेव—पंचैव। अत्थिकाया—अस्तिकायाः कायो निचयः परस्परप्रदेशसम्बन्धो येषां तेऽस्तिकायाः अस्तिमन्तो द्रष्टव्या जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशाः। कालस्य प्रदेशप्रचयो नास्तीत्यतोऽस्तिकायत्वं नास्ति।

डरना। वेदनाभय—रोग आदि से उत्पन्न हुई पीड़ा से डरना। आकस्मिकभय—अकस्मात् मेघगर्जना, विद्युत्पात आदि होने से डरना। ये सात भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होते हैं क्योंकि वह आत्मा का विघात नहीं मानता है।

विज्ञान—अक्षरज्ञान और संगीत आदि का ज्ञान होना; ऐश्वर्य—द्रव्यादि सम्पत्ति का वैभव होना; आज्ञा—अपने द्वारा दिए गये आदेश का उलंघन न होना; कुल—पिता के वंश परम्परा की शुद्धि का होना अथवा इक्ष्वाकु वंश, हरिवंश आदि में जन्म लेना; बल, शरीर, आहार आदि से उत्पन्न हुई शक्ति का होना; तप—शरीर को संतापित करना, रूप—समचतुरस्र संस्थान, गौर आदि वर्ण, सुन्दर कान्ति और यौवन से उत्पन्न हुई रमणीयता का होना; जाति—माता के वंश परम्परा की शुद्धि का होना, ये आठ मुख्य हैं। इनके द्वारा अथवा इनका गर्व करना ये ही आठ मद कहलाते हैं। मद शब्द का प्रयोग आठों में करना चाहिए। यथा—विज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, आज्ञामद, कुलमद, बलमद, जातिमद, तपोमद, और रूपमद। इस प्रकार इनके निमित्त से होनेवाले गर्व का त्याग करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि के लिए ये पच्चीस मलदोष में दोषरूप हैं।

विशेष—साधुओं में भयकर्म के उदय से इन सात भयों में कदाचित् कोई भय उत्पन्न हो भी जावे तो भी वह मिथ्यात्व का सहचारी नहीं है। ऐसे ही कदाचित् संज्वलन मान के उदय से साधुओं के आठ मदों में से कोई मद उत्पन्न हो जाय तो भी साधु उसे छोड़ देते हैं।

अब तेतीस पदार्थ कौन से हैं जिनकी तेतीस आसादनाएँ होती हैं? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—अस्तिकाय पाँच ही हैं, जीव निकाय छह हैं, महाव्रत पाँच हैं और प्रवचन-माता आठ और नवपदार्थ—ये तेतीस ही यहाँ तेतीस आसादना नाम से कहे गए हैं। अर्थात् इनकी विराधना ही आसादना कहलाती है ॥५४॥

आचारवृत्ति—अस्ति—विद्यमान है कायनिचय अर्थात् प्रदेशों का समूह जिसमें वह अस्तिकाय है। अर्थात् परस्पर में प्रदेशों का सम्बन्ध जिन द्रव्यों में पाया जाता है वे द्रव्य अस्तिकाय

---

1. क संज्ञादेः। 2. क विस्तरितः।

छज्जीवणिकाय—षट् च ते जीवनिकायाश्च षड्जीवनिकायाः पृथिवीकायिकादयः। महव्वया पंच—महाव्रतानि पंच। पवयणमाउ—प्रवचनमातृकाः पंचसमितयः त्रिगुप्तयश्च। पयत्था—पदार्थाः जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापाणि। तेतीसच्चासणा—त्रयस्त्रिंशदासादनाः। भणिया—भणिताः पंचास्तिकायादिविषयत्वात् पंचास्तिकायादय एवासादना उक्ताः, तेषां वा ये परिभवास्ता आसादना इति सम्बन्धः कर्तव्यः।

कहलाते हैं। वे पाँच हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। काल में प्रदेशों का प्रचय न होने से वह अस्तिमात्र है, अस्तिकाय नहीं है। पृथ्वीकायिक आदि छह जीवनिकाय हैं। महाव्रत पाँच हैं, पाँच समिति और तीन गुप्तियाँ ये प्रवचन-मातृका नाम से आठ हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ हैं। इस प्रकार ये तेतीस आसादनाएँ हैं। अर्थात् पाँच अस्तिकाय आदि ये इनके विषयभूत हैं इसलिए इन अस्तिकाय आदि को ही आसादना शब्द से कहा है। अथवा इनका जो परिभव अर्थात् अनादर है वही आसादना है ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए।

विशेष—महाव्रतों में समिति गुप्तियों के अतिचार आदि का होना आसादना है और

---

*निम्नलिखित गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक हैं।

आहारादिसण्णा चत्तारि वि होंति जाण जिणवयणे।
सादादिगारवा ते तिण्णि वि णियमा पवज्जेजो ॥१९॥

अर्थ—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रहसंज्ञा इन चारों संज्ञाओं का स्वरूप जिनागम में कहा गया है। साता आदि तीन गौरव हैं। इनको नियम से छोड़ देना चाहिए। इन्हें गारव भी कहते हैं। यथा सातागारव—मैं यति होकर भी इन्द्रत्वसुख, चक्रवर्तीसुख अथवा तीर्थंकर जैसे सुख का उपभोग ले रहा हूँ, ये दीनयति सुखों से रहित हैं इत्यादि रूप से अभिमान करना। रसगारव—मुझे आहार में रसयुक्त पदार्थ सहज ही उपलब्ध हैं ऐसा अभिमान होना। ऋद्धिगारव—मेरे शिष्य आदि बहुत हैं, दूसरे यतियों के पास नहीं है ऐसा अभिमान होना। ये तीन प्रकार के गर्व 'गारव' शब्द से भी कथित हैं। चूँकि ये संज्वलन कषाय के निमित्त से होने से अत्यल्परूप हो सकते हैं। इन बातों का विशेष रूप से घमण्ड रहे जो कि अन्य को तिरस्कृत करनेवाला हो वह गर्व नाम से सूचित किया जाता है ऐसा समझना। ये गौरव भी त्याग करने योग्य हैं।

संज्ञा का लक्षण—

इह जाहि वाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य उभये ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥२०॥

अर्थ—जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोक में और जिनके विषयों का सेवन से दोनों ही भवों में दारुणदुःख को प्राप्त होते हैं उन्हें संज्ञा कहते हैं। उनके चार भेद हैं।

आहार संज्ञा का स्वरूप—

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओम कोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥२१॥

अर्थ—आहार को देखने से अथवा उसकी तरफ उपयोग लगाने से और उदर के खाली रहने से तथा असातावेदनीय की उदय और उदीरणा के होने पर जीव के नियम से आहार संज्ञा होती है।

आत्मसंस्कारकालं नीत्वा संन्यासालोचनार्थमाचार्यः प्राह—

णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं ॥५५॥

णिंदामि—निन्दामि आत्मन्याविष्करोमि। णिंदणिज्जं—निन्दनीयं आत्माविष्करणयोग्यम्। **गरहामि य**—गर्हे च आचार्यादीनामाविष्करोमि प्रकटयामि। जंच—यच्च। मे—मम। गरहणीयं—गर्हणीयं परप्रकाशयोग्यं। **आलोचेमि य**—आलोचयामि चापनयामि चारित्राचारालोचनापूर्वकं गर्हणं वा करोमि। **सव्वं**—सर्वं निरवशेषं। सब्भंतरबाहिरं—साभ्यन्तरबाह्यं। उवहिं—उपधिं च परिग्रहं च। यन्निन्दनीयं तन्नि-

---

अस्तिकाय तथा पदार्थों में श्रद्धान का अभाव या विपरीत श्रद्धान आदि का होना आसादना है तथा षट्काय जीवों की हिंसादि का हो जाना ही आसादना है ऐसा समझना।

आत्मसंस्कार काल से संन्यास काल तक की आलोचना के लिए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—निन्दा करने योग्य की मैं निन्दा करता हूँ और मेरे जो गर्हा करने योग्य दोष हैं उनकी गर्हा करता हूँ, और मैं बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह सहित सम्पूर्ण उपधि की आलोचना करता हूँ ॥५५॥

आचारवृत्ति—जो अपने में—स्वयं ही प्रकट करने योग्य दोष हैं उनकी मैं स्वयं निन्दा करता हूँ, जो पर के समक्ष कहने योग्य दोष हैं उनको मैं आचार्य आदि के सामने प्रकट करते हुए अपनी गर्हा करता हूँ और मैं चारित्राचार की आलोचनापूर्वक सम्पूर्ण बाह्य अभ्यन्तर उपधि की आलोचना करता हूँ अर्थात् सम्पूर्ण उपधि को अपने से दूर करता हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जो उपधि और परिग्रह निन्दा करने योग्य हैं उनकी मैं निन्दा करता हूँ, जो गर्हा करने योग्य हैं

भावार्थ—किसी उत्तम सरस भोज्य पदार्थ के देखने से अथवा पूर्व में लिये गये भोजन का स्मरण आने से, यद्वा पेट के खाली हो जाने से और असातावेदनीय के उदय और उदीरणा से या और भी अनेक कारणों से आहार की इच्छा उत्पन्न होती है।

भय संज्ञा का स्वरूप—

अइभीमदंसणेण य तस्सुवजोएण ओमसत्तीए।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं ॥२२॥

अर्थ—अत्यन्त भयंकर पदार्थ के देखने से, पहले देखे हुए भयंकर पदार्थ के स्मरण से, यद्वा अधिक निर्बल होने पर अन्तरंग में भयकर्म की उदय उदीरणा होने पर इन चार कारणों से भयसंज्ञा होती है।

मैथुनसंज्ञा का स्वरूप—

पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हु जायदे चदुहिं ॥२३॥

अर्थ—स्वादिष्ट और गरिष्ठ रस युक्त भोजन करने से, उधर उपयोग लगाने से तथा कुशील आदि सेवन करने से और वेदकर्म की उदय उदीरणा के होने से—इन चार कारणों से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।

दामि, यद् गर्हणीयं तद्गर्हामि, सर्वं वाह्याभ्यन्तरं चोपधिं आलोचयामीति।

कथमालोचयितव्यमिति चेदत आह—

जह वालो जंप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि।
तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥५६॥

जह—यथा। वालो—वाल: पूर्वापरविवेकरहित:। जंप्पंतो—जल्पन्। कज्जं—कार्यं स्वप्रयोजनं। अकज्जं च—अकार्यं अप्रयोजनं अकर्तव्यं च। उज्जुयं—ऋजु अकुटिलं। भणइ—भणति। तह—तथा। आलोचेयव्वं—आलोचयितव्यं। मायामोसं च—मायां मृषां च अपह्नवासत्यं च। मोत्तूण—मुक्त्वा। यथा कश्चिद्वालो जल्पन् कुत्सितानुष्ठानमकुत्सितानुष्ठानं च ऋजु भणति, तथा मायां मृषां च मुक्त्वाऽऽलोचयितव्यमिति।

यस्यालोचना क्रियते स किंगुणविशिष्ट आचार्य इति चेदत आह—

णाणम्हि दंसणम्हि य तवे चरित्ते य चउसुवि अकंपो।
धीरो आगमकुसलो अपरस्साई रहस्साणं ॥५७॥

उनकी गर्हा करता हूँ और समस्त वाह्य अभ्यन्तर उपधि की आलोचना करके अपने से दूर करता हूँ।

आलोचना कैसे करना चाहिए? सो कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे वालक सरल भाव से वोलता हुआ कार्य और अकार्य सभी को कह देता है उसी प्रकार से मायाभाव और असत्य को छोड़कर आलोचना करना चाहिए ॥५६॥

आचारवृत्ति—जैसे वालक पूर्वापर विवेक से रहित हो वोलता हुआ अपने प्रयोजनीभूत अर्थात् उचित कार्य को तथा अप्रयोजनीभूत अर्थात् अनुचित कार्य को सरलभाव से कह देता है, उसी प्रकार से अपने कुछ दोषों को छिपाने रूप माया और असत्य वचन को छोड़कर आलोचना करना चाहिए। अर्थात् जैसे वालक अपने गलत भी किये गये या अच्छे कार्य को विना छिपाये कह देता है, वैसे ही साधु सरलभाव से सभी दोषों की आलोचना करे।

जिनके पास आलोचना की जाती है वे आचार्य किन गुणों से विशिष्ट होने चाहिए? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों में भी अविचल हैं, धीर हैं,

---

परिग्रह संज्ञा का स्वरूप—

उवयरणदंसणेण य तस्सुवजोएण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥२४॥

अर्थ—इत्र, भोजन, उत्तम स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों के देखने से अथवा पहले भुक्त पदार्थों का स्मरण करने से और ममत्व परिणामों के होने से तथा लोभकर्म की उदय-उदीरणा होने से परिग्रह संज्ञा होती है।

णाणम्हि—ज्ञाने। दंसणम्हि य—दर्शने च। तवे—तपसि। चरित्ते य—चरित्रे च। चउसुवि—चतुर्ष्वपि। अकंपो—अकंपोऽधृष्यः। धीरो—धीरो धैर्योपेतः। आगमकुसलो—आगमकुशलः स्वसमयपरसमयविचारदक्षः। अपरिस्साई—अपरिश्रावी आलोचितं न कस्यचिदाख्यति। रहस्साणं—रहसि एकान्ते भवानि रहस्यानि गुह्यानुष्ठितानि। ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रेषु चतुर्ष्वपि सम्यक्स्थितो यो रहस्यानामपरिश्रावी धीरश्चागमकुशलश्च यस्तस्य आलोचना कर्तव्या नान्यस्येति।

आलोचनानन्तरं क्षमणं कर्तुकामः प्राह—

रागेण य दोसेण य जं मे अकदण्हुयं पमादेण।
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥५८॥[*]

रागेण य—रागेण च मायालोभाभ्यां स्नेहेन वा। दोसेण य—द्वेषेण च क्रोधमानाभ्यां अप्रीत्या वा। जं मे—यन्मया अकदण्हुअं—अकृतज्ञत्वं युष्माकमयोग्यमनुष्ठितं। पमादेण—प्रमादेन। जो मे—यो मया। किंचिवि—किंचिदपि। भणिओ—भणितः। तमहं—तं जनं अहं। सव्वं—सर्वं। खमावेमि—क्षमयामि संतोषयामि। रागद्वेषाभ्यां मनागपि यन्मया कृतमकृतज्ञत्वं योऽपि मया किंचिदपि भणितस्तमहं सर्वं मर्षयामीति।

आगम में निपुण हैं और रहस्य अर्थात् गुप्तदोषों को प्रकट नहीं करनेवाले हैं, वे आचार्य आलोचना सुनने के योग्य हैं ॥५७॥

आचारवृत्ति—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों में भी जो अकंप अर्थात् अचल वृत्ति धारण करनेवाले हैं, धैर्य गुण से सहित हैं, स्वसमय और परसमय के विचार करने में दक्ष होने से आगमकुशल हैं और शिष्यों द्वारा एकान्त में कहे गये गुह्य अर्थात् गुप्त दोषों को किसी के सामने भी कहनेवाले नहीं हैं ऐसा यह जो अपरिश्रावी गुण उससे सहित हैं, उनके समक्ष ही आलोचना करना चाहिए, अन्य के समक्ष नहीं—यह अर्थ हुआ।

आलोचना के अनन्तर क्षमण को करने की इच्छा करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो मैंने राग से अथवा द्वेष से न करने योग्य कार्य किया है, प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी कहा है उन सबसे मैं क्षमायाचना करता हूँ ॥५८॥

आचारवृत्ति—राग से अर्थात् माया, लोभ या स्नेह से; द्वेष से अर्थात् क्रोध से, मान से या अप्रीति से मैंने आपके प्रति जो अयोग्य कार्य किया है। अथवा जो मैंने प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी वचन कहे हैं। उन सभी साधु जनों से मैं क्षमा माँगता हूँ अर्थात् उनको संतुष्ट करता हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि मैंने राग या द्वेषवश जो किंचित् भी अयोग्य अनुष्ठान किया है

---

[*] निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

एरिस गुणजुत्ताणं आइरियाणं विसुद्धभावेण।
आलोचेदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ॥२६॥

अर्थ—उपर्युक्त आचार्यगुणों से युक्त आचार्यों के पास में निर्मल परिणाम से सुचरित्र धारक मुनि सर्व दोषों का त्याग करके आलोचना करता है।

क्षमणं कृत्वा क्षपकः संन्यासं कर्तुकामो मरणभेदान् पृच्छति कति मरणानि ? आचार्यः प्राह—

तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥५९॥

तिविहं—त्रिविधं त्रिप्रकारम्। **भणंति**—कथयन्ति। **मरणं**—मृत्युं। **बालाणं**—बालानां असंयतसम्यग्दृष्टीनां। **बालपंडियाणं च**—बालाश्च ते पंडिताश्च बालपंडिताः। संयतासंयता एकेन्द्रियाविरतेर्बालाः द्वीन्द्रियादिवधविरताः पंडिताः। **तइयं**—तृतीयं। **पंडियमरणं**—पंडितमरणं पंडितानां मरणं देहपरित्यागः देहस्यान्यथाभावो वा पंडितमरणं। **जं**—यत् येन वा। **केवलिणो**—केवलं शुद्धं ज्ञानं विद्यते येषां केवलिनः। **अणुमरंति**—अनुम्रियन्ते अर्हद्भट्टारका गणधरदेवाश्च त्रिप्रकारं मरणं भणंति। प्रथमं बालमरणं बालजीवस्वामित्वात्, द्वितीयं बालपंडितमरणं बालपंडितस्वामित्वात्, तृतीयं पंडितमरणं येन केवलिनोऽनुम्रियन्ते। संयताश्च पंडितपंडितमरणस्यात्रैव पंडितेन्तर्भावः सामान्यसंयमस्वामित्वाभेदादिति। अन्यत्र बालबालमरणमुक्तं तदत्र किमिति कृत्वा नोक्तं तेन प्रयोजनाभावात्। ये अकुटिला ज्ञानदर्शनयुक्तास्ते एतैर्मरणैर्म्रियन्ते।

अन्यथाभूताश्च कथमित्युत्तरसूत्रमाह—

उसके लिए और जिस किसी साधु को भी कहा है उन सभी से मैं क्षमा चाहता हूँ।

अब क्षमापना करके संन्यास करने की इच्छा करता हुआ क्षपक, मरण कितने प्रकार के हैं ? ऐसा प्रश्न करता है और आचार्य उसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—मरण को तीन प्रकार का कहते हैं—बालजीवों का मरण, बालपण्डितों का मरण और तीसरा पण्डितमरण है। इस पण्डितमरण को केवली-मरण भी कहते हैं ॥५९॥

आचारवृत्ति—अर्हन्त भट्टारक और गणधरदेव मरण के तीन भेद कहते हैं—बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण। असंयतसम्यग्दृष्टि जीव बाल कहलाते हैं। इनका मरण बालमरण है। संयतासंयत जीव बालपण्डित कहलाते हैं क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के वध से विरत न होने से ये बाल हैं और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के वध से विरत होने से पण्डित हैं इसलिए इनका मरण भी बालपण्डित-मरण है। पण्डितों का मरण अर्थात् देह परित्याग अथवा शरीर का अन्यथा रूप होना पण्डितमरण है जिसके द्वारा केवल शुद्ध ज्ञान के धारी केवली भगवान् मरण करते हैं, तथा संयतमरण करते हैं। यहाँ संयत शब्द से छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक संयत विवक्षित है। यद्यपि केवली भगवान् के मरण को पण्डितपण्डित-मरण कहते हैं किन्तु यहाँ पर पण्डितमरण में ही उसका अन्तर्भाव कर लिया गया है क्योंकि संयम के स्वामी में सामान्यतः भेद नहीं है।

प्रश्न—अन्यत्र ग्रन्थों में बाल-बालमरण भी कहा है उसको यहाँ क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—उसका यहाँ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जो अकुटिल—सरल परिणामी हैं, ज्ञान और दर्शन से युक्त हैं वे इन उपर्युक्त तीन मरणों से मरते हैं। अर्थात् पहला बालमरण है उसके स्वामी असंयतसम्यग्दृष्टि ऐसे बालजीव हैं। दूसरा बालपण्डित है जिसके स्वामी देशसंयत ऐसे बालपण्डित जीव हैं। तीसरा पण्डितमरण है जिसके स्वामी संयत जीव हैं।

जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णा य वक्कभावा य।
असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहया भणिया ॥६०॥

जे पुण—ये पुनः। पणट्ठमदिया—प्रणष्टा विनष्टा मतिर्येषां ते प्रणष्टमतिकाः अज्ञानिनः; पचलियसण्णा य—प्रचलिता उद्गता संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा येषां ते प्रचलितसंज्ञकाः। वक्कभावा य—कुटिलपरिणामाश्च। असमाहिणा—असमाधिना आर्तरौद्रध्यानेन। मरंते—म्रियन्ते भवान्तरं गच्छन्ति। ण हु—न खलु। आराहया—आराधकाः कर्मक्षयकारिणः। भणिया—भणिताः कथिताः। ये प्रणष्टमतिकाः प्रचलितसंज्ञा वक्रभावाश्च ते असमाधिना म्रियन्ते स्फुटं न ते आराधका भणिता इति।

यदि मरणकाले विपरिणामः स्यात्ततः किंस्यादिति पृष्टे आचार्यः प्राह—

मरणे विराहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही।
संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले ॥६१॥

मरणे—मृत्युकाले। विराहिए—विराधिते विनाशिते मरणकाले सम्यक्त्वे विराधित इत्यर्थः मरण-

---

विशेषार्थ—अन्यत्र ग्रन्थों में मरण के पाँच भेद किये हैं—बालबाल, बाल, बालपण्डित, पण्डित और पण्डितपण्डित। इनमें से प्रथम बालबाल-मरण मिथ्यादृष्टि करते हैं, और पण्डित-पण्डित-मरण केवली भगवान् करते हैं। यहाँ पर मध्य के तीन मरणों को ही माना है और केवली भगवान् के मरण को पण्डितमरण में ही गर्भित कर दिया है।

इन तीन के अतिरिक्त, और अन्य प्रकार के मरण कैसे होते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जो पुनः नष्टबुद्धिवाले हैं, जिनकी आहार आदि संज्ञाएँ उत्कट हैं और जो कुटिल परिणामी हैं वे असमाधि से मरण करते हैं। निश्चितरूप से वे आराधक नहीं कहे गये हैं ॥६०॥

आचारवृत्ति—जिनकी मति नष्ट हो गयी है वे नष्टबुद्धि अज्ञानी जीव हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषारूप संज्ञाएँ जिनके उत्पन्न हुई हैं अर्थात् उत्कृष्ट रूप से प्रकट हैं और जो मायाचार परिणाम से युक्त हैं, वे जीव आर्त-रौद्रध्यानरूप असमाधि से भवान्तर को प्राप्त करते हैं। वे कर्मक्षय के करनेवाले ऐसे आराधक नहीं हो सकते हैं ऐसा समझना।

यदि मरणकाल में परिणाम बिगड़ जाते हैं तो क्या होगा? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मरण की विराधना हो जाने पर देवदुर्गति होती है तथा निश्चितरूप से बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, और फिर आगामी काल में उस जीव का संसार अनन्त हो जाता है ॥६१॥

आचारवृत्ति—मरणकाल में सम्यक्त्व की विराधना हो जाने पर देवदुर्गति होती है। यहाँ पर गाथा में जो मरण की विराधना कही गयी है उसका मतलब मरणकाल में जो सम्यक्त्व

काले सम्यक्त्वस्य यद्विराधनं तन्मरणस्यैव साहचर्यादिति । अथवार्तरौद्रध्यानसहितं यन्मरणं तत्तस्य विराधनमित्युक्तम् । देवदुग्गई—देवदुर्गतिः भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्कादिपूत्पत्तिः । दुल्लहा य—दुर्लभा दुःखेन लभ्यते इति दुर्लभा च । किर—किल । अयं किलशब्दोऽनेकेष्वर्थेषु विद्यते, तत्र परोक्षे द्रष्टव्यः आगमे एवमुक्तमित्यर्थः । बोही—बोधिः सम्यक्त्वं रत्नत्रयं वा । संसारो य—संसारश्च चतुर्गतिलक्षणः । अणंतो—अनन्तः अर्द्धपुद्गलप्रमाणः कुतोऽस्यानन्तत्वं ? केवलज्ञानविषयत्वात् । होइ—भवति । पुणो—पुनः । आगमे काले—आगमिष्यति समये । मरणकाले सम्यक्त्वविराधने सति, दुर्गतिर्भवति, बोधिश्च दुर्लभा, आगमिष्यति काले संसारश्चानन्तो भवतीति ।

अत्रैवाभिसम्बन्धे प्रश्नपूर्वकं सूत्रमाह—

का देवदुग्गईओ का बोही केण ण बुज्झए मरणं ।
केण व अणंतपारे संसारे हिंडए जीओ ।।६२।।

की विराधना है वह मरण के ही साहचर्य से है अतः मरण की विराधना से मरण समय सम्यक्त्व की विराधना ऐसा अर्थ लेना चाहिए। अथवा आर्त-रौद्र ध्यान सहित जो मरण है सो ही मरण की विराधना शब्द से विवक्षित है ऐसा समझना। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क आदि देवों में उत्पत्ति होना देवदुर्गति है। ऐसी देवदुर्गतियों में उसका जन्म होता है यह अभिप्राय हुआ। 'किल' शब्द अनेक अर्थों में पाया जाता है किन्तु यहाँ उसको परोक्ष अर्थ में लेना चाहिए। इससे यह अर्थ निकला कि आगम में ऐसा कहा है कि उस जीव के सम्यक्त्व या रत्नत्रय रूप बोधि, बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होने से, अतीव दुर्लभ है। वह जीव अगामी काल में इस चतुर्गति रूप संसार में अनन्त काल तक भटकता रहता है।

प्रश्न—एक बार सम्यक्त्व होने पर संसार अनन्त कैसे रहेगा ? क्योंकि वह अर्द्धपुद्गल प्रमाण ही तो है अतः अर्द्धपुद्गल को अनन्त संज्ञा कैसे दी ?

उत्तर—यह अर्द्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल भी अनन्त नाम से कहा गया है क्योंकि यह केवलज्ञान का ही विषय है।

तात्पर्य यह हुआ कि यदि मरणसमय सम्यक्त्व छूट जावे तो यह जीव देवदुर्गति में जन्म ले लेता है। पुनः इसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अथवा रत्नत्रय की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से ही हो सकती है अतः यह जीव अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है।

विशेषार्थ—यहाँ ऐसा समझना कि सम्यक्त्वरहित यह जीव भवनत्रिक में जन्म लेता है तथा आदि शब्द से वैमानिक देवों में भी आभियोग्य और किल्विषक जाति के देवों में जन्म ले लेता है। क्योंकि वहाँ पर भी अनेक जाति के देवों में या वाहन जाति के तथा किल्विषक जाति के देवों में सम्यग्दृष्टि का जन्म नहीं होता।

पुनः इसी सम्बन्ध में प्रश्नपूर्वक सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—देवदुर्गति क्या है ? बोधि क्या है ? किससे मरण नहीं जाना जाता है ? और किस कारण से यह जीव अनन्तरूप संसार में परिभ्रमण करता है ।।६२।।

का देवदुग्गईओ—का देवदुर्गतयः किंविशिष्टा देवदुर्गतयः। का बोही—का बोधिः। केण व—केन च। ण बुज्झए—न बुध्यते। मरणं—मृत्युः। केण व—केन च कारणेन। अणंतपारे—अनन्तोऽपरिमाणः पारः समाप्तिर्यस्यासौ अनन्तपारस्तस्मिन्। संसारे—संसरणे। हिंडए—हिंडते गच्छति। जीवो—जीवः। हे भट्टारक! का देवदुर्गतयः का च बोधिः, केन च परिणामेन न बुध्यते मरणं, संसारे च केन कारणेन परिभ्रमति जीवः?

क्षपकेण पृष्टः आचार्यः प्राह—

कंदप्पमाभिजोग्गं किव्विस सम्मोहमासुरत्तं च।
ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति ॥६३॥

द्रव्यभावयोरभेदं कृत्वा चेदमुच्यते। कंदप्पं—*कंदर्पस्य भावः कान्दर्पमुपप्लवशीलगुणः।* आभिजोग्गं—अभियोगस्य भावः आभियोग्यं तन्त्रमन्त्रादिभीरसादिगार्द्ध्यं। किव्विस—किल्विषस्य भावः कैल्विष्यं प्रतिकूलाचरणं। सम्मोहं—स्वस्य मोहः स्वमोहस्तस्य भावः स्वमोहत्वं, शुनो मोह इव मोहो वेदोदयो यस्य स श्वमोहस्तस्य भावः श्वमोहत्वं *सह मोहेन वा वर्तते इति तस्य भावः समोहत्वं[1] मिथ्यात्वभावनातात्पर्यम्।* आसुरत्तं च—असुरत्वं च—असुरस्य भावः असुरत्वं रौद्रपरिणामसहिताचरणं। ता—एताः। देवदुग्गईओ—देवदुर्गतयस्तैर्गुणैस्ताः प्राप्यन्ते इतिकृत्वा तद्व्यपदेशः, कारणे कार्योपचारात्। मरणम्मि—मरणे मृत्युकाले सम्यक्त्वे,

---

आचारवृत्ति—हे भट्टारक! देव दुर्गति का क्या लक्षण है? बोधि का क्या स्वरूप है? किस परिणाम से मरण नहीं जाना जाता है? तथा किन कारणों से यह जीव, जिसका पार पाना कठिन है ऐसे अपार संसार में भ्रमण करता है?

क्षपक के द्वारा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मरण काल में विराधना के हो जाने पर कान्दर्प, आभियोग्य, किल्विषक, स्वमोह और आसुरी ये देवदुर्गतियाँ होती हैं ॥६३॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर द्रव्य और भाव में अभेद करके कहा गया है अर्थात् ये कन्दर्प आदि भावनाएँ भाव हैं और इनसे होनेवाली उन-उन जाति के देवों की जो पर्यायें हैं वे यहाँ द्रव्य रूप हैं। इन दोनों में अभेद करके ही यहाँ पर इन भावनाओं को देवदुर्गति कह दिया है। कन्दर्प का भाव कान्दर्प है अर्थात् उपप्लव स्वभाववाला गुण (शील और गुणों का नाश करने वाला भाव) कान्दर्प है। अभियोग का भाव आभियोग्य है अर्थात् तन्त्र-मन्त्र आदि के द्वारा रस आदि में गृद्धता का होना। किल्विष का भाव कैल्विष्य है अर्थात् प्रतिकूल आचरण का होना। अपने में मोह का होना स्वमोह है उसका भाव स्वमोहत्व है, अथवा श्व अर्थात् कुत्ते के मोह के समान मोह वेद का उदय है—जिसके वह श्वमोह है उसका भाव श्वमोहत्व है। अथवा मोह के साथ जो रहता है उसका भाव समोहत्व है अर्थात् मिथ्यात्व का होना। असुर के भाव को असुरत्व कहते हैं अर्थात् रौद्र परिणाम सहित आचारण का होना। ये देवदुर्गतियाँ हैं। अर्थात् इन पांच गुणों से इन्हीं पांच प्रकार के देवों में जन्म लेना पड़ता है। इसीलिए यहाँ पर इन परिणामों को ही देवदुर्गति कह दिया है। यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार समझना

---

१. क °त्वं तस्य भावना।

विराहिए—विराधिते परिभूते। होंति—भवन्ति। सम्यक्त्वे विनाशिते मरणकाले एताः कन्दर्पाभियोग्य-किल्बिषस्वमोहासुरदेवदुर्गतयो भवन्तीति।

किं तत्कान्दर्प इत्यत आह—

असत्तमुल्लावेंतो[1] पण्णावेंतो य बहुजणं कुणइं।
कंदप्प रइसमावण्णो कंदप्पेसु[2] उववज्जइ ॥६४॥

असत्तं—असत्यं मिथ्या। उल्लावेंतो[3]—उल्लपन् जल्पन् उल्लापयित्वा, पण्णावेंतो–प्रज्ञापयन् प्रतिपादयन्, बहुजणं—बहुजनं बहून् प्राणिनः, कुणई—करोति। कंदप्पं—कान्दर्पं, रइसमावण्णो—रतिं समापन्नः प्राप्तो रतिसमापन्नो रागोद्रेकसहितः। कंदप्पेसु—कन्दर्पकर्मयोगाद्देवा अपि कन्दर्पा नग्नाचार्यदेवास्तेषु, उववज्जेइ—उत्पद्यते। यो रतिसमापन्नः असत्यमुल्लपन् तदेव च बहुजनं प्रतिपादयन् कन्दर्पभावनां करोति स कन्दर्पेषूत्पद्यते इत्यर्थः। अथवा असत्यं जल्पन् तदेव च भावयन्[4] आत्मनो बहुजनं करोति योजयति असत्येन यः स कन्दर्परतिसमापन्नः कन्दर्पेषूत्पद्यत इत्यर्थः।

चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि मरण के समय सम्यक्त्वगुण की विराधना हो जाने पर ये कन्दर्प, अभियोग्य, किल्विष, स्वमोह और असुर इन देवों की पर्यायों में उत्पत्ति हो जाती है।

विशेषार्थ—इन कन्दर्प आदि भावनाओं को करने से साधु को सम्यक्त्व रहित असमाधि होने से इन्हीं जाति के देवों में जन्म लेने का प्रसंग हो जाता है। आगे इन्हीं कन्दर्प आदि भावनाओं का लक्षण स्वयं बताते हैं।

वह कान्दर्प क्या है? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु असत्य बोलता हुआ और उसी को बहुतजनों में प्रतिपादित करता हुआ रागभाव को प्राप्त होता है, कन्दर्प भाव करता है और वह कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६४॥

आचारवृत्ति—जो राग के उद्रेक से सहित होता हुआ स्वयं असत्य बोलता है और बहुतजनों में उसी का प्रतिपादन करते हुए कन्दर्प-भावना को करता है वह कन्दर्प कर्म के निमित्त से कन्दर्प जाति के जो नग्नाचार्य देव हैं उनमें जन्म लेता है। अथवा जो साधु स्वयं असत्य बोलता हुआ और उसी की भावना करता हुआ बहुतजनों को भी अपने समान करता है अर्थात् उन्हें भी असत्य में लगा देता है वह कन्दर्प भावना-रूप राग से युक्त होता हुआ कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—अन्यत्र देव जातियों में 'नग्नाचार्य' ऐसा नाम देखने में नहीं आता है। 'मूलाचारप्रदीप' अध्याय १० श्लोक ६१-६२ में 'कन्दर्प जाति के देवों को नग्नाचार्य कहते हैं' ऐसा लिखा है। तथा च पं० जिनदास फड़कुले सोलापुर ने 'मूलाचार' की हिन्दी टीका में कन्दर्प देवों का अर्थ 'स्तुतिपाठक देव' किया है। यह अर्थ कुछ संगत प्रतीत होता है।

---

१. क 'वितो। २. क 'सुवव'। ३. क 'वितो। ४. क 'यन्नात्म'।

अथ किमभियोगकर्मेति तेनोत्पत्तिश्च का चेदतः प्राह—

अभिजुंजइ[1] बहुभावे साहू हस्साइयं च बहुवयणं।
अभिजोगेहिं कम्मेहिं जुत्तो वाहणेसु[2] उववज्जइ ॥६५॥

अभिजुंजइ—अभियुंक्ते करोति, बहुभावे—बहुभावान् तंत्रमंत्रादिकान्। साहू—साधुः। हस्साइयं च—हास्यादिकं च हास्यकौत्कुच्यपरविस्मयनादिकं। बहुवयणं—बहुवचनं वाग्जालं। अहिजोगेहिं—अभियोगैः तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं, आभिचारकैः, कम्मेहिं—कर्मभिः क्रियाभिः। जुत्तो—युक्तस्तन्निष्ठः। वाहणेसु—वाहनेषु गजाश्वमेषमहिषस्वरूपेषु। उववज्जइ—उत्पद्यते जायते। यः साधू रसादिषु गृद्धः मंत्रतंत्रभूतिकर्मादिकमुपयुंक्ते हास्यादिकं बहुवचनं करोति स तैरभियोगैः कर्मभिर्वाहनेषु उत्पद्यत इति।

किल्विषभावनास्वरूपं तथोत्पत्तिं च प्रतिपादयन्नाह—

तित्थयराणं पडिणीओ संघस्स य चेइयस्स सुत्तस्स।
अविणीदो णियडिल्लो किव्विसियेसूववज्जेइ[3] ॥६६॥

---

*अभियोग कर्म क्या है और उससे कहाँ उत्पत्ति होती है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु अनेक प्रकार के भावों का और हास्य आदि अनेक प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है वह अभियोग कर्मों से युक्त होता हुआ वाहन जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६५॥

आचारवृत्ति—जो साधु तन्त्र-मन्त्र आदि नाना प्रकार के प्रयोग करता है और हँसी, काय की कुचेष्टा सहित हँसी—कौत्कुच्य और पर में आश्चर्य उत्पन्न कराना आदि रूप बहुत से वाग्जाल को करता है वह इन अभियोग क्रियाओं से युक्त होता हुआ हाथी, घोड़े, मेष, महिष आदि रूप वाहन जाति के देवों में उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि जो साधु रस आदि में आसक्त होता हुआ तन्त्र-मन्त्र और भूकर्म आदि का प्रयोग करता है, हँसी-मजाक आदि रूप बहुत बोलता है वह इन कार्यों के निमित्त से वाहन जाति के देवों में जन्म लेता है। वहाँ उसे विक्रिया से अन्य देवों के लिए वाहन हेतु हाथी घोड़े आदि के रूप बनाने पड़ते हैं।

किल्विष भावना का स्वरूप और उससे होनेवाली उत्पत्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—जो तीर्थकरों के प्रतिकूल है; संघ, जिन प्रतिमा और सूत्र के प्रति अविनयी है और मायाचारी है वह किल्विष जाति के देवों में जन्म लेता है ॥६६॥

---

१. क अभिभुंजइ। २. क 'णेसूव'। ३. क 'वज्जइ।

*फलटन से प्रकाशित प्रति में निम्नलिखित गाथा अधिक है।

मंताभियोगकोदुगभूदीकम्मं पउंजदे जो सो।
इड्ढिरससादहेदुं अभियोगं भावणं कुणदि ॥३७॥

अर्थ—जो ऋद्धि, रस और साता के निमित्त मन्त्र प्रयोग, कौतुक और भूतिकर्म का प्रयोग करता है वह साधु अभियोग भावना को करता है।

तित्थयराणं—तीर्थं संसारतरणोपायं कुर्वन्तीति तीर्थकराः अर्हद्भट्टारकास्तेषां। **पडिणीओ**—प्रत्यनीकः प्रतिकूलः। **संघस्स य**—संघस्य च ऋषियतिमुन्यनगाराणां ऋषिश्रावकश्राविकार्यिकाणां सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रतपसां वा। **चेइगस्स**—चैत्यस्य सर्वज्ञप्रतिमायाः। **सुत्तस्स**—सूत्रस्य द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपस्य। **अविणीओ**—अविनीतः स्तब्धः। **णियडिल्लो**—निकृतिवान् वंचनाबहुलः प्रतारणकुशलः। **किब्बिसियेसूव-वज्जेइ**—किल्विषेपूत्पद्यते। पाटहिकादिषु जायते। तीर्थकराणां प्रत्यनीकः संघस्य चैत्यस्य सूत्रस्य वा अविनीतः मायावी च यः स किल्विषकर्मभिः किल्विषिकेषु जायते इति।

सम्मोहभावनास्वरूपं तदुत्पत्त्या सह निरूपयन्नाह—

उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ मग्गविपडिवण्णो य।
मोहेण य मोहंतो[1] संमोहेसूववज्जेदि[2] ॥६७॥

उम्मग्गदेसओ—उन्मार्गस्य मिथ्यात्वादिकस्य देशकः उपदेशकर्ता उन्मार्गदेशकः। **मग्गणासओ**—मार्गस्य सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य **णासओ**—नाशको विराधको मार्गनाशकः। **मग्गविपडिवण्णो य**—मार्गस्य विप्रतिपन्नो विपरीतः स्वतीर्थप्रवर्तकः मार्गविप्रतिपन्नः। **मोहेण य**—मोहेन च मिथ्यात्वेन मायाप्रपंचेन वा। **मोहंतो**—मोहयन् विपरीतान् कुर्वन्, **संमोहेसूववज्जेदि**—स्वंमोहेषु स्वच्छन्ददेवेषूत्पद्यते। य उन्मार्गदेशकः

आचारवृत्ति—संसार समुद्र से पार होने के उपाय रूप तीर्थ को करनेवाले तीर्थंकर हैं, उन्हें अर्हन्त भट्टारक कहते हैं उनके जो प्रतिकूल हैं; तथा ऋषि, यति, मुनि और अनगार को संघ कहते हैं अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको भी चतुर्विध संघ कहते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को भी संघ शब्द से कहा है। सर्वज्ञदेव की प्रतिमा को चैत्य कहते हैं। बारह अंग और चौदह पूर्व को सूत्र कहते हैं। जो ऐसे संघ, चैत्य और सूत्र के प्रति विनय नहीं करते हैं और दूसरों को ठगने में कुशल हैं, वे इस किल्विष कार्यों के द्वारा पटह आदि वाद्य बजानेवाले किल्विषक जाति के देवों में उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेषार्थ—इन किल्विषक जाति के देवों को इन्द्र की सभा में प्रवेश करने का निषेध है। ये देव चाण्डाल के समान माने गये हैं। जो साधु सम्यक्त्व से च्युत होकर तीर्थंकर देव आदि की आज्ञा नहीं पालते हैं, उपर्युक्त दोषों को अपने जीवन में स्थान देते हैं वे पूर्व में यदि देवायु बाँध भी ली हो तो मरकर ऐसी देवदुर्गति में जन्म ले लेते हैं।

सम्मोह भावना का स्वरूप और उससे होने वाली देव दुर्गति को बताते हैं—

गाथार्थ—जो उन्मार्ग का उपदेशक है, सन्मार्ग का विघातक तथा विरोधी है वह मोह से अन्य को भी मोहित करता हुआ सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६७॥

आचारवृत्ति—जो उन्मार्ग अर्थात् मिथ्यात्व आदि का उपदेशकर्ता है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की विराधना करनेवाला है, तथा इसी सन्मार्ग के विपरीत है अर्थात् स्वतीर्थ का प्रवर्तक है। वह साधु मिथ्यात्व अथवा माया के प्रपंच से अन्य लोगों

---

१. क मोहिंतो। २. क वयज्जह।

मार्गनाशकः मार्गविप्रतिकूलश्च मोहेन मोहयन् स' सम्मोहकर्मभिः स्वंमोहेषु जायते इति।

आसुरीं भावनां तथोत्पत्तिं च प्रपंचयन्नाह—

खुद्दी कोही माणी मायी तह संकिलिट्ठो तवे चरित्ते य।
अणुबद्धवेररोई असुरेसूववज्जदे जीवो ॥६८॥

खुद्दी—क्षुद्रः पिशुनः। कोही—क्रोधी। माणी—मानी गर्वयुक्तः। माई—मायावी। तह य—तथा च। संकलिट्ठो—संक्लिष्टः संक्लेशपरायणः। तवे—तपसि। चरित्ते य—चरित्रे च। अणुबद्धवेररोई—अनुबद्धं वैरं रोचते अनुबद्धवैररोची कपायबहुलेषु रुचिपरः। असुरेसूववज्जदे—असुरेषूत्पद्यते अंवावरीष-संज्ञकभवनेषु। जीवो—जीवः। यः क्षुद्रः, क्रोधी, मानी, मायावी अनुबद्धवैररोची तथा तपसि, चरित्रे च यः संक्लिष्टः सोऽसुरभावतयासुरेषूत्पद्यते इति।

व्यतिरेकद्वारेण बोधिं प्रतिपादयन्नाह—

मिच्छादंसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा।
इह जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥६९॥

को विपरीत बुद्धिवाला करता हुआ संमोह कर्म के द्वारा स्वच्छन्द प्रवृत्तिवाले सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है।

अब आसुरी भावना को और उससे होनेवाली गति को बताते हैं—

गाथार्थ—जो क्षुद्र, क्रोधी, मानी, मायावी है तथा तप और चारित्र में संक्लेश रखने वाला है, जो वैर को बांधने में रुचि रखता है वह जीव असुर जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६८॥

आचारवृत्ति—जो क्षुद्र अर्थात् चुगलखोर है अथवा हीन परिणाम वाला, क्रोध स्वभाव वाला है, मान-कषायी है, मायाचार प्रवृत्ति रखता है; तथा तपश्चरण करते हुए और चारित्र को पालते हुए भी जिसके परिणामों में संक्लेष भाव बना रहता है अर्थात् परिणामों में निर्मलता नहीं रहती; जो अनन्तानुबन्धी रूप वैर को बांधने में रुचि रखता है अर्थात् किसी के साथ कलह हो जाने पर उसके साथ अन्तरंग में ग्रन्थि के समान वैरभाव बांध कर रखता है ऐसा जीव इन असुर भावनाओं के द्वारा असुर जाति में, अन्तर्भेदरूप एक अंबावरीष जाति है उसमें, जन्मता है। ये अंबावरीष जाति के देव ही नरकों में जाकर नारकियों को परस्पर में पूर्वभव के वैर का स्मरण दिला-दिलाकर लड़ाया करते हैं और उन्हें लड़ते-भिड़ते दुःखी होते देखकर प्रसन्न होते रहते हैं।*

अब व्यतिरेक कथन द्वारा बोधि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—यहां पर जो जीव मिथ्यादर्शन से अनुरक्त, निदान-सहित और कृष्णलेश्या से मरण करते हैं उनके लिए पुनः बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है ॥६९॥

---

१. क 'स्वत'।

*'भगवती आराधना' में भी इन भावनाओं का वर्णन किया गया है।

मिच्छादंसणरत्ता—मिथ्यात्वदर्शनरक्ताः अतत्त्वार्थरुचयः। सणिदाणा—सह निदानेनाकांक्षया वर्तत इति सनिदानाः। किण्हलेसं—कृष्णलेश्यां 'अनन्तानुबन्धिकषायानुरञ्जितयोगप्रवृत्तिम्। ओगाढा—आगाढा प्रविष्टा रौद्रपरिणामाः। इह—अस्मिन्। जे—ये। मरंति—म्रियन्ते प्राणांस्त्यजन्ति। जीवा—जीवाः प्राणिनः। तेसिं—तेषां। पुण—पुनः। दुल्लहा—दुर्लभाः। बोही—बोधिः सम्यक्त्वसहितशुभपरिणामः। इह ये जीवाः मिथ्यात्वदर्शनरक्ताः, सनिदानाः, कृष्णलेश्यां प्रविष्टाश्च म्रियन्ते तेषां पुनरपि, दुर्लभा बोधिः। उत्कृष्टतोऽर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्रात्सम्यक्त्वाविनाभावित्वाद्बोधेरतस्तादात्म्यं ततो बोधेरेव लक्षणं व्याख्यातमिति।

अन्वयेनापि बोधेर्लक्षणमाह—

*सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे बोही॥७०॥

सम्मद्दंसणरत्ता—सम्यग्दर्शनरक्ताः तत्त्वरुचयः। अणियाणा—अनिदाना इहपरलोकानाकांक्षाः। सुक्कलेस्सं—शुक्ललेश्यां। ओगाढा—आगाढा प्रविष्टाः। इह—अस्मिन्। जे—ये। मरंति—म्रियंते। जीवा—जीवाः। तेसिं—तेषां। सुलहा—सुलभा सुखेन लभ्या। हवे—भवेत्। बोही—बोधिः। इह ये जीवाः सम्यक्त्वदर्शनरक्ताः, अनिदानाः, शुक्ललेश्यां प्रविष्टाः सन्तो म्रियन्ते तेषां सुलभा बोधिरिति। यद्यपि पूर्व-

---

आचारवृत्ति—जो अतत्त्व के श्रद्धान सहित हैं, भविष्य में संसार-सुख की आकांक्षारूप निदान से सहित हैं, और अनन्तानुबन्धी कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्तिरूप कृष्णलेश्या से संयुक्त रौद्र-परिणामी हैं ऐसे जीव यदि यहाँ मरण करते हैं तो पुनः सम्यक्त्व सहित शुभ परिणाम रूप बोधि उनके लिए बहुत ही दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि यदि एक बार सम्यक्त्व होकर छूट जाय तो पुनः अधिक से अधिक यह जीव किंचित् कम अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल तक संसार में भटक सकता है। इसीलिए यहाँ ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि का अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल ही शेष रहता है और बोधि सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकती है अतः बोधि का सम्यक्त्व के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है इसीलिए यहाँ पर बोधि का लक्षण ही कहा गया है। अर्थात् प्रश्नकर्ता ने बोधि का लक्षण पूछा था सो बोधि की दुर्लभता और सुलभता को बतलाते हुए सम्यक्त्व के माहात्म्य को बताकर आचार्य ने प्रकारान्तर से बोधि का लक्षण ही बताया है ऐसा समझना।

अब अन्वय द्वारा भी बोधि का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो सम्यग्दर्शन में तत्पर हैं, निदान भावना से रहित हैं और शुक्ललेश्या में परिणत हैं ऐसे जो जीव मरण करते हैं उनके लिए बोधि सुलभ है॥७०॥

आचारवृत्ति—जो तत्त्वों में रुचिरूप सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, इह लोक और परलोक की आकांक्षा से रहित हैं, शुक्ल लेश्यामय निर्मल परिणामवाले हैं ऐसे जीव संन्यास विधि से मरण

---

१. सामान्यवचन है।

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में नहीं है।

सूत्रेणास्यार्थस्य प्रतीतिस्तथापि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहार्थः पुनरारम्भः एकान्तमतनिराकरणार्थं च।

संसारकारणस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य।
असमाहिणा मरंते ते होंति अणंतसंसारा ॥७१॥

जे पुण—ये पुनः। **गुरुपडिणीया**—गुरूणां प्रत्यनीकाः प्रतिकूलाः गुरुप्रत्यनीकाः। **बहुमोहा**—मोहप्रचुराः रागद्वेषाभिहताः। **ससबला**—सह शवलेन लेपेन वर्तन्ते इति सशवलाः कुत्सिताचरणाः। **कुसीला य**—कुशीलाः कुत्सितं शीलं व्रतपरिरक्षणं येषां ते कुशीलाश्च। **असमाहिणा**—असमाधिना मिथ्यात्वसमन्वितार्त्त-रौद्रपरिणामेन। **मरंते**—म्रियन्ते। **ते**—ते। **होंति**—भवन्ति ते एवं विशिष्टाः। **अणंतसंसारा**—अनन्तसंसारा अर्धपुद्गलप्रमाणसंसृतयः। ये पुनः गुरुप्रतिकूलाः, बहुमोहाः कुशीलास्तेऽसमाधिना म्रियन्ते ततश्चानन्तसंसारा भवन्तीति।

अथ परीतसंसाराः कथं भवन्तीति चेदतः प्राह—

हैं अतः उन्हें बोधि की प्राप्ति सुलभ ही है।

यद्यपि पूर्व की गाथा से ही बोधि के महत्त्व का अर्थबोध हो जाता है फिर भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यों का संग्रह करने के लिए, दोनों प्रकार के शिष्यों को समझाने के लिए ही यहाँ पहले व्यतिरेक मुख से, पुनः अन्वय मुख से, ऐसी दो गाथाओं से बोधि का व्याख्यान किया है। तथा एकान्तमत का निराकरण करने के लिए भी यह दोनों प्रकार का कथन है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—कुछेक का कहना है कि केवल अन्वय मुख से अर्थात् अपने विषय को बतलाते हुए ही कथन करना चाहिए तथा कुछेक का कथन है कि व्यतिरेक मुख से अर्थात् पर के निषेध रूप से अथवा वस्तु के दोष प्रतिपादन रूप से ही वस्तु का कथन करना चाहिए। किन्तु जैना-चार्य इन दोनों बातों को महत्त्व देते हुए अनेकान्त की पुष्टि करते हैं। इसीलिए पहले बोधि की दुर्लभता के कारणों को बताकर पुनः अगली गाथा से बोधि की सुलभता के कारणों को बताया है, ऐसा समझना।

अब आचार्य संसार के कारण का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जो पुनः गुरु के प्रतिकूल हैं, मोह की बहुलता से सहित हैं, शवल—अतिचार सहित चारित्र पालते हैं, कुत्सित आचरणवाले हैं वे असमाधि से मरण करते हैं और अनन्त संसारी हो जाते हैं ॥७१॥

आचारवृत्ति—जो साधु गुरुओं की आज्ञा नहीं पालते हैं, मोह की प्रचुरता से सहित राग-द्वेष से पीड़ित हो रहे हैं, शवल—लेपसहित अर्थात् कुत्सित आचरण वाले हैं तथा व्रतों की रक्षा करनेवाले जो शील हैं उन्हें भी कुत्सित रूप से जो पालते हैं, वे मिथ्यात्व से सहित हो आर्त एवं रौद्रध्यान रूप असमाधि से मरण करके अनन्त नामवाले अर्धपुद्गल प्रमाण काल तक संसार में ही भटकते रहते हैं।

अब, परीत संसारी कैसे होते हैं, ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण।
असवल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥७२॥

जिणवयणे—जिनस्य वचनमागमः तस्मिन्नर्हत्प्रवचने। **अणुरत्ता**—अनुरक्ताः सुष्ठु भक्ताः। **गुरुवयणं**—गुरुवचनमादेशं, **जे करंति**—ये कुर्वंति, **भावेण**—भावेन भक्त्या मंत्रतंत्रशास्त्रानाकांक्षया। **असवल**—अशवला मिथ्यात्वरहिताः। **असंकिलिट्ठा**—असंक्लिष्टाः शुद्धपरिणामाः। **ते होंति**—ते भवंति। **परित्तसंसारा**—परीतः परित्यक्तः परिमितो वा संसारः चतुर्गतिगमनं येषां यैर्वा ते परीतसंसाराः परित्यक्तसंसृतयो वा। जिनप्रवचने येऽनुरक्ताः गुरुवचनं च भावेन कुर्वन्ति, अशवलाः, असंक्लिष्टाः सन्तस्ते परित्यक्तसंसारा भवन्तीति।

यदि जिनवचनेऽनुरागो न स्यादतः किं स्यादतः प्राह—

वालमरणाणि वहुसो वहुयाणि अकामयाणि मरणाणि।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति ॥७३॥

वालमरणाणि—वालानामतत्त्वरुचीनां मरणानि शरीरत्यागा वालमरणानि। **वहुसो**—वहुशः वहूनि वहुप्रकाराणि वा। **वहुआणि**—वहुकानि प्रचुराणि। **अकामयाणि**—अ[illegible]ानि अनभिप्रेतानि। **मरणाणि**—मृत्यून्। **मरिहंति**—मरिष्यन्ति मृत्युं प्राप्स्यन्तीत्यर्थः। **ते वराया**—त एवंभूता वराका अनाथाः। **जे जिणवयणं**—ये जिनवचनं सर्वज्ञागमं। **ण जाणंति**—न जानन्ति नाववुध्यंते। ये जिनवचनं न जानन्ति ते वराका वालमरणानि वहुप्रकाराणि अकामकृतानि च वहूनि मरणानि प्राप्स्यन्तीति।

गाथार्थ—जो जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरागी हैं, भाव से गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं, शवल—परिणाम रहित हैं तथा संक्लेशभाव रहित हैं वे संसार का अन्त करनेवाले होते हैं ॥७२॥

आचारवृत्ति—जो अर्हन्त देव के प्रवचन रूप आगम के अच्छी तरह भक्त हैं, मन्त्र-तन्त्र की या शास्त्रों की आकांक्षा से रहित होकर भक्तिपूर्वक गुरुओं के आदेश का पालन करते हैं, मिथ्यात्व भाव रहित हैं और शुद्ध-परिणामी हैं वे चतुर्गति में गमन रूप संसार को परिमित करनेवाले अथवा संसार को समाप्त करनेवाले हो जाते हैं।

यदि जिनवचन में अनुराग नहीं होगा तो क्या होगा? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो जिनवचन को नहीं जानते हैं वे बेचारे अनेक बार वालमरण करते हुए अनेक प्रकार के अनिच्छित मरणों से मरण करते रहेंगे ॥७३॥

आचारवृत्ति—जो सर्वज्ञ देव के आगम को नहीं जानते हैं वे बेचारे अनाथ प्राणी, जो अपने लिए अभिप्रेत अर्थात् इष्ट नहीं हैं ऐसे, अनेक प्रकार के मरण से बार-बार मरते रहते हैं।

भावार्थ—यहाँ वालमरण से विवक्षा वालवालमरण की है जो कि मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है क्योंकि ऊपर गाथा ५९ में वालमरण का लक्षण करते हुए टीकाकार ने असंयत-सम्यग्दृष्टि के मरण को कहा है। तथा अन्य ग्रन्थों में भी वालवालमरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि माने गये हैं। उन्हीं का यहाँ कथन समझना चाहिए।

अथ कानि तानि बालमरणानीत्यत आह—

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य।
अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणि ॥७४॥

सत्यग्गहणं—शस्त्रेणात्मनो ग्रहणं मारणं शस्त्रग्रहणं। शस्त्रग्रहणादुत्पन्नं मरणमपि शस्त्रग्रहणं कार्ये कारणोपचारात्। विसभक्खणं—विषस्य मारणात्मकद्रव्यस्य भक्षणमुपयुंजनं विषभक्षणं तथैव सम्बन्धः कर्तव्यः। च—समुच्चयार्थः। जलणं—ज्वलनादग्नेरुत्पन्नं ज्वलनं। जलप्पवेसो य—जले पानीये प्रवेशो निमज्जनं निरुच्छ्वासं जलप्रवेशश्च तस्माज्जातं स एव वा मरणं। अणयारभण्डसेवी—अनाचारभांडसेवी न[1] आचारोऽनाचारः पापक्रिया स एव भांडं द्रव्यं तत्सेवत इत्यनाचारभांडसेवी मरणेन सम्बन्धः। अथवा पुरुषेण सम्बन्धः अनाचारभांडसेवी तस्य। जम्मणमरणाणुबंधीणि—जन्म उत्पत्तिः, मरणं मृत्युस्तयोरनुबन्धः सन्तानः स येषां विद्यते तानि जन्ममरणानुबन्धीनि संसारकारणानीत्यर्थः। एतानि मरणानि जन्ममरणानुबन्धीनि अनाचारभांडसेवीनि यतोऽतो बालमरणानीति। अथवा अनाचारसेवीनि एतानि मरणानि संसारकारणानीति न सदाचारस्य।

एवं श्रुत्वा क्षपकः संवेगनिर्वेदपरायण एवं चिन्तयति—

उड्ढमधो तिरियह्मि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि।
दंसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥७५॥

वे बालमरण कितने तरह के हैं? उत्तर में कहते हैं—

गाथार्थ—शस्त्रों के घात से मरना, विष भक्षण करना, अग्नि में जल जाना, जल में प्रवेशकर मरना और पापक्रियामय द्रव्य का सेवन करके मरना ये मरण—जन्म और मृत्यु की परम्परा को करनेवाले हैं ॥७४॥

आचारवृत्ति—जो शस्त्र से अपना मरण स्वयं करते हैं या किसी के द्वारा तलवार आदि से जिनका मरण हो जाता है, यहाँ 'शस्त्र ग्रहण' शब्द से स्वयं शस्त्र से आत्मघात करना या, शस्त्र के द्वारा मारा जाना दोनों विवक्षित है अतः यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया गया है। विष अर्थात् मरण करानेवाली वस्तु का भक्षण कर लेना, अग्नि में जल कर मरना, जल में प्रवेश कर उच्छ्वास के रुक जाने से प्राणों का त्याग करना, अनाचार—पापक्रिया वही हुआ भांड-द्रव्य उसका सेवन करके मरना अर्थात् पाप-प्रवृत्ति करके मरना। अथवा पापी जीवों का जो मरण है वह अनाचार भांडसेवी मरण है। ये मरण जन्म-मरण की परम्परा को करनेवाले हैं अर्थात् संसार के लिए कारणभूत हैं। तात्पर्य यह कि ये सभी मरण संसार के कारण हैं और पाप क्रियारूप हैं अतः ये बालमरण कहलाते हैं। अथवा अनाचार—सेवन करने रूप ये मरण संसार के ही हेतु हैं। ये सदाचारी जीव के नहीं होते हैं। यहाँ पर भी बालमरण शब्द से बालबाल-मरण को [illegible] ग्रहण करना चाहिए जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

[illegible] सुनकर क्षपक संवेग और निर्वेद में तत्पर होता हुआ ऐसा चिंतवन करता है—

गाथार्थ—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में मैंने बहुत बार बालमरण किये हैं। अब मैं दर्शन और ज्ञान से सहित होता हुआ पण्डितमरण से मरूँगा ॥७५॥

---

१ क अनाचारभण्डसेवनाचारः।

उड्ढं—ऊर्ध्वं ऊर्ध्वलोके। अधो—अधसि अधोलोके नरकभवनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पे। तिरियंहि दु—तिर्यक्षु च एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तजातिषु। कदाणि—कृतानि प्राप्तानि बालमरणानि। बहुगाणि—बहूनि। दंसणणाणसहं—दर्शनज्ञानाभ्यां सार्धं, गदो—गतः प्राप्तः, पंडियमरणं—पण्डितमरणं शुद्धपरिणामचारित्रपूर्वकप्राणत्यागं। अणुमरिस्से—अनुमरिष्यामि संन्यासं करिष्यामि। ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु च बहूनि बालमरणानि यतो मया प्राप्तानि, अतो दर्शनज्ञानाभ्यां सार्धं पण्डितमरणं गतोऽहं मरिष्यामीति।

एतानि चाकामकृतानि मरणानि स्मरन् पण्डितमरणमनुमरिष्यामीत्यत आह—

उव्वेयमरणं जादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य।
एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥७६॥

उव्वेयमरणं—उद्वेगमरणं इष्टवियोगानिष्टसंयोगाभ्यां त्रासेन वा मरणं। जादीमरणं—जातिमरणं उत्पन्नमात्रस्य मृत्युर्गर्भस्थस्य वा। णिरएसु—नरकेषु। वेदणाओ य—वेदनाश्च पीडाश्च। एदाणि—एतानि। संभरंतो—संस्मरन्। पंडिदमरणं—पण्डितमरणं। अणुमरिस्से—अनुमरिष्यामि प्राणत्यागं करिष्यामि। एतानि उद्वेगजातिमरणानि नरकेषु वेदनाश्च संस्मरन् पण्डितमरणं प्राप्तः सन् प्राणत्यागं करिष्यामि।

आचारवृत्ति—ऊर्ध्वलोक में—स्वर्गलोक में तथा अधोलोक में—नरकों में, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तथा तिर्यग्लोक में—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जातियों में मैंने बहुत से बालमरण (बालबालमरण) किये हैं, अब मैं दर्शन और ज्ञान के साथ एकता को प्राप्त होता हुआ पण्डितमरण से मरूँगा। अर्थात् संन्यास विधि से शुद्ध परिणामरूप चारित्रपूर्वक प्राणों का त्याग करूँगा। तात्पर्य यह है कि मैंने तीनों लोकों में अनन्त बार बालबालमरण किये हैं उनसे जन्म परम्परा बढ़ती ही गयी है अतः अब मैं बालमरण से होने वाली हानि को सुनकर धर्म में प्रीति तथा शरीरादि से विरक्ति धारण करता हुआ पण्डितमरण को प्राप्त करूँगा।

पुनरपि इन अनभिप्रेत, जो अपने को इष्ट नहीं, ऐसे मरणों का स्मरण करता हुआ क्षपक 'मैं पण्डितमरण से मरूँगा' ऐसा विचार करता है—

गाथार्थ—उद्वेगपूर्वक मरण, जन्मते ही मरण और जो नरकों की वेदनाएँ हैं इन सबका स्मरण करते हुए अब मैं पण्डितमरण से प्राणत्याग करूँगा ॥७६॥

आचारवृत्ति—इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के दुःख से जो मरण होता है अथवा अन्य किसी त्रास से जो मरण होता है उसको उद्वेगमरण कहते हैं। जन्म लेते ही मर जाना या गर्भ में मर जाना यह जातिमरण है। तथा नरकों में नारकियों को अनेक वेदनाएँ भोगनी पड़ती हैं। इन मरणों से होने वाले दुःखों का स्मरण करते हुए अब मैं पण्डितमरणपूर्वक ही शरीर को छोड़ूँगा।

भावार्थ—पुत्र, मित्र आदि के मर जाने पर अथवा अनिष्टकर शत्रु या दुःखदायी बन्धु आदि के मिलने पर लोग संक्लेश परिणाम से प्राण छोड़ देते हैं। या अपघात भी कर डालते हैं। इन सभी कुमरणों से दुर्गति में जाकर अथवा नरक गति में जाकर नाना दुःखों को चिरकाल तक भोगते हैं। इन सभी तरह के क्लेश को मैंने भी स्वयं अनन्त बार भोगा है इसलिए अब इन

किमर्थं पंडितमरणं मरणेषु शुभतमं यतः—

*एक्कं पंडिदमरणं छिददि जादीसयाणि बहुगाणि ।
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥७७॥

एक्कं—एकं। पंडिदमरणं—पंडितमरणं । छिददि—छिनत्ति । जादीसयाणि—जातिशतानि । बहुगाणि—बहूनि । तं—तत् तेन वा । मरणं—शरीरेन्द्रिययोर्वियोगः। मरिदव्वं—मर्तव्यं मरणं प्राप्तव्यं। जेण—येन । मदं—मृतं । सुम्मदं—सुष्ठुमृतं । होदि—भवति । एकं पण्डितमरणं जातिशतानि बहूनि छिनत्ति यतोऽतस्तेन मरणेन मर्तव्यं येन पुनरुत्पत्तिर्न भवति तद्वानुष्ठातव्यं येन न पुनर्जन्म। किमुक्तं भवति—पंडित-मरणमनुष्ठेयमिति ॥७७॥

यदि संन्यासे पीडा-क्षुधादिकोत्पद्यते ततः किं कर्तव्यमित्याह—

जइ उप्पज्जइ दुःखं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरये ।
कदमं मए ण पत्तं संसारे संसरंतेण ॥७८॥

जइ—यदि । उप्पज्जइ—उत्पद्यते । दुक्खं—दुःखमसातं । तो—ततः । दट्ठव्वो—द्रष्टव्यो मनसा[1]-लोकनीयः । सभावदो—स्वभावतः स्वरूपं "दृश्यतेऽन्यत्रापि" इति तस्, प्राकृतबलादक्षराधिक्यं वा । णिरए—

दुःखों का स्मरण कर, उनसे डरकर मैं सल्लेखनापूर्वक ही मरण करना चाहता हूँ ऐसा क्षपक विचार करता है।

मरणों में पण्डितमरण ही किसलिए अधिक शुभ है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक पण्डितमरण सौ-सौ जन्मों का नाश कर देता है अतः ऐसे ही मरण से मरना चाहिए कि जिससे मरण सुमरण हो जावे ॥७७॥

आचारवृत्ति—एक बार किया गया पण्डितमरण बहुत प्रकार के सैकड़ों जन्मों को नष्ट कर देता है। शरीर और इन्द्रियों का वियोग हो जाना जीव का मरण है इसलिए ऐसे मरण से मरना चाहिए कि जिससे यह मरण अच्छा मरण हो जावे अर्थात् ऐसी सल्लेखना विधि से मरण करे कि जिससे पुनः जन्म ही न लेना पड़े। अथवा ऐसे मरण का अनुष्ठान करना चाहिए कि जिसके बाद पुनः मरण ही न करना पड़े। इससे क्या तात्पर्य निकला ? मैं अब पण्डितमरण नामक सल्लेखना विधि से मरण करूँगा, क्षपक ऐसा दृढ़ निश्चय करता है।

यदि संन्यास के समय भूख प्यास आदि पीड़ाएँ उत्पन्न हो जावें तो क्या करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—यदि उस समय दुःख उत्पन्न हो जावे तो नरक के स्वभाव को देखना चाहिए। संसार में संसरण करते हुए मैंने कौन-सा दुःख नहीं प्राप्त किया है ॥७८॥

आचारवृत्ति—यदि असातावेदनीय के निमित्त से दुःख उत्पन्न होता है तो स्वभाव से नरक में देखना चाहिए अर्थात् नरक के स्वरूप का मन से अवलोकन करना चाहिए। यहाँ

---

१. क सहता।
*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में नहीं है।

नरकस्य नरके वा। कदमं—कियदिदं कतमत्। मए—मया। ण पत्तं—न प्राप्तं। अथवा, अणं ऋणं कृतं मया यत्तन्मयैव[1] प्राप्त। संसारे—जातिजरामरणलक्षणे। संसरंतेण—संसरता परिभ्रमता। संन्यासकाले यदुत्पद्यते क्षुधादि दुःखं ततो नरकस्य स्वभावो द्रष्टव्यो यतः संसारे संसरता मया किमिदं न प्राप्तं यावता हि प्राप्तमेवेति चिन्तनीयमिति ॥७९॥

यथा प्राप्तं तथैव प्रतिपादयति—

संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेवि पुग्गला वहुसो।
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती ॥७९॥

संसारचक्कवालम्मि—संसारचक्रवाले चतुर्गतिजन्मजरामरणावर्ते। **मए**—मया। **सव्वेवि**—सर्वेऽपि। **पुग्गला**—पुद्गला दधिखंडगुडौदननीरादिका। **वहुसो**—बहुशः बहुवारान् अनन्तवारान्। **आहारिदा य**—आहृता गृहीता भक्षिताश्च। **परिणामिदा य**—परिणामिताश्च जीर्णाश्च खलरसस्वरूपेण गमिता इत्यर्थः। **ण य मे**—न च मम। **गदातित्ती**—गता तृप्तिः सन्तोषो न जातः, प्रत्युत आकांक्षा जाता। संसारचक्रवाले सर्वेऽपि पुद्गला बहुशः आहृताः परिणामिताश्च मया न च मम गता तृप्तिरिति चिन्तनीयम्।

'स्वभावतः' में तस् प्रत्यय है सो 'दृश्यतेऽन्यत्रापि' इस नियम से पंचमी अर्थ में नहीं, किन्तु वहाँ द्वितीया विभक्तिरूप अर्थ निकल आता है अथवा प्राकृत व्याकरण के नियम से यहाँ अक्षर की अधिकता होते हुए भी 'स्वभाव' ऐसा अर्थ निकलता है। अर्थात् ऐसा सोचना चाहिए कि मैंने नरक आदि गतियों में कौन-सा दुःख नहीं प्राप्त किया है। अथवा गाथा के 'मए ण' पद को मए अण संधि निकालकर अण का ऋण करके ऐसा समझना चाहिए कि जो मैंने ऋण अर्थात् कर्जा किया था वही तो मैं प्राप्त कर रहा हूँ अर्थात् इस जन्म-मरण और वृद्धावस्थामय संसार में परिभ्रमण करते हुए जो मैंने ऋण रूप में कर्म संचित किये हैं उनका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा उस कर्जे को तो पूरा करना, चुकाना ही पड़ेगा। तात्पर्य यह कि सल्लेखना के समय यदि भूख प्यास आदि वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं तो उस समय नरकों के दुःखों के विषय में विचार करना चाहिए जिससे उन वेदनाओं से धैर्यच्युत नहीं होता है। ऐसा सोचना चाहिए कि अनादि संसार में भ्रमण करते हुए मैंने क्या यह दुःख नहीं पाया है? अर्थात् इन बहुत प्रकार के अनेक-अनेक दुःखों को मैंने कई-कई बार प्राप्त किया ही है। अब इस समय धैर्य से सहन कर लेना ही उचित है।

जिस प्रकार से प्राप्त किया है उसी का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—इस संसार रूपी भँवर में मैंने सभी पुद्गलों को अनेक बार ग्रहण किया है और उन्हें आहार आदि रूप परिणमाया भी है किन्तु उनसे मेरी तृप्ति नहीं हुई है ॥७९॥

आचारवृत्ति—चतुर्गति के जन्म-मरण रूप आवर्त अर्थात् भँवर में मैंने दही, खाण्ड, गुड़, भात जल आदि रूप सभी पुद्गल वर्गणाओं को अनन्त बार ग्रहण किया है, उनका आहार रूप से भक्षण किया है और खलभाग रसभाग रूप से परिणमाया भी है अर्थात् उन्हें जीर्ण भी किया है, किन्तु आजतक उनसे मुझे तृप्ति नहीं हुई, प्रत्युत आकांक्षाएँ बढ़ती ही गयी हैं, ऐसा विचार करना चाहिए।

---

1. क यत्तन्नैव।

कथं न गता तृप्तिर्यथा—

[1]तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥८०॥

[2]तिणकट्ठेण व—तृणकाष्ठैरिव। अग्गी—अग्निः। लवणसमुद्दो—लवणसमुद्रः। णदीसहस्सेहिं—नदीसहस्रैश्चतुर्दशभिः सहस्रैर्द्विगुणद्विगुणैर्नदीनां समन्विताभिर्गंगासिन्ध्वादिचतुर्दशनदीभिः सागरो न पूर्णः। ण इमो जीवो—नायं जीवः। सक्को—शक्यः। तिप्पेउं—तृप्तुं प्रीणयितुं। कामभोगेहि—कामभोगैः, ईप्सितसुखाङ्गैराहारस्त्रीवस्त्रादिभिः। यथा अग्निः तृणकाष्ठैः, लवणसमुद्रश्च नदीसहस्रैः प्रीणयितुं न शक्यः तथा जीवोऽपि कामभोगैरिति ॥८०॥

किं परिणाममात्राद्बन्धो भवति? भवतीत्याह—

कंखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो।
अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ ॥८१॥

णिवंधदि इति वा पाठान्तरम्। कंखिद—कांक्षितः कांक्षास्य संजाता तां करोतीति वा कांक्षितः।

---

*क्यों नहीं हुई तृप्ति? उसी को दिखाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—तृण और काठ से अग्नि के समान तथा सहस्रों नदियों से लवण-समुद्र के समान इस जीव को काम और भोगों से तृप्त करना शक्य नहीं है ॥८०॥

आचारवृत्ति—जैसे अग्नि तृण और लकड़ियों के समूह से तृप्त नहीं होती है अर्थात् बुझ नहीं सकती है प्रत्युत बढ़ती जाती है। जैसे हज़ारों नदियों से लवण समुद्र तृप्त नहीं होता। अर्थात् गंगा-सिंधु की तो परिवार नदियाँ चौदह-चौदह हजार हैं, आगे-आगे रोहित रोहितास्या आदि चौदह नदियों में दूनी-दूनी (तथा आधी आधी) परिवार नदियों के समुदाय से सभी की सभी नदियाँ लवण समुद्र में हमेशा प्रवेश करती ही रहती हैं। फिर भी आज तक वह तृप्त नहीं हुआ। उसी प्रकार से इच्छित सुख के साधन भूत आहार, स्त्री, वस्त्र आदि काम भोगों से इस जीव को तृप्त करना, संतुष्ट करना शक्य नहीं है।

विशेषार्थ—पंचेन्द्रिय विषयों के उपभोग से तृप्ति की बात तो बहुत दूर है, प्रत्युत इच्छाएँ उत्तरोत्तर वृद्धिंगत ही होती हैं, ऐसा समझें।

क्या परिणाममात्र से भी बन्ध हो सकता है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आकांक्षा और कलुषता से सहित हुआ यह जीव काम और भोगों में मूर्च्छित होता हुआ, भोगों को नहीं भोगता हुआ भी, परिणाममात्र से कर्मों द्वारा बन्ध को प्राप्त होता है ॥८१॥

आचारवृत्ति—कहीं पर 'णिवज्झेइ' की जगह 'णिबन्धदि' ऐसा भी पाठान्तर है।

---

१. क तण। २. क तण।

*८०, ८१ और ८२वीं तीन गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति में पहले ही आ चुकी हैं।

हुंदि चिरभाविदावि य जे पुरुसा मरणदेसयालम्मि।
पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण पच्छा परिवडंति ॥८४॥

हुंदि—जानीहि—सामान्यमरणं वा। चिरभाविदावि य—चिरभाविता अपि देशोनपूर्वकोटी कृताचरणा अपि। जे—यस्त्वं वा पुरुषैः सह सम्बन्धाभावात्। पुरिसा—पुरुषा मनुष्याः। मरणदेशयालम्मि—मरणकाले मरणदेशे वा अथवा मरणकाल एवानेनाभिधीयते। पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण—पूर्वस्मिन् कृतं कर्म पूर्वकृतकर्म तेन गुरुकं तस्य भावः पूर्वकृतकर्मगुरुकत्वं तेनान्यस्मिन्नर्जितपापकर्मणा। पच्छा—पश्चात्। परिवडंति—प्रतिपतन्ति रत्नत्रयात् पृथग्भवन्ति यतः ॥८४॥

तह्मा चंदयवेज्झस्स कारणेण उज्जदेण पुरिसेण।
जीवो अविरहिदगुणो कादव्वो मोक्खमग्गम्मि ॥८५॥

तम्हा—तस्मात्। चंदयवेज्झस्स—चंद्रकवेध्यस्य। कारणेन—निमित्तेन। उज्जदेण—उद्यतेन उपर्युक्तेन। पुरिसेण—पुरुषेण। जीवो—जीवः आत्मा। अविरहिदगुणो—अविरहितगुणोऽविराधितपरिणामः। कादव्वो—कर्तव्यः। मोक्खमग्गम्मि—मोक्षमार्गे सम्यक्त्वज्ञानचारित्रेषु। यतश्चिरभाविता अपि पुरुषा मरणदेशकाले पूर्वकृतकर्मगुरुकत्वेन पश्चात् प्रतिपतन्ति तस्मात् यथा चन्द्रकवेध्यनिमित्तं जीवोऽविरहितगुणः क्रियते तथोद्यतेन पुरुषेणात्मा मोक्षमार्गे कर्तव्य इत्येवं जानीहि निश्चयं कुर्विति ॥८५॥

गाथार्थ—जिन्होंने चिरकाल तक अभ्यास किया है ऐसे पुरुष भी मरण के देश-काल में पूर्व में किये गये कर्मों के भार से पुनः च्युत हो जाते हैं, ऐसा तुम जानो ॥८४॥

आचारवृत्ति – जिन्होंने चिरकाल तक तपश्चरण आदि का अभ्यास किया है अर्थात् कुछ कम एककोटि वर्ष पूर्व तक जिन्होंने रत्नत्रय का पालन किया है ऐसे पुरुष भी मरण के समय अथवा मरण के देश में अथवा यहाँ इस 'मरणदेश काले' पद का मरणकाल ही अर्थ लेना चाहिए। अर्थात् ऐसे पुरुष भी सल्लेखना के समय पूर्वकृत पापकर्म के तीव्र उदय से रत्नत्रय से पृथक् हो जाते हैं, च्युत हो जाते हैं। हे क्षपक! ऐसा तुम समझो।

गाथार्थ—इसलिए चन्द्रकवेध्य के कारण में उद्यत पुरुष के समान आत्मा को मोक्षमार्ग में गुण-सहित करना चाहिए ॥८५॥

आचारवृत्ति—इसलिए चन्द्रकवेध्य का वेध करने में उद्यत पुरुष के समान तुम्हें अपनी आत्मा के परिणामों की विराधना न करके उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग में स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जिस कारण से चिरकाल से अभ्यास करनेवाले भी पुरुष मरणकाल में पूर्व संचितकर्म के तीव्र उदय से रत्नत्रय से च्युत हो जाते हैं इसलिए जैसे चन्द्रकवेध्य के लिए जीव उस गुण में प्रवीण किया जाता है अथवा वह चन्द्रकवेध्य का निशाना बनाने के लिए गुण अर्थात् डोरी पर बाण को चढ़ाता है, पुनः निशाना लगाकर बेधन करता है उसी प्रकार उद्यमशील पुरुष को अपनी आत्मा मोक्षमार्ग में स्थिर करना चाहिए, ऐसा तुम जानो अर्थात्

* डोरी रहित न होने पर 'मैं चन्द्रकवेध्य का करने वाला हूँ

चन्द्रकवेध्यनिर्मित्तं जीवेऽविरहितगुणे कृते किंकृतं तेन चन्द्रकवेध्यस्य कर्ताहं—

कणयलदा णागलदा विज्जुलदा तहेव कुंदलदा।
एदा विय तेण हदा मिथिलाणयरिए महिंदयत्तेण ॥८६॥
सायरगो वल्लहगो कुलदत्तो वड्डमाणगो चेव।
दिवसेणिक्केण हदा मिहिलाए महिंददत्तेण ॥८७॥

मिथिलानगर्यां महेन्द्रदत्तेन एताः कनकलतानागलताविद्युल्लतास्तथा कुन्दलता चैकहेलया हताः। तथा तस्यां नगर्यां तेनैव महेन्द्रदत्तेन सागरक-वल्लभक-कुलदत्तक-वर्धमानका हतास्तस्मात् यतिना समाधिमरणे यत्नः कर्तव्यः। कथानिका चात्र व्याख्येया आगमोपदेशात् यत्नाभावे पुनर्यथा एतल्लोकानां भवति तथा यतीनामपि ॥८६-८७॥

[1]किं तत्? इत्याह—

जहणिज्जावयरहिया णावाओ वररदण[2]सुपुण्णाओ।
पट्टणमासण्णाओ खु पमादमला णिवुड्डंति ॥८८॥

ऐसा समझकर उसने क्या किया? सो बताते हैं—

गाथार्थ—कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता—इन चारों को भी उस महेन्द्रदत्त ने मिथिलानगरी में मार दिया। सागरक, वल्लभक, कुलदत्त और वर्धमानक को भी एक ही दिन मिथिलानगरी में महेन्द्रदत्त ने मार डाला ॥८६-८७॥

आचारवृत्ति—मिथिलानगरी में महेन्द्रदत्त ने कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता इनको एक लीलामात्र में मार डाला। तथा उसी नगरी में उसी महेन्द्रदत्त ने सागरक, वल्लभक, कुलदत्तक और वर्धमानक इनको भी मार डाला। इसलिए यतियों को समाधिमरण में प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ पर आगम के आधार से इन कथाओं का व्याख्यान करना चाहिए। अभिप्राय यह हुआ कि जैसे सावधानी के बिना इन लोगों का मरण हो गया वैसे ही सावधानी के बिना यतियों का भी कुमरण हो जाता है।

विशेष—ये कथाएँ आराधना कथाकोश आदि में उपलब्ध नहीं हो सकीं इसलिए इस विषय का स्पष्टीकरण समझ में नहीं आया है। फिर भी इतना अभिप्राय अवश्य प्रतीत होता है कि ये सब मरण कुमरण हैं क्योंकि इनमें सावधानी नहीं है। ऐसे दृष्टान्तों के द्वारा आचार्य क्षपक को सावधान रहने का ही पुनः पुनः उपदेश दे रहे हैं।

वह सावधानी क्या है? सो कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे उत्तम रत्नों से भरी हुई नौकाएँ नगर के समीप किनारे पर आकर भी, कर्णधार से रहित होने से प्रमाद के कारण डूब जाती हैं—ऐसे ही साधु के विषय में समझो ॥८८॥

---

१. क किं तथा। २. क 'पयु'।

जह—यथा। णिज्जावयरहिया—निर्यापकरहिताः कर्णधारविरहिताः। णावाओ—नावः पोतादिकाः। वररदणसुपुण्णाओ—श्रेष्ठरत्नसुपूर्णाः। पट्टणमासण्णाओ—पत्तनमासन्ना वेलाकूलसमीपं प्राप्ताः। खु—स्फुटं। पमादमूला—प्रमादः शैथिल्यं मूलं कारणं यासां ताः प्रमादमूलाः। णिवुड्डंति—निमज्जन्ति विनाशमुपयांति। यथा नावः पत्तनमासन्नाः कर्णधाररहिताः वररत्नसम्पूर्णाः, प्रमादकारणात् सागरे निमज्जन्ति तथा क्षपकनावः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररत्नसम्पूर्णाः सिद्धिसमीपीभूतसंन्यासपत्तनमासन्ना निर्यापकाचार्यरहिता प्रमादनिमित्तात् संसारसागरे निमज्जन्ति तस्माद्यत्नः कर्तव्य इति ॥८८॥

कथं यत्नः क्रियते यावता हि तस्मिन् कालेऽभ्रावकाशादिकं न कर्तुं शक्यते इत्याह—

बाहिरजोगविरहिओ अब्भंतरजोगझाणमालीणो[1]।
जह तम्हि देसयाले अमूढसण्णो जहसु देहं ॥८९॥

बाहिरजोगविरहिदो—बाह्याश्च ते योगाश्च बाह्ययोगा अभ्रावकाशादयस्तैः विरहितो हीनो बाह्ययोगविरहितः। अब्भंतरजोगझाणमालीणो[2]—अभ्यंतरयोगं अन्तरंगपरिणामं ध्यानं एकाग्रचिन्तानिरोधनं आलीनः प्रविष्टः। जह—यथा। तम्हि—तस्मिन्। देसयाले—देशकाले संन्यासकाले। अमूढसण्णो—अमूढ-

---

आचारवृत्ति—जैसे उत्तम-उत्तम रत्नों से भरे हुए जहाज आदि पत्तन अर्थात् समुद्र-तट के समीप पहुँच भी रहे हैं, फिर भी यदि वे जहाज खेवटिया से रहित हैं अर्थात् उनका कोई कर्णधार नहीं है तो प्रमाद के कारण निश्चित ही वे समुद्र में डूब जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही क्षपक रूपी नौकाएँ भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नों से परिपूर्ण हैं और सिद्धि के समीप में ही रहनेवाला जो संन्यास रूपी पत्तन है उसके पास तक अर्थात् किनारे तक आ चुकी हैं, फिर भी निर्यापकाचार्य के बिना प्रमाद के निमित्त से वे क्षपक रूपी नौकाएँ संसार-समुद्र में डूब जाती हैं, इसलिए सावधानी रखना चाहिए।

भावार्थ—जो सल्लेखना करनेवाले साधु हैं वे क्षपक हैं और करानेवाले निर्यापकाचार्य हैं। एक साधु की सल्लेखना में अड़तालीस मुनियों की आवश्यकता मानी गयी है।

यहाँ पर इसी बात को स्पष्ट किया है कि निर्यापकाचार्य के बिना क्षपक को मरण काल में वेदना आदि के निमित्त से यदि किंचित् भी प्रमाद आ गया तो वह पुनः रत्नत्रय से च्युत होकर संसार में डूब जायेगा किन्तु यदि निर्यापकाचार्य कुशल हैं तो वे उसे सावधान करते रहेंगे। अतः समाधि करने के इच्छुक साधु को प्रयत्नपूर्वक निर्यापकाचार्य की खोज करके उनका आश्रय लेना चाहिए तथा अन्तिम समय तक पूर्ण सावधानी रखना चाहिए।

कैसे प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि उस काल में तो अभ्रावकाश आदि को करना शक्य नहीं है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य योगों से रहित भी अभ्यन्तर योग रूप ध्यान का आश्रय लेकर उस सल्लेखना के काल में जैसे-बने-वैसे संज्ञाओं में मोहित न होते हुए शरीर का त्याग करो ॥८९॥

आचारवृत्ति—अभ्रावकाश आदि योग बाह्य योग हैं, इनसे रहित होते हुए भी अभ्यन्तर योगध्यान अर्थात् अन्तरंग में एकाग्र—चिन्तानिरोध रूप ध्यान में प्रविष्ट होकर जैसे

१-२ क मल्लीणो।

संज्ञः आहारादिसंज्ञारहितः। जहसु—जहीहि त्यज। देहं—शरीरं। बाह्ययोगविरहितोऽपि, अभ्यन्तरध्यानयोगप्रविष्टः सन् तस्मिन् देशकाले अमूढसंज्ञो यथा भवति तथा शरीरं जहीहि ॥८९॥

अमूढसंज्ञके शरीरत्यागे सति किं स्यात् ! इत्यतः प्राह—

हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्मसंखलियं।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहसि ॥९०॥

हंतूण—हत्वा। रागदोसे—रागद्वेषौ अनुरागाप्रीती। छेत्तूण य—छित्वा च। अट्ठकम्मसंखलियं—अष्टकर्मश्रृंखलाः। जम्मणमरणरहट्टं—जन्ममरणारहट्टं जातिमृत्युघटीयंत्रं। भेत्तूण—भित्वा। भवाहि—भवेभ्यो भवैर्वा। मुच्चिहिसि—मोक्ष्यसे मुञ्चसि वा। रागद्वेषौ हत्वा, अष्टकर्म श्रृंखलाश्च छित्वा जन्ममरणारहट्टं च भित्वा, भवेभ्यो मोक्ष्यसे इत्येतत्स्यादिति ॥९०॥

यद्येवं—

सव्वमिदं उवदेसं जिणदिट्ठं सद्दहामि तिविहेण।
तसथावरखेमकरं सारं णिव्वाणमग्गस्स ॥९१॥

हो सके वैसे संन्यास के समय आहार आदि संज्ञाओं से रहित होते हुए तुम शरीर को छोड़ो।

भावार्थ—शीत ऋतु में अभ्र—खुले मैदान में जो अवकाश अर्थात् ठहरना, स्थित होकर ध्यान करना है वह अभ्रावकाश है। ग्रीष्म ऋतु में आ—सब तरफ से, तापन—सूर्य के संताप को सहना सो आतापन योग है और वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे ध्यान करना यह वृक्षमूल योग है। सल्लेखना के समय क्षपक इन बाह्य योगों को नहीं कर सकता है फिर भी अन्तर में अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हुए जो ध्यान होता है वह अभ्यन्तर योग है। इस योग का आश्रय लेकर क्षपक आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं में मूर्छित न होता हुआ शरीर को छोड़े ऐसा आचार्य का उपदेश है।

संज्ञाओं में मूर्छित न होते हुए शरीर का त्याग करने पर क्या होता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—राग-द्वेष को नष्ट करके, आठ कर्मों की जंजीर को काट कर और जन्ममरण के घटीयन्त्र का भेदन कर तुम सम्पूर्ण भवों से छूट जाओगे ॥९०॥

आचारवृत्ति—राग द्वेष को नष्ट कर, आठ कर्मों की बेड़ी काटकर तथा जन्म-मरण रूप जो अरहट—घटिकायन्त्र है उसको रोक करके हे क्षपक! तुम अनेक भवों से मुक्त हो जाओगे अर्थात् पुनः तुम्हें जन्म नहीं लेना पड़ेगा।

अब क्षपक कहता है कि हे गुरुदेव! यदि ऐसी बात है तो मैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सम्पूर्ण इस उपदेश का मन-वचन-काय से श्रद्धान करता हूँ। यह निर्वाणमार्ग का सार है और त्रस तथा स्थावर जीवों का क्षेम करनेवाला है ॥९१॥

सव्वमिदं—सर्वमिमं। उवदेसं—उपदेशमागमं। जिणदिट्ठं—जिनदृष्टं कथितं वा। सद्दहामि—श्रद्दधे, तस्मिन् रुचिं करोमीति। तिविहेण—त्रिविधेन। तसथावरखेमकरं—त्रसन्ति उद्विजन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादि[1]पंचेन्द्रियपर्यन्ताः। स्थानशीलाः स्थावराः पृथिवीकायिकादिवनस्पतिपर्यन्ताः। अथवा त्रसनामकर्मोदयात् त्रसाः स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावराः तेषां क्षेमं दयां सुखं करोतीति त्रसस्थावरक्षेमकरस्तं सर्वजीवदयाप्रतिपादकं। सारं—प्रधानभूतं सारस्य कारणात्सारः। णिव्वाणमग्गस्स—निर्वाणमार्गस्य मोक्षवर्त्मनः। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणां तस्मिन् सति तेषां सद्भावान्निर्वाणमार्गस्य सारं त्रसस्थावरक्षेमकरं च सर्वमिममुपदेशं जिनदृष्टं त्रिविधेन श्रद्दधेऽहमिति ॥६१॥

तस्मिन् काले यथा द्वादशांगचतुर्दशपूर्वविषया श्रद्धा क्रियते तथा समस्तश्रुतविषया चिंता पाठश्च कर्तुं किं शक्यते ? इत्याह—

ण हि तम्हि देसयाले सक्को बारसविहो सुदक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेदुं बलिणावि समत्थचित्तेण ॥६२॥

न—प्रतिषेधवचनं। हि—यस्मादर्थे। तम्हि—तस्मिन्। देसयाले—देशकाले। 'दिश् अतिसर्जने'

आचारवृत्ति—जो यह सम्पूर्ण उपदेशरूप आगम है वह जिनेन्द्रदेव द्वारा देखा गया है अथवा कथित है, मैं मन-वचन-कायपूर्वक उसी का श्रद्धान करता हूँ, उसी में रुचि करता हूँ। जो त्रास को प्राप्त होते हैं—उद्विग्न होते हैं वे त्रस हैं। अर्थात् दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव त्रस कहलाते हैं। जो 'स्थानशीलाः' अर्थात् ठहरने के स्वभाववाले हैं वे स्थावर हैं। पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पति पर्यन्त स्थावर जीव हैं। अथवा त्रसनाम कर्म के उदय से त्रस होते हैं एवं स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर हैं। अर्थात् ऊपर जो त्रस-स्थावर शब्द की व्युत्पत्ति की है वह सर्वथा लागू नहीं होती है क्योंकि इस लक्षण से तो उद्वेग से रहित गर्भस्थ, मूर्छित या अण्डे में स्थित आदि जीव त्रस नहीं रहेंगे तथा वायुकायिक, अग्निकायिक त्रस हो जावेंगे इसलिए यह मात्र व्याकरण का व्युत्पत्ति अर्थ है। वास्तविक अर्थ तो यही है कि जो त्रस या स्थावर नाम कर्म के उदय से जन्म लेवें वे ही त्रस या स्थावर हैं। इन त्रस और स्थावर जीवों का क्षेम—उनकी दया का, उनके सुख का करनेवाला यह उपदेश है। और, यह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय निर्वाण मार्ग का सार है अर्थात् इस उपदेश के होने पर ही मोक्षमार्ग का सद्भाव होता है इसीलिए यह प्रधानभूत है—सारभूत मोक्षमार्ग का कारण होने से यह उपदेश स्वयं सारभूत ही है ऐसा समझना।

उस संन्यास के काल में जैसे द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व के विषय में श्रद्धा की जाती है वैसे ही समस्त श्रुतविषयक चिन्तन और पाठ करना शक्य है क्या ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—उस संन्यास के देश-काल में बलशाली और समर्थ मनवाले साधु के द्वारा भी सम्पूर्ण द्वादशांग रूप श्रुतस्कन्ध का चिन्तवन करना शक्य नहीं है ॥६२॥

आचारवृत्ति—'देशकाले' पद का अर्थ कहते हैं। दिश् धातु अतिसर्जन—त्याग

---

१. क 'यादयः पं'।

दिश्यते अतिसृज्यते इति देशः शरीरं तस्य कालस्तस्मिन् शरीरपरित्यागकाले। सक्को—शक्यः। बारसविहो—द्वादशविधः द्वादशप्रकारः सुदक्खंधो—श्रुतस्कंधः श्रुतवृक्ष इत्यर्थः। सव्वो—सर्वं समस्तं। अणुचिंतेदुं—अनुचिन्तयितुं अर्थेन भावयितुं पठितुं च। बलिणावि—बलिनापि शरीरगतबलेनापि[1]। समत्थचित्तेण—समर्थचित्तेन एकचित्तेन यतिना। तस्मिन् देशकाले बलयुक्तेन समर्थचित्तेनापि द्वादशविधं श्रुतस्कन्धं न शक्यमनुचिन्तयितुम् ॥९२॥

यतस्ततः किं कर्तव्यं ?

एक्कह्मि विदियह्मि पदे संवेगो वीयरायमग्गम्मि।
वच्चदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥९३॥

एक्कह्मि—एकस्मिन् नमोऽर्हद्भ्यः इत्येतस्मिन्। **विदियह्मि**—द्वयोः पूरणं द्वितीयं नमः सिद्धेभ्य इत्येतस्मिन्। **संवेओ**—संवेगः धर्मे हर्षः। **पदे**—अर्थपदे ग्रन्थपदे प्रमाणपदे वा पंचनमस्कारपदे च। अथवा **एक्कम्हि बीजम्हि पदे**—एकस्मिन्नपि बीजपदे यस्मिन्निति पाठान्तरम्। **वीयरागमग्गम्मि**—वीतरागमार्गे सर्वज्ञ-

---

अर्थ में है अतः 'दिश्यते अतिसृज्यते इति देशःशरीरं' अर्थात् जिसका त्याग किया है वह देश-शरीर है। उस शरीर का जो काल है वह देशकाल है अर्थात् वह शरीर के परित्याग का काल कहलाता है। उस शरीर परित्याग के समय जो साधु शारीरिक बल से सहित भी है तथा समर्थ मनवाला—एकाग्र चित्तवाला भी है तो भी वह बारह प्रकार के सम्पूर्ण श्रुतरूपी वृक्ष का अनुचिन्तन नहीं कर सकता है अर्थात् सम्पूर्ण श्रुत को अर्थ रूप से अनुभव करने को और उसके पाठ करने को समर्थ नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि कितना भी शरीरबली या मनोबली साधु क्यों न हो तो भी अन्तसमय में वह सम्पूर्ण श्रुतमय शास्त्रों के अर्थों का चिन्तवन नहीं कर सकता है।

*यदि ऐसी बात है तो उसे क्या करना चाहिए ?

गाथार्थ—मनुष्य वीतराग मार्ग स्वरूप अर्हत्प्रवचन के एकपद में या द्वितीय पद में निरन्तर संवेग प्राप्त करता है। इसलिए मरणकाल में इन पदों को नहीं छोड़ना चाहिए ॥९३॥

आचारवृत्ति—जो सर्वसंग का त्यागी मुनि वीतराग मार्ग—सर्वज्ञदेव के प्रवचन के किसी एक पद में या 'अर्हद्भ्यो नमः' इस प्रथम पद में या द्वितीयपद अर्थात् 'सिद्धेभ्यो नमः'

---

१. क 'बलोपेतेनापि।

*फलटन से प्रकाशित प्रति में निम्नलिखित गाथा अधिक है—

शरीर-त्याग के समय सप्ताक्षरी मन्त्र का चिन्तन श्रेयस्कर है—

सत्तक्खरसज्झाणं अरहंताणं णमोत्ति भावेण।
जो कुणदि अणण्णमदी सो पावदि उत्तमं ठाणं ॥८८॥

अर्थ—'णमो अरहंताणं' यह सप्त अक्षर युक्त मन्त्र है। जो साधक एकाग्रचित्त होकर इस मन्त्र का ध्यान करता है, वह उत्तम स्थान—मोक्ष प्राप्त कर लेता है। और, यदि साधक अचरम शरीरी है तो स्वर्ग में इन्द्रादि पद का धारक होता है।

प्रवचने। वच्चदि—व्रजति गच्छति प्रवर्तते। णरो—नरेण सर्वसंगपरित्यागिना। अभिक्खं—अभीक्ष्णं नैरन्तर्येण। तं— तत्। मरणंते—मरणान्ते कण्ठगतप्राणेऽत्यसमये वा। ण मोत्तव्वं—न मोक्तव्यं न परित्यजनीयं। एकपदे द्वितीयपदे वा पंचनमस्कारपदे वा वीतरागमार्गे यस्मिन् संवेगोऽभीक्ष्णं गच्छति तत्पदं मरणान्तेऽपि न मोक्तव्यं नरेण; नरो वा संवेगं यथा भवति तथा यस्मिन्पदे गच्छति प्रवर्तते तत्पदं तेन न मोक्तव्यमिति सम्बन्धः।

किमिति कृत्वा तन्न मोक्तव्यं यतः—

एदह्मादो एक्कं हि सिलोगं मरणदेसयालह्मि।
आराहणउवजुत्तो चिंतंतो आराधओ होदि ॥९४॥

एदह्मादो—एतस्मात् श्रुतस्कन्धात् पंचनस्काराद्वा। एक्कं हि—एकं ह्यपि एकमपि तथ्यं। सिलोगं—श्लोकं। मरणदेसयालम्मि—मरणदेशकाले। आराहणउवजुत्तो—आराधनया[1] उपयुक्तः सम्यग्ज्ञानदर्शन-चारित्रतपोनुष्ठानपरः। चिंतंतो—चिंतयन्। आराधओ—आराधकः रत्नत्रयस्वामी। होइ—भवति सम्पद्यते। एतस्मात् श्रुतात् पंचनमस्काराद्वा मरणदेशकाले एकमपि श्लोकं चिंतयन् आराधनोपयुक्तः सन् आराधको भवति यतस्ततस्त्वयेदं न मोक्तव्यमिति सम्बन्धः ॥९४॥

इस पद में निरन्तर संवेग को प्राप्त होता है, धर्म में हर्षभाव को प्राप्त होता है। यहाँ पद शब्द से अर्थपद, ग्रन्थपद या प्रमाणपद या नमस्कारपद को लिया गया है। अथवा 'एकम्हि वीजम्हि पदे' ऐसा पाठान्तर भी है जिसका ऐसा अर्थ करना कि किसी एक वीजपद में अर्थात् 'ॐ ह्रीं' या 'अ-सि-आ-उ-सा' आदि वीजाक्षर पदों का आश्रय लेता है।

इसलिए मरण के अन्त में अर्थात् कण्ठगत प्राण के होने पर या अन्तिम समय में इन पदों का अवलम्बन नहीं छोड़ना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि जिस वीतरागदेव के प्रवचन रूप एक—प्रथम पद में या द्वितीयपद में अथवा नमस्कार मन्त्र पद में साधु निरन्तर संवेग को प्राप्त हो जाते हैं। इस हेतु से इन पदों को मरण के अन्त में भी नहीं छोड़ना चाहिए।

अथवा जो भी कोई साधु जैसे भी वने वैसे जिस पद में प्रीति को प्राप्त कर सकते हैं, उस पद को उन्हें नहीं छोड़ना चाहिए अर्थात् उन्हें उसी पद का आश्रय लेना चाहिए।

क्यों नहीं छोड़ना चाहिए उसे ? सो ही वताते हैं—

गाथार्थ—आराधना में लगा हुआ साधु मरण के काल में इस श्रुत समुद्र से एक भी श्लोक का चिन्तवन करता हुआ आराधक हो जाता है ॥९४॥

आचारवृत्ति—आराधना से उपयुक्त अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओं के अनुष्ठान में तत्पर हुआ साधु द्वादशांगरूप श्रुतस्कन्ध से या पंचनमस्कार पद से एक भी तथ्य-सत्यभूत श्लोक को ग्रहण कर यदि संन्यास काल में उसका चिन्तवन करता है तो वह आराधक—रत्नत्रय का स्वामी—अधिकारी हो जाता है। इसलिए तुम्हें भी किसी एक पद का अवलम्बन लेकर उसे नहीं छोड़ना चाहिए।

---

१ क 'नउ'।

यदि पीडोत्पद्यते मरणकाले। किमौषधं ? इत्याह—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥९५॥

जिणवयणं—जिनवचनं। ओसहं—औषधं रोगापहरं द्रव्यं। इणं—एतत्। विसयसुहविरेयणं—विषयेभ्यः सुखं विषयसुखं तस्य विरेचनं द्रावकं द्रव्यं विषयसुखविरेचनं। अमिदभूदं—अमृतभूतं। जरमरणवाहिवेयण—जरामरणव्याधिवेदनानां। बहुकालीना व्याधिः, आकस्मिका वेदना तयोर्भेदः। अथवा व्याधिभ्यो वेदना। खयकरणं—विनाशनिमित्तं। सव्वदुक्खाणं—सर्वदुःखानां। विषयसुखविरेचनं, अमृतभूतं चौषधमेतज्जिनवचनमिति सम्बन्धः॥९५॥

किं तस्मिन्काले शरणं चेत्याह !

णाणं सरणं मे दंसणं[1] च सरणं चरियसरणं च।
तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो ॥९६॥

णाणं—ज्ञानं यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदः। सरणं—शरणं आश्रयः। मे—मम। दंसणं—दर्शनं प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणपरिणामः। सरणं—शरणं संसाराद्रक्षणं। चरियं—चरित्रं ज्ञानवतः संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णवतोऽनुष्ठानं। सरणं च—सहायं च। सुखाववोधार्थं पुनः पुनः शरणग्रहणं। तवं—तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपो द्वादशप्रकारं। संजमं—संयमः प्राणेन्द्रियसंयमनं। [सरणं]—शरणं।

यदि मरणकाल में पीड़ा उत्पन्न हो जावे तो क्या औषधि है ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—विषय सुख का विरेचन करानेवाले और अमृतमय ये जिनवचन ही औषध हैं। ये जरा-मरण और व्याधि से होनेवाली वेदना को तथा सर्व दुःखों को नष्ट करनेवाले हैं ॥९५॥

आचारवृत्ति—दीर्घकालीन रोग व्याधि है। आकस्मिक होनेवाला कष्ट वेदना है। इस प्रकार इन दोनों में अन्तर भी है अथवा व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदना व्याधि वेदना है। अर्थात् जिनेन्द्रदेव की वाणी महान् औषधि है यह विषय सुख का विरेचन करा देती है। वृद्धावस्था और मरणरूप जो महाव्याधियाँ हैं उनको तथा सम्पूर्ण दुःखों को दूर करा देती है। इसीलिए यह जिनवाणी अमृतमय है।

उस समय शरण कौन हैं ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—मुझे ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है, तपश्चरण और संयम शरण है तथा भगवान् महावीर शरण हैं ॥९६॥

आचारवृत्ति—जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप से जानना सो ज्ञान है, वह ज्ञान ही मेरा शरण अर्थात् आश्रय है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इनकी अभिव्यक्तिलक्षण जो परिणाम हैं वह दर्शन है वही मेरा शरण है अर्थात् संसार से मेरी रक्षा करनेवाला है। संसार के कारणों का अभाव करने के लिए उद्यत हुए ज्ञानवान पुरुष का जो अनुष्ठान है

---

1. क 'णं सरणं चरियं च सरणं च। तव संजमो य च'।

भगवं भगवान् ज्ञानसुखवान् । सरणो—शरण: । महावीरो—वर्धमानस्वामी । ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि मम शरणानि तेषामुपदेष्टा च महावीरो भगवान् शरणमिति ॥९६॥

आराधनाया: किं फलं ? इत्यत आह—

आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं ।
उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ णिव्वाणं ॥९७॥

आराहणउवजुत्तो—आराधनोपयुक्त: सम्यग्दर्शनज्ञानादिषु तात्पर्यवृत्ति: । कालं काऊण—कालं कृत्वा । सुविहिओ—सुविहित: शोभनानुष्ठान: । सम्मं—सम्यक् । उक्कस्सं—उत्कृष्टेन । तिण्णि—त्रीन् । भवे—भवान् । गन्तूण य—गत्वा च । लहइ—लभते । णिव्वाणं—निर्वाणं । सुविहित: सम्यगाराधनोपयुक्त: कालं कृत्वा उत्कर्षेण त्रीन् भवान् प्राप्य ततो निर्वाणं लभते इति ॥९७॥

आचार्यानुशास्तिं श्रुत्वा शास्त्रं ज्ञात्वा क्षपक: कारणपूर्वकं परिणामं कर्तुकाम: प्राह—

समणो मेत्ति य पढमं विदियं सव्वत्थ संजदो मेत्ति ।
सव्वं च वोस्सरामि य एदं भणिदं समासेण ॥९८॥

समणो मेत्ति य—श्रमण: समरसीभावयुक्त:, इति च । पढमं—प्रथम: । विदियं—द्वितीय: । सव्वत्थ-

---

वह चारित्र है, वही मेरा सहाय है । जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है, जलाता है वह तप है । वह द्वादश भेदरूप है । प्राणियों की रक्षा तथा इन्द्रियों का संयमन यह संयम है । ये तप और संयम मेरे शरण हैं तथा ज्ञान और सुखपूर्ण भगवान् वर्धमान स्वामी ही मेरे लिए शरण हैं । तात्पर्य यह कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये ही मेरे रक्षक हैं और इनके उपदेष्टा भगवान् महावीर ही मेरे रक्षक हैं । यहाँ पर जो पुन: पुन: 'शरणं' शब्द आया है सो सुख से—सरलता से समझने के लिए ही आया है । अथवा इन दर्शन, ज्ञान आदि के प्रति अपनी दृढ़ श्रद्धा को सूचित करने के लिए भी समझना चाहिए ।

आराधना का फल क्या है ? सो बतलाते हैं—

गाथार्थ—आराधना में तत्पर हुआ साधु आगम में कथित सम्यक्प्रकार से मरण करके उत्कृष्ट रूप से तीन भव को प्राप्त कर पुन: निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ॥९७॥

आचारवृत्ति—शुभ अनुष्ठान से सहित साधु सम्यक् प्रकार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं में तत्परता से प्रवृत्त होता हुआ साधु मरण करके उत्कृष्ट से तीन भवों को प्राप्त करके पश्चात् निर्वाण प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार से आचार्य की अनुशास्ति अर्थात् वाणी को सुनकर और शास्त्र को समझकर क्षपक कारणपूर्वक परिणाम को करने की इच्छा रखता हुआ कहता है—

गाथार्थ—पहला तो मेरा श्रमण यह रूप है और दूसरा सभी जगह मेरा संयत—संयमित होना यह रूप है। इसलिए संक्षेप से कहे गये इन सभी अयोग्य का मैं त्याग करता हूँ ॥९८॥

आचारवृत्ति—श्रमण—'समरसी भावयुक्त होना' यह मेरी प्रथम स्थिति है । 'सर्वत्र

संजदो—सर्वत्र संयतः। मेत्ति—मम इति। अथवा श्रमणे मम प्रथमं मैत्र्यं। द्वितीयं च सर्वसंयतेषु। सव्वं च—सर्वं च। वोस्सरामि य—व्युत्सृजामि च। एदं—एतत्। भणिदं—भणितं। समासेण—समासेन संक्षेपतः। प्रथमस्तावत् समानभावोऽहं द्वितीयश्च सर्वत्र संयतोऽतः सर्वमयोग्यं व्युत्सृजामि एतद्भणितं संक्षेपतो मयेति सम्बन्धः संक्षेपालोचनमेतत् ॥९८॥

पुनरपि दृढपरिणामं दर्शयति

लद्धं अलद्धपुव्वं जिणवयणसुभासिदं[1] अमिदभूदं।
गहिदो सुग्गइमग्गो णाहं मरणस्स बीहेमि ॥९९॥

लद्धं—लब्धं प्राप्तं। अलद्धपुव्वं—अलब्धपूर्वं। जिणवयणं—जिनवचनं। [2]सुभासिदं—सुभाषितं प्रमाणनयाविरुद्धं। अमिदभूदं—अमृतभूतं सुखहेतुत्वात्। गहिदो—गृहीतः। सुग्गदिमग्गो—सुगतिमार्गः। णाहं मरणस्स बीहेमि—नाहं मरणाद्बिभेमि। अलब्धपूर्वं जिनवचनं सुभाषितं अमृतभूतं लब्धं मया सुगतिमार्गश्च गृहीतोऽतः नाहं मरणाद्बिभेमीति ॥९९॥

*अतश्च—

संयत होना' यह मेरी दूसरी अवस्था है। अथवा श्रमण—समता भाव में मेरा मैत्रीभाव है यह प्रथम है और सभी संयतों—मुनियों में मेरा मैत्रीभाव है यह दूसरी अवस्था है। अभिप्राय यह है कि प्रथम तो मैं सुख-दुःख आदि में समान भाव को धारण करनेवाला हूँ और दूसरी बात यह है कि मैं सभी जगह संयत—संयमपूर्ण प्रवृत्ति करनेवाला हूँ इसलिए सभी अयोग्य कार्य या वस्तु का मैं त्याग करता हूँ यह मेरा संक्षिप्त कथन है। इस प्रकार से वचनों द्वारा क्षपक संक्षेप से आलोचना करता है।

पुनरपि क्षपक अपने परिणामों की दृढ़ता को दिखलाता है—

गाथार्थ—जिनको पहले कभी नहीं प्राप्त किया था ऐसे अलब्धपूर्व, अमृतमय, जिन-वचन सुभाषित को मैंने अब प्राप्त किया है। अब मैंने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है। इसलिए अब मैं मरण से नहीं डरता हूँ ॥९९॥

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव के वचन प्रमाण और नयों से अविरुद्ध होने से सुभाषित हैं और सुख के हेतु होने से अमृतभूत हैं। ऐसे इन वचनों को मैंने पहले कभी नहीं प्राप्त किया था। अब इनको प्राप्त करके मैंने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है। अर्थात् जिनदेव की आज्ञा-नुसार मैंने संयम को धारण करके मोक्ष के मार्ग में चलना शुरू कर दिया है। अब मैं मरण से नहीं डरूँगा।

क्योंकि—

१-२ क सुहासि'।

*फलटन से प्रकाशित प्रति की गाथा में निम्न प्रकार से अन्तर है—

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि हि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥६६॥

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं[1] हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥१००॥

धीरेण वि—धीरेणापि सत्त्वाधिकेनापि । मरियव्वं—मर्तव्यं प्राणत्यागः कर्तव्यः । णिद्धीरेण वि—निर्धैर्येणापि धैर्यरहितेनापि कातरेणापि भीतेनापि । अवस्स—अवश्यं निश्चयेन । मरिदव्वं—मर्तव्यं । जइ-दोहिं वि—यदि द्वाभ्यामपि । मरिदव्वं—मर्तव्यं भवान्तरं गन्तव्यं विशेषाभावात् । वरं—श्रेष्ठं । हि—स्फुटं । धीरत्तणेण—धीरत्वेन संक्लेशरहितत्वेन । मरिदव्वं—मर्तव्यं । यदि द्वाभ्यामपि धैर्याधैर्योपेताभ्यां प्राणत्यागः कर्तव्यो निश्चयेन ततो विशेषाभावात् धीरत्वेन मरणं श्रेष्ठमिति ॥१००॥

क्षुधादिपीडितस्य यदि शीलविनाशे कश्चिद्विशेषो विद्यतेऽजरामरणत्वं यावता हि—

सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं ।
जइ दोहिं वि मरियव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं ॥१०१॥

यदि द्वाभ्यामपि शीलनिःशीलाभ्यां[2] मर्तव्यं अवश्यं वरं शीलत्वेन शीलयुक्तेन मर्तव्यमिति । व्रत-परिरक्षणं शीलं यदि सुशीलनिःशीलाभ्यां निश्चयेन मर्तव्यं शीलेनैव मर्तव्यम् ॥१०१॥

अत्र किं कृतो नियम ? इत्याह—

गाथार्थ—धीर को भी मरना पड़ता है और निश्चित रूप से धैर्य रहित जीव को भी मरना पड़ता है। यदि दोनों को मरना ही पड़ता है तब तो धीरता सहित होकर ही मरना अच्छा है ॥१००॥

आचारवृत्ति—सत्त्व अधिक जिसमें है ऐसे धीर वीर को भी प्राणत्याग करना पड़ता है और जो धैर्य से रहित कायर हैं—डरपोक हैं, निश्चित रूप से उन्हें भी मरना पड़ता है। यदि दोनों को मरना ही पड़ता है, उसमें कोई अन्तर नहीं है तब तो धीरतापूर्वक—संक्लेश रहित होकर ही प्राणत्याग करना श्रेष्ठ है।

क्षुधादि से पीड़ित हुए क्षपक के यदि शील के विनाश में कोई अन्तर हो तो अजर-अमरपने का विचार करना चाहिए—

गाथार्थ—शीलयुक्त को भी मरना पड़ता है और शील रहित को भी मरना पड़ता है यदि दोनों को ही मरना पड़ता है तब तो शील सहित होकर ही मरना श्रेष्ठ है ॥१०१।

आचारवृत्ति—व्रतों का सब तरफ से रक्षण करनेवालों को शील कहते हैं। यदि शील सहित और शीलरहित इन दोनों को भी निश्चितरूप से मरना पड़ता है तब तो शीलसहित रहते हुए ही मरना अच्छा है।

यहाँ यह नियम क्यों किया है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

---

१. क वरं खु धीरेण। २. क 'भ्यां निश्चयेन मर्तव्यं वरं'।

चिरउसिदबंभयारी पप्फोडेदूण सेसयं कम्मं ।
अणुपुव्वीय विसुद्धो सुद्धो सिद्धिं गदिं जादि ॥१०२॥

चिरउसिद—चिरं बहुकालं उषितः स्थितः। बंभयारी—ब्रह्म मैथुनानभिलाषं चरति सेवत इति ब्रह्मचारी चिरोषितश्च स ब्रह्मचारी च चिरोषितब्रह्मचारी। अथवा चिरोषितं ब्रह्म चरतीति। पप्फोडेदूण—प्रस्फोट्य निराकृत्य। सेसयं कम्मं—शेषं च कर्म ज्ञानावरणादि। अणुपुव्वीय—आनुपूर्व्या च क्रमपरिपाट्या अथवायुःक्षयाद्गुणस्थानक्रमेण वा। विसुद्धो—विशुद्धः कर्मकलंकरहितः। सुद्धो—शुद्धः केवलज्ञानादियुक्तः। सिद्धिं गदिं जादि—सिद्धिं गतिं याति मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः। अभग्नब्रह्मचारी शेषकं कर्म प्रस्फोट्य, असंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरया च विशुद्धः संजातस्ततः शुद्धो भूत्वा सिद्धिं गतिं याति। अथवा अपूर्वापूर्वपरिणामसन्तत्या च विशुद्धः शुद्धः केवलोपेतः केवलज्ञानं प्राप्य परमस्थानं गच्छतीति ॥१०२॥

अथ आराधनोपायः कथितः, आराधकश्च किं विशिष्टो भवतीत्याह—

गाथार्थ—चिरकाल तक ब्रह्मचर्य का उपासक साधु शेष कर्म को दूर करके क्रम-क्रम से विशुद्ध होता हुआ शुद्ध होकर सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है ॥१०२॥

आचारवृत्ति—जो बहुत काल तक मैथुन की अभिलाषा के त्यागरूप ब्रह्मचर्य में स्थित रहे हैं। अथवा जिन्होंने चिरकाल तक ब्रह्म—आत्मा का आचरण—सेवन किया है। वे चिरकालीन ब्रह्मचारी साधु ज्ञानावरण आदि शेष कर्मों का प्रस्फोटन करके क्रम की परिपाटी अथवा आयु के क्षय से या गुणस्थानों के क्रम से विशुद्धि को वृद्धिगत करते हुए—कर्मकलंक रहित होते हुए केवलज्ञान आदि गुणों से युक्त होकर पूर्ण शुद्ध हो जाते हैं। पुनः मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। अथवा जिनका ब्रह्मचर्य कभी भंग नहीं हुआ है ऐसे अखण्ड ब्रह्मचारी महासाधु उसके अनन्तर बचे हुए शेष कर्मों को दूर करके पुनः असंख्यातगुण श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होने से विशुद्ध हो जाते हैं। पुनः पूर्ण शुद्ध होकर सिद्धगति को प्राप्त कर लेते हैं। अथवा अपूर्व-अपूर्व परिणामों की सन्तति-परम्परा से विशुद्धि को प्राप्त होते हुए पूर्ण शुद्ध होकर केवलज्ञान को प्राप्त करके परमस्थान प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—वह क्षपक दीर्घकाल तक अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन करने से स्वयं बहुत से कर्मों की संवर निर्जरा कर चुका है। अनन्तर इस समय बचे हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों का नाश करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है अर्थात् यदि वह क्षपक चरम शरीरी है तो वह उसी भव में श्रेणी पर आरोहण कर अपूर्वकरण गुणस्थान में अपूर्व-अपूर्व परिणामों को प्राप्त करके आगे असंख्यात गुणित रूप से कर्मों की निर्जरा करता हुआ केवली होकर फिर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि आयु के क्षय के साथ-साथ शेष अघाति को भी समाप्त कर देता है।

यहाँ तक आराधना के उपाय कहे गये हैं, अब आराधक कैसा होता है, सो बताते हैं—

णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो ।
अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ ॥१०३॥

णिम्ममो—निर्ममः निर्मोहः । **णिरहंकारो**—अहंकारान्निर्गतः गर्वरहितः । **णिक्कसाओ**—निष्कषायः क्रोधादिरहितः । **जिदिंदिओ**—जितेन्द्रियः नियमितपंचेन्द्रियः । **धीरो**—धीरः सत्त्ववीर्यसम्पन्नः । **अणिदाणो**—अनिदानः अनाकांक्षः । **दिट्ठिसंपण्णो**—दृष्टिसम्पन्नः[1] सम्यग्दर्शनसंप्राप्तः । **मरंतो**—म्रियमाणः । **आराहओ**—आराधकः । **होइ**—भवति । निर्मोहो निर्गर्वः निष्क्रोधादिर्जितेन्द्रियो धीरोऽनिदानो दृष्टिसंपन्नो म्रियमाण आराधको भवतीति ॥१०३॥

कुत एतदित्याह—

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०४॥

णिक्कसायस्स—निष्कषायस्य कषायरहितस्य । **दंतस्स**—दान्तस्य दान्तेन्द्रियस्य । **सूरस्स**—शूरस्याकातरस्य । **ववसाइणो**—व्यवसायो विद्यतेऽस्येति व्यवसायी तस्य चारित्रानुष्ठानपरस्य । **संसारभयभीदस्स**—संसारभयभीतस्य संसाराद्भयं तस्माद्भीतस्त्रस्तः संसारभयभीतः तस्य ज्ञातचतुर्गतिदुःखस्वरूपस्य । **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यानं आराधना । **सुहं**—सुखं सुखनिमित्तं । **हवे**—भवेत् । यतो निष्कषायस्य, दान्तस्य, शूरस्य, व्यवसायिनः, संसारभयभीतस्य, प्रत्याख्यानं सुखनिमित्तं भवेत्ततः तथाभूतो म्रियमाण आराधको भवतीति सम्बन्धः ॥ ०४॥

गाथार्थ—जो ममत्वरहित, अहंकाररहित, कषायरहित, जितेन्द्रिय, धीर, निदानरहित और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह मरण करता हुआ आराधक होता है ॥१०३॥

आचारवृत्ति—जो निर्मोह हैं, गर्व रहित हैं, क्रोधादि कषायों से रहित हैं, पंचेन्द्रिय को नियन्त्रित कर चुके हैं, सत्त्व और वीर्य से सम्पन्न होने से धीर हैं, सांसारिक सुखों की आकांक्षा से रहित हैं और सम्यग्दर्शन से सहित हैं वे मरण करते हुए आराधक माने गये हैं।

ऐसा क्यों ? इसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जो कषाय रहित है, इन्द्रियों का दमन करनेवाला है, शूर है, पुरुषार्थी है और संसार से भयभीत है उसके सुखपूर्वक प्रत्याख्यान होता है ॥१०४॥

आचारवृत्ति—जो कषाय रहित हैं अर्थात् जिनकी संज्वलन कषायें भी मन्द हैं, जो इन्द्रियों के निग्रह में कुशल हैं, शूर हैं अर्थात् कायर नहीं हैं, व्यवसाय जिनके हैं वे व्यवसायी हैं अर्थात् चारित्र के अनुष्ठान में तत्पर हैं, चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों का स्वरूप जानकर जो उससे त्रस्त हो चुके हैं ऐसे साधु के प्रत्याख्यान—मरण के समय शरीर-आहार आदि का त्याग सुखपूर्वक अथवा सुखनिमित्तक होता है। इसी हेतु से वे साधु सल्लेखना-मरण करते हुए आराधक हो जाते हैं।

---

1. क दृष्टि सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संप्राप्तः ।

उपसंहारद्वारेणाराधनाफलमाह—

एदं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि।
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥१०५॥

एदं—एतत्। पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यानं। जो काहदि—यः कुर्यात्। मरणदेसयालम्मि—मरणदेशकाले। धीरो—धैर्योपेतः। अमूढसण्णो—अमूढसंज्ञः आहारादिसंज्ञास्वलुब्धः। सो—सः। गच्छदि—गच्छति। उत्तमं ठाणं—उत्तमं स्थानं निर्वाणमित्यर्थः। मरणदेशकाले एतत्प्रत्याख्यानं यः कुर्यात् धीरोऽमूढसंज्ञश्च स गच्छत्युत्तमं स्थानमिति ॥१०५॥

अवसानमंगलार्थं क्षपकसमाध्यर्थं चाह—

वीरो जरमरणरिऊ वीरो विण्णाणणाणसंपण्णो।
लोगस्सुज्जोययरो जिणवरचंदो दिसदु बोधिं ॥१०६॥

वीरो—वर्धमानभट्टारकः। जरमरणरिऊ—जरामरणरिपुः। विण्णाणणाणसंपण्णो—विज्ञानं चारित्रं, ज्ञानमवबोधस्ताभ्यां सम्पन्नो युक्तः। वीरो—वीरः। लोगस्स—लोकस्य भव्यजनस्य पदार्थानां वा। उज्जोययरो—उद्योतकरः प्रकाशकरः। जिणवरचंदो—जिनवरचन्द्रः। दिसदु—दिशतु ददातु। बोधिं—समाधिं सम्यक्त्वपूर्वकाचरणं वा। जिनवरचन्द्रो जरामरणशत्रुः चारित्रज्ञानादिसंयुक्तो लोकस्य चोद्योतकारो वीरो मह्यं दिशतु बोधिमिति सम्बन्धः ॥१०६॥

किंचिदपि निदानं न कर्तव्यं, कर्तव्यं चेत्याह—

अब उपसंहार द्वारा आराधना का फल कहते हैं—

गाथार्थ—जो धीर और संज्ञाओं में मूढ़ न होता हुआ साधु मरण के समय इस उपर्युक्त प्रत्याख्यान को करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥१०५॥

आचारवृत्ति—धैर्यवान्, आहार, भय आदि संज्ञाओं में लम्पटता रहित जो साधु मरण के समय उपर्युक्त प्रत्याख्यान को करते हैं वे उत्तम अर्थात् निर्वाण स्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

अब अन्तिम मंगल और क्षपक की समाधि के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—वीर भगवान् जरा और मरण के रिपु हैं, वीर भगवान् विज्ञान और ज्ञान से सम्पन्न हैं, लोक के उद्योत करनेवाले हैं। ऐसे जिनवर चन्द्र—वीर भगवान् मुझे बोधि प्रदान करें ॥१०६॥

आचारवृत्ति—विज्ञान को चारित्र और ज्ञान को बोध कहा है। अर्थात् विशेष ज्ञान भेद विज्ञान है। वह सराग और वीतराग चारित्रपूर्वक होता है अतः जो यथाख्यात चारित्र और केवलज्ञान आदि से परिपूर्ण हैं, जरा और मरण को नष्ट करनेवाले हैं, लोक अर्थात् भव्य जीव के लिए प्रकाश करनेवाले हैं अथवा पदार्थों के प्रकाशक हैं ऐसे वर्धमान भगवान् मुझे बोधि-समाधि अथवा सम्यक् सहित आचरण को प्रदान करें।

क्या किंचित् भी निदान नहीं करना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि कुछ निदान कर भी सकते हैं—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी ।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥१०७॥

जा गदी—या गतिः । अरहंताणं—अर्हतां । णिट्ठिदट्ठाणं च—निष्ठितार्थानां च या गतिः सिद्धानामित्यर्थः । जा गदी—या गतिः । वीदमोहाणं—वीतमोहानां क्षीणकषायाणां । सा मे भवदु—सा मे भवतु । सस्सदा—शश्वत् सर्वदा । अर्हतां या गतिः, या च निष्ठितार्थानां वीतमोहानां च या, सा मे भवतु सर्वदा नान्यत् किंचिद्याचेऽर्हमिति । नात्र पुनरुक्तादयो दोषाः पर्यायार्थिकशिष्यप्रतिपादनात् तत्कालयोग्यकथनाच्च । नापि विभक्त्यादीनां व्यत्ययः प्राकृतलक्षणेन सिद्धत्वात् । छन्दोभंगोऽपि न चात्र गाथाविगाथाश्लोकादिसंग्रहात्, तेषां चात्र प्रपंचो न कृतः ग्रन्थबाहुल्यभयात् संक्षेपेणार्थकथनाच्चेति ॥१०७॥

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां द्वितीयः परिच्छेदः ।

गाथार्थ—अर्हन्त देव की जो गति हुई है और कृतकृत्य—सिद्धों की जो गति हुई है तथा मोहरहित जीवों की जो गति हुई है वही गति सदा के लिए मेरी होवे ॥१०७॥

आचारवृत्ति—हे भगवन्, जो गति अर्हन्तों की, सिद्धों की और क्षीणकषायी जीवों की होती है वही गति मेरी हमेशा होवे, और मैं कुछ भी आपसे नहीं माँगता हूँ ।

इस अधिकार में पुनरुक्ति आदि दोष नहीं ग्रहण करना चाहिए क्योंकि पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यों को समझाने के लिए और तत्काल—उसकाल के योग्य कथन को कहने के लिए ही पुनः पुनः एक बात कही गयी है। विभक्ति आदि का विपर्यय भी इसमें नहीं लेना क्योंकि प्राकृत व्याकरण से ये पद सिद्ध हो जाते हैं । छंदभंग दोष भी यहाँ नहीं समझना क्योंकि गाथा, विगाथा और श्लोक आदि का संग्रह किया गया है । ग्रन्थ के विस्तृत हो जाने के भय से और संक्षेप से ही अर्थ को कहने की भावना होने से यहाँ इन गाथाओं के अर्थ का अधिक विस्तार से विवेचन नहीं किया गया है । अर्थात् मैंने (टीकाकार वसुनन्दि ने) टीका में मात्र उन्हीं शब्दों का ही अर्थ खोला है किन्तु विशेष अर्थ का विवेचन नहीं किया है अन्यथा ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाता । और दूसरी बात यह भी है कि हमें संक्षेप से ही अर्थ कहना था ।

इस प्रकार श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार की श्री वसुनन्दि
आचार्य द्वारा विरचित 'आचारवृत्ति' नामक टीका में
द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

३. अथ संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकारः

बृहत्प्रत्याख्यानं व्याख्यातमिदानीं यदि भृशमाकस्मिकं सिंहव्याघ्राग्निव्याध्यादिनिमित्तं मरणमुपस्थितं स्यात् तत्र कस्मिन् ग्रन्थे भावना क्रियते इति पृष्टे तदवस्थायां यद्योग्यं संक्षेपतरं प्रत्याख्यानं तदर्थं तृतीयमधिकारमाह—

> एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
> सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं ॥१०८॥

एस—एष आत्मनः प्रत्यक्षवचनमेतत् एषोऽहं अतिसंक्षेपरूपप्रत्याख्यानकथनोद्यतः एवं च कृत्वा नात्र संग्रहवाक्यं कृतं सामर्थ्यलब्धत्वात् तस्येति । करेमि—करोमि कुर्वे वा । पणामं—प्रणामं स्तुतिं । जिणवरवसहस्स—जिनानां वराः प्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तास्तेषां वृषभः प्रधानः सयोगी अयोगी सिद्धो वा तस्य जिनवरवृषभस्य । वड्ढमाणस्स—वर्धमानस्य । सेसाणं च—शेषाणां च । जिणाणं—जिनानां सर्वेषां च । सगणगणधराणं च—सह गणेन यतिमुन्यृष्यनगारचतुष्कैन वर्तते इति सगणास्ते च ते गणधराश्च सगणगणधराः तेषां च श्रीगौतमप्रभृतीनां च । सव्वेसिं—सर्वेषां । एषोऽहं ग्रन्थकरणाभिप्रायः, जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य शेषाणां च जिनानां च सर्वेषां च सगणगणधराणां च प्रणामं कुर्वे अथवा सगणगणधराणां जिनानां विशेषणं द्रष्टव्यमिति ॥१०८॥

बृहत्प्रत्याख्यान का व्याख्यान कर चुके हैं । अब यदि पुनः सिंह, व्याघ्र, अग्नि या रोग आदि के निमित्त से आकस्मिक मरण उपस्थित हो जाए तो उस समय किस ग्रन्थ में भावना करनी चाहिए ? ऐसा शिष्य के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उस अवस्था में जो संक्षेपतर—संक्षेप से भी संक्षेप प्रत्याख्यान उचित है उसे बतलाने के लिए आचार्य तीसरा अधिकार कहते हैं—

गाथार्थ—यह मैं जिनवर में प्रधान ऐसे वर्धमान भगवान् को, शेष सभी तीर्थंकरों को और गणसहित सभी गणधर देवों को प्रणाम करता हूँ ॥१०८॥

आचारवृत्ति—यहाँ 'एषः' शब्द स्वयं को प्रत्यक्ष कहनेवाला है अर्थात् संक्षेप रूप से प्रत्याख्यान को कहने में उद्यत हुआ यह मैं—वट्टकेर आचार्य भगवान् महावीर आदि को नमस्कार करता हूँ । 'एषः' शब्द मात्र रख देने से यहाँ संग्रह वाक्य को नहीं लिया है क्योंकि वह अर्थापत्ति से ही आ जाता है । अर्थात् मैंने पहले बृहत्प्रत्याख्यान का निरूपण किया है सो ही मैं अब संक्षेप प्रत्याख्यान को कहूँगा ऐसा 'एषः' पद से जाना जाता है ।

जिन—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि में जो वर—श्रेष्ठ हैं ऐसे प्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त मुनि होते हैं । अर्थात् छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनि जिनवर हैं

नमस्कारानन्तरमुररीकृतस्यार्थस्य प्रकटनार्थमाह—

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च।
सव्वमदत्तादाणं मेहूणपरिग्गहं चेव ॥१०६॥

प्रथमं तावत् व्रतशुद्धि करोमीति। सव्वं पाणारंभं—सर्वं निरवशेषं प्राणारम्भं हिंसां। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यामि त्यजामि। अलीयवयणं च—व्यलीकवचनं च मिथ्यावाद च। सव्वं—सर्वं। अदत्तादाणं—अदत्तादानं। मेहुण—मैथुनं। परिग्गहं चेव—परिग्रहं चैव। प्राणारम्भं, मिथ्यावचनं, अदत्तादानं, मैथुनपरिग्रहौ च प्रत्याख्यामीति ॥१०६॥

उनमें जो वृषभ—प्रधान हैं वे सयोग केवली, अयोग केवली अथवा सिद्ध परमेष्ठी जिनवर वृषभ कहलाते हैं। वर्धमान भगवान् जिनवर वृषभ हैं, शेष जिनों में तेईस तीर्थंकर अथवा समस्त अर्हन्त परमेष्ठी आ जाते हैं। ऋषि, मुनि, यति और अनगार इनके समूह का नाम गण है। गणों से सहित गणधरदेव सगण गणधर कहलाते हैं। अर्थात् श्री गौतमस्वामी आदि गणसहित गणधर हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ग्रन्थ के करने के अभिप्रायवाला यह मैं जिनवरों में प्रधान वर्धमान भगवान् को, शेष सभी जिनेश्वरों को और अपने-अपने गणसहित सभी गणधरों को प्रणाम करता हूँ। अथवा गण और गणधरों सहित सभी जिनेश्वरों को मैं नमस्कार करता हूँ—ऐसा भी अभिप्राय समझना चाहिए। इस अर्थ में 'सगण गणधर' यह विशेषण जिनेन्द्र का ही कर दिया गया है।

विशेषार्थ—'हरिवंशपुराण' में भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों के गणों की संख्या पृथक्-पृथक् बतलायी गयी है। पुनः सभी संख्या जोड़कर ही भगवान् के समवसरण के मुनियों की संख्या निर्धारित की गयी है। यथा 'भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर थे। उनमें से प्रथम गणधर इन्द्रभूति पुनः द्वितीयादि गणधर अग्निभूति, वायुभूति, शुचिदत्त, सुधर्म, मांडव्य, मौर्यपुत्र, अकंपन, अचल, मेदार्य और प्रभास इन नाम वाले थे। इनमें से प्रारम्भ के पाँच गणधरों की गण अर्थात् शिष्य-संख्या, प्रत्येक की दो हजार एक सौ तीस, उसके आगे छठवें और सातवें गणधर की गणसंख्या प्रत्येक की चार सौ पच्चीस, तदनन्तर शेष चार गणधरों की गणसंख्या प्रत्येक की छह सौ पच्चीस, इस प्रकार ग्यारह गणधरों की शिष्य-संख्या चौदह हजार थी। इन चौदह हजार शिष्यों में से तीन सौ मुनि पूर्व के धारी, नौ सौ विक्रियाऋद्धि के धारक, तेरह सौ अवधिज्ञानी, सात सौ केवलज्ञानी, पाँच सौ विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान के धारक, चार सौ परवादियों के जीतनेवाले वादी और नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे। इस प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव भगवान् महावीर का, ग्यारह गणधरों से सहित चौदह हजार मुनियों का संघ नदियों के प्रवाह से सहित समुद्र के समान सुशोभित हो रहा था।' (हरिवंश पुराण, सर्ग ३, श्लोक ४१-५०)

नमस्कार के अनन्तर स्वीकृत किये अर्थ को प्रकट करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सम्पूर्ण प्राणिहिंसा को, असत्य वचन को, सम्पूर्ण अदत्त ग्रहण और मैथुन तथा परिग्रह को भी मैं छोड़ता हूँ ॥१०६॥

टीका का अर्थ सरल है।

सामायिकव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झ ण केणइ।
आसाए वोसरित्ताणं समाधि पडिवज्जए ॥११०॥

सम्मं—समस्य भाव साम्यं। मे—मम। सव्वभूदेसु—सर्वभूतेषु निरवशेषजीवेषु। वेरं—वैरं। मज्झ—मम। ण केणइ—न केनापि। आसाए—आशा आकांक्षाः। वोसरित्ताणं—व्युत्सृज्य। समाहिं—समाधिं शुभपरिणामं। पडिवज्जए—प्रतिपद्ये। यतः साम्यं मम सर्वभूतेषु वैरं मम न केनाप्यत आशा व्युत्सृज्य समाधिं प्रतिपद्ये इति ॥११०॥

पुनरपि परिणामशुद्ध्यर्थमाह—

सव्वं आहारविहिं सण्णाओ आसए कसाए य।
सव्वं चेय ममत्तिं जहामि सव्वं खमावेमि ॥१११॥

सर्वमाहारविधिं अशनपानादिकं संज्ञाश्चाहारादिका आशा इहलोकाद्याकांक्षाः कषायांश्च सर्वं चैव ममत्वं जहामि त्यजामि सर्वं जनं क्षामयामीति।

द्विविधप्रत्याख्यानार्थमाह—

एदम्हि देशयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं।
एदं पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा हुज्ज ॥११२॥

एदम्हि—एतस्मिन्। देसयाले—देशकाले। उवक्कमो—उपक्रमः प्रवर्तनं अस्तित्वं। जीविदस्स—

सामायिकव्रत के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सभी प्राणियों में मेरा साम्यभाव है। किसी के साथ भी मेरा वैर नहीं है, मैं सम्पूर्ण आकांक्षाओं को छोड़कर शुभ परिणाम रूप समाधि को प्राप्त करता हूँ ॥११०॥

इसकी टीका सरल है।

पुनरपि परिणाम की शुद्धि के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—सर्व आहार विधि को, आहार आदि संज्ञाओं को, आकांक्षाओं और कषायों को तथा सम्पूर्ण ममत्व को भी मैं छोड़ता हूँ तथा सभी से क्षमा कराता हूँ ॥१११॥

आचारवृत्ति—अशन, पान आदि सम्पूर्ण आहारविधि को, आहार भय आदि संज्ञाओं को, इस लोक तथा पर लोक आदि की आकांक्षा रूप सभी आशाओं को, कषायों को और सम्पूर्ण ममत्व को मैं छोड़ता हूँ तथा सभी जनों से मैं क्षमा कराता हूँ।

दो प्रकार के प्रत्याख्यान बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—यदि मेरा इस देश या काल में जीवन रहेगा तो इस प्रत्याख्यान की समाप्ति करके मेरी पारणा होगी ॥११२॥

आचारवृत्ति—इस देश-काल में उपसर्ग के प्रसंग में यदि मेरा जीवन नहीं रहेगा तो

जीवितस्य। जइ मज्झं—यदि मम। एदं—एतत्। पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यानं। णित्थिण्णे—निस्तीर्णे समाप्ति गते। पारणा—आहारग्रहणं। हुज्ज—भवेत्। एतस्मिन् देशकाले सोपसर्गेऽभिप्रेते वा मध्ये यदि जीवितव्यं नास्ति चतुर्विधाहारस्यैतत्प्रत्याख्यानं मम भवेत् तस्मिंस्तु देशकाले निस्तीर्णे जीवितव्यस्योपक्रमे च सति पारणा भवेदिति सन्देहावस्थायामेतत्।

निश्चयावस्थायां तु पुनरेतदित्याह—

सव्वं आहारविहिं पच्चक्खामि पाणयं वज्ज।
उवहिं च वोसरामि य दुविहं तिविहेण सावज्जं॥११३॥

सव्वं—सर्वं निरवशेषं। आहारविहिं—भोजनविधिं। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यामि। पाणयं वज्ज—पानकं वर्जयित्वा। उवहिं च—उपधिं च। वोसरामि य—व्युत्सृजामि च। दुविहं—द्विविधं बाह्याभ्यन्तरलक्षणं। तिविहेण—त्रिविधेन मनोवचनकायेन। सावज्जं—सावद्यं पापकारणं। पानकं वर्जयित्वा सर्वमाहारविधिं प्रत्याख्यामि, बाह्याभ्यन्तरोपधिं च व्युत्सृजामि द्विविधं त्रिविधेन सावद्यं च यदिति॥११३॥

उत्तमार्थर्थमाह—

जो कोइ मज्झ उवही सब्भंतरवाहिरो य हवे।
आहारं च सरीरं जावज्जीवा य वोसरे॥११४॥

जो कोइ—यः कश्चित्। मज्झ उवही—ममोपधिः परिग्रहः। सब्भंतरवाहिरो य—साभ्यन्तरबाह्यश्च। हवे—भवेत्। तं सर्वं। आहारं च—चतुर्विकल्पभोजनं शरीरं च। जावज्जीवा य—जीवं जीवितव्यमनतिक्रम्य यावज्जीवं यावच्छरीरे मम जीव इत्यर्थः। वोसरे—व्युत्सृजे। यः कश्चित् मम सबाह्याभ्यन्तरोपधिर्भवेत् तं आहारं शरीरं च यावज्जीवं व्युत्सृजेदित्यर्थः॥११४॥

आगमस्य माहात्म्यं दृष्ट्वोत्पन्नहर्षो नमस्कारमाह—

मेरे यह चतुर्विध आहार का त्याग है और यदि उस देश काल में उपसर्ग आदि का निवारण हो जाने पर जीवन का अस्तित्व रहता है तो मैं आहार ग्रहण करूँगा। जीवित रहने का जब सन्देह रहता है तब साधु इस प्रकार से प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं।

और जब मरण होने का निश्चय हो जाता है तो पुनः क्या करना चाहिए?—

गाथार्थ—पेय पदार्थ को छोड़कर सम्पूर्ण आहारविधि का मैं त्याग करता हूँ और मन-वचन-कायपूर्वक दोनों प्रकार की उपाधि का भी त्याग करता हूँ॥११३॥

टीका-अर्थ सरल है।

अब उत्तमार्थ विधि को कहते हैं—

गाथार्थ—जो कुछ भी मेरा अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह है उसको तथा आहार और शरीर को मैं जीवनभर के लिए छोड़ता हूँ॥११४॥

टीका-अर्थ सरल है।

अब आगम के माहात्म्य को देखकर हर्षित चित्त होते हुए नमस्कार करते हैं—

जम्मालीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं।
तं सव्वजीवसरणं णंदटु जिणसासणं सुइरं ॥११५॥

जं—यत्। आलीणा—आलीना आश्रिताः। जीवाः—प्राणिनः। तरंति—प्लवंते पारं गच्छंति। संसारसायरं—संसरणं संसारः स एव सागरः समुद्रः संसारसागरस्तं। अणंतं—न विद्यतेऽन्तो यस्यासौ अनन्तस्तं अपर्यन्तं। तं—तत्। सव्वजीवसरणं—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवास्तेषां शरणं सर्वजीवशरणं। णंदटु—नन्दतु वृद्धिं गच्छतु। जिणसासणं—जिनशासनं। सुइरं—सुचिरं सर्वकालं। यज्जिनशासनमाश्रिताः जीवाः संसारसागरं तरन्ति तत्सर्वजीवशरणं नन्दतु सर्वकालं, यदनुष्ठानान्मुक्तिर्भवति तस्यैव नमस्कारकरणं योग्यमिति ॥११५॥

आराधनाफलार्थमाह—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा[1] ॥११६॥

व्याख्यातार्था गाथेयं। अर्हतां च या गतिः निष्ठितार्थानां वीतमोहानां च या गतिः सा मे भवतु सर्वदा नान्यद्याचेऽहमिति।

सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा, चतुर्विधाहारं च परित्यज्य जिनं हृदये कृत्वा किमर्थं म्रियते चेदतः प्राह—

एगं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाणि बहुगाणि ॥
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥११७॥

गाथार्थ—जिसका आश्रय लेकर जीव अनन्त संसार-समुद्र को पार कर लेते हैं, सभी जीवों का शरणभूत वह जिन शासन चिरकाल तक वृद्धिगत होवे ॥११५॥

आचारवृत्ति—संसरण का नाम संसार है। वह संसार ही एक समुद्र है और उसका अन्त—पार न होने से वह अनन्त है अर्थात् सर्वज्ञ देव के केवलज्ञान का ही विषय है। जिस जिन-शासन के आश्रय लेनेवाले जीव ऐसे अनन्त संसार-समुद्र को भी पार कर जाते हैं वह सभी जीवों को शरण देनेवाला जिनेन्द्रदेव का शासन हमेशा वृद्धि को प्राप्त होता रहे। अर्थात् जिसके अनुष्ठान से मुक्ति होती है उसीको नमस्कार करना योग्य है ऐसा यहां अभिप्राय है।

अब आराधना का फल बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—अर्हन्तों की जो गति है और सिद्धों की जो गति है तथा वीतमोह जीवों की जो गति है वही गति मेरी सदा होवे ॥११६॥

सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके तथा चार प्रकार के आहार को भी छोड़कर जिनेन्द्रदेव को हृदय में धारण करके ही क्यों मरण करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक ही पण्डितमरण बहुविध सौ-सौ जन्मों को समाप्त कर देता है।

---

१. यह गाथा इसी ग्रन्थ में क्रमांक १०७ पर आ चुकी है।

इयं[1] च व्याख्यातार्था गाथेति। यतः एकं पंडितमरणं जातिशतानि बहूनि छिनत्ति येन च मरणेन न पुनर्म्रियते किन्तु सुमृतं भवति पुनर्नोत्पद्यते तन्मरणमनुष्ठेयमिति।

मरणकाले समाधानार्थमाह—

[2]एगम्हि य भवगहणे समाहिमरणं लहिज्ज जदि जीवो।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि ॥११८॥

एकस्मिन् भवग्रहणे समाधिमरणं यदि लभते जीवस्ततः सप्ताष्टभवग्रहणेषु व्यतीतेषु निश्चयेन निर्वाणमनुत्तरं लभते यतस्ततः समाधिमरणमनुष्ठीयते इति। शरीरे सति जन्मादीनि दुःखानि यतस्ततः सुमरणेन शरीरत्यागः कर्तव्यः।

कानि जन्मादीनि दुःखानीत्याह—

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं।
जम्मणमरणादंकं छिंदि ममत्ति सरीरादो ॥११९॥

मरणसमं—मृत्युसदृशं भयं जीवस्य नान्यत्, जन्मनोत्पत्त्या समकं च दुःखं च न विद्यते। यतोऽतो

इसलिए ऐसा मरण प्राप्त करना चाहिए जिससे मरण सुमरण हो जावे ॥११७॥

आचारवृत्ति—इस गाथा का अर्थ पहले किया जा चुका है। जिस कारण एक पण्डितमरण अनेक प्रकार के सैकड़ों भवों को नष्ट कर देता है और जिस मरण के द्वारा मरण प्राप्त करने से पुनः मरण नहीं होता है किन्तु सुमरण हो जाता है अर्थात् पुनः जन्म ही नहीं होता है उस पण्डितमरण का ही अनुष्ठान करना चाहिए।

मरणकाल में समाधानी करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—यदि जीव एक भव में समाधिमरण को प्राप्त कर लेता है तो वह सात या आठ भव लेकर पुनः सर्वश्रेष्ठ निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ॥११८॥

आचारवृत्ति—एक भव में समाधिमरण के लाभ से यह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव में नियम से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए समाधिमरण का अनुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि शरीर के होने पर ही जन्म आदि दुःख होते हैं इसीलिए सुमरण से ही शरीर का त्याग करना चाहिए।

जन्म आदि दुःख क्या हैं? सो बताते हैं—

गाथार्थ—मरण के समान अन्य कोई भय नहीं है और जन्म के समान अन्य कोई दुःख नहीं है अतः जन्म-मरण के कष्ट में निमित्त ऐसे शरीर के ममत्व को छोड़ो ॥११९॥

आचारवृत्ति—इस जीव के लिए मरण के सदृश तो कोई भयकारी नहीं है, और जन्म लेते समय के सदृश अन्य कोई दुःख नहीं है। इसीलिए जन्म तथा मरण के आतंक का छेदन

---

१. यह गाथा इसी ग्रन्थ में क्रमांक ७७ पर आ चुकी है।
२. देखें गाथा ६७

जन्ममरणान्तकं। छिंदि—विदारय। शरीरतश्च ममत्वं छिंधि। शरीरे सति यतः सर्वमेतदिति।

त्रीणि प्रतिक्रमणानि आराधनायामुक्तानि तान्यत्रापि संक्षिप्ते काले सम्भवन्तीत्याह—

> पढमं सव्वदिचारं विदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।
> पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवायमुत्तमट्ठं च ॥१२०॥

क्रमप्रतिपादनार्थं चैतत्। पढमं—प्रथमं। सव्वदिचारं—सर्वातिचारस्य तपःकालमाश्रित्य दोषविधानस्य। विदियं—द्वितीयं। तिविहं—त्रिविधाहारस्य। भवे—भवेत्। पडिक्कमणं—प्रतिक्रमणं। परिहरणं। पाणस्स—पानकस्य। परिच्चयणं—परित्यजनं। यावज्जीवाय—यावज्जीवं। उत्तमट्ठं च—उत्तमार्थं च तन्मोक्षनिमित्तमित्यर्थः। प्रथमं तावत्सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणं, द्वितीयं प्रतिक्रमणं त्रिविधाहारस्य, तृतीयमुत्तमार्थं पानकस्य परित्यजनं यावज्जीवं चेति तस्मिन् काले त्रिविधं प्रतिक्रमणमेव न केवलं किन्तु योगेन्द्रिय-

---

करो और शरीर-ममत्व को भी छोड़ो, क्योंकि शरीर के होने पर ही ये सब जन्म-मरण आदि दुःख हैं।

*आराधना में तीन ही प्रतिक्रमण कहे गये हैं। अकस्मात् होनेवाले मरण के समय सम्भव उन्हीं को यहाँ पर भी संक्षिप्त से कहते हैं—

गाथार्थ—पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है। दूसरा त्रिविध आहारत्याग प्रतिक्रमण है। यावज्जीवन पानक आहार का त्यागना यह उत्तमार्थ नाम का तीसरा प्रतिक्रमण होता है ॥१२०॥

आचारवृत्ति—क्रम को बतलाने के लिए यह गाथा है। दीक्षाकाल का आश्रय लेकर आज तक जो भी दोष हुए हैं उन्हें सर्वातिचार कहा गया है। सल्लेखना ग्रहण करके यह क्षपक पहले सर्वातिचार प्रतिक्रमण करता है। पुनः तीन प्रकार के आहार का त्याग करना द्वितीय प्रतिक्रमण है और अन्त में यावज्जीवन मोक्ष के लिए पानक वस्तु का भी त्याग कर देना सो उत्तमार्थ नामक तृतीय प्रतिक्रमण कहलाता है।

अर्थात् प्रथम सर्वातिचार प्रतिक्रमण, द्वितीय त्रिविधाहार का प्रतिक्रमण और तृतीय

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति में निम्नलिखित गाथा अधिक है—

> सव्वो गुणगणणिलओ मोक्खसुहे सिध हेदु।
> सव्वो चाउव्वण्णो ममावराधं···॥५॥

अर्थ—जब यह आत्मा सर्वगुणों का घर हो जाता है तब यह शीघ्र ही मोक्षसुख का हेतु हो जाता है, उसे रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है। यह चतुर्वर्ण संघ मेरे आज तक हुए अपराधों को क्षमा करे ऐसी प्रार्थना करता है।

नोट—फलटन से प्रकाशित मूलाचार के हिन्दीकार पं० जिनदास फडकुले लिखते हैं : हमें जो हस्तलिखित प्रति मिली है उसमें इस गाथा का 'सव्वो गुणगणणिलओ' इतना ही चरण दिया गया है। परन्तु कन्नड़-टीका में जो और भी गाथा के पद दिये हैं उनको जोड़कर गाथा पूर्ण करने का प्रयत्न यद्यपि किया है तो भी गाथा उसके लक्षण के अनुसार नहीं हुई है।

शरीरकषायाणां च। तत्र त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो योगप्रतिक्रमणं, पंचेन्द्रियाणां च निग्रह इन्द्रियप्रतिक्रमणं, पंचविधस्य च शरीरस्य च त्यागः कृशता वा शरीरप्रतिक्रमणं, षोडशविधकषायस्य नवविधस्य च नोकषायस्य निग्रहः कृशता कषायप्रतिक्रमणं, हस्तपादानां च ॥१२०॥

ननु कषायशरीरसल्लेखना आराधनायां आगमे कथिता, एतेषां पुनर्योगेन्द्रियहस्तपादानां न श्रुता, नैतत्, एतेषां चागमेऽस्तीत्याह—

पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समए ॥१२१॥

पंचानामपि इन्द्रियाणां मुण्डनं खण्डनं स्वविषयव्यापारान्निवर्तनं। वचिमुण्डा—वचनस्याप्रस्तुतप्रलापस्य खण्डनं। हस्तपादमनसां वाऽसंस्तुतसंकोचप्रसारणचिन्तननिवर्तनं ततः शरीरस्य च मुण्डनं एते दश

यावज्जीवन पानक के त्याग रूप उत्तमार्थ प्रतिक्रमण, ये तीन प्रतिक्रमण ही केवल नहीं हैं किन्तु योग, इन्द्रिय, शरीर और कषायों के प्रतिक्रमण भी होते हैं। उनमें से तीन प्रकार के योगों का निग्रह करना योग प्रतिक्रमण है, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना इन्द्रिय प्रतिक्रमण है, पाँच प्रकार के शरीर का त्याग करना अथवा उन्हें कृश करना शरीर प्रतिक्रमण है, सोलह भेद रूप कषायों और नव नोकषायों का निग्रह करना—उन्हें कृश करना यह कषाय प्रतिक्रमण है। हाथ-पैरों का भी प्रतिक्रमण होता है।

भावार्थ—सल्लेखना करने वाले क्षपक के लिए उपर्युक्त तीन प्रतिक्रमण तो हैं ही, किन्तु योग इन्द्रिय आदि का निग्रह करना और हाथ-पैरों को उनकी चेष्टाएँ रोककर स्थिर करना ये सब प्रतिक्रमण ही हैं।

आगम में, आराधना में कषाय सल्लेखना और काय सल्लेखना का वर्णन किया है किन्तु इन योग, इन्द्रिय और हस्त-पाद आदि का प्रतिक्रमण तो मैंने नहीं सुना है, शिष्य के द्वारा ऐसी आशंका उठाने पर आचार्य कहते हैं—ऐसी बात नहीं है। इन योग, इन्द्रिय आदि के प्रतिक्रमण का वर्णन भी आगम में है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—पाँच इन्द्रियमुण्डन, वचनमुण्डन, और शरीरमुण्डन से सहित हस्त, पाद एवं मनोमुण्डन ऐसे दश मुण्डन आगम में कहे गये हैं ॥१२१॥

आचारवृत्ति—पाँचों ही इन्द्रियों का मुण्डन करना—खंडन करना अर्थात् अपने विषयों के व्यापार से उन्हें अलग करना ये पाँच इन्द्रियमुण्डन हैं। अप्रासंगिक प्रलापरूप वचन का खण्डन करना या रोकना वचनमुण्डन है। हस्त और पाद का अप्रशस्त रूप से संकोचन नहीं करना और न फैलाना ये हस्तमुण्डन और पादमुण्डन हैं तथा मन को अप्रशस्त चिन्तन से रोकना यह मनोमुण्डन है। ऐसे ही शरीर का मुण्डन है। मुण्डन के ये दश भेद आगम में कहे गये हैं। इनका व्याख्यान हमने अपनी बुद्धि से नहीं किया है ऐसा समझना। अथवा इन दश मुण्डनों से मुण्डधारी मुण्डित कहलाते हैं, न कि अन्य सदोष प्रवृत्तियों से।

भावार्थ—सिर को मुण्डा लेने या केशलोच कर लेने मात्र से ही कोई मुण्डित नहीं हो

मुण्डाः समये वर्णिता यतोऽतो न स्वमनीषया व्याख्यानमेतदिति। अथवा एतैर्मुण्डैर्मुण्डधारी भवति नान्यैः सावद्यैरिति।

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

जाते हैं जब तक कि इन दश प्रकार के मुण्डन से सहित नहीं हैं ऐसा अभिप्राय है। इसलिए इन्द्रियों का नियन्त्रण और हाथ-पैर तथा शरीर की अप्रशस्त क्रियाओं का रोकना एवं मन में अशुभ परिणामों का नहीं होने देना ये सब संयम शिरोमुण्डन के साथ-साथ ही आवश्यक हैं।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार ग्रन्थ की श्री वसुनन्दि आचार्य कृत 'आचारवृत्ति' नामक टीका में तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

४. सामाचाराधिकारः

एवं संक्षेपस्वरूपं प्रत्याख्यानमासन्नतममृत्योर्व्याख्याय यस्य पुनः सत्यायुषि निरतिचारं मूलगुणा निर्वहंति तस्य कथं प्रवृत्तिरिति पृष्टे तदर्थं चतुर्थमधिकारं सामाचाराख्यं नमस्कारपूर्वकमाह—

तेलोक्कपूयणीए अरहंते वंदिऊण तिविहेण।
वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीयं ॥१२२॥

तेलोक्कपूयणीए—त्रयाणां लोकानां भवनवासिमनुष्यदेवानां पूजनीया वन्दनीयास्त्रिलोकपूजनीयास्तान् त्रिकालग्रहणार्थमनीयेन निर्देशः। **अरहंते**—अर्हतः घातिचतुष्टयजेतॄन्। **वंदिऊण**—वन्दित्वा। **तिविहेण**—त्रिविधेन मनोवचनकायैः। **वोच्छं**—वक्ष्ये। **सामाचारं**—मूलगुणानुरूपमाचारं। **समासदो**—समासतः संक्षेपेण 'कायाः' तस्। **आणुपुव्वीयं**—आनुपूर्व्या अनुक्रमेण। त्रिविधं व्याख्यानं भवति पूर्वानुपूर्व्या, पश्चादानुपूर्व्या यत्र तत्रानुपूर्व्या च। तत्र पूर्वानुपूर्व्या ख्यापनार्थमानुपूर्वीग्रहणं क्षणिकनित्यपक्षनिराकरणार्थं च। सत्वान्तेन

जिनकी मृत्यु अति निकट है ऐसे साधु के लिए संक्षेपस्वरूप प्रत्याख्यान का व्याख्यान करके अब जिनकी आयु अधिक अवशेष है, जो निरतिचार मूलगुणों का निर्वाह करते हैं, उनकी प्रवृत्ति कैसी होती है? पुनः ऐसा प्रश्न करने पर उस प्रवृत्ति को बताने के लिए श्री वट्टकेर आचार्य सामाचार नाम के चतुर्थ अधिकार को नमस्कारपूर्वक कहते हैं—

गाथार्थ—तीन लोक में पूज्य अर्हन्त भगवान् को मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार करके अनुक्रम से संक्षेपरूप में सामाचार को कहूँगा ॥१२२॥

आचारवृत्ति—अधोलोक सम्बन्धी भवनवासी देव, मध्यलोक सम्बन्धी मनुष्य और ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी देव इन तीनों लोक सम्बन्धी जीवों से पूजनीय—वन्दनीय भगवान् त्रिलोक-पूजनीय कहे गये हैं। यहाँ पर त्रिकाल को ग्रहण करने के लिए अनीय प्रत्यान्त पद लिया है अर्थात् पूज् धातु में अनीय प्रत्यय लगाकर प्रयोग किया है। घाती चतुष्टय के जीतने वाले अर्हन्त देव हैं ऐसे त्रिलोकपूज्य अर्हन्त देव को मन-वचन-काय से नमस्कार करके मैं मूलगुणों के अनुरूप आचार रूप सामाचार को अनुक्रम से संक्षेप में कहूँगा। आनुपूर्वी अर्थात् अनुक्रम को तीन प्रकार से माना गया है—पूर्वानुपूर्वी, पश्चात् आनुपूर्वी और यत्रतत्रानुपूर्वी। अर्थात् जैसे चौबीस तीर्थंकरों में वृषभ आदि से नाम ग्रहण करना पूर्वानुपूर्वी है। वर्धमान, पार्श्वनाथ से नाम लेना पश्चात् आनुपूर्वी है और अभिनन्दन चन्द्रप्रभु आदि किसी का भी नाम लेकर कहीं से भी कहना यत्रतत्रानुपूर्वी है। यहाँ पर मूलाचार ग्रन्थ में पूर्वानुपूर्वी का प्रयोग है अर्थात् पहले मूलगुणों को बताकर पुनः प्रत्याख्यान संस्तर अधिकार के अनन्तर क्रम से अब सामाचार

नमस्कारकरणपूर्वकं प्रतिज्ञाकरणं। अर्हतस्त्रिलोकपूजनीयांस्त्रिविधेन वन्दित्वा समासादानुपूर्व्या सामाचारं वक्ष्ये इति।

सामाचारशब्दस्य निरुक्त्यर्थं संग्रहगाथासूत्रमाह—

समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो ॥१२३॥

चतुर्भिरर्थैः सामाचारशब्दो व्युत्पाद्यते, तद्यथा—समदासामाचारो—समस्य भावः समता रागद्वेषाभावः स समाचारः अथवा त्रिकालदेववन्दना पंचनमस्कारपरिणामो वा समता, सामायिकव्रतं वा। सम्माचारो—सम्यक् शोभनं निरतिचारं, मूलगुणानुष्ठानमाचरणं समाचारः सम्यगाचारः अथवा सम्यगाचरणमवबोधो निर्दोषभिक्षाग्रहणं वा समाचारः, चरेर्भक्षणगत्यर्थत्वात्। समो व आचारो—समो वा आचारः पंचाचारः।

को बतलाते हैं, अथवा पूर्वाचार्य की परम्परा के अनुसार कथन करने को भी पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

तथा क्षणिक पक्ष और नित्य पक्ष का निराकण करने के लिए ही पूर्वानुपूर्वी का कथन है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक में पूर्वाचार्य परम्परा से कथन और सर्वथा नित्य पक्ष में भी पूर्वाचार्य परम्परा का कथन असम्भव है। अतः इन दोनों एकान्तों का निराकण करके अनेकान्त को स्थापित करने के लिए आचार्य ने आनुपूर्वी शब्द का प्रयोग किया है।

'वंदित्वा' इस पद में क्त्वा प्रत्यय होने से यह अर्थ होता है कि मैं नमस्कार करके अपने प्रतिपाद्य विषय की प्रतिज्ञा करता हूँ अर्थात् नमस्कार करके सामाचार को कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा आचार्य ने की है। तात्पर्य यह कि मैं त्रिभुवन से पूजनीय त्रिकालवर्ती समस्त अर्हन्तों को नमस्कार करके संक्षेप से गुरु परम्परा के अनुसार सामाचार को कहूँगा।

अब सामाचार शब्द के निरुक्ति अर्थ का संग्रह करनेवाला गाथासूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—समता सामाचार सम्यक् आचार अथवा सम आचार या सभी का समान आचार ये सामाचार शब्द के अर्थ हैं ॥१२३॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर चार प्रकार के अर्थों से सामाचार शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं।

१. समता समाचार—सम का भाव समता है—रागद्वेष का अभाव होना समता समाचार है। अथवा त्रिकाल देव वन्दना करना या पंच नमस्कार रूप परिणाम होना समता है, अथवा सामायिक व्रत को समता कहते हैं। ये सब समता समाचार हैं।

२. सम्यक् आचार—सम्यक् शोभन निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान अर्थात् आचरण आचार। अर्थात् निरतिचार मूलगुणों को पालना यह सम्यक् आचार रूप समाचार है। अथवा सम्यक् आचरण—ज्ञान अथवा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना यह समाचार है। अर्थात् चर् धातु भक्षण करना और गमन करना इन दो अर्थ में मानी गयी है और गमन अर्थवाली सभी धातुएँ ज्ञान अर्थवाली भी होती हैं इस नियम से चर् धातु का एक बार ज्ञान अर्थ करना तब समीचीन जानना अर्थ विवक्षित हुआ। और एक बार भक्षण अर्थ करने पर निर्दोष आहार

सव्वेंसि—सर्वेषां प्रमत्ताप्रमत्तादीनां सर्वेषां यतीनामाचारः। समो प्राणिवधादिभिर्यत्नोऽतः समाचारः। अथवा सम उपसमः क्रोधाद्यभावस्तेन परिणामेनाचरणं समाचारः। समशब्देन दशलाक्षणिकधर्मो गृह्यते स समाचारः। अथवा भिक्षाग्रहणदेववन्दनादिभिः सह योगः समाचारः। **सम्माणं**—सह मानेन परिणामेन वर्तते इति समानं सहस्य सः, समानं वा मानं, समानस्य सभावः। अथवा सर्वेषां समानः पूज्योऽभिप्रेतो वा आचारो यः स समाचारः। अथवा समदा सम्यक्त्वं, सम्माचारो—चारित्रं, समाणं—ज्ञानं, समो वा आचारो—तपः। एतेषां सर्वेषां योऽयं समाचारः ऐक्यं स समाचारः, आचारो वा समाचारः। यस्तु समाचारः स आचार एवेत्यविनाभावः। अथवा पञ्चभिरर्थैर्निर्देशः समदा समरसीभावः समयाचारो—स्वसमयव्यवस्थयाचारः, सम्माचारो—

लेना अर्थ हुआ इसलिए समीचीन ज्ञान और निर्दोष आहार ग्रहण को भी सम्यक् आचार रूप समाचार कहा है।

३. **सम आचार**—पाँच (महाव्रत) आचारों को सम आचार कहा है जो कि प्रमत्त, अप्रमत्त आदि सभी मुनियों का आचार समान रूप होने से सम-आचार है। क्योंकि ये सभी मुनि प्राणिवध आदि के त्याग करने रूप व्रतों से समान हैं इसीलिए उनका आचार सम-आचार है। अथवा सम—उपशम अर्थात् क्रोधादि कषायों के अभावरूप परिणाम से सहित जो आचरण है वह समाचार है। अथवा सम शब्द से दशलक्षण धर्म को भी ग्रहण किया जाता है अतः इन क्षमादि धर्मों सहित जो आचार है वह समाचार है। अथवा आहार ग्रहण और देववन्दना आदि क्रियाओं में सभी साधुओं को सह अर्थात् साथ ही मिलकर आचरण करना समाचार है।

४. **समान आचार**—मान (परिणाम) के सह (साथ) जो रहता है वह समान है। यहाँ सह को स आदेश व्याकरण के नियम से सह मानं समान बना है। अथवा समान मान को समान कहते हैं यहाँ पर भी समान शब्द को व्याकरण से 'स' हो गया है अर्थात् समान आचार समाचार है। अथवा सभी का समान रूप से पूज्य या इष्ट जो आचार है वह समाचार है।

ये चार अर्थ समाचार के अलग-अलग निरुक्ति करके किये गये हैं अर्थात् प्रथम तो समता आचार से समाचार का अर्थ कई प्रकार से किया है, पुनः दूसरी व्युत्पत्ति में सम्यक् आचार से समाचार शब्द बनाकर उसके भी कई अर्थ विवक्षित किये हैं। तीसरी बार सम आचार से समाचार को सिद्ध करके कई अर्थ बताये हैं, पुनः समान आचार से समाचार शब्द बनाकर कई अर्थ दिखाये हैं।

अब पुनः सभी का समन्वय कर निरुक्ति पूर्वक अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं—यथा, समता—सम्यक्त्व, सम्यक् आचार—चारित्र, समान—ज्ञान (मान का अर्थ प्रमाण—ज्ञान होता है) और सम-आचार—तप, इन सभी का (चारों का) जो समाचार अर्थात् ऐक्य है वह समाचार है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों की एकता का नाम समाचार है। अथवा आचार अर्थात् मुनियों के आचार—प्रवृत्ति को समाचार कहते हैं क्योंकि जो भी साधुओं का समाचार है वह आचार ही है अर्थात् आचार और समाचार में अविनाभावी सम्बन्ध है—एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो भी साधुओं का आचार है वह सब समाचार ही है।

अथवा पाँच अर्थों से समाचार का निर्देश करते हैं—समता समरसी भाव, समयाचार—

सम्यगाचारः, समो वा सहाचरणं। सः सव्वेसु—सर्वेसु क्षेत्रेषु समाणं—समाचारः। संक्षेपार्थ [1]समताचारः सम्यगाचारः, समो य आचारो वा सर्वेषां स समाचारो हानिवृद्धिरहितः, कायोत्सर्गादिभिः समानं मानं यस्याचारस्य स वा समाचार इति ॥१२३॥

अस्यैव समाचारस्य लक्षणभेदप्रतिपादनार्थमाह—

दुविहो सामाचारो ओघोविय पदविभागिओ चेव ।
दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागीय ॥१२४॥

दुविहो—द्विविधः द्विप्रकारः। सामाचारो—सामाचारः सम्यगाचार एव समाचारः प्राकृतबलात्

स्वसमय अर्थात् जैन आगम की व्यवस्था के अनुरूप आचार, सम्यक् आचार—समीचीन आचार, सम-आचार—सभी साधुओं का साथ-साथ आचरण या क्रियाओं का करना, सभी में—सभी क्षेत्रों में समान—समाचार होना। अर्थात् गाथा से देखिए : समरसी भाव का होना (समदा), स्वसमय की व्यवस्था से आचरण करना (समयाचारो), समीचीन आचार होना (सम्माचारो), साथ आचरण करना (समोवा), सभी क्षेत्रों में समाचार—समान आचरण करना (सव्वेसु समाणं) ये पाँच अर्थ किये गये हैं। इसीको संक्षेप से समझने के लिए कहते हैं कि समताचार—समरसी भाव का होना, सम्यक् आचार—समीचीन आचार का होना, सम-आचार—सभी साधुओं का हानि-वृद्धिरहित समान आचरण होना, समान आचार—कायोत्सर्ग आदि से समान प्रमाण रूप है आचार जिसका वह भी, समाचार हैं।

भावार्थ—यहाँ पर मूल गाथा में समाचार शब्द के चार अर्थ प्रकट किये हैं। टीकाकार ने इन्हीं चार अर्थों को विशेष रूप से प्रस्फुट किया है। पुनः एक बार चारों अर्थसूचक शब्दों से चार आराधनाओं को लेकर उनकी एकता को समाचार कहा है और अनन्तर गाथा के 'समाचार' पद को भी लेकर पूर्वोक्त चार पदों के साथ मिलाकर समाचार के पाँच अर्थ भी किये हैं। इसके भी तात्पर्य को सक्षेप से स्पष्ट करते हुए उन्हीं चार अर्थों को थोड़े शब्दों में कहा है। सबका अभिप्राय यही है कि मुनियों की जो भी प्रवृत्तियाँ हैं वे सम्यक्पूर्वक होती हैं, आगम के अनुसार होती हैं, रागद्वेष के अभावरूप समता परिणाममय होती हैं और वे मुनि हमेशा संघ के गुरुओं के सान्निध्य में देववन्दना कायोत्सर्ग आदि को साथ-साथ करते हैं। तथा कायोत्सर्ग आदि में सभी के लिए उच्छ्वास आदि का प्रमाण भी समान ही बतलाया गया है जैसे दैवसिक प्रतिक्रमण में १०८ उच्छ्वास, रात्रिक में ५४ इत्यादि। अहोरात्र सम्बन्धी कायोत्सर्ग भी सभी के लिए २८ कहे गये हैं जिनका वर्णन आगे आवश्यक अधिकार में आयेगा। ये सभी क्रियाएँ जो साथ-साथ और समान रूप से की जाती हैं वह सब समाचार ही हैं।

अब इसी समाचार के लक्षण भेद बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—औघिक और पदविभागिक के भेद से समाचार दो प्रकार का है। औघिक समाचार दश प्रकार का है और पदविभागी समाचार अनेक प्रकार का कहा गया है ॥१२४॥

आचारवृत्ति—सम्यक् आचार ही सामाचार है। यहाँ प्राकृत व्याकरण के निमित्त से

---

१. क समता समाचारः।

दीर्घत्वमादेः। ओघोवि य—औघिकः सामान्यरूपः। पदविभागीओ—पदानां अर्थप्रतिपादकानां विभागो भेदः स विद्यते यस्यासौ पदविभागिकश्च। एवकारोऽवधारणार्थः। स सामाचारः औघिक-पदविभागिकाभ्यां द्विविध एव।

तयोर्भेदप्रतिपादनार्थमाह—दसहा—दशधा दशप्रकारः। ओघो—औघिकः। भणिओ—भणितः। अणेयधा—अनेकधाऽनेकप्रकारः। पदविभागी य—पदविभागी च। य औघिकः स दशप्रकारोऽनेकधा च पदविभागी ॥१२४॥

आद्यस्य ये दशप्रकारास्ते केऽतः प्राह—

इच्छा-मिच्छाकारो तधाकारो व आसिआ णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदणसणिमंतणा य उवसंपा ॥१२५॥

इच्छामिच्छाकारो—इच्छामभ्युपगमं करोतीति इच्छाकार आदरः, मिथ्या व्यलीकं करोतीति मिथ्याकारो विपरिणामस्य त्यागः, एकस्य कारशब्दस्य निवृत्तिः, समासान्तस्य वा[1] कृदुत्पत्तिः। तधाकारो य—तथाकारश्च सदर्थे प्रतिपादिते एवमेव वचनं। आसिया—आसिका आपृच्छ्य गमनं। णिसिही—निषेधिका परिपृच्छ्य प्रवेशनं। आपुच्छा—आपृच्छा स्वकार्यं प्रति गुर्वाद्यभिप्रायग्रहणं। पडिपुच्छा—प्रतिपृच्छा निषिद्धस्य अनिषिद्धस्य वा वस्तुनस्तद्ग्रहणं प्रति पुनः प्रश्नः। छंदण—छन्दनं छन्दानुवर्तित्वं यस्य गृहीतं किंचिदुपकरणं

दीर्घ हो गया है। अर्थात् समाचार को ही प्राकृत में सामाचार कहा है। सामान्य रूप समाचार औघिक है और अर्थप्रतिपादक पदों का विभाग-भेद, वह जिसमें पाया जाय वह पदविभागी समाचार है। गाथा में एवकार शब्द निश्चय के लिए है। अर्थात् वह समाचार औघिक—संक्षेप और पदविभागिक—विस्तार के भेद से दो प्रकार का ही है।

अब इन दोनों के भेद को बताते हैं—औघिक के दश भेद हैं तथा पदविभागी के अनेक भेद हैं।

औघिक समाचार के दश भेद कौन हैं? उन्हीं को बताते हैं—

गाथार्थ—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमन्त्रणा और उपसंपत् ये दश भेद औघिक समाचार के हैं ॥१२५॥

आचारवृत्ति—इच्छा—इष्ट या स्वीकृत को करना इच्छाकार है अर्थात् आदर करना। मिथ्या—असत्य करना मिथ्याकार है अर्थात् अशुभ-परिणाम का त्याग करना। यहाँ 'इच्छा-मिथ्याकारो' पद में प्रथम इच्छा शब्द के कार शब्द का व्याकरण के नियम से लोप हो गया है अथवा इच्छा और मिथ्या इन दो पद का समास करके पुनः कृदन्त के प्रत्यय का प्रयोग हुआ है यथा—'इच्छा च मिथ्या च इच्छामिथ्ये, इच्छामिथ्ये करोतीति इच्छामिथ्याकारः' ऐसा व्याकरण से सिद्ध हुआ पद है। सत् अर्थात् प्रशस्त अर्थ के प्रतिपादित किये जाने पर 'ऐसा ही है' इस प्रकार वचन बोलना तथाकार है। पूछकर गमन करना आसिका है और पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है। अपने कार्य के प्रति गुरु आदि का अभिप्राय लेना या पूछना आपृच्छा है। निषिद्ध

---

1. क वा सह।

तदभिप्रायानुवर्तनं। **सणिमंतणा य**—सनिमंत्रणा च सत्कृत्य याचनं च। उपसंपा—उपसम्पत् आत्मनो निवेदनं। नायं पृच्छाशब्दोऽपशब्दः[1]। उत्सर्गापवादसमावेशात्। एतासामिच्छाकारमिथ्याकार-तथाकारासिका-निषेधिकापृच्छा-प्रतिपृच्छा-छन्दन-सनिमंत्रणोपसम्पदां को विषय इत्यत आह—गाथात्रयेण सम्बन्धः ॥१२५॥

इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो तहेव अवराहे।
पडिसुणणह्मि तहत्तिय णिग्गमणे आसिया भणिया ॥१२६॥
पविसंते य णिसीही आपुच्छणियासकज्ज आरंभे।
[2]साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठह्मि पडिपुच्छा ॥१२७॥
छंदणगहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमंतणा भणिदा।
तुह्ममहंतिगुरुकुले आदणिसग्गो दु उवसंपा ॥१२८॥

इट्ठे—इष्टे सम्यग्दर्शनादिके शुभपरिणामे वा। **इच्छाकारो**—इच्छाकारोऽभ्युपगमो हर्षः स्वेच्छया

अथवा अनिषिद्ध जो वस्तु हैं उनको ग्रहण करने के लिए पुनः पूछना प्रतिपृच्छा है। अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन है अर्थात् जिसका जो कुछ भी उपकरण आदि लिया है उसमें उसके अभिप्राय के अनुकूल प्रवर्तन—उपयोग करना छन्दन है। सत्कार करके याचना करना अर्थात् गुरु को आदरपूर्वक नमस्कार आदि करके उनसे किसी वस्तु या आज्ञा को माँगना सनिमन्त्रणा है और अपना निवेदन करना अर्थात् अपने को 'आपका ही हूँ' ऐसा कहना यह उपसंपत् है। यहाँ पर पृच्छा शब्द अपशब्द नहीं है क्योंकि उत्सर्ग और अपवाद में उसका समावेश है।

भावार्थ—इन दशों का अतिसंक्षिप्त अर्थ यहाँ टीकाकार ने लिया है। आगे स्वयं ग्रन्थकार पहले नाम के अनुरूप अर्थ को बतलाते हुए तीन गाथाओं द्वारा इनका विषय बतलायेंगे, पुन. पृथक्-पृथक् गाथाओं द्वारा इन दसों का विवेचन करेंगे।

इन इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, संनिमन्त्रणा और उपसंपत् का विषय क्या है अर्थात् ये किस-किस विषय अथवा प्रसंग में किये जाते हैं ? इस प्रकार प्रश्न होने पर आगे तीन गाथाओं से कहते हैं—

गाथार्थ—इष्ट विषय में इच्छाकार, उसी प्रकार अपराध में मिथ्याकार, प्रतिपादित के विषय में तथा 'ऐसा ही है' ऐसा कथन तथाकार और निकलने में आसिका का कथन किया गया है। प्रवेश करने में निषेधिका तथा अपने कार्य के आरम्भ में आपृच्छा करनी होती है। सहधर्मी साधु और गुरु से पूर्व में ली गई वस्तु को पुनः ग्रहण करने में प्रतिपृच्छा होती है ॥१२६-१२७॥

ग्रहण हुई वस्तु में उसकी अनुकूलता रखना छन्दन है। अगृहीत द्रव्य के विषय में याचना करना निमन्त्रणा है और गुरु के संघ में 'मैं आपका हूँ' ऐसा आत्मसमर्पण करना उपसंपत् कहा गया है ॥१२८॥

आचारवृत्ति—इष्ट अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय में अथवा शुभ परिणाम में

---

1. क 'ऽब्दो उपशब्द उपसर्ग वत्' । 2. क साहम्मि' ।

प्रवर्तनं। मिच्छाकारो—मिथ्याकारः कायमनसा निवर्तनं। तहेव—तथैव। क्व, अवराहे—अपराधेऽशुभ-परिणामे व्रताद्यतिचारे। पडिसुणणंहि—प्रतिश्रवणे सूत्रार्थग्रहणे, तहत्ति य—तथेति च यथैव भवद्भिः प्रति-पादितं तथैव नान्यथेत्येवमनुरागः। णिग्गमणे—निर्गमने गमनकाले। आसिआ—आसिका देवगृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यानं[1] पापक्रियादिभ्यो मनो निवर्तनं वा। भणिया—भणिताः कथिताः। पविसंते य—प्रविशति च प्रवेशकाले। णिसिही—निषेधिका तत्रस्थानभ्युपगम्य[2] स्थानकरणं सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा। आपुच्छणिया य—आपृच्छनीयं च गुर्वादीनां वन्दनापूर्वकं प्रश्नकरणं। सकज्जआरंभे—स्वस्यात्मनः कार्यं प्रयोजनं तस्यारम्भ आदिक्रिया स्वकार्यारम्भस्तस्मिन् पठनगमनयोगादिके। [3]साधम्मिणा य—समानो धर्मोऽनुष्ठानं गुर्वा यस्यासौ सधर्मा तेन सधर्मणा च। गुरुणा—दीक्षाशिक्षोपदेशकर्त्रा तपोऽधिकज्ञानाधिकेन वा, पुव्वणिसिट्ठिम्हि—पूर्वस्मिन्निसृष्टं प्रतिदत्तं समर्पितं यद्वस्तूपकरणादिकं तस्मिन् पूर्वनिसृष्टे वस्तुनि पुनर्ग्रहणा-

---

इच्छाकार होता है। अर्थात् इनको स्वीकार करना इनमें हर्षभाव होना, इनमें स्वेच्छा से प्रवृत्ति करना ही इच्छाकार है।

अपराध अर्थात् अशुभ परिणाम अथवा व्रतादि में अतिचार होने पर मिथ्याकार होता है। अर्थात् मन-वचन-काय से इन अपराधों से दूर होना मिथ्याकार है।

प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु के द्वारा सूत्र और अर्थ प्रतिपादन होने पर उसे सुनकर 'आपने जैसा प्रतिपादित किया है वैसा ही है, अन्यथा नहीं' ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है।

वसतिका आदि से निकलते समय देवता या गृहस्थ आदि से पूछकर निकलना अथवा पाप क्रियाओं से मन को हटाना आसिका है।

वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित देव या गृहस्थ आदि की स्वीकृति लेकर अर्थात् निसही शब्द उच्चारण करके पूछकर वहाँ प्रवेश करना और ठहरना अथवा सम्यग्दर्शन आदि में स्थिर भाव रखना निषेधिका है।

अपने कार्य—प्रयोजन के आरम्भ में अर्थात् पठन, गमन या योगग्रहण आदि कार्यों के प्रारम्भ में गुरु आदि की वन्दना—करके उनसे पूछना आपृच्छा है।

समान है धर्म अनुष्ठान जिनका वे सधर्मा हैं तथा गुरु शब्द से दीक्षागुरु, शिक्षागुरु, उपदेशदाता गुरु अथवा तपश्चरण में या ज्ञान में अधिक जो गुरु हैं—इन सधर्मा या गुरुओं से कोई उपकरण आदि पहले लिये थे पुनः उन्हें वापस दे दिये, यदि पुनरपि उनको ग्रहण का अभि-प्राय हो तो पुनः पूछकर लेना प्रतिपृच्छा है।

जिनकी कोई पुस्तक आदि वस्तुएँ ली हैं उनके अनुकूल ही उनकी वस्तुओं का सेवन उपयोग करना छन्दन है।

अगृहीत—अन्य किसी की पुस्तक आदि वस्तुओं के विषय में आवश्यकता होने पर गुरुओं से सत्कार पूर्वक याचना करना या ग्रहण कर लेने पर विनयपूर्वक उनसे निवेदन करना निमन्त्रणा है।

गुरुकुल अर्थात् गुरुओं के आम्नाय—संघ में, गुरुओं के विशाल पादमूल में 'मैं आपका

---

१. गमनम्। २. अविरोधमित्या। ३ क साहम्मिणा।

भिप्राये। पडिपुच्छा—प्रतिपृच्छा पुनः प्रश्नः। छंदणं—छंदनं छंदो वा तदभिप्रायेण सेवनं, गहिदे—गृहीते द्रव्ये पुस्तकादिके। अगहिदवव्वे—अगृहीतद्रव्ये अन्यदीयपुस्तकादिवस्तुनि स्वप्रयोजने जाते। णिमंतणा—निमंत्रणा सत्कारपूर्वकं याचनं गृहीतस्य विनयेन निवेदनं वा। भणिवा—भणिता। तुम्हं—युष्माकं। अहंति—अहमिति। गुरुकुले—आम्नाये त्वद्वृहत्पादमूले। आदणिसग्गो—आत्मनो निसर्गस्त्यागः तदानुकूल्याचरणं। तु—अत्यर्थवाचकः। उवसम्पा—उपसम्पत् ॥१२६-१२८॥

एवं दशप्रकारौघिकसामाचारस्य संक्षेपार्थं पदविभागिनश्च विभागार्थमाह—

> **ओघियसामाचारो एसो भणिदो हु दसविहो णेओ।**
> **एत्तो य पदविभागी समासदो वण्णइस्सामि ॥१२९॥**

एष—औघिकः सामाचारो दशप्रकारोऽपि। भणितः—कथितः। समासतः—संक्षेपतो ज्ञातव्यो अनुष्ठेयो वा। एत्तो य—इतश्चोर्ध्वं। पदविभागिनं समाचारं। समासदो—समासतः। वण्णइस्सामि—वर्णयिष्यामि। यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादिति ॥१२९॥

> **उग्गमसूरप्पहुदी समणाहोरत्तमंडले कसिणे।**
> **जं आचरंति सददं एसो भणिदो पदविभागी ॥१३०॥**

उग्गमसूरप्पहुदी—उद्गच्छतीत्युद्गमः सूर आदित्यो यस्मिन् काले स उद्गमसूर उदयादित्यकालः, अथवा सूरस्योद्गमः उद्गमसूरः उद्गमस्य पूर्वनिपातः स प्रभृतिरादिर्यस्यासौ उद्गमसूरप्रभृतिस्तस्मिन्नु-

---

हूँ, इस प्रकार से आत्म का त्याग करना—आत्म समर्पण कर देना, उनके अनुकूल ही सारी प्रवृत्ति करना यह उपसंपत् है। गाथा में 'तु' शब्द अत्यर्थ का वाचक है अर्थात् अतिशय रूप से गुरु को अपना जीवन समर्पित कर देना। इस प्रकार से ये दश औघिक समाचार कहे गए हैं।

इस प्रकार से दशभेद रूप औघिक समाचार को संक्षेप से बताकर अब पदविभागिक के विभाग अर्थ को कहते हैं—

गाथार्थ—यह कहा गया दश प्रकार का औघिक समाचार जानना चाहिए। अब इसके बाद संक्षेप से पदविभागी समाचार कहूँगा ॥१२९॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार का संक्षेप से कहा गया यह औघिक समाचार जानना चाहिए अथवा इनका अनुष्ठान करना चाहिए। इसके अनन्तर पदविभागी समाचार को कहूँगा। क्योंकि जैसा उद्देश होता है वैसा ही निर्देश होता है ऐसा न्याय है अर्थात् नाम कथन को उद्देश कहते हैं और उसके लक्षण आदि रूप से वर्णन करने को निर्देश कहते हैं; सो गाथा में पहले औघिक फिर पदविभागी को कहा है। इसीलिए औघिक को कहकर अब पदविभागी को कहते हैं।

गाथार्थ—श्रमणगण सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र निरन्तर जो आचरण करते हैं ऐसा यह पदविभागी समाचार है ॥१३०॥

आचारवृत्ति—उदय को प्राप्त होना उद्गम है। जिस काल में सूर्य का उदय होता है उसे उद्गमसूर अर्थात् सूर्योदय काल कहते हैं। अथवा सूर्य का उद्गम होना उद्गमसूर शब्द

दयन्सूर्यादौ। **समणा**—श्राम्यंति तपस्यंतीति श्रमणा मुनयः। **अहोरत्तमंडले**—अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रस्तस्य मण्डलं सन्ततिरहोरात्रमंडलं तस्मिन् दिवसरात्रिमध्यक्षणसमुदये। **कसिणे**—कृत्स्ने निरवशेषे। **जं आचरंति**—यदाचरन्ति यन्नियमादिकं निर्वर्तयन्ति। **सददं**—सततं निरंतरं। **एसो**—एष प्रत्यक्षवचनमेतत्। **भणिओ**—भणितोऽर्हद्भट्टारकैः कथितः आप्तकर्तृत्वप्रतिपादनमेतत्। **पदविभागी**—पदस्यानुष्ठानं। उद्गमसूरप्रभृती कृत्स्नेऽहोरात्रमण्डले यदाचरन्ति श्रमणाः सततं स एष पदविभागीति कथितः। उत्तरपदापेक्षया पुल्लिंगतेति न दोषो लिंगव्यत्ययः ॥१३०॥

इष्टे वस्तुनीच्छाकारः कर्तव्य इत्युक्तं पुरस्तात् तत्किमित्याह—

संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे।
जोगग्गहणादीसु य इच्छाकारो दु कादव्वो ॥१३१॥

संजमणाणुवकरणे—संयम इन्द्रियनिरोधः प्राणिदया च ज्ञानं ज्ञानावरणक्षयोपशमोत्पन्नवस्तुपरिच्छेदात्मकप्रत्ययः श्रुतज्ञानं वा तयोरुपकरणं पिच्छिकापुस्तकादि तस्मिन् संयमज्ञानोपकरणहेतौ विषये वा। **अण्णुवकरणे च**—अन्यस्य तपःप्रभृतेरुपकरणं कुंडिकाहारादिकं तस्मिंश्च तद्विषये च। **जायणे**—याचने भिक्षणे।

का अर्थ है। इस पद में उद्गम शब्द का पूर्व में निपात हो गया है (यह व्याकरण का विषय है)। उस उद्गम सूर्य को आदि में लेकर अर्थात् सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र के क्षणों में श्रमणगण—मुनिगण निरन्तर जिन नियम आदि का आचरण करते हैं सो यह प्रत्यक्ष में पदविभागी समाचार है ऐसा अर्हंत भट्टारक ने कहा है। इससे यह समाचार आप्त के द्वारा कथित है ऐसा निश्चय हो जाता है। यहाँ पद के अनुष्ठान का नाम पदविभागी है। श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य ने यहाँ बतलाया है कि जो श्रम करते हैं अर्थात् तपश्चरण करते हैं (श्राम्यन्ति तपस्यन्ति) वे श्रमण हैं अर्थात् मुनिगण ही श्रमण या तपोधन कहलाते हैं। यहाँ पदविभागी शब्द में उत्तरपद की अपेक्षा पुल्लिंग विभक्ति का निर्देश है इसलिए लिंग विपर्यय नाम का दोष व्याकरण से नहीं होता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रातःकाल से लेकर वापस सूर्योदय होने तक साधुगण निरन्तर जिन नियम आदि का पालन करते हैं वह सब पदविभागी समाचार कहलाता है।

विशेषार्थ—श्री वीरनन्दि आचार्य ने आचारसार में इन दोनों के नाम संक्षेप समाचार और विस्तार समाचार ऐसे भी कहे हैं।

इष्ट वस्तु में इच्छाकार करना चाहिए ऐसा आपने पहले कहा है। वह इष्ट क्या है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—संयम का उपकरण, ज्ञान का उपकरण, और भी अन्य उपकरण के लिए तथा किसी वस्तु के मांगने में एवं योग-ध्यान आदि के करने में इच्छाकार करना चाहिए ॥१३१॥

आचारवृत्ति—पाँच इन्द्रिय और मन का निरोध तथा प्राणियों पर दयाभाव—इसका नाम संयम है। संयम का उपकरण पिच्छिका है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ जो वस्तु को जानने वाला ज्ञान है अथवा जो श्रुतज्ञान है उसे ज्ञान शब्द से कहा है।

अण्णे—अन्यस्मिन् परविषये औषधादिके परनिमित्ते वा। अथवा[1] च द्रष्टव्यः। एतेषां याचने परनिमित्तमात्मनिमित्तं वा इच्छाकारः कर्तव्यः मनः प्रवर्तयितव्यं, न केवलमत्र किन्तु, जोगग्गहणादिसु य—योगग्रहणादिषु च आतापनवृक्षमूलाभ्रावकाशादिषु च किं बहुना शुभानुष्ठाने सर्वत्र परिणामः कर्तव्य इति ॥१३१॥

अथ कस्यापराधे मिथ्याकारः स इत्याह—

> जं दुक्कडं तु मिच्छा तं णेच्छदि दुक्कडं पुणो कादुं।
> भावेण य पडिकंतो तस्स भवे दुक्कडे मिच्छा ॥१३२॥

यद्दुष्कृतं यत्पापं मया कृतं तद्दुष्कृतं मिथ्या मम भवतु, अहं पुनस्तस्य कर्ता न भवामीत्यर्थः। एवं यन्मिथ्यादुष्कृतं कृतं तु तद्दुष्कृतं पुनः कर्तुं नेच्छेत् न कुर्यात्। भावेन च प्रतिक्रान्तो यो न केवलं वचसा किन्तु मनसा कायेन च वर्तमानातीतभविष्यत्काले तस्यापराधस्य यो न कर्ता तस्य दुष्कृते मिथ्याकार इति।

अथ किं तत्प्रतिश्रवणं यस्मिन् तथाकार इत्यत आह—

इस ज्ञान के उपकरण पुस्तक आदि हैं। अन्य शब्द से तप आदि को लिया है। इन तप आदि के उपकरण कमण्डलु और आहार आदि हैं। इनके लिए याचना करने में या इन के विषयों में इच्छाकार करना चाहिए। तथा अन्य और जो पर विषय अर्थात् औषधि आदि हैं उनके लिए या अन्य साधु-शिष्य आदि के भी उपर्युक्त वस्तुओं में इच्छाकार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इन पिच्छी, पुस्तक आदि को पर के लिए या अपने लिए याचना करने में इच्छाकार करना चाहिए अर्थात् मन को प्रवृत्त करना चाहिए। केवल इनमें ही नहीं, आतापन वृक्षमूल अभ्रावकाश आदि योगों के करने में भी इच्छाकार करना चाहिए। अधिक कहने से क्या, सर्वत्र शुभ अनुष्ठान में परिणाम करना चाहिए।

किस अपराध में मिथ्याकार होता है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो दुष्कृत अर्थात् पाप हुआ है वह मिथ्या होवे, पुनः उस दोष को करना नहीं चाहता है और भाव से प्रतिक्रमण कर चुका है उसके दुष्कृत के होने पर मिथ्याकार होता है ॥१३२॥

आचारवृत्ति—जो पाप मैंने किये हैं वे मिथ्या होवें, पुनः मैं उनका करने वाला नहीं होऊँगा। इस प्रकार से जिस दुष्कृत को मिथ्या किया है, दूर किया है उसको पुनः करने की इच्छा न करे, इस तरह जो केवल वचन या काय से ही नहीं किन्तु मन से—भाव से भी जिसने प्रतिक्रमण किया है, जो साधु भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में भी उस अपराध को नहीं करता है उस साधु के दुष्कृत में मिथ्याकार नामक समाचार होता है। अर्थात् किसी अपराध के हो जाने पर 'मेरा यह दुष्कृत मिथ्या होवे' ऐसा कहना मिथ्याकार है।

वह प्रतिश्रवण क्या है कि जिसमें तथाकार किया जाय? अर्थात् तथाकार करना चाहिए, सो ही बताते हैं—

---

1. क 'ख्यात इ'।

वायणपडिच्छण्णाए उवदेसे सुत्तअत्थकहणाए।
अवितहमेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तधाकारो ॥१३३॥

वायणपडिच्छण्णाए—वाचनस्य जीवादिपदार्थव्याख्यानस्य प्रतीच्छा श्रवणं वाचनाप्रतीच्छा तस्यां, सिद्धान्तश्रवणे। उवदेसे—उपदेशे आचार्यपरम्परागतेऽविसंवादरूपे मंत्रतंत्रादिके। सुत्तअत्थकहणाए—सूचनात्सूक्ष्मार्थस्य सूत्रं वृत्तिवार्तिकभाष्यनिबन्धनं तस्यार्थो जीवादयस्तस्य तयोर्वा कथनं प्रतिपादनं तस्मिन् सूत्रार्थकथने कथनायां वा। अवितहं—अवितथं सत्यं एवमेव। एतदेत्ति—एतदिति यद्भट्टारकैः कथितं तदेवमेवेति नान्यथेति कृत्वा। पुणो—पुनः। पडिच्छणाए—प्रतीच्छायां पुनरपि यच्छ्रवणं क्रियते। तधाकारो—तथाकारः। वाचनाप्रतिश्रवणे उपदेशे सूत्रार्थयोजने गुरुणा क्रियमाणे अवितथमेतदिति कृत्वा पुनरपि यच्छ्रवणं तत्तथाकार इति ॥१३३॥

केषु प्रदेशेषु प्रविशता निषेधिका क्रियते इत्याह—

कंदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसीहियं कुज्जा
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥१३४॥

कंदरं—कंदरः उदकदारितप्रदेशः। पुलिणं—पुलिनं जलमध्ये जलरहितप्रदेशः। गुहा—पर्वतपार्श्वविवरं ता आदिर्येषां ते कन्दरपुलिनगुहादयस्तेषु अन्येषु च निर्जन्तुकप्रदेशेषु नद्यादिषु। पवेसकाले—

गाथार्थ—गुरु के मुख से वाचना के ग्रहण करने में, उपदेश सुनने में और गुरु द्वारा सूत्र तथा अर्थ के कथन में यह सत्य है ऐसा कहना और पुनः श्रवण की इच्छा में तथाकार होता है ॥१३३॥

आचारवृत्ति—जीवादि पदार्थों का व्याख्यान करना वाचना है, उसकी प्रतीच्छा करना—श्रवण करना वाचनाप्रतीच्छा है। अर्थात् गुरु के मुख से सिद्धान्त-ग्रन्थों को सुनना वाचना है। आचार्य परम्परागत, अविसंवाद रूप मन्त्र-तन्त्र आदि जिसका गुरु वर्णन करते हैं, उपदेश कहलाता है। सूक्ष्म अर्थ को सूचित करने वाले वाक्य को सूत्र कहते हैं जो कि वृत्ति, वार्तिक और भाष्य के कारण हैं। अर्थात् सूत्र का विशद अर्थ करने के लिए वृत्ति, वार्तिक और भाष्य रूप रचनाएँ होती हैं उन्हें टीका कहते हैं। सूत्र के द्वारा जीवादि पदार्थों का प्रतिपादन किया जाता है वह उस सूत्र का अर्थ कहलाता है। इस प्रकार से सूत्र के अर्थ का कथन करना या सूत्र और अर्थ दोनों का कथन करना सूत्रार्थ-कथन है। गुरु ने सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ाया या उपदेश दिया अथवा सूत्रार्थ का कथन किया उस समय ऐसा बोलना कि 'हे भट्टारक! आपने जो कहा है वह ऐसा ही है वह अन्य प्रकार नहीं हो सकता है', तथा पुनरपि उसे सुनने की इच्छा रखना या सुनना यह तथाकार कहलाता है।

किन प्रदेशों में प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए? सो बताते हैं—

गाथार्थ—कंदरा, पुलिन, गुफा आदि में प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए तथा वहाँ से निकलते समय आसिका करना चाहिए ॥१३४॥

आचारवृत्ति—जलप्रवाह से विदीर्ण हुआ—विभक्त प्रदेश कंदरा कहलाता है। नदी अथवा सरोवर के जल रहित प्रदेश को पुलिन अथवा सैकत कहते हैं। अथवा 'सिकतानां समूहः सैकतं' अर्थात् जहाँ बालू का ढेर रहता है वह सैकत है। पर्वत के पार्श्व भाग में जो बिल—बड़े

प्रवेशकाले। णिसीहियं—निषेधिकां। कुज्जा—कुर्यात् कर्तव्या। क्व आसिका कृतः? तेहितो - तेभ्य एव कन्दरादिभ्यः। णिग्गमणे—निर्गमने निर्गमनकाले। तहासिया—तथैवासिका। होदि—भवति। कायव्वा—कर्तव्या इति ॥१३४॥

प्रश्नश्च केषु स्थानेषु इत्युच्यते—

बड़े छिद्र हैं उन्हें गुफा कहते हैं। इन कंदरा, पुलिन तथा गुफाओं में, 'आदि' शब्द से और भी अन्य निर्जंतुक स्थानों में या नदी आदि में, प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए और इन कंदरा आदि से निकलते समय उसी प्रकार से आसिका करना चाहिए।

विशेषार्थ—वहाँ के रहनेवाले स्थानों के व्यंतर आदि देवों के प्रति कहना कि 'मैं यहाँ प्रवेश करता हूँ, आप अनुमति दीजिए।' इस विज्ञप्ति का नाम निषेधिका है। अन्यत्र भी कहा है—

वसत्यादौ विशेत्तत्स्थं भूतादि निसहीगिरा :
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा ॥[1]

अर्थात् वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित भूत व्यंतर आदि को निसही शब्द से पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है। और वहाँ से निकलते समय असही शब्द से उन्हीं को पूछकर निकलना आसिका है। 'आचारसार' में भी कहा है कि—

स्थिता वयमियत्कालं यामः क्षेमोदयोऽस्तु ते।
इतीष्टाशंसनं व्यन्तरादेराशीर्निरुच्यते ॥
जीवानां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्।
अस्माभिः स्थीयते युष्मद्दिष्ट्यैवेति निषिद्धिका ॥११॥[2]

अर्थात् 'हम यहाँ पर इतने दिन तक रहे, अब जाते हैं। तुम लोगों का कल्याण हो' इस प्रकार व्यंतरादिक देवों को इष्ट आशीर्वाद देना आशीर्वचन है। मुनिराज जिस गुफा में या जिस वसतिका में ठहरते हैं उसके अधिकारी व्यन्तरादिक देव से पूछकर ठहरते हैं और जाते समय उनको आशीर्वाद दे जाते हैं। मुनियों की ये दोनों ही समाचार नीति हैं।

तुम्हारी कृपा से हम यहाँ ठहरते हैं। तुम किसी प्रकार का उपद्रव मत करना, इस प्रकार जीवों को तथा व्यन्तरादिक देवों को उपद्रव का निषेध करना निषिद्धिका नाम की समाचार नीति कहलाती है।

किन-किन स्थानों में पूछना चाहिए? सो बताते हैं—

---

१. अनगार धर्मामृत
२. आचारसार, अ० २

आदावणादिगहणे सण्णा उब्भामगादिगमणे वा।
विणयेणायरियादिसु आपुच्छा होदि कायव्वा ॥१३५॥

आदावणादिगहणे—आतपनं व्रतपूर्वकमुष्णसहनं आदिर्येषां ते आतापनादयस्तेषां ग्रहणमनुष्ठानं तस्मिन्नातपनवृक्षमूलाभ्रावकाशकायोत्सर्गादिग्रहणे। सण्णा उब्भामगादिगमणे—वा संज्ञायामाहारकालशोधनादिकेच्छायां उद्भ्रम्यते गम्यते उद्भ्रम, उद्भ्रम एवोद्भ्रमकोऽन्यग्रामः स आदिर्येषां ते उद्भ्रमकादयस्तेषां गमनं प्रापणं तस्मिन्वा, निमित्तवशादन्यग्रामगमने वा। विणयेण—विनयेन नमस्कारपूर्वकंप्रणामेन। आइरियादिसु—आचार्य आदिर्येषां ते आचार्यादयस्तेषु आचार्यप्रवर्तकस्थविरगणधरादिषु। आपुच्छा—आपृच्छा। होदि—भवति। कादव्वा—कर्तव्या। यत्किंचित्कार्यं करणीयं तत्सर्वमाचार्यादीनापृच्छ्य क्रियते यदि आपृच्छा भवति तत इति ॥१३५॥

प्रतिपृच्छास्वरूपनिरूपणार्थमाह—

जं किंचि महाकज्जं करणीयं पुच्छिऊण गुरुआदी।
पुणरवि पुच्छदि साहू तं जाणसु होदि पडिपुच्छा ॥१३६॥

जंकिंचि—यत्किंचित् सामान्यवचनमेतत्। महाकज्जं—महत्कार्यं वृहत्प्रयोजनं। करणीयं—कर्तव्यमनुष्ठानीयं। पुच्छिऊण—पृष्ट्वा। गुरुआदी—गुरुरादिर्येषां ते गुर्वादयस्तान् गुरुप्रवर्तकस्थविरादीन्। पुणरवि—पुनरपि। पुच्छदि—पृच्छति। साहू—साधून् परिशेषधर्मोद्युक्तान्। अथवा स साधुः पुनरपि पृच्छति येन पूर्वं याचितं। तं जाणसु—तज्जानीहि बुध्यस्व। होदि—भवति। पडिपुच्छा—प्रतिपृच्छा। यत्किंचित्

गाथार्थ—आतापन आदि के ग्रहण करने में, आहार आदि के लिए जाने में अथवा अन्य ग्राम आदि में जाने के लिए विनय से आचार्य आदि से पूछकर कार्य करना चाहिए ॥१३५॥

आचारवृत्ति—व्रतपूर्वक उष्णता को सहन करना आतापन कहलाता है। आदि शब्द से वृक्षमूलयोग, अभ्रावकाशयोग, और कायोत्सर्ग को ग्रहण करते समय, आहार के लिए जाते समय, शरीर की शुद्धि—मलमूत्र आदि विसर्जन के लिए जाते समय, उद्भ्रामक अर्थात् किसी निमित्त से अन्य ग्राम आदि के लिए गमन करने में विनय से नमस्कार पूर्वक प्रणाम करके आचार्य, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदि से पूछकर करना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि जो कुछ भी कार्य करना है वह सब यदि आचार्य आदि से पूछकर किया जाता है उसी का नाम आपृच्छा है।

अब प्रतिपृच्छा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जो कोई भी बड़ा कार्य करना हो तो गुरु आदि से पूछकर और फिर साधुओं से जो पूछता है वह प्रतिपृच्छा है ऐसा जानो ॥१३६॥

आचारवृत्ति—मुनियों को यदि कोई बड़े कार्य का अनुष्ठान करना है तो गुरु, प्रवर्तक, स्थविर आदि से एक बार पूछकर, पुनरपि गुरुओं से तथा साधुओं से पूछना प्रतिपृच्छा है। अथवा यहाँ साधु को प्रथमान्तपद समझना, जिससे ऐसा अर्थ होता है कि साधु किसी बड़े कार्य

कार्यं महत्करणीयं गुर्वादीन् पृष्ट्वा पुनरपि साधून् पृच्छति साधुर्वा तत्कार्यं तदेव प्रश्नविधानं प्रतिपृच्छां जानीहीति ॥१३६॥

अष्टमं सूत्रं प्रपंचयन्नाह—

गहिदुवकरणे विणए वंदण सुत्तत्थपुच्छणादीसु ।
गणधरवसहादीणं अणुवुत्ति छंदणिच्छाए ॥१३७॥

गहिदुवकरणे—गृहीते स्वीकृते उपकरणे संयमज्ञानादिप्रतिपालनकारणे आचार्यादिप्रदत्तपुस्तकादिके **विणए**—विनये विनयकाले **वंदण**—वन्दनायां वंदनाकाले क्रियाग्रहणेन कालस्यापि ग्रहणं तदभेदात् । **सुत्तत्थपुच्छणादीसु**—सूत्रस्य अर्थस्तस्य प्रश्नः स आदिर्येषां ते सूत्रार्थप्रश्नादयस्तेषु । **गणधरवसभादीणं**—गणधरवृषभादीनां आचार्यादीनां । **अणुवुत्ती**—अनुवृत्तिरनुकूलाचरणं । **छन्दणं**—छन्दः छन्दोऽनुवर्तित्वं । **इच्छाए**—इच्छया । सूत्रार्थप्रश्नादिषु उपकरणद्रव्ये च गृहीते विनये वंदनायां च गणधरवृषभादीनामिच्छयानुवृत्तिश्छन्दनमिति । अथवोपकरणद्रव्यस्वामिन इच्छया गृहीतुरनुवृत्तिश्छंदनमाचार्यादीनां च प्रश्नादिषु वन्दनाकाले चेति ।

नवमस्य सूत्रस्य विवरणार्थमाह—

गुरुसाहम्मियदव्वं पुच्छयमण्णं च गेण्हिदुं इच्छे ।
तेसिं विणयेण पुणो णिमंतणा होइ कायव्वा ॥१३८॥

में गुरुओं से एक बार पूछकर पुनरपि जो पूछता है उस प्रश्न की विधि का नाम प्रतिपृच्छा है। हे शिष्य ! ऐसा तुम जानो।

अब छन्दन का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—ग्रहण किये हुए उपकरण के विषय में, विनय के समय, वन्दना के काल में, सूत्र का अर्थ पूछने इत्यादि में गणधर प्रमुख आदि की इच्छा से अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन है ॥१३७॥

आचारवृत्ति—संयम की रक्षा और ज्ञानादि के कारण ऐसे आचार्य आदि के द्वारा दिए गये पिच्छी, पुस्तक आदि को लेने पर विनय के समय, वन्दना के समय, सूत्र के अर्थ का प्रश्न आदि करने में आचार्य आदि की इच्छा के अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन नामक समाचार है।

अथवा उपकरण की वस्तु के जो स्वामी हैं उनकी इच्छा के अनुकूल ही ग्रहण करनेवाले साधु को उन वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए तथा आचार्य आदि से प्रश्न करते समय उनकी विनय करने में या वन्दना के समय उनके अनुकूल कार्य करना चाहिए।

भावार्थ—गुरु आदि से जो भी उपकरण या ग्रन्थ आदि लिये हैं उनके उपयोग में उन गुरुओं के अनुकूल ही प्रवृत्त होना तथा गुरुओं की विनय में, उनकी वन्दना में जो गुरुओं की इच्छा के अनुसार वर्तन करना है सो छन्दन है।

नवमें निमन्त्रणा समाचार को कहते हैं—

गाथार्थ—गुरु या सहधर्मी साधु से द्रव्य को, पुस्तक को या अन्य वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा हो तो उन गुरुओं से विनयपूर्वक पुनः याचना करना निमन्त्रणा समाचार है ॥१३८॥

गुरुसाहंमियदव्वं—गुरुश्च साधर्मिकश्च गुरुसाधर्मिकौ तयोर्द्रव्यं गुरुसाधर्मिकद्रव्यं। **पुत्थयं**—पुस्तकं ज्ञानोपकारकं। **अण्णं च**—अन्यच्च कुण्डिकादिकं। **गेण्हिदुं**—ग्रहीतुं आदातुं। **इच्छे**—इच्छेद्वाञ्छेत्। **तेसिं**—तेषां गुरुसाधर्मिकद्रव्याणां गृहीतुमिष्टानां। **विणएण**—विनयेन नम्रतया। **पुणो**—पुनः। **णिमंतणा**—निमंत्रणा याचना। **होइ**—भवति। **कायव्वा**—कर्तव्या। यदि गुरुसाधर्मिकादिद्रव्यं पुस्तकादिकं गृहीतुमिच्छेत् तदानीं तेषां विनयेन याचना भवति कर्तव्या इति ॥१३८॥

उपसम्पत्सूत्रभेदप्रतिपादनार्थमाह—

उवसंपया य णेया पंचविहा जिणवरेंहि णिद्दिट्ठा।
विणए खेत्ते मग्गे सुहदुक्खे चेव सुत्ते य ॥१३९॥

उपसंपया य—उपसम्पच्चोपसेवात्मनो निवेदनमुपसम्पत्। **णेया**—ज्ञेया ज्ञातव्या। **पंचविहा**—पंचविधा पंचप्रकारा। **जिणवरेंहि**—जिनवरैः। **णिद्दिट्ठा**—निर्दिष्टा कथिता। के ते पंच प्रकारा इत्याह—**विणये**—विनये। **खेत्ते**—क्षेत्रे। **मग्गे**—मार्गे। **सुहदुक्खे**—सुखदुःखयोः। चशब्दः समुच्चये। एवकारोऽवधारणे। **सुत्ते य**—सूत्रे च। विषयनिर्देशोऽयं विनयादिषु विषयेषूपसम्पत् पंचप्रकारा भवति विनयादिभेदैर्वेति।

तत्र विनयोपसम्पत्प्रतिपादनार्थमाह—

पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमिसंपुच्छा।
दाणाणुवत्तणादी विणये उवसंपया णेया ॥१४०॥

पाहुणविण उपचारो—विनयश्चोपचारश्च विनयोपचारौ प्राघूर्णिकानां पादोष्णानां विनयोपचारौ,

---

आचारवृत्ति—गुरु और अन्य संघस्थ साधुओं से यदि पुस्तक या कमण्डलु आदि लेने की इच्छा हो तो नम्रतापूर्वक पुनः उनकी याचना करना अर्थात् पहले कोई वस्तु उनसे लेकर पुनः कार्य हो जाने पर वापस दे दी है और पुनः आवश्यकता पड़ने पर याचना करना सो निमन्त्रणा है।

अब उपसंपत् सूत्र के भेदों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—उपसंपत् के पांच प्रकार हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; इन्हें विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुखदुःख और सूत्र के विषय में जानना चाहिए ॥१३९॥

आचारवृत्ति—उपसंपत् का अर्थ है उपसेवा अर्थात् अपना निवेदन करना। गुरुओं को अपना आत्मसमर्पण करना उपसंपत् है जोकि विनय आदि के विषय में किया जाता है। इसलिए इसके पांच भेद हैं—विनयोपसंपत्, क्षेत्रोपसंपत् मार्गोपसंपत्, सुख-दुःखोपसंपत् और सूत्रोपसंपत्।

उनमें सबसे पहले विनयोपसंपत् को कहते हैं—

गाथार्थ—आगन्तुक अतिथि-साधु की विनय और उपचार करना, उनके निवास स्थान और मार्ग के विषय में प्रश्न करना, उन्हें उचित वस्तु का दान करना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना आदि—यह विनय-उपसंपत् है।

आचारवृत्ति—आगन्तुक साधु को प्राघूर्णिक या पादोष्ण कहते हैं। उनका अंगमर्दन

अंगमर्दनप्रियवचनादिको विनयः, आसनादिदानमुपचारः। आवासभूमिसंपुच्छा—आवासः स्थानं गुरुगृहं भूमिः मार्गोऽध्वा तयोः संपृच्छा संप्रश्नः आवासभूमिसंप्रश्नः। दाणं—दानं संस्तरपुस्तकशास्त्रोपकरणादिनिवेदनं। अणुवत्तणादी—अनुवर्तनादयस्तदनुकूलाचरणादयः। विणये उवसंपया—विनयोपसम्पत्। णेया—ज्ञेया। पादोष्णानां विनयोपचारकरणं यत्तेषां चावासभूमिसम्पृच्छया दानानुवर्तनादयश्च ये तेषां क्रियन्ते तत्सर्वं विनयोपसम्पदुच्यते। सर्वथात्मनः समर्पणं तस्य वा ग्रहणमुपसम्पदिति यतः।

का क्षेत्रोपसम्पदित्यत्रोच्यते—

संजमतवगुणसीला जमणियमादी य जह्मि खेतह्मि।
वड्ढंति तह्मि वासो खेत्ते उवसंपया णेया॥१४१॥

संजमतवगुणसीला—संयमतपोगुणशीलानि। यमणियमादी य—यमनियमादयश्च आमरणात्प्रतिपालनं यमः कालादिपरिमाणेनाचरणं नियमः, व्रतपरिरक्षणं शीलं, कायादिखेदस्तपः, उपशमादिलक्षणो गुणः, प्राणेन्द्रियसंयमनं संयमः, अतो भेदएमैक्यं। जह्मि—यस्मिन्। खेत्तंह्मि—क्षेत्रे। वड्ढंति—वर्द्धन्ते उत्कृष्टा भवंति। तह्मि—तस्मिन् वासो वसनं। खेत्ते उवसंपया—क्षेत्रोपसम्पत्। णेया—ज्ञेया। यस्मिन् क्षेत्रे संयमतपोगुणशीलानि यमनियमादयश्च वर्द्धन्ते तस्मिन् वासो यः सा क्षेत्रोपसम्पदिति।

तृतीयायाः स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

करना, प्रिय वचन बोलना आदि विनय है। उन्हें आसन आदि देना उपचार है। आप किस गुरुगृह के हैं? किस मार्ग से आये हैं अर्थात् आप किस संघ में दीक्षित हुए हैं या आपके दीक्षागुरु का नाम क्या है? और अभी किस मार्ग से विहार करते हुए यहाँ आये हैं? ऐसा प्रश्न करना, तथा उन्हें संस्तर—घास, पाटा, चटाई आदि देना, पुस्तक-शास्त्र आदि देना, उनके अनुकूल आचरण करना आदि सब विनयोपसंपत् है। तात्पर्य यह है कि आगन्तुक साधु के प्रति उस समय जो भी विनय-व्यवहार किया जाता है वह विनयोपसंपत् है। सब प्रकार से उन्हें आत्मसमर्पण करना या उनको सभी तरह से अपने संघ में ग्रहण करना यह विनयोपसंपत् है।

अब क्षेत्रोपसंपत् को बतलाते हैं—

गाथार्थ—जिस क्षेत्र में संयम, तप, गुण, शील तथा यम और नियम वृद्धि को प्राप्त होते हैं उस क्षेत्र में निवास करना, यह क्षेत्रोपसंपत् जानना चाहिए॥१४१॥

आचारवृत्ति—प्राणियों की रक्षा और इन्द्रिय-निग्रह को संयम कहते हैं। शरीर आदि को जिससे खेद उत्पन्न हो वह तप है। उपशम आदि लक्षणवाले गुण कहलाते हैं और व्रतों के रक्षक को शील कहते हैं। जिनका आमरण पालन किया जाय वह यम है तथा काल आदि की अवधि से पाले जानेवाले नियम कहलाते हैं। इस प्रकार से इनके लक्षणों की अपेक्षा भेद हो जाने से इन सभी में ऐक्य सम्भव नहीं है। ये संयम आदि जिस क्षेत्र-देश में वृद्धिगत होते हैं उस देश में ही रहना यह क्षेत्रोपसंपत् है।

अब मार्गोपसंपत् का लक्षण बताते हैं—

पाहुणवत्थव्वाणं अण्णोण्णागमणगमणसुहपुच्छा।
उवसंपदा य मग्गे संजमतवणाणजोगजुत्ताणं ॥१४२॥

पाहुणवत्थव्वाणं—पादोष्णवास्तव्यानां आगन्तुकस्वस्थानस्थितानां। अण्णोण्णं—अन्योन्यं परस्परं। आगमणगमण—आगमनं च गमनं चागमनगमने तयोर्विषये सुहपुच्छा—सुखप्रश्नः किं सुखेन तत्र भवान् गत आगतश्च। उपसंपदा य—उपसंपत्। मग्गे—मार्गे पथिविषये। संजमतवणाणजोगजुत्ताणं—संयमतपोज्ञानयोगयुक्तानां। पादोष्णवास्तव्यानां अन्योऽन्यं योऽयं गमनागमनसुखप्रश्नः सा मार्गविषयोपसम्पदित्यत्रोच्यत इति।

अथ का सुखदुःखोपसम्पदित्यत्रोच्यते—

सुहदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं।
तुह्मं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया ॥१४३॥

सुहदुक्खे—सुखदुःखयोर्निमित्तभूतयोः, अथवा तद्योगात्ताच्छब्द्यं सुखदुःखयुक्तयोः पुरुषयोरिति। उवयारो—उपचारः उपग्रहः। वसहीआहारभेसजादीहिं—वसतिकाहारभैषज्यादिभिः सुखिनो निर्ग्रंथस्य शिष्यादिलाभे कुंडिकादिदानं, दुःखिनो व्याध्युपपीडितस्य सुखशय्यासनौषधान्नपानमर्दनादिभिरुपकार उपचारः। तुम्हं अहंति वयणं—युष्माकमहमिति वचनं युष्माभिर्यदादिश्यते तस्य सर्वस्याहं कर्ता इति। अथवा युष्मा-

---

गाथार्थ—संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से युक्त आगन्तुक और स्थानीय अर्थात् उस संघ में रहनेवाले साधुओं के बीच जो परस्पर में मार्ग से आने-जाने के विषय में सुख समाचार पूछना है वह मार्गोपसंपत् है ।।१४२।।

आचारवृत्ति—जो संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से सहित हैं ऐसे साधु यदि विहार करते हुए आ रहे हैं तो वे आगन्तुक कहलाते हैं। ऐसे साधु यदि कहीं ठहरे हुए हैं तो वे वास्तव्य कहलाते हैं। यदि आगन्तुक साधु किसी संघ में आये हैं तो वे साधु और अपने स्थान—वसतिका आदि में ठहरे हुए साधु आपस में एक-दूसरे से मार्ग के आने-जाने से सम्बन्धित कुशल प्रश्न करते हैं अर्थात् 'आपका विहार सुख से हुआ है न ? आप वहाँ से सुखपूर्वक तो आ रहे हैं न ?' इत्यादि मार्ग विषयक सुख-समाचार पूछना मार्गोपसंपत् है।

अब सुखदुःखोपसंपत् क्या है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—साधु के सुख-दुःख में वसतिका, आहार और औषधि आदि से उपकार करना और 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा वचन बोलना सुखदुःखोपसंपत् है ॥१४३॥

आचारवृत्ति—यहाँ सुख-दुःख निमित्तभूत हैं इसलिए साधुओं के सुख-दुःख के प्रसंग में अथवा सुख-दुःख से युक्त साधुओं का वसतिका आदि के द्वारा उपकार करना अर्थात् यदि आगन्तुक साधु सुखी हैं और उन्हें यदि मार्ग में शिष्य आदि का लाभ हुआ है तो उन्हें उनके लिए उपयोगी पिच्छी, कमण्डलु आदि देना और यदि आगन्तुक साधु दुःखी हैं, व्याधि आदि से पीड़ित हैं तो उनके लिए सुखप्रद शय्या, संस्तर आदि आसन, औषध, अन्न-पान से तथा उनके हाथ-पैर दबाना आदि वैयावृत्ति से उनका उपकार करना। 'मैं आपका ही हूँ, आप जो आदेश

कमेतत्सर्वं मदीयमिति वचनं । सुहदुक्खुवसंपया—सुखदुःखोपसंपत् । णेया—ज्ञातव्या । सुखदुःखनिमित्तं पिछ-वसतिकादिभिरुपचारो युष्माकमिति वचनं उपसम्पत् सुखदुःखविषयेति ।

पंचम्या उपसम्पदः स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

> उवसंपया य सुत्ते तिविहा सुत्तत्थतदुभया चेव ।
> एक्केक्का विय तिविहा लोइय वेदे तहा समये ॥१४४॥

सूत्रविषयोपसम्पच्च त्रिविधा त्रिप्रकारा । सुत्तत्थतदुभया चेव—सूत्रार्थतदुभया चैव सूत्रार्थो यत्नः सूत्रोपसम्पत्, अर्थनिमित्तो यत्नो ऽर्थोपसम्पत्, सूत्रार्थोभयहेतुर्यत्नः तदुभयोपसंपत् तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति । एकैकापि च सूत्रार्थोभयसम्पत् लौकिकवैदिकसामायिकशास्त्रभेदात्त्रिविधा । लौकिकसूत्रार्थतदुभयानामवगमः । तथा वैदिकानां सामायिकानां च । हुण्डावसर्पिण्यपेक्षया वैदिकशास्त्रस्य ग्रहणं । अथवा सर्वकालं नयाभिप्रायस्य सम्भवाद्वैदिकस्य न दोपः । अथवा वेदे सिद्धान्ते समये तर्कादौ इति । तुम्हं महद्गुरुकुले आत्मनो निसर्गः उपसम्पदुक्ता[1] ।

पदविभागिकस्य सामाचारस्य निरूपणार्थमाह—

करेंगे वह सब हम करेंगे', अथवा जो यह सब मेरा है वह सब आपका ही है ऐसे वचन बोलना यह सब सुख-दुःखोपसंपत् है ।

विशेष—प्रश्न हो सकता है कि साधु साधु के लिए वसितका, आहार, औषधि आदि कैसे देंगे ? समाधान यह है कि किसी वसितका आदि में ठहरे हुए आचार्य उस वसतिका में ही उचित स्थान देंगे या अन्य वसतिकाओं में उनकी व्यवस्था करा देंगे अथवा श्रावकों द्वारा वसतिका की व्यवस्था करायेंगे, ऐसे ही श्रावकों के द्वारा उनके स्वास्थ्य आदि के अनुकूल आहार या रोग आदि के निमित्त औषधि आदि की व्यवस्था करायेंगे । यही व्यवस्था सर्वत्र विधेय है ।

अब पंचम सूत्रोपसंपत् का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—सूत्र के विषय में उपसंपत् तीन प्रकार की है—सूत्रोपसंपत्, अर्थोपसंपत् और तदुभयोपसंपत् । फिर लौकिक, वेद और समय की अपेक्षा से वह एक-एक भी तीन प्रकार की हो जाती हैं ॥१४४॥

आचारवृत्ति—सूत्रोपसंपत् के तीन भेद हैं—सूत्रोपसंपत्, अर्थोपसंपत् और सूत्रार्थोप-संपत् । सूत्र के लिए प्रयत्न करना सूत्रोपसंपत् है । उसके अर्थ को समझने के लिए प्रयत्न करना अर्थोपसंपत् है तथा सूत्र और अर्थ दोनों के लिए प्रयत्न करना सूत्रार्थोपसंपत् है । इन एक-एक के भी लौकिक, वैदिक और सामायिक शास्त्रों के भेद की अपेक्षा से तीन-तीन भेद हो जाते हैं । लौकिक सूत्र का ज्ञान लौकिक सूत्रोपसंपत् है, लौकिक सूत्र के अर्थ का ज्ञान लौकिक सूत्र के अर्थ का उपसंपत् और लौकिक सूत्र तथा उसका अर्थ इन दोनों का ज्ञान लौकिक सूत्रार्थ उप-संपत् है । ऐसे ही वैदिक और सामायिक के विषय में भी समझना चाहिए अर्थात् वैदिक सूत्रो-पसंपत्, वैदिकार्थोपसंपत् और वैदिकसूत्रार्थोपसंपत् ये तीन भेद हैं । ऐसे ही सामायिकसूत्रोप-संपत्, सामायिकसूत्रसम्बन्धी अर्थोपसंपत् और सामायिक सूत्रार्थोपसंपत् ये तीन भेद होते हैं ।

---

1. क "का सा कथं भवतीत्याह" ।

कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं।
विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥१४५॥

कोई—कश्चित्। सव्वसमत्थो—सर्वैरपि प्रकारैर्वीर्यधैर्यविद्याबलोत्साहादिभिः समर्थः कल्यः सर्वसमर्थः। सगुरुसुदं—स्वगुरुश्रुतं आत्मीयगुरूपाध्यायागतं शास्त्रं। सव्वं—सर्वं निरवशेषं। आगमित्ताणं—आगम्य ज्ञात्वा। विणएण—विनयेन मनोवचनकायप्रणामैः। उवक्कमित्ता—उपक्रम्य प्रारभ्योपढौक्य। पुच्छदि—पृच्छति अनुज्ञां याचते। सगुरुं—स्वगुरुं। पयत्तेण—प्रयत्नेन प्रमादं त्यक्त्वा। कश्चित् सर्वशास्त्राधिगमबलोपेतः स्वगुरुशास्त्रमधिगम्य, अन्यदपि शास्त्रमधिगन्तुमिच्छन् विनयेनोपक्रम्य प्रयत्नेन स्वगुरुं पृच्छति गुरुणानुज्ञातेन गन्तव्यमित्युक्तं भवति।

यहाँ पर हुण्डावसर्पिणी की अपेक्षा से वैदिक शास्त्र का ग्रहण किया है। अथवा सभी कालों में नयों का अभिप्राय सम्भव है इसलिए वैदिक को भी सर्वकाल में माना जा सकता है। अथवा वेद अर्थात् सिद्धान्त और समय अर्थात् तर्कादि सम्बन्धी ग्रन्थ इनके विषय में उपसंपत् समझना। इस प्रकार से महान् गुरुकुल में अपना आत्म समर्पण करना यह उपसंपत् है इसका कथन पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ—व्याकरण, गणित आदि शास्त्रों को लौकिक शास्त्र कहते हैं। द्वादशांग श्रुत, प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोग; सिद्धान्त ग्रन्थ—षट्खण्डागम, कसायपाहुड, महाबन्ध आदि तथा स्याद्वादन्याय, प्रमेयकमलमार्तण्ड, समयसार आदि अध्यात्मशास्त्र ये सभी समयरूप अर्थात् सामायिक शास्त्र कहलाते हैं। वैदिक—ऋग्वेद आदि वेदों को वैदिक शास्त्र कहते हैं यह कथन वर्तमान के हुण्डावसर्पिणी की अपेक्षा है। पुनः टीकाकार ने यह भी कहा है कि नयों के अभिप्राय से सभी कालों में भी ग्रहण कर लिया गया है क्योंकि इन वेदों का ज्ञान भी कुनयों में अन्तर्भूत है। अथवा अन्य लक्षण भी टीकाकार ने किया है यथा—'वेद' से सिद्धान्त शास्त्रों का ग्रहण है और 'समय' से तर्कादि शास्त्रों का ग्रहण किया है। चूंकि प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगों को वेदसंज्ञा है और स्वसमय परसमय से स्वमत-परमत के विषय में परमत का खण्डन करके स्वमत का मण्डन करनेवाले न्यायग्रन्थ ही हैं।

यहाँ तक औघिक समाचार नीति का वर्णन हुआ।

अब पदविभागी समाचार का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—कोई सर्वसमर्थ साधु अपने गुरु के सम्पूर्ण श्रुत को पढ़कर, विनय से पास आकर और प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु से पूछता है ॥१४५॥

आचारवृत्ति—वीरता, धीरता, विद्या, बल और उत्साह आदि सभी प्रकार के गुणों से समर्थ कोई मुनि अपने दीक्षागुरु या अपने संघ के उपाध्याय—विद्यागुरु के उपलब्ध सभी शास्त्रों को पढ़कर पुनः अन्यान्य शास्त्रों को पढ़ने की इच्छा से उनके पास आकर विनयपूर्वक—मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करके प्रयत्न से उनसे पूछता है अर्थात् अन्य संघ में जाने की आज्ञा माँगता है। अभिप्राय यह है कि गुरु की आज्ञा मिलने पर ही जाना चाहिए अन्यथा नहीं।

किं तत्पृच्छति इत्यत्रोच्यते—

तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं।
तिण्णि व पंच व छा वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ ॥१४६॥

तुज्झं पादपसादेण—त्वत्पादप्रसादात् त्वत्पादानुज्ञया। अण्णं—अन्यत्। इच्छामि—अभ्युपैमि। गंतुं—यातुं। आयदणं—सर्वशास्त्रपारंगतं चरणकरणोद्यतमाचार्यं, यद्यपि षडायतनानि लोके सर्वज्ञः, सर्वज्ञालयं, ज्ञानं, ज्ञानोपयुक्तः, चारित्रं, चारित्रोपयुक्त इति भेदाद्भवन्ति तथापि ज्ञानोपयुक्तस्याचार्यस्य ग्रहणमधिकारात्। किमेकं प्रश्नं करोति नेत्याह तिण्णि व—तिस्रः। पंच व—पंच वा। छा व—षड् वा। वशब्दाच्चतस्रोऽधिका वा। पुच्छाओ—पृच्छाः प्रश्नान्। एत्थ—अत्रावसरे। कुणदि—करोति। अनेनात्मोत्साहो विनयो वा प्रदर्शितः। भट्टारकपादप्रसन्नैः अन्यदायतनं गंतुमिच्छामीत्यनेन प्रकारेण तिस्रः पंच षड्वा पृच्छाः सोऽत्र करोतीति।

ततः किंकरोत्यसावित्याह—

एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो।
अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वासो तदो णीदी ॥१४७॥

एवं—पूर्वोक्तेन न्यायेन। आपुच्छित्ता—आपृच्छ्याभ्युपगमय्य। सगवरगुरुणा—स्वकीयवरगुरुभिः

वह शिष्य गुरु से क्या पूछता है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—'आपके चरणों की कृपा से अब मैं अन्य आयतन को प्राप्त करना चाहता हूँ' इस तरह वह मुनि इस विषय में तीन बार या पांच-छह बार प्रश्न करता है ॥१४६॥

आचारवृत्ति—मुनि अपने आचार्य से प्रार्थना करता है, 'हे भगवन्! आप भट्टारक के चरणकमलों की प्रसन्नता से, आपकी आज्ञा से अन्य आयतन को प्राप्त करना चाहता हूँ।' तेरह प्रकार के चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं में उद्यत, सर्वशास्त्रों में पारंगत आचार्य को यहाँ आयतन शब्द से कहा है। यद्यपि लोक में छह आयतन प्रसिद्ध हैं—सर्वज्ञदेव, सर्वज्ञ का मन्दिर, ज्ञान, ज्ञान से संयुक्त ज्ञानी, चारित्र और चारित्र से युक्त साधु ये छह माने हैं फिर भी यहाँ प्रकरण वश ज्ञानोपयुक्त आचार्य को ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उन्हीं के विषय में यह अधिकार है। वह मुनि ऐसे ज्ञान में अधिक किन्हीं अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन के लिए जाने हेतु अपने गुरु से एक बार ही नहीं, तीन चार या पांच अथवा छह बार पूछता है। प्रश्न यह हो सकता है कि बार-बार पूछने का क्या हेतु है सो आचार्य बताते हैं कि बार-बार पूछने से अपना उत्साह प्रकट होता है अथवा विशेष विनय प्रकट होती है। अर्थात् पुनः पुनः आज्ञा लेने से आचार्य के प्रति विशेष विनय और अपना अधिक ज्ञान प्राप्त करने में उत्साह मालूम होता है।

पुनः वह मुनि क्या करता है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार गुरु से पूछकर और अपने पूज्य गुरु से आज्ञा प्राप्त वह मुनि अपने सहित चार या तीन, दो मुनि होकर वहाँ से विहार करता है ॥१४७॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से वह मुनि अपने दीक्षागुरु, विद्यागुरु आदि से आज्ञा

दीक्षाश्रुतगुर्वादिभिः। विसज्जिदो—विसृष्टो मुक्तः। संतो—सन्। किमेकाक्यसौ गच्छति नेत्याह—अप्पच-उत्थो—चतुर्णां पूरणश्चतुर्थः आत्मा चतुर्थो यस्यासावात्मचतुर्थः। त्रयाणां द्वयोर्वा पूरणस्तृतीयो द्वितीयः। आत्मा तृतीयो द्वितीयो वा यस्यासावात्मतृतीय आत्मद्वितीयः। त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेन वा सह गंतव्यं नैकाकिना। सो तदो—स साधुस्ततः तस्मात् स्वगुरुकुलात्। णीदि—निर्गच्छति। एवमापृच्छ्य स्वकीयवरगुरुभिश्च विसृष्टः सन्नात्मचतुर्थो निर्गच्छति, आत्मतृतीय आत्मद्वितीयो वा उत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् ॥१४७॥

किमिति कृत्वान्येन न्यायेन विहारो न युक्तो यतः—

गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥१४८॥

गिहिदत्थेय—गृहीतो ज्ञातोऽर्थो जीवादितत्त्वं येनासौ गृहीतार्थश्च एकः प्रथमः। विहारो—विहरणं देशान्तरगमनेन चारित्रानुष्ठानं। अथवा विहरतीति विहारः एकश्च विहारश्चैकविहारः। विदिओ—द्वितीयः। अगिहीदत्थसंसिदो—अगृहीतार्थेन संश्रितो युक्तः। अथ को द्वितीयः, अगृहीतार्थस्तस्यानेन सहाचरणं नैकस्य। एत्तो—एताभ्यां गृहीतागृहीतार्थसंश्रिताभ्यामन्यः। तदियविहारो—तृतीयविहारः। णाणुण्णादो—नानुज्ञातो नाभ्युपगतो जिनवरैरर्हद्भिः। एको गृहीतार्थस्य विहारोऽपरोऽगृहीतार्थेन संश्रितस्य तृतीयो नानुज्ञातः परमेष्ठिभिरिति।

लेकर पुनः क्या एकाकी जाता है ? नहीं, किंतु वह तीन को साथ लेकर या दो मुनियों या फिर एक मुनि के साथ जाता है। अर्थात् कम से कम दो मुनि मिलकर अपने गुरु के संघ से निकलते हैं। वह एकाकी नहीं जाता है ऐसा समझना। सारांश रूप से उत्कृष्ट तो यह है कि वह मुनि अपने साथ तीन मुनियों को लेकर जावे। मध्यम मार्ग यह है कि दो मुनियों के साथ जावे और जघन्य मार्ग यह है कि एक मुनि अपने साथ लेकर जावे। अकेले जाना उचित नहीं है।

अन्य रीति से मुनि का विहार क्यों युक्त नहीं ? इसी बात को बताते हैं—

गाथार्थ—गृहीतार्थ विहार नाम का विहार एक है और अगृहीतार्थ से सहित विहार दूसरा है। इनसे अतिरिक्त तीसरा कोई भी विहार जिनेन्द्रदेव ने स्वीकार नहीं किया है ॥१४८॥

आचारवृत्ति—गृहीत—जान लिया है अर्थ—जीवादि तत्त्वों को जिन्होंने उनका विहार गृहीतार्थ कहलाता है। यह पहला विहार है अर्थात् जो जीवादि पदार्थों के ज्ञाता महासाधु देशांतर में गमन करते हुए चरित्र का अनुष्ठान करते हैं उनका विहार गृहीतार्थ नाम का विहार है। अथवा गृहीतार्थ साधु एक—एकल विहारी होता है। दूसरा विहार अगृहीत अर्थ से सहित है। इनके अतिरिक्त तीसरा विहार अर्हंतदेव ने स्वीकार नहीं किया है।

भावार्थ—विहार के दो भेद हैं गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ। तत्त्वज्ञानी मुनि चारित्र में दृढ़ रहते हुए जो सर्वत्र विचरण करते हैं उनका विहार प्रथम है और जो अल्प-ज्ञानी चारित्र का पालन करते हुए विचरण करते हैं उनका विहार द्वितीय है। इनके सिवाय अन्य तरह का विहार जिनशासन में अमान्य है।

किंविशिष्ट एकविहारीत्यत आह—

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य ।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥१४६॥

तपो द्वादशविधं सूत्रं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वरूपं कालक्षेत्रानुरूपो वाऽऽगमः प्रायश्चित्तादिग्रन्थो वा सत्त्वं—कायगतं अस्थिगतं च बलं देहात्मकं वा भावसत्वं, एकत्वं शरीरादिविविक्ते स्वात्मनि रतिः भावः शुभपरिणामः सत्त्वकार्यं, संहननं अस्थित्वग्दृढता वज्रर्षभनाराचादित्रयं, धृतिः मनोबलं, क्षुधाद्यबाधनं चैतासां द्वंद्वः एताभिर्युक्तस्तपःसूत्रसत्त्वैकत्वभावसंहननधृतिसमग्रः । न केवलमेवंविशिष्टः किन्तु पवियाआगमबलिओ—प्रव्रज्यागमबलवांश्च तपसा वृद्धः, आचारसिद्धान्तक्षुण्णश्च यः स एकविहारी अनुज्ञातोऽनुमतो जिनवरैरिति सम्बन्धः ।

न पुनरेवंभूतः—

सच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे ।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी ॥१५०॥

सच्छंदगदागदी—स्वैरं स्वेच्छया गत्यागती गमनागमने यस्यासौ स्वैरगतागतिः । केषु स्थानेष्वि-

---

एकलविहारी साधु कैसे होते हैं ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण दीक्षा और आगम में बली मुनि एकलविहारी स्वीकार किया गया है ॥१४६॥

आचारवृत्ति—अनशन आदि द्वादश प्रकार का तप है। बारह अंग और चौदह पूर्व को सूत्र कहते हैं अथवा उस काल-क्षेत्र के अनुरूप जो आगम है वह भी सूत्र है तथा प्रायश्चित्त ग्रन्थ आदि भी सूत्र नाम से कहे गए हैं। शरीरगत बल को, अस्थि की शक्ति को अथवा भावों के बल को सत्त्व कहते हैं। शरीर आदि से भिन्न अपनी आत्मा में रति का नाम एकत्व है। और शुभ परिणाम को भाव कहते हैं यह सत्त्व का कार्य है। अस्थियों की और त्वचा की दृढ़ता वज्रऋषभ आदि तीन संहननों में विशेष रहती है। मनोबल को धैर्य कहते हैं। क्षुधादि से व्याकुल नहीं होना धैर्यगुण है। जो इन तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव तथा उत्तम संहनन और धैर्य गुणों से परिपूर्ण हैं; इतना ही नहीं, दीक्षा से आगम से भी बलवान हैं अर्थात् तपश्चर्या से वृद्ध हैं—अधिक तपस्वी हैं, आचार सम्बन्धी सिद्धान्त में भी अक्षुण्ण हैं—निष्णात हैं। अर्थात् आचार ग्रन्थों के अनुकूल चर्या में निपुण हैं ऐसे गुणविशिष्ट मुनि को ही जिनेन्द्रदेव ने एकलविहारी होने की अनुमति दी है।

किन्तु जो ऐसे गुणयुक्त नहीं हैं उनके लिए क्या आज्ञा है ?

गाथार्थ—गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मलमूत्रादि विसर्जन करना—इन कार्यों में जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करनेवाला है, और बोलने में भी स्वच्छन्द रुचि वाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे ॥१५०॥

आचारवृत्ति—जिसका स्वैर वृत्ति से गमन-आगमन है। किन-किन स्थानों में ?—

त्याह—**सयणं**—शयनं। **णिसयणं**—निषदनं आसनं। **आदाणं**—आदानं ग्रहणं। **भिक्ख**—भिक्षा। **वोसरणं**—मूत्रपुरीषाद्युत्सर्गः। एतेषु प्रदेशेषु शयनासनादानभिक्षाद्युत्सर्गकालेषु। **सच्छंदजंपिरोचि य**—स्वेच्छया जल्पनशीलश्च स्वेच्छया जल्पने रुचिर्यस्य वा एवंभूतो यः सः। **मे**—मम शत्रुरप्येकाकी माभूत् किं पुनर्मुनिरिति।

यदि पुनरेवंभूतोऽपि विहरति ततः किं स्यादतः प्राह—

गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।
भिभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥१५१॥

गुरुपरिवादो—गुरोः परिवादः परिभवः केनायं निःशीलो लुञ्चितः इति लोकवचनं। **सुदवुच्छेदो**—श्रुतस्य व्युच्छेदो विनाशः स तथाभूतस्तं दृष्ट्वा अन्योऽपि भवति अन्योऽपि कश्चिदपि न गुरुगृहं सेवते ततः श्रुतविनाशः। **तित्थस्स**—तीर्थस्य शासनस्य। **मइलणा**—मलिनत्वं नमोस्तूनां[1] शासने एवंभूताः सर्वेऽपीति मिथ्यादृष्ट्यो वदन्ति। **जडदा**—मूर्खत्वं। **भिभल**—विह्वल आकुलः। **कुसील**—कुशीलः। **पासत्थ**—पार्श्वस्थ एतेषां भावः विह्वलकुशीलपार्श्वस्थता। **उस्सारकप्पम्हि**—उत्सारकल्पे त्याज्यकल्पे गणं त्यक्त्वा एकाकिनो विहरणे इत्यर्थः। मुनिनैकाकिना विहरमाणेन गुरुपरिभवश्रुतव्युच्छेदतीर्थमलिनत्वजडताः कृता भवन्ति तथा विह्वलत्वकुशीलत्वपार्श्वस्थत्वानि कृतानीति ॥१५१॥

सोने में, बैठने में, किसी वस्तु के ग्रहण करने में, आहार ग्रहण करने में, और मलमूत्रादि के विसर्जन करने में—इन प्रसंगों में जो स्वेच्छा से प्रवृत्ति करता है और बोलने में जो स्वेच्छाचारी है ऐसा मेरा शत्रु भी एकाकी न होवे फिर मुनि की तो वात ही क्या है। अर्थात् आहार, विहार नीहार, उठना, बैठना, सोना और किसी वस्तु का उठाना या धरना इन सभी कार्यों में जो आगम के विरुद्ध मनमानी प्रवृत्ति करता है ऐसा कोई भी, मेरा शत्रु ही क्यों न हो, अकेला—न रहे, मुनि की तो वात ही क्या है। उन्हें तो हमेशा गुरूओं के संघ में ही रहना चाहिए।

और फिर भी यदि ऐसा मुनि अकेला विहार करता है तो क्या होता है? सो वताते हैं—

गाथार्थ—स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति में गुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता मूढ़ता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता ये दोष आते हैं ॥१५१॥

आचारवृत्ति—उत्सार कल्प में गण को छोड़कर एकाकी विहार करने पर उस मुनि के गुरु का तिरस्कार होता है अर्थात् इस शीलशून्य मुनि को किसने मूंड दिया है ऐसा लोग कहने लगते हैं। श्रुत की परम्परा का विच्छेद हो जाता है अर्थात् ऐसे एकाकी अनर्गल साधु को देखकर अन्य मुनि भी ऐसे हो जाते हैं, पुनः कुछ अन्य भी मुनि देखादेखी अपने गुरुगृह अर्थात् गुरु के संघ में नहीं रहते हैं तव श्रुत—शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण न करने से श्रुत का नाश हो जाता है। तीर्थ का अर्थ शासन है। जिनेन्द्रदेव के शासन को 'नमोस्तु शासन' कहते हैं अर्थात् इसी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में मुनियों को 'नमोस्तु' शब्द से नमस्कार किया जाता है। इस नमोस्तु शासन में—जैन शासन में सभी मुनि ऐसे ही (स्वच्छन्द) होते हैं ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहने लगते हैं। तथा उस मुनि में स्वयं मूर्खता, विह्वलता, कुशीलता और पार्श्वस्थ रूप दुर्गुण प्रवेश कर जाते हैं।

---

1. क 'स्तं सर्वज्ञानां शा'।

न केवलमेते दोषा किन्त्वात्मविपत्तिश्चेत्यत आह—

कंटयखण्णुयपडिणियसाणगोणादिसप्पमेच्छेहिं ।
पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव ॥१५२॥

कंटय—कण्टकाः। **खणुय**—स्थाणुः। **पडिणिय**—प्रत्यनीकाः क्रुद्धाः। **साणगोणदि**—श्वगवादयः। **सप्पमेच्छेहिं**—सर्पम्लेच्छाः। एतेषां द्वन्द्वस्तैः कण्टकस्थाणुप्रत्यनीकश्वगवादिसर्पम्लेच्छैः। **पावइ**—प्राप्नोति। **आदविवत्ती**—आत्मविपत्तिं स्वविनाशं। **विसेण य**—विषेण च मारणात्मकेन द्रव्येण। **विसूइया चेव**—विसूचिकया वाजीर्णेन। एवकारो निश्चयार्थः। निश्चयेनैकाकी विहरन् कण्टकादिभिर्विषेण विसूचिकया वात्मविपत्तिं प्राप्नोति ॥१५२॥

विहरंस्तावत्तिष्ठतु तिष्ठन् कश्चित् पुनर्निर्धर्मो गुरुकुलेऽपि द्वितीयं नेच्छतीत्याह—

गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो ।
गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ॥१५३॥

गारविओ—गौरवसमन्वितः ऋद्धिरसमातप्राप्त्या अन्यानधिक्षिपति। **गिद्धीओ**—गृद्धिक आकां-

---

भावार्थ—जो मुनि आगम से विरुद्ध होकर अकेले विहार करते हैं उनके निमित्त से उनके दीक्षागुरु का अपमान, श्रुत की परम्परा का विच्छेद, जैन शासन की निन्दा ये दोष होते हैं तथा उस मुनि के अन्दर मूर्खता आदि दोष आ जाते हैं।

केवल इतने ही दोष नहीं होते हैं, मुनि के आत्मविपत्तियाँ भी आ जाती हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—काँटे, ठूंठ, विरोधीजन, कुत्ता, गौ आदि तथा सर्प और म्लेच्छ जनों से अथवा विष से और अजीर्ण आदि रोगों से अपने आपमें विपत्ति को प्राप्त कर लेता है ॥१५२॥

आचारवृत्ति—निश्चय से एकाकी विहार करता हुआ मुनि काँटे से, ठूंठ से, मिथ्या-दृष्टि, क्रोधी या विरोधी जनों से, कुत्ते-गौ आदि पशुओं से या साँप आदि हिंसक प्राणि से अथवा म्लेच्छ अर्थात् नीच-अज्ञानी जनों के द्वारा स्वयं को कष्ट में डाल लेता है। अथवा विषैले आहार आदि से या हैजा आदि रोगों से आत्म विपत्ति को प्राप्त कर लेता है। इसलिए अकेले विहार करना उचित नहीं है। यहाँ 'एव' शब्द निश्चय अर्थ का वाची है अतः अकेले विहार करनेवाला मुनि निश्चित ही इन कंटक, विष आदि निमित्तों से अपनी हानि कर लेता है।

एकाकी विहार करनेवाले की बात तो दूर ही रहने दीजिए, कोई धर्मशून्य मुनि गुरु के संघ में भी दूसरे मुनिजन को नहीं चाहता है—

गाथार्थ—जो गौरव से सहित है, आहार में लम्पट है, मायाचारी है, आलसी है, लोभी है और धर्म से रहित है ऐसा शिथिल मुनि संघ में रहते हुए भी साधु समूह को नहीं चाहता है ॥१५३॥

आचारवृ

क्षितभोगः ग्रहिको वा । माइल्लो—मायावी कुटिलभावः। अलस—आलस्ययुक्तः उद्योगरहितः। लुद्धो—लुब्धः अत्यागशीलः । णिद्धम्मो—निर्धर्मः पापबुद्धिः। गच्छेवि—गुरुकुलेऽपि ऋषिसमुदायमध्येऽपि त्रैपुरुषिको गणः, साप्तपुरुषिको गच्छः। संवसंतो—संवसन् तिष्ठन्। णेच्छइ—नेच्छति नाभ्युपगच्छति । संघाडयं—संघाटकं द्वितीयं। मंदो—मंदः शिथिलः। कश्चिन्निर्धर्मोऽलसो लुब्धो मायावी गौरविकः कांक्षावान् गच्छेऽपि संवसन् द्वितीयं नेच्छति शिथिलत्वयोगादिति ॥१५३॥

किमेतान्येव पापस्थानानि एकाकिनो विहरतो भवन्तीत्युतान्यान्यपीत्यत आह—

आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य ।
संजमविराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा ॥१५४॥

आणा—आज्ञा कोपः सर्वज्ञशासनोल्लंघनं । नन्वाज्ञाग्रहणात्कथमाज्ञाभंगस्य ग्रहणं, एकदेशग्रहणात् यथा भामाग्रहणात् सत्यभामाया ग्रहणं सेनग्रहणाद्वा भीमसेनस्य। अथवोत्तरत्राज्ञाकोपादिग्रहणाद्वा। यद्याज्ञाया एव ग्रहणं स्यादुत्तरत्र कथमाज्ञाकोपादिकाः पंचापि दोषाः कृतास्तेनेत्याचार्यो भणति तस्मात्प्राकृतलक्षणबलात् कोपशब्दस्य निवृत्तिं कृत्वा निर्देशः कृतः। अणवत्था—अनवस्था अतिप्रसंगः, अन्येऽपि तेनैवप्रकारेण प्रवर्तेरन्। अवि य—अपि च । मिच्छत्ताराहणा—मिथ्यात्वस्याराधना सेवा । आदणासो य—आत्मनो नाशश्चात्मीयानां

हुआ अन्य मुनियों की अवहेलना करता है, जो भोगों की आकांक्षा करनेवाला है अथवा हठग्राही है, कुटिल स्वभावी है, आलसी होने से उद्योग—पुरुषार्थ रहित है, लोभी है, पापबुद्धि है और मन्द शिथिलाचारी है ऐसा मुनि गुरुकुल—ऋषियों के समुदाय के मध्य रहता हुआ भी द्वितीय मुनि का संसर्ग नहीं चाहता है अर्थात् अकेला ही उठना, बैठना, बोलना आदि चाहता है अन्य मुनि के निकट बैठना, उठना पसन्द नहीं करता है। यहां पर मूल में 'गच्छ' शब्द है। तदनुसार तीन पुरुषों के समूह को गण और सात पुरुषों के समूह को गच्छ कहते हैं।

भावार्थ—शिष्य, पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु इत्यादि पदार्थ मेरे समान अन्य मुनियों के सुन्दर नहीं हैं ऐसा गर्व करना तथा दूसरों का तिरस्कार करना ऋद्धिगौरव है। भोजन-पान के पदार्थ अच्छे स्वादयुक्त मिलते हैं ऐसा गर्व करना यह रसगौरव है। मैं यहां सुखी हूं इत्यादि गर्व करना सातगौरव है। ऐसा गौरव करनेवाला मुनि उपर्युक्त अन्य भी अवगुणों से सहित हो, संघ में रहकर भी यदि एकाकी बैठना, उठना पसंद करता हुआ स्वच्छन्द रहता है तो वह भी दोषी है।

एकाकी विहार करनेवाले मुनि के क्या इतने ही पापस्थान होते हैं अथवा अन्य भी होते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—एकाकी रहनेवाले के आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था, मिथ्यात्व का सेवन, आत्मनाश और संयम की विराधना ये पाँच पापस्थान माने गए हैं ॥१५४॥

आचारवृत्ति—अकेले विहरण करनेवाले मुनि के सर्वज्ञदेव की आज्ञा का उल्लंघन होना यह एक दोष होता है।

प्रश्न—गाथा में मात्र 'आज्ञा' शब्द है। इतने मात्र से 'आज्ञा का भंग होना' ऐसा अर्थ आप टीकाकार कैसे करते हैं?

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां विघातः, आत्मीयस्य कार्यस्य वा। संयमविराहणाविय—संयमस्य विराधनापि च, इन्द्रियप्रसरोऽविरतिश्च। एदेदु—एतानि तु। णिकाइया—निकाचितानि पापागमनकारणानि निश्चितानि पुष्टानि वा। ठाणाणि—स्थानानि। अपि च शब्दादन्यान्यपि कृतानि भवन्ति इत्यध्याहारः। एकाकिनो विहरत एतानि पंचस्थानानि भवन्त्येवान्यानि पुनर्भाज्यानीति।

एवंभूतस्य तस्य सश्रुतस्य ससहायस्य विहरतः कथंभूते गुरुकुले वासो न कल्पते इत्याह—

उत्तर—एक देश ग्रहण से भी पूर्ण पद के अर्थ का ज्ञान होता है जैसे कि 'भामा' के कहने से सत्यभामा का ग्रहण हो जाता है और 'सेन' शब्द के ग्रहण से भीमसेन का ग्रहण होता है। अथवा आगे १७९ वीं गाथा में 'आज्ञाकोपादयः पंचापि दोषाः कृतास्तेन' ऐसा पाठ है। वहाँ पर आज्ञाकोप शब्द लिया है। यदि यहाँ पर आज्ञा का ही ग्रहण किया जावे तो आगे आज्ञाकोप आदि पाँचों भी दोष उसने किये हैं, ऐसा कैसे कहते? इसलिए यहाँ पर प्राकृत व्याकरण के नियम से 'कोप' शब्द का लोप करके निर्देश किया है ऐसा जानना।

अनवस्था का अर्थ अतिप्रसंग है अर्थात् अन्य मुनि भी उसे एकाकी देखकर वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जावेंगे यह अनवस्था दोष आयेगा तब कहीं कुछ व्यवस्था नहीं बन सकेगी। तथा मिथ्यात्व का सेवन होना यह तृतीय दोष आवेगा। आत्मनाश अर्थात् अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र का विघात हो जावेगा। अथवा अपने निजी कार्यों का भी विनाश हो जावेगा। संयम की विराधना भी हो जावेगी अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह न होकर उनकी विषयों में प्रवृत्ति तथा अविरत परिणाम भी हो जावेंगे। ये पांच निकाचित स्थान अर्थात् पाप के आने के कारणभूत स्थान निश्चित रूप या पुष्ट हो जावेंगे। अपि शब्द से ऐसा समझना कि अन्य भी पापस्थान उस मुनि के द्वारा किये जा सकेंगे अर्थात् जो एकलविहारी बनेंगे उनके ये पांच दोष तो होंगे ही होंगे, अन्य भी दोष हो सकते हैं वे वैकल्पिक हैं।

भावार्थ—जो मुनि स्वच्छन्द होकर एकाकी विचरण करते हैं सबसे पहले तो वे जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उलंघन करना—यह एक पाप करते हैं। उनकी देखा-देखी अन्य मुनि भी एकाकी विचरण करने लगते हैं। और तब ऐसी परम्परा चलने लग जाती है—यह दूसरा अनवस्था नामक दोष है। लोगों के संसर्ग से अपना सम्यक्त्व छूट जाता है और मिथ्यात्व के संसर्ग से मिथ्यात्व के संस्कार बन जाते हैं—यह तीसरा दोष है। उस मुनि के अपने निजी गुण सम्यग्दर्शन आदि हैं जिन्हें बड़ी मुश्किल से प्राप्त किया है, उनकी हानि हो जाती है—यह चौथा पाप होता है और असंयमी निरर्गल जीवन हो जाने से संयम की विराधना भी हो जाती है। ये पाँच निकाचित अर्थात् निश्चित रूप से मजबूत पापस्थान तो होते ही होते हैं, अन्य भी दोष संभव हैं। इसलिए जिनकल्पी—उत्तम संहनन आदि गुणों से युक्त मुनि के सिवाय सामान्य—अल्पशक्तिवाले मुनियों को एकलविहारी होने के लिए जिनेन्द्रदेव की आज्ञा नहीं है।

इसप्रकार के श्रुत सहित और सहाय सहित जो साधु विहार करता है उसे किस प्रकार के गुरुकुल में निवास करना ठीक नहीं है? सो ही बताते हैं—

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥१५५॥

तत्थ—तत्र गुरुकुले। ण कप्पइ—न कल्पते न युज्यते। वासो—वसनं वासः स्थानं। जत्थ—यत्र यस्मिन् गुरुकुले। णत्थि—न संति न विद्यन्ते। इमे—एते। पंच आधारा—आधारभूताः अनुग्रहकुशलाः। के तेऽत आह—आयरिय—आचार्यः। उवज्झाय—उपाध्यायः, आचर्यतेऽस्मादाचार्यः, उपेत्यास्मादधीयते उपाध्यायः। पवत्त—प्रवर्तकः, संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः। थविर—स्थविर यस्मात् स्थिराणि आचरणानि भवन्तीति स्थविरः। गणधरा य—गणधराश्च गणं धरतीति गणधरः। यत्र इमे पंचाधारा आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणधरा न सन्ति तत्र न कल्पते वास इति ॥१५५॥

अथ किंलक्षणास्तेऽत आह—

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ॥१५६॥

एतेषामाचार्यादीनामेतानि यथासंख्येन लक्षणानि। सिस्साणुग्गहकुसलो—शिष्यस्य शासितुं योग्यस्यानुग्रह उपादानं तस्मिंस्तस्य वा कुशलो दक्षः शिष्यानुग्रहकुशलो दीक्षादिभिरनुग्राहकः परस्यात्मनश्च। धम्मुवदेसो य—धर्मस्य दशप्रकारस्योपदेशकः कथकः धर्मोपदेशकः। संघवट्टवओ—संघप्रवर्तकश्चर्यादिभिरुपकारकः। मज्जादुवदेसोविय—मर्यादायाः स्थितेरुपदेशको मर्यादोपदेशकः। गणपरिरक्खो—गणस्य परिरक्षकः

गाथार्थ—जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार नहीं हैं वहाँ पर रहना उचित नहीं है ॥१५५॥

आचारवृत्ति—जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं। पास में आकर जिनसे अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। जो संघ का प्रवर्तन करते हैं वे प्रवर्तक कहलाते हैं। जिनसे आचरण स्थिर होते हैं वे स्थविर कहलाते हैं और जो गण—संघ को धारण करते हैं वे गणधर कहलाते हैं। जिस गुरुकुल में ये पांच आधारभूत—अनुग्रह करने में कुशल नहीं हैं उस गुरुकुल—संघ में उपर्युक्त मुनि का रहना उचित नहीं है।

इनके लक्षण क्या क्या हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल को आचार्य, धर्म के उपदेशक को उपाध्याय, संघ की प्रवृत्ति करनेवाले को प्रवर्तक, मर्यादा के उपदेशक को स्थविर और गण के रक्षक को गणधर जानना चाहिए ॥१५६॥

आचारवृत्ति—इन आचार्य आदिकों के ये उपर्युक्त लक्षण क्रम से कहे गये हैं। 'शासितुं योग्यः शिष्यः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अनुशासन के योग्य हैं वे शिष्य कहलाते हैं। उनके अनुग्रह में अर्थात् उनको ग्रहण करने में जो कुशल होते हैं, दीक्षा आदि के द्वारा पर के ऊपर और स्वयं पर अनुग्रह करनेवाले हैं वे आचार्य कहलाते हैं। दश प्रकार के धर्म को कहनेवाले उपाध्याय कहलाते हैं। चर्या आदि के द्वारा संघ का प्रवर्तन करनेवाले प्रवर्तक होते हैं। मर्यादा का उपदेश देनेवाले अर्थात् व्यवस्था बनानेवाले स्थविर कहलाते हैं और गण के पालन

पालकोगणपरिरक्षकश्च । मुणेयव्वो—मन्तव्यो ज्ञातव्यः । मन्तव्यशब्दः सर्वत्र संबंधनीयः । यत्र चैते पंचाधाराः सन्ति तत्र वासः कर्तव्य इति शेषः ॥१५६॥

अथ तेन गच्छता यदन्तराले किंचिल्लब्धं पुस्तकादिकं तस्य कोऽर्हं इत्याह—

जंतेणंतरलद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं ।
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवंगुणो सोवि ॥१५७॥

जंतेण—यत्तेन[1] । **अंतरलद्धं**—अन्तराले लब्धं प्राप्तं । **सचित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं**—सचित्ताचित्तमिश्रकं द्रव्यं सचित्तं छात्रादिकं, अचित्तं पुस्तकादिकं, मिश्रं पुस्तकादिसमन्वितं जीवद्रव्यं । **तस्स य**—तस्य च । **सो आयरिओ**—स आचार्यः । **अरिहदि**—अर्हः । अथवा तद्द्रव्यं आचार्योऽर्हति । सचित्ताचित्तमिश्रकं द्रव्यं यत्तेनान्तराले लब्धं तस्य स आचार्योऽर्होऽर्हति वा तद्द्रव्यमिति वा आचार्योऽपि कथं विशिष्टः **एवंगुणो सोवि**—एवंगुणः सोऽपि ।

कथंगुणोत आह—

संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती ।
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य ॥१५८॥

संगहणुग्गहकुसलो—संग्रहणं सग्रहः, अनुग्रहणमनुग्रहः, कोऽनयोर्भेदो दीक्षादिदानेनात्मीयकरणं

करनेवाले को गणधर कहते हैं, ऐसा जानना चाहिए । जिस संघ में ये पांच आधार रहते हैं उसी संघ में निवास करना चाहिए ।

विहार करते हुए मार्ग के मध्य जो कुछ भी पुस्तक या शिष्य आदि मिलते हैं उनको ग्रहण करने के लिए कौन योग्य हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर बताते हैं—

गाथार्थ—उस मुनि ने सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र ऐसा द्रव्य जो कुछ भी मार्ग के मध्य प्राप्त किया है उसके ग्रहण करने के लिए वह आचार्य योग्य होता है । वह आचार्य भी आगे कहे हुए गुणों से विशिष्ट होना चाहिए ॥१५७॥

आचारवृत्ति—उस मुनि के विहार करते हुए मार्ग के गांवों में जो कुछ भी द्रव्य सचित्त—छात्र आदि, अचित्त—पुस्तक आदि और मिश्र—पुस्तक आदि से सहित शिष्य आदि मिलते हैं उन सब द्रव्य का स्वामी वह आचार्य होता है । आचार्य भी कैसे होना चाहिए ? वह आचार्य भी आगे कहे जानेवाले गुणों से समन्वित होना चाहिए ।

वह आचार्य किन गुणों से युक्त होना चाहिए ? सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—वह आचार्य संग्रह और अनुग्रह में कुशल, सूत्र के अर्थ में विशारद, कीर्ति से प्रसिद्धि को प्राप्त, क्रिया और चारित्र में तत्पर और ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन बोलनेवाला होता है ॥१५८॥

आचारवृत्ति—संग्रह और अनुग्रह में क्या अन्तर है ? दीक्षा आदि देकर अपना

---

1. क यत्नेन ।

संग्रहः दत्तदीक्षस्य शास्त्रादिभिः संस्करणमनुग्रहस्तयोः कर्तव्ये ताभ्यां वा कुशलो निपुणः। सुत्तत्थविसारओ—सूत्रं चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोस्ताभ्यां वा विशारदोऽवबोधको विस्तारको वा सूत्रार्थविशारदः। पहिदकित्ती—प्रख्यातकीर्तिः। किरियाचरणसुजुत्तो—क्रिया त्रयोदशप्रकारा पंचनमस्कारावश्यकासिकानिषेधिकाभेदात्। आचरणमपि—त्रयोदशविधं पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिविकल्पात्। तयोस्ताभ्यां वा सुयुक्तः आसक्तः क्रियाचरणसुयुक्तः। गाहुयं—ग्राह्यं। आदेज्जं—आदेयं। ग्राह्यं वचनं यस्यासौ ग्राह्यादेयवचनः। उक्तमात्रस्य ग्रहणं ग्राह्यं एवमेवैतदित्यनेन भावेन ग्रहणं, आदेयं प्रमाणीभूतम् ॥१५८॥

पुनरपि—

गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो।
खिदिससिसायरसरसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥१५९॥

गंभीरो—अक्षोभ्यो गुणैरगाधः। दुद्धरिसो—दुःखेन धृष्यत इति दुर्धर्षः प्रवादिभिरकृतपरिभवः। सूरो—शूरः शौर्योपेतः समर्थः। धम्मप्पहावणासीलो—धर्मश्च प्रभावना च धर्मस्य वा प्रभावना तयोस्ताभ्यां वा शीलं तात्पर्येण वृत्तिर्यस्यासौ धर्मप्रभावनाशीलः। खिदि—क्षितिः पृथिवी, ससि—शशी चन्द्रमा, सायर—

बनाना संग्रह है और जिन्हें दीक्षा आदि दे चुके हैं ऐसे शिष्यों का शास्त्रादि के द्वारा संस्कार करना अनुग्रह है अर्थात् दीक्षा आदि देकर शिष्यों को संघ में एकत्रित करना संग्रह है और पुनः उन्हें पढ़ा लिखाकर योग्य बनाना अनुग्रह है। इन संग्रह और अनुग्रह के कार्य में जो कुशल हैं, निपुण हैं वे 'संग्रहानुग्रहकुशल' कहलाते हैं। जो सूत्र और अर्थ में विशारद हैं, उनको समझाने वाले हैं अथवा उन सूत्र और अर्थ का विस्तार से प्रतिपादन करनेवाले हैं वे 'सूत्रार्थविशारद' कहलाते हैं। जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही है, जो पाँच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका—इन तेरह प्रकार की क्रियाओं में तथा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र में सम्यक् प्रकार से लगे हुए हैं, आसक्त हैं तथा जिनके वचन ग्राह्य और आदेय हैं, अर्थात् उक्त—कथित मात्र को ग्रहण करना ग्राह्य है जैसे कि गुरु ने कुछ कहा तो 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार के भाव से उन वचनों को ग्रहण करना ग्राह्य है और आदेय प्रमाणीभूत वचन को आदेय कहते हैं। जिनके वचन ग्राह्य और आदेय हैं ऐसे उपर्युक्त सभी गुणों से समन्वित ही आचार्य होते हैं।

पुनरपि उनमें क्या क्या गुण होते हैं?—

गाथार्थ—जो गंभीर हैं, दुर्धर्ष हैं, शूर हैं और धर्म की प्रभावना करनेवाले हैं, भूमि, चन्द्र और समुद्र के गुणों के सदृश हैं इन गुण विशिष्ट आचार्य को वह मुनि क्रम से प्राप्त करता है ॥१५९॥

आचारवृत्ति—जो क्षुभित नहीं होने से अक्षोभ्य हैं और गुणों से अगाध हैं वे गंभीर कहलाते हैं। जिनका प्रवादियों के द्वारा परिभव—तिरस्कार नहीं किया जा सकता है वे दुर्धर्ष कहलाते हैं। शौर्य गुण से सहित अर्थात् समर्थ को शूर कहते हैं। जो गम्भीर हैं, प्रवादियों से अजेय हैं, समर्थ हैं और धर्म की प्रभावना करने का ही जिनका स्वभाव है, जो क्षमागुण से पृथ्वी के सदृश हैं, सौम्य गुण से चन्द्रमा के सदृश और निर्मलता गुण से समुद्र के समान हैं—

सागरः समुद्रः। क्षमया क्षितिः सौम्येन शशी निर्मलत्वेन सागरोऽन्तरतः। सरिसो—सदृशः समः क्षितिशशिसागरसदृशः। एवंगुणविशिष्टो य आचार्यस्तमाचार्यम्। कमेण—क्रमेण न्यायेनागमोक्तेन। सो दु—स तु शिष्यः। संपत्तो—संप्राप्तः प्राप्तवानिति ॥१५९॥

तस्यागतस्याचार्यादयः किं कुर्वन्तीत्याह—

> आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे।
> वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठंति ॥१६०॥

आएसं—आगतं पादोष्णं प्राघूर्णकं [1]आयस्यागतं कृत्वा वा। एज्जंतं—आगच्छन्तं। सहसा—तत्क्षणादेव। दट्ठूण—दृष्ट्वा। संजदा—संयताः। सव्वे—सर्वेऽपि। समुट्ठंति—समुत्तिष्ठन्ते ऊर्ध्वगा भवन्ति। किंहेतोरित्याह—वच्छल्ल—वात्सल्यनिमित्तं। आणा—सर्वज्ञाज्ञापालनकारणं। संगह—संग्रहं आत्मीयकरणार्थं। पणमणहेदुं—प्रणमनहेतोश्च ॥१६०॥

पुनरपि—

> पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च।
> पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥१६१॥

पच्चुग्गमणं किच्चा—प्रत्युद्गमनं कृत्वा। सत्तपदं—सप्तपदं यथा भवति। अण्णमण्णपणमं च—अन्योन्यप्रणामं च परस्परवन्दनाप्रतिवन्दने च। ततः पाहुणकरणीयकदे—पादोष्णस्य कर्तव्यं तस्मिन् कृते प्रतिपादिते सति पश्चात्। तिरयणसंपुच्छणं—त्रिरत्नसंप्रश्नं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसंप्रश्नं। कुज्जा—कुर्यात्करोतु ॥१६१॥

इन गुण विशिष्ट आचार्य को वह मुनि आगम में कथित प्रकार से प्राप्त करता है। अर्थात् उपर्युक्त गुणसमन्वित के पास वह मुनि पहुँच जाता है।

इस आगत मुनि के लिए आचार्य आदि क्या करते हैं? सो कहते हैं—

गाथार्थ—प्रयास से आते हुए मुनि को देखकर सभी साधु वात्सल्य, जिन आज्ञा, उसका संग्रह और उसे प्रणाम करने के लिए तत्काल ही उठकर खड़े हो जाते हैं ॥१६०॥

आचारवृत्ति—आयासपूर्वक—पर संघ से प्रयास कर आते हुए आगन्तुक मुनि को देखकर संघ के सभी मुनि उठकर खड़े हो जाते हैं। किसलिए? मुनि के प्रति वात्सल्य के लिए, सर्वज्ञदेव की आज्ञा पालन करने के लिए, आगंतुक साधु को अपनाने के लिए, और उनको प्रणाम करने के लिए वे संयत तत्क्षण खड़े हो जाते हैं।

पुनरपि वारतव्य साधु क्या करें?—

गाथार्थ—वे मुनि सात कदम आगे जाकर परस्पर में प्रणाम करके आगन्तुक के प्रति करने योग्य कर्तव्य के लिए उनसे रत्नत्रय की कुशलता पूछें ॥१६१॥

आचारवृत्ति—उठकर खड़े होकर वे संयत सात कदम आगे बढ़कर, परस्पर में वन्दना प्रतिवन्दना करें। पुनः आये हुए अतिथि के प्रति जो कर्तव्य है उसको करने के अनन्तर उनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का कुशल प्रश्न करें।

---

१. क आगन्त्वागतं। २. क 'पाहुणकाणं'।

पुनरपि तस्यागतस्य किं क्रियत इत्याह—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दायव्वो।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेऊं ॥१६२॥

आएसस्स—आगतस्य पादोष्णस्य। तिरत्तं—त्रिरात्रं त्रयो दिवसाः। **णियमा**—नियमान्निश्चयेन। **संघाडओ**—संघाटकः सहायः। त्वेवकारार्थे। **दायव्वो**—दातव्यः। केषु प्रदेशेष्वत आह—**किरिया**—क्रियाः स्वाध्यायवन्दनाप्रतिक्रमणादिकाः। **संथार**—संस्तारं शयनीयप्रदेशस्तावादिर्येषां ते क्रियासंस्तारादयस्तेषु षडावश्यकक्रियास्वाध्यायसंस्तरभिक्षामूत्रपुरीषोत्सर्गादिषु[1]। किंनिमित्तमत आह—**सहवास**—सहवसनं सहवासस्तेन सार्द्धमेकस्मिन् स्थाने सम्यग्दर्शनादिषु सहाचरणं तस्य **परिक्खणाहेऊं**—परीक्षणं परीक्षा वा तदेव हेतुः कारणं सहवासपरीक्षणहेतुस्तस्मात्तेन सहाचरणं करिष्याम इति हेतोः। आगतस्य नियमात्त्रिरात्रं संघाटको दातव्यः क्रियासंस्तरादिषु सहवासपरीक्षणनिमित्तमिति ॥१६२॥

किं तैरेव परीक्षा कर्तव्या नेत्याह—

आगंतुयवत्थव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णाहिं।
अण्णोण्णकरणचरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥१६३॥

आगंतुयवत्थव्वा—आगन्तुकाश्च वास्तव्याश्चागन्तुकवास्तव्याः। **पडिलेहाहिं**—अन्याभिरन्याभिः क्रियाभिः प्रतिलेखनेन[2] भोजनेन स्वाध्यायेन प्रतिक्रमणादिभिश्च। **अण्णमण्णाहिं**—परस्परं। **अण्णोण्णं**—त्रयोदशक्रियाचारित्रं। अथवान्योऽन्यस्य **करणचरणं**—तयोर्ज्ञानं तदर्थं अन्योन्यकरणचरणज्ञानहेतोः।

पुनरपि उन आगत मुनि के लिए क्या करते हैं? सो बताते हैं—

गाथार्थ—क्रियाओं में और संस्तर आदि में सहवास तथा परीक्षा के लिए आगन्तुक को तीन रात्रि तक नियम से सहाय देना चाहिए ॥१६२॥

आचारवृत्ति—स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ हैं और शयनीय प्रदेश में भूमि, शिला, पाटे या तृण को बिछाना सो संस्तर है तथा आदि शब्द से आहार ग्रहण, मल-मूत्र विसर्जन आदि में, छह आवश्यक क्रियाओं में, स्वाध्याय करने के समय में उनके साथ एक स्थान में रहकर उन सभी में परीक्षा करने के लिए अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि की परीक्षा के लिए आगन्तुक मुनियों को नियम से तीन रात्रिपर्यन्त स्थान देना ही चाहिए।

ऐसा क्यों करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आगन्तुक और वास्तव्य मुनि अन्य-अन्य क्रियाओं के द्वारा और प्रतिलेखन के द्वारा परस्पर में एक-दूसरे की क्रिया और चारित्र को जानने के लिए परीक्षा करते हैं ॥१६३॥

आचारवृत्ति—अतिथि मुनि और संघ में रहनेवाले मुनि आपस में एक-दूसरे की त्रयोदशविध क्रियाओं को और त्रयोदशविध चारित्र को जानने के लिए पिच्छिका से प्रतिलेखन क्रिया में, आहार में, स्वाध्याय और प्रतिक्रमण आदि में एक-दूसरे की परीक्षा करते हैं। अर्थात्

---

1 क 'षु महा'। 2 क 'नेन स्वा'।

परिक्खंति—परीक्षन्ते गवेषयन्ति। परस्परं त्रयोदशविधकरणचरणं आगन्तुकवास्तव्याः परीक्षन्ते काभिः कृत्वा ? परस्परं दर्शनप्रतिदर्शनक्रियाभिः किंहेतोरवबोधार्थमिति ॥१६३॥

केषु प्रदेशेषु परीक्षन्ते तत आह—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे।
सज्झाएगविहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥१६४॥

आवासयठाणादिसु—आवश्यकस्थानादिषु षडावश्यकक्रियाकायोत्सर्गादिषु आदिशब्दाद्यद्यपि शेषस्य संग्रहः तथापि स्पष्टार्थमुच्यते। पडिलेहणं—प्रतिलेखनं चक्षुरिन्द्रियपिच्छिकादिभिस्तात्पर्यं। वयणं—वचनं। **गहणं**—ग्रहणं। **णिक्खेवो**—निक्षेप एतेषां द्वन्द्वः प्रतिलेखनवचनग्रहणनिक्षेपेषु। सज्झाये—स्वाध्याये। **एगविहारे**—एकाकिनो गमनागमने। भिक्खग्गहणे—भिक्षाग्रहणे चर्यामार्गे। परिच्छंति—परीक्षन्तेऽन्वेषयन्ति ॥१६४॥

परीक्ष्यागन्तुको यत्करोति तदर्थमाह—

विस्समिदो तद्दिवसं मीमंसित्ता णिवेदयदि गणिणे।
विणएणागमकज्जं विदिए तदिए व दिवसम्मि ॥१६५॥

विस्समिदो—विश्रान्तः सन् विश्रम्य पथश्रमं त्यक्त्वा। तद्दिवसं—तस्मिन्वा दिने तद्दिवसं विश्रम्य गमयित्वा। **मीमंसित्ता**—मीमांसित्वा परीक्ष्य तच्छुद्धाचरणं ज्ञात्वा। **णिवेदयइ**—निवेदयति प्रतिबोध-

---

अतिथि मुनि संघस्थ मुनियों की क्रियाओं को देखकर उनके द्वारा उनकी क्रिया और चारित्र का ज्ञान करते हैं और संघस्थ मुनि आगन्तुक की सभी क्रियाओं को देखते हुए उनके चारित्र आदि की जानकारी लेते हैं।

किन-किन स्थानों में परीक्षा करते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—*आवश्यक क्रिया के स्थान आदि में, प्रतिलेखन करने, बोलने और उठाने धरने में, स्वाध्याय में, एकाकी गमन में और आहारग्रहण में परीक्षा करते हैं ॥१६४॥*

आचारवृत्ति—छह आवश्यक क्रिया आदि के कायोत्सर्ग आदि प्रसंगों में, किसी वस्तु को चक्षु इन्द्रिय से देखकर पुनः पिच्छिका से परिमार्जन कर ग्रहण करते हैं या नहीं ऐसी प्रतिलेखन क्रिया में, वचन बोलने में और किसी वस्तु के प्रतिलेखनपूर्वक धरने या उठाने में, स्वाध्याय क्रिया में, एकाकी गमन-आगमन करने में और चर्या के मार्ग में, वे साधु आपस में एक-दूसरे की परीक्षा करते हैं। अर्थात् इनकी क्रियाएँ आगमोक्त हैं या नहीं ऐसा देखते हैं।

परीक्षा करके आगन्तुक मुनि जो कुछ करता है उसे बताते हैं—

गाथार्थ—*आगन्तुक मुनि उस दिन विश्रांति लेकर और परीक्षा करके विनयपूर्वक अपने आने के कार्य को दूसरे या तीसरे दिन आचार्य के पास निवेदित करता है ॥१६५॥*

आचारवृत्ति—जिस दिन आए हैं उस दिन मार्ग के श्रम को [illegible] विश्रांति में बिताकर पुनः आपस में परीक्षा करके आगन्तुक मुनि उस संघ के [illegible]

यति। गणिणे—गणिने आचार्याय। विणएण—विनयेन। आगमकज्जं—आगमनकार्यं स्वकीयागमनप्रयोजनं। विदिए—द्वितीये। तदिए—तृतीये। दिवसम्मि—दिवसे। तं दिवसं विश्रम्य द्वितीये तृतीये वा दिवसे विनयेनोपढौक्याचरणं च परीक्ष्याचार्यायागमनकार्यं निवेदयत्यागन्तुकः। अथवाचार्यस्य गृह्यास्तं[1] परीक्ष्य निवेदयन्ति गणिने इति ॥१६५॥

एवं [2]निवेदयते यदाचार्यः करोति तदर्थमाह—

आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरिसवासं च।
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा ॥१६६॥

आगन्तुक णामकुलं—आगन्तुकस्य पादोष्णस्य, नाम—संज्ञा, कुलं—गुरुसंतानः, गुरुः—प्रव्रज्यायादाता। दिक्खामाणं—दीक्षाया मानं परिमाणं। वरिसवासं च—वर्षस्य वासः वर्षावासश्च वर्षाकालकरणं च, आगमणदिसा—आगमनस्य दिशा कस्या दिश आगतः। सिक्खा—शिक्षा श्रुतपरिज्ञानं। पडिक्कमणादीय—प्रतिक्रमण आदिर्येषां ते प्रतिक्रमणादयः। गुरुपुच्छा—गुरोः पृच्छा गुरुपृच्छा। एवं गुरुणा तस्यागतस्य पृच्छा क्रियते किं तव नाम? कुलं च ते किं? गुरुश्च युष्माकं कः? दीक्षापरिमाणं च भवतः कियत्? वर्षाकालश्च भवद्भिः क्व कृतः? कस्या दिशो भवानागतः? किं पठितः? किं च[3] श्रुतं त्वया, कियन्त्यः प्रतिक्रमणास्तव संजाताः, न च[4] भूताः कियन्त्यः। प्रतिक्रमणाशब्दो युजन्तोऽयं द्रष्टव्यः। किं च त्वया श्रवणीयं? कियतोऽध्वन आगतो भवानित्यादि ॥१६६॥

एवं तस्य स्वरूपं ज्ञात्वा—

आचरण को शुद्ध जानकर, दूसरे दिन या तीसरे दिन आचार्य के निकट आकर विनयपूर्वक अपने विद्या-अध्ययन हेतु आगमन के कार्य को आचार्य के पास निवेदन करते हैं। अथवा संघस्थ आचार्य के शिष्य मुनिवर्ग उस आगन्तुक की परीक्षा करके 'यह ग्रहण करने योग्य है' ऐसा आचार्य के समीप निवेदन करते हैं।

ऐसा निवेदन करने पर आचार्य जो कुछ करते हैं उसे कहते हैं—

गाथार्थ—आगन्तुक का नाम, कुल, गुरु, दीक्षा के दिन, वर्षावास, आने की दिशा, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि के विषय में गुरु प्रश्न करते हैं ॥१६६॥

आचारवृत्ति—गुरु आगन्तुक मुनि से प्रश्न करते हैं। क्या-क्या प्रश्न करते हैं सो बताते हैं। तुम्हारा नाम क्या है? तुम्हारा कुल—गुरुपरम्परा क्या है? तुम्हारे गुरु कौन हैं? तुम्हें दीक्षा लिये कितने दिन हुए हैं? तुमने वर्षायोग कितने और कहाँ-कहाँ किये हैं? तुम किस दिशा से आये हो? तुमने क्या-क्या पढ़ा है? अर्थात् तुम्हारा श्रुतज्ञान कितना है और तुमने क्या-क्या सुना है? तुम्हारे कितने प्रतिक्रमण हुए हैं और कितने नहीं हुए हैं? और तुम्हें अभी क्या सुनना है? तुम किस मार्ग से आए हो? इत्यादि प्रश्न करते हैं। तब शिष्य उनको समुचित उत्तर देता है।

प्रश्नों के उत्तर सुनकर और उसके स्वरूप को जानकर आचार्य क्या करते हैं? सो बताते हैं—

---

१. क 'मां श्रुतं च'। २. क निवेदिते। ३. क वर्षाकालकरणम्। ४. क न्ताश्च ताः।

जदि चरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीदमेधावी ।
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥१६७॥

जइ—यदि । चरणकरणसुद्धो—चरणकरणशुद्धः चरणकरणयोर्लक्षणं व्याख्यातं ताभ्यां शुद्धः । णिच्चुज्जुत्तो—नित्योद्युक्तो विगतातीचारः । विणीद—विनीतः । मेधावी—बुद्धिमान् । तस्सिट्ठं—तस्येष्टं यथावाञ्छितं । कधिदव्वं—कथयितव्यं निवेदयितव्यं । सगसुदसत्तीए—स्वकीयश्रुतशक्त्या यथात्मपरिज्ञानं । भणिऊण—भणित्वा प्रतिपाद्य । यद्यसौ चरणकरणशुद्धो विनीतो बुद्धिमान् नित्योद्युक्तश्च तदानीं तेनाचार्येण तस्येष्टं कथयितव्यं स्वकीयश्रुतशक्त्या भणित्वा भणतीति ॥१६७॥

अथैवमसौ न भवतीति तदानीं किं कर्तव्यं ? इत्युत्तरमाह—

जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं ।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अध गिण्हदि सोवि छेदरिहो ॥१६८॥

जदि—यदि । इदरो—इतरो व्रतचरणैरशुद्धः । सो—सः आगन्तुकः । अजोगो—अयोग्यो देववन्दनादिभिः, अथवा योग्यः प्रायश्चित्तशास्त्रदृष्टः। छेदो—छेदः तपोयुक्तस्य कालस्य पादत्रिभागार्धादि[1] परिहारः । उवट्ठापणं च—उपस्थापनं न । यदि सर्वथा व्रताद् भ्रष्टः पुनर्व्रतारोपणं । कादव्वो—कर्तव्यः करणीयः कर्तव्यं वा । जदि णेच्छदि—यदि नेच्छेत् अथ नाभ्युगच्छति अथवा लङन्तोयं प्रयोगः । छंडेज्जो—त्यजेत् परिहरेत् । अध गिण्हदि—अथ तादृग्भूतमपि छेदार्हं तं गृह्णाति अदत्तप्रायश्चित्त तदानीं । सोवि—सोऽप्याचार्यः ।

गाथार्थ—यदि वह क्रिया और चारित्र में शुद्ध है, नित्य उत्साही विनीत है और बुद्धिमान है तो श्रुतज्ञान के सामर्थ्य के अनुसार उसे अपना इष्ट कहना चाहिए ॥१६७॥

आचारवृत्ति—यदि आगन्तुक मुनि चारित्र और क्रियाओं में शुद्ध है, नित्य ही उद्यमशील है अर्थात् अतिचार रहित आचरण वाला है, विनयी और बुद्धिमान है तो वह जो पढ़ना चाहता है उसे अपने ज्ञान की सामर्थ्य के अनुसार पढ़ाना चाहिए। अथवा उसे संघ में स्वीकार करके उसे उसकी बुद्धि के अनुरूप अध्ययन कराना चाहिए।

यदि वह मुनि उपर्युक्त गुण विशिष्ट नहीं है तो क्या करना चाहिए ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—यदि वह अन्य रूप है, अयोग्य है, तो उसका छेद करके उपस्थापन करना चाहिए। यदि वह छेदोपस्थापना नहीं चाहता है और ये आचार्य उसे रख लेते हैं तो ये आचार्य भी छेद के योग्य हो जाते हैं ॥१६८॥

आचारवृत्ति—यदि वह आगन्तुक मुनि व्रत और चारित्र में अशुद्ध है और देववन्दना आदि क्रियाओं से अयोग्य है तो उसकी दीक्षा का एक हिस्सा या आधी दीक्षा या उसका तीन भाग छेद करके पुनः उपस्थापना करना चाहिए। यदि सर्वथा वह व्रतों से भ्रष्ट है तो उसे पुनः व्रत अर्थात् पुनः दीक्षा देना चाहिए। यहाँ गाथा में जो 'अजोग्गो' पद है उसको 'जोग्गो' पाठ मानकर ऐसा भी अर्थ किया है कि उसे यथा योग्य प्रायश्चित्त शास्त्र के अनुसार छेद आदि प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि वह मुनि छेद या उपस्थापना प्रायश्चित्त नहीं स्वीकार करे फिर

---

1. क °देरपहारः ।

छेदरिहो—छेदार्हः प्रायश्चित्तयोग्यः संजातः। यदि स शिष्यः प्रायश्चित्तयोग्यो भवति तदानीं तस्य च्छेदः कर्तव्यः उपस्थापनं वा कर्तव्यं अथ नेच्छति छेदमुपस्थानं वा तं त्यजेत्। यदि पुनर्मोहात्तं गृह्णाति सोऽप्याचार्यश्छेदार्हो भवतीति ॥१६८॥

तत ऊर्ध्वं किं कर्त्तव्यं ? इत्याह—

एवं विधिणुववण्णो एवं विधिणेव सोवि संगहिदो।
सुत्तत्थं सिक्खंतो एवं कुज्जा पयत्तेण ॥१६९॥

एवं—कथितविधानेनैवंविधिना। उववण्णो—उत्पन्न उपस्थितः पादोष्णः तेनाप्याचार्येण एवंविधिना कथितविधानेन कृताचरणशोधनेन। सोवि—सोऽपि शिक्षकः। संगहिदो—संगृहीतः आत्मीकृतः सन्। एवं कुज्जा—एवं कुर्यात् एवं कर्तव्यं तेन। पयत्तेण—प्रयत्नेनादरेण। कथमेवं कुर्यात्? सुत्तत्थं—सूत्रार्थं। सिक्खंतो—शिक्षमाणः। सूत्रार्थं शिक्षमाणं कुर्यात्। सूत्रार्थं शिक्षमाणेनैतत्कर्तव्यमिति वा।

किं तत्तेन कर्तव्यमित्याह—

पडिलेहिऊण सम्मं दव्वं खेत्तं च कालभावे य।
विणयउवयारजुत्तेणज्झेदव्वं पयत्तेण ॥१७०॥

पडिलेहिऊण—प्रतिलेख्य निरूप्य। सम्मं—सम्यक्। दव्वं—द्रव्यं शरीरगतं पिट[1]कादिव्रणगतं भूमिगतं चर्मास्थिमूत्रपुरीषादिकं। खेत्तं च—क्षेत्रं च हस्तशतमात्रभूमिभागं। कालभावेय—कालभावौ च

भी यदि संघस्थ आचार्य उसे ग्रहण कर लेवें तो वे आचार्य भी प्रायश्चित्त के योग्य हो जाते हैं। अर्थात् यदि आचार्य शिष्यादि के मोह से उसे यों ही रख लेते हैं तो वे भी प्रायश्चित्त के पात्र हो जाते हैं।

पुनः इससे बाद क्या करना चाहिए ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधि से वह मुनि ठीक है और उपर्युक्त विधि से ही यदि आचार्य ने ग्रहण किया है तब वह प्रयत्नपूर्वक सूत्र के अर्थ को ग्रहण करता हुआ ऐसा करे ॥१६९॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त विधि से वह आगन्तुक मुनि यदि प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेता है और आचार्य भी आगमकथित प्रकार से जब उसे प्रायश्चित्त देकर उसके आचरण को शुद्ध कर लेते हैं, उसको अपना लेते हैं तब वह मुनि भी आदरपूर्वक गुरु से सूत्र के अर्थ को पढ़ता हुआ आगे कही विधि के अनुसार ही अध्ययन करे।

पुनः उस मुनि को क्या करना चाहिए ? सो कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् प्रकार से शुद्धि करके विनय और उपचार से सहित होकर प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करना चाहिए ॥१७०॥

आचारवृत्ति—शरीरगत शुद्धि द्रव्यशुद्धि है। जैसे शरीर में घाव, पीड़ा कष्ट आदि का नहीं होना। भूमिगत शुद्धि क्षेत्रशुद्धि है। जैसे चर्म, हड्डी, मूत्र मल आदि का नहीं होना

---

1. क पिटका'।

संध्यागर्जनविद्युदुत्पातादिसमयविवर्जनं कालशुद्धिः। क्रोधमानमायालोभादिविवर्जनं भावशुद्धिः परिणामशुद्धिः, क्षेत्रगताशुद्ध्यपनयनं क्षेत्रशुद्धिः, शरीरादिशोधनं द्रव्यशुद्धिः। विणयउवयारजुत्तेण—विनयश्चोपचारश्च विनय एवोपचारस्ताभ्यां तेन वा युक्तः समन्वितो विनयोपचारयुक्तस्तेन। अज्झेयव्वं—अध्येतव्यं पठितव्यं। पयत्तेण—प्रयत्नेन। द्रव्यक्षेत्रकालभावान् सम्यक् प्रतिलेख्य तेन शिष्येण विनयोपचारयुक्तेन प्रयत्नेनाध्येतव्यं नोपेक्षणीय-मिति ॥१७०॥

यदि पुनः—

दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण।
असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च ॥१७१॥

दव्वादिवदिक्कमणं—द्रव्यमादिर्येषां ते द्रव्यादयस्तेषां व्यतिक्रमणमतिक्रमोऽविनयो द्रव्यादिव्यति-क्रमणं द्रव्यक्षेत्रकालभावैः शास्त्रस्य परिभवं। करेदि—करोति कुर्यात्। सुत्तत्थसिक्खलोहेण—सूत्रं चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोः शिक्षात्मसंस्कारोऽवबोध आगमनं तस्या लोभ आसक्तिस्तेन सूत्रार्थशिक्षालोभेन। असमाहिं—असमाधिः मनसोऽसमाधानं सम्यक्त्वादिविराधनं। असज्झायं—अस्वाध्यायः शास्त्रादीनामलाभः शरीरादे-विघातो वा। कलहं—कलह आचार्यशिष्ययोः परस्परं द्वन्द्वः, अन्यैर्वा। वाहिं—व्याधिः ज्वरश्वासकासभग-न्दरादिः। विओगं च—वियोगश्च। च समुच्चयार्थः। आचार्यशिष्ययोरेकस्मिन्ननवस्थानं। यदि पुनर्द्रव्या-

---

प्रमाण भूमिभाग में नहीं होना। सन्ध्याकाल, मेघगर्जन काल, विद्युत्पात और उत्पात आदि काल से रहित समय का होना कालशुद्धि है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों का त्याग करना भावशुद्धि है। अर्थात् इस प्रकार से क्षेत्र में होनेवाली अशुद्धि को दूर करना उस क्षेत्र से अतिरिक्त क्षेत्र का होना क्षेत्रशुद्धि है। शरीर आदि का शोधन करना अर्थात् शरीर में ज्वर आदि या शरीर से पीव खून आदि के बहते समय के अतिरिक्त स्वस्थ शरीर का होना द्रव्य-शुद्धि है, संधि काल आदि के अतिरिक्त काल का होना कालशुद्धि है और कषायादि रहित परिणाम होना ही भावशुद्धि है। प्रयत्नपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को सम्यक् प्रकार से शोधन करके विनय और औपचारिक क्रियाओं से युक्त होकर उस मुनि को गुरु के मुख से सूत्रों का अध्ययन करना चाहिए।

यदि पुनः ऐसा नहीं हो तो क्या होगा ?

गाथार्थ—यदि सूत्र के अर्थ की शिक्षा के लोभ से द्रव्य, क्षेत्र आदि का उल्लंघन करता है तो वह असमाधि, अस्वाध्याय, कलह, रोग और वियोग को प्राप्त करता है ॥१७१॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि सूत्र और उसके निमित्त से होनेवाला आत्मसंस्कार रूप ज्ञान, उसके लोभ से—आसक्ति से पूर्वोक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि को उल्लंघन करके पढ़ता है तो मन में असमाधानी रूप असमाधि को अथवा सम्यक्त्व आदि की विराधनारूप असमाधि को प्राप्त करता है, शास्त्रादि का अलाभ अथवा शरीर आदि के विघात रूप से अस्वाध्याय को प्राप्त करता है। या आचार्य और शिष्य में परस्पर में कलह हो जाती है अथवा अन्य के साथ कलह हो जाती है। अथवा ज्वर, श्वास, खांसी, भगंदर आदि रोगों का आक्रमण हो जाता है या आचार्य और शिष्य के एक जगह नहीं रह सकने रूप वियोग हो जाता है।

दिव्यतिक्रमणं करोति सूत्रार्थशिक्षालोभेन शिष्यस्तदानीं किं स्यात्? असमाध्यस्वाध्यायकलहव्याधिवियोगाः स्युः ॥१७१॥

न केवलं शास्त्रपठननिमित्तं शुद्धिः क्रियते तेन किंतु जीवदयानिमित्तं चेति—

संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे।
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥१७२॥

संथारवासयाणं—संस्तारश्चतुर्धा भूमिशिलाफलकतृणभेदात् आवासोऽवकाशः आकाशप्रदेशसमूहः संस्तरादिप्रदेश इत्यर्थः। संस्तरश्चावकाशश्च संस्तरावकाशौ तावादिर्येषां ते संस्तरावकाशादयः बहुवचननिर्देशादादिशब्दोपादानं तेषां संस्तरावकाशादीनां। पाणीलेहाहिं—पाणिलेखाभिर्हस्ततलगतलेखाभिः। दंसणुज्जोवे—दर्शनस्य चक्षुष उद्योतः प्रकाशो दर्शनोद्योतस्तस्मिन् दर्शनोद्योते पाणिरेखादर्शनहेतुभूते चक्षुप्रकाशे यावता चक्षुरुद्योतेन हस्तरेखा दृश्यन्ते तावति चक्षुषः प्रकाशेऽथवा पाणिरेखानामभिदर्शनं परिच्छेदस्तस्य निमित्तभूतोद्योते पाणिरेखाभिर्दर्शनोद्योते। अथवा प्राणिनो लिहंत्यास्वादयन्ति यस्मिन् स प्राणिलेहः स चासौ अभिदर्शनोद्योतश्च तस्मिन् प्राणिभोजननिमित्तनयनप्रसरे इत्यर्थः। जत्तेण—यत्नेन तात्पर्येण। उभये काले—उभयोः कालयोः पूर्वाह्णेऽपराह्णे च संस्तरादानदानकाल इत्यर्थः। पडिलेहा—प्रतिलेखा शोधनं सम्मार्जनं। होइ—भवति। कादव्वा—कर्तव्या। उभयोः कालयोः हस्तलेखादर्शनोद्योते संजाते यत्नेन संस्तरावकाशादीनां प्रतिलेखा भवति कर्तव्येति ॥१७२॥

अर्थात् जो मुनि द्रव्यादि शुद्धि की अवहेलना करके यदि सूत्रार्थ के लोभ से अध्ययन करते हैं तो उनके उस समय असमाधि आदि हानियाँ हो जाया करती हैं।

केवल शास्त्रों के पढ़ने के लिए ही शुद्धि की जाती है ऐसी बात नहीं है, उस मुनि को जीवदया के निमित्त भी शुद्धि करना चाहिए—

गाथार्थ—हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश में दोनों काल में यत्नपूर्वक संस्तर और स्थान आदि का प्रतिलेखन करना होता है ॥१७२॥

आचारवृत्ति—संस्तर चार प्रकार का है—भूमिसंस्तर, शिलासंस्तर, फलकसंस्तर और तृणसंस्तर। उस संस्तर के स्थान को आवास कहते हैं अर्थात् जो आकाश-प्रदेशों का समूह है वही आवास है। शुद्ध, निर्जन्तुक भूमि पर सोना भूमिसंस्तर है। सोने योग्य पाषाण की शिला शिलासंस्तर है। काष्ठ के पाटे को फलकसंस्तर कहते हैं और तृणों के समूह को तृणसंस्तर कहते हैं। इन चार प्रकार के संस्तर के स्थान को, कमण्डलु पुस्तक आदि को, चक्षु से हाथ की रेखाओं के दिखने योग्य प्रकाश हो जाने पर अथवा जितने प्रकाश में हाथ की रेखाएँ दिखती हैं उतने प्रकाश के होने पर पूर्वाण्हकाल में और अपराण्हकाल में इनका पिच्छिका से शोधन करना चाहिए। अथवा प्राणियों के भोजन के निमित्त चक्षु का प्रकाश होने पर प्रयत्नपूर्वक दोनों समय संस्तर आदि को शोधन करना चाहिए। अर्थात् सायंकाल हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश रहने पर संस्तर आदि के स्थान को पिच्छिका से परिमार्जित करके पाटे आदि बिछा लेना चाहिए और प्रातःकाल भी इतना प्रकाश हो जाने पर संस्तर और स्थान आदि को शोध कर उसे हटा देना चाहिए।

परगण वसता तेन किं स्वेच्छया प्रवर्तितव्यं ? नेत्याह—

> उब्भामगादिगमणे उत्तरजोगे सकज्जआरंभे ।
> इच्छाकारणिजुत्तो आपुच्छा होइ कायव्वा ॥१७३॥

उब्भामगादिगमणे—उद्भ्रामको ग्रामः चर्या वा त आदिर्येषां ते उद्भ्रामकादयस्तेषामुद्भ्रामकादीनां गमनमनुष्ठानं तस्मिन् ग्रामभिक्षाव्युत्सर्गादिके। उत्तरजोगे—उत्तरः प्रकृष्टः योगः वृक्षमूलादिस्तस्मिन्नुत्तरयोगे। सकज्जआरम्भे—स्वस्यात्मनः कार्यं प्रयोजनं तस्यारम्भ आदिक्रिया तस्मिन् स्वकार्यारम्भे। इच्छाकारणिजुत्तो—इच्छाकारेण कर्त्तुमभिप्रायेण नियुक्त उद्युक्तः स्थितस्तेन इच्छाकारनियुक्तेन, अथवा आपृच्छाया विशेषणं इच्छाकारनियुक्ता प्रणामादिविनयनियुक्ता। आपुच्छा—आपृच्छा सर्वेषां प्रश्नः। होदि—भवति। कादव्वा—कर्तव्या कार्या। तेन स्वगणे वसता यथा उद्भ्रामकादिगमने उत्तरयोगे स्वकार्यारम्भे इच्छाकारनियुक्तेनापृच्छा भवति कर्तव्या तथा परगणे वसतापीत्यर्थः ॥१७३॥

तथा वैयावृत्यमपीत्याह—

> गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरुबालबुड्ढसेहाणं ।
> जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ॥१७४॥

गच्छे—ऋषिसमुदाये चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघे वा सप्तपुरुषकस्त्रिपुरुषको वा तस्मिन्। वेज्जावच्चं—वैयावृत्त्यं कायिकव्यापाराहारादिभिरुपग्रहणं। गिलाण—ग्लानः व्याध्याद्युपपीडितः, क्षीणशक्तिकः। गुरु—

आगन्तुक मुनि पर-गण में रहते हुए क्या स्वेच्छा प्रवृत्ति करता है? नहीं, इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—चर्या आदि के लिए गमन करने में, वृक्षमूल आदि योग करने में और अपने कार्य के प्रारम्भ में इच्छाकार पूर्वक प्रश्न करना होता है ॥१७३॥

आचारवृत्ति—उद्भ्रामक—ग्राम अथवा चर्या, उसके लिए गमन उद्भ्रामक-गमन है। आदि शब्द से मलमूत्र विसर्जन आदि को लिया है। अर्थात् किसी ग्राम में जाते समय या आहार के लिए गमन करने में, मलमूत्रादि त्याग के लिए जाते समय, उत्तर—प्रकृष्ट योग अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों को धारण करते समय, अपने किसी भी कार्य के प्रारम्भ में और भी किन्हीं क्रियाओं के आदि में आचार्यों की इच्छा के अनुसार पूछकर कार्य करना। अथवा प्रणाम आदि विनयपूर्वक सभी विषय में गुरु से पूछकर कार्य करना होता है। तात्पर्य यह है आगन्तुक मुनि पहले जैसे अपने संघ में चर्या आदि कार्यों में विनयपूर्वक अपने आचार्य से पूछकर कार्य करते थे, उसी प्रकार से उसे पर-संघ में वहाँ पर स्थित आचार्य के अभिप्रायानुसार उनसे आज्ञा लेकर ही इन सब क्रियाओं को करना चाहिए।

उसी प्रकार पर-गण में वैयावृत्ति भी करना चाहिए—

गाथार्थ—पर-गण में क्षीणशक्तिक, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्नपूर्वक यथायोग्य वैयावृत्ति करना चाहिए ॥१७४॥

आचारवृत्ति—ऋषियों के समूह को अथवा चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ को गच्छ कहते हैं। अथवा सात या तीन पुरुषों की परम्परा को अर्थात् सात या तीन पीढ़ियों के मुनियों को गच्छ

शिक्षादीक्षाद्युपदेशकः ज्ञानतपोऽधिको वा। बालो—नवकः पूर्वापरविवेकरहितो वा। **बुड्ढ**—वृद्धो जीर्णो जराग्रस्तो दीक्षादिभिरधिको वा। सेह—शैक्षः शास्त्रपठनोद्युक्तः स्वार्थपरः निर्गुणो दुराराध्यो वा एतेषां द्वन्द्वस्तेषां ग्लानगुरुबालवृद्धशैक्षाणां लक्षणनियोगात् पूर्वापरनिपातो द्रष्टव्यः। **जहजोगं**—यथायोग्यं क्रममनतिलंघ्य तदभिप्रायेण वा। कादव्वं—कर्तव्यं करणीयं। सगसत्तीए—स्वशक्त्या स्वशक्तिमनवगूह्य। **पयत्तेण**—प्रयत्नेनादरेण गच्छे ग्लानगुरुबालवृद्धशैक्षाणां प्रयत्नेन स्वशक्त्या, वैयावृत्यं कर्तव्यमिति ॥१७४॥

अथ तेन परगणे वन्दनादिक्रियाः किमेकाकिना क्रियंते नेत्याह—

दिवसियरादियपक्खियचाउम्मासियवरिस्सकिरियासु।
रिसिदेववंदणादिसु सहजोगो होदि कायव्वो ॥१७५॥

दिवसिय—दिवसे भवा दैवसिकी अपराह्णनिर्वर्त्या। **रादिय**—रात्रौ भवा रात्रिकी पश्चिमरात्रावनुष्ठेया। **पक्खिय**—पक्षान्ते चतुर्दश्याममावस्यायां पौर्णमास्यां वा पक्षशब्दः प्रवर्तते तस्मिन् भवा पाक्षिकी। **चाउम्मासिय**—चतुर्षु मासेषु भवा चातुर्मासिकी। **वारिसिय**—वर्षेषु भवा वार्षिकी। एताश्च ताः क्रियाश्च। दैवसिकीरात्रिकीपाक्षिकीचातुर्मासिकीवार्षिकीक्रियास्तासु। **रिसिदेववंदणादिसु**—ऋषयश्च ते देवाश्च ऋषिदेवास्तेषां वन्दनादिर्यासां ता ऋषिदेववन्दनादयस्तासु ऋषिदेववन्दनादिषु क्रियासु। **सह**—सार्धं

कहते हैं। ऐसे संघ में ग्लानादि मुनि रहते हैं। व्याधि से पीड़ित अथवा क्षीण शक्तिवाले मुनि ग्लान हैं। शिक्षादीक्षा तथा उपदेश आदि के दाता गुरु हैं अथवा जो तप में या ज्ञान में अधिक हैं वे भी गुरु कहे जाते हैं। नवदीक्षित या पूर्वापर विवेकरहित मुनि बालमुनि कहे जाते हैं। पुराने मुनि या जरा से जर्जरित मुनि अथवा दीक्षा आदि से अधिक वृद्ध हैं, ऐसे ही अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में तत्पर हुए स्वार्थतत्पर मुनि, या निर्गुण मुनि अथवा दुराराध्य आदि मुनि शैक्ष संज्ञक हैं। इन सभी प्रकार के मुनियों की, यथायोग्य—क्रम का उल्लंघन न करके अथवा उनके अभिप्राय के अनुसार और अपनी शक्ति को न छिपाकर आदरपूर्वक वैयावृत्ति करना चाहिए। अर्थात् आगन्तुक मुनि पर-संघ में भी सभी प्रकार के मुनियों की वैयावृत्ति करता है।

पर-गण में रहते हुए वह आगन्तुक मुनि वन्दना आदि क्रियाएँ क्या एकाकी करता है? नहीं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण क्रियाओं में गुरुवन्दना और देववन्दना आदि में साथ ही मिलकर करना चाहिए ॥१७५॥

आचारवृत्ति—दिवस में होनेवाली—दिवस के अन्त में अपराह्ण काल में की जाने वाली क्रिया दैवसिक क्रिया है अर्थात् सायंकाल में किया जानेवाला प्रतिक्रमण दैवसिक क्रिया है। रात्रि में होनेवाली अर्थात् पिछली रात्रि में जिसका अनुष्ठान किया जाता है ऐसा रात्रिक-प्रतिक्रमण रात्रिक क्रिया है। चतुर्दशी, अमावस्या या पौर्णमासी को पक्ष कहते हैं। इस पक्ष के अन्त में होनेवाली प्रतिक्रमण क्रिया पाक्षिक कहलाती है। चार मास में होनेवाली प्रतिक्रमण क्रिया चातुर्मासिक है और वर्ष में हुई क्रिया वार्षिक अर्थात् वर्ष के अन्त में होनेवाला प्रतिक्रमण वार्षिक क्रिया है। इन प्रतिक्रमण क्रियाओं में ऋषि अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और मुनियों की

एकत्र। जोगो—योग उपयुञ्जतां। अथवाऽखण्डोऽयं शब्दः सहयोगः। दैवसिकादिक्रियासहचरिता वेलाः परिगृह्यन्ते दैवसिकादिवेलासु सहयोगः दैवसिकादिक्रियाः सर्वैरेकत्र कर्तव्या भवंति। दैवसिकादिषु सूरिदेववन्दनादिषु च क्रियासु सहयोगो भवति कर्तव्य इति ॥१७५॥

अथ यद्यपराधस्तत्रोत्पद्यते किं तत्रैव शोध्यते उतान्यत्र तत्रैवेत्याह—

मणवयणकायजोगेणुप्पण्णवराध जस्स गच्छम्मि।
मिच्छाकारं किच्चा णियत्तणं होदि कायव्वं ॥१७६॥

मणवयणकायजोगेण—मनोवचनकाययोगैः। **उप्पण्ण**—उत्पन्नः संजातः। **अवराध**—अपराधो व्रतातिचारः। **जस्स**—यस्य। **गच्छम्मि**—गच्छे गणे चतुः प्रकारे संघे। अथवा जस्स—यस्मिन् गच्छे। **मिच्छाकारं किच्चा**—मिथ्याकारं कृत्वा पश्चात्तापं कृत्वा। **णियत्तणं**—निवर्तनमप्रवर्तनमात्मनः। **होदि**—भवति। **कायव्वं**—कर्तव्यं करणीयं। यस्मिन् गच्छे यस्य मनोवचनकाययोगैरपराध उत्पन्नस्तेन तस्मिन् गच्छे मिथ्याकारं कृत्वा निवर्तनं भवति कर्तव्यमिति। अथवा जस्स गच्छे—यस्य पार्श्वेऽपराध उत्पन्नस्तेन सह गर्हणं कृत्वा तस्मादपराधान्निवर्तनं भवति कार्यमिति ॥१७६॥

तत्र गच्छे वसता तेन किं सर्वैः सहालापोऽवस्थानं च क्रियते नेत्याह—

वन्दना करने में और देववन्दना—सामायिक करने में तथा आदि शब्द से स्वाध्याय आदि क्रियाओं में सह अर्थात् मिलकर एक जगह योग करना चाहिए। अथवा सहयोग शब्द एक अखण्ड पद है। उससे दैवसिक आदि क्रियाओं से सहचरित समय लिया जाता है अर्थात् दैवसिक प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं के समय सहयोगी होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दैवसिक प्रतिक्रमण वन्दना आदि जितनी भी क्रियाएँ हैं, सभी, मुनियों को एक साथ एक स्थान में ही करनी होती हैं। दैवसिक आदि प्रतिक्रमणों में और गुरुवन्दना, देववन्दना आदि क्रियाओं में आगन्तुक मुनि सबके साथ ही रहता है।

यदि कोई अपराध उस संघ में हो जाता है तो वहीं पर उसका शोधन करना चाहिए अथवा अन्यत्र संघ में ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हुए कहते हैं कि वहीं पर ही शोधन करना चाहिए—

गाथार्थ—मन, वचन और काय के योगों से जिस संघ में अपराध उत्पन्न हुआ है मिथ्याकार करके वहीं उसको दूर करना होता है ॥१७६॥

आचारवृत्ति—जिस गच्छ—गण या चतुर्विध संघ में व्रतादिकों में अतिचार रूप अपराध हुआ है उसी संघ में उस मुनि को मिथ्याकार—पश्चात्ताप करके अपने अन्तरंग से वह दोष निकाल देना चाहिए। अथवा जिस किसी के साथ अपराध हो गया हो उन्हीं से क्षमा कराके उस अपराध से अपने को दूर करना होता है।

उस संघ में रहते हुए मुनि को सभी के साथ बोलना या बैठना करना होता है या नहीं ? सो ही बताते हैं—

अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण।
ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ॥१७७॥

अज्जागमणे काले—आर्याणां संयतीनामुपलक्षणमात्रमेतत् सर्वस्त्रीणां, आगमनं यस्मिन् काले स आर्यागमनस्तस्मिन्नार्यागमने काले। ण अत्थिदव्वं—नासितव्यं न स्यातव्यं। तधेव—तथैव। एक्केण—एकेन एकाकिना विजनेन। ताहिं—ताभिरार्यिकाभिः। पुण—पुनः बाहुल्येन। सल्लावो—सल्लापो वचनप्रवृत्तिः। ण य कायव्वो—नैव कर्तव्यो न कार्यः। अकज्जेण—अकार्येण प्रयोजनमन्तरेण धर्मकार्योत्पत्तौ कदाचिद्वदेत्[1]। आर्यागमनकाले एकाकिना विजनेन न स्यातव्यं, धर्मकार्यमन्तरेण ताभिः सहालापोऽपि न कर्तव्य इति ॥१७७॥

यद्येवं कथं तासां प्रायश्चित्तादिकथनं प्रवर्तत इति प्रश्नेऽतः प्राह—

तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु।
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं ॥१७८॥

तासिं—तासामार्याणां। पुण—पुनः पुनरपि। पुच्छाओ—पृच्छाः प्रश्नान् कार्याणि। इक्किस्से—एकस्या एकाकिन्या। ण य कहिज्ज—नैव कथयेत् नैव कथनीयं। एक्को दु—एकस्तु एकाकी सन् अपवादभयात्। यद्येवं कथं क्रियते। गणिणी—गणिनीं तासां महत्तरिकां प्रधानां। पुरओ—पुरोऽग्रतः। किच्चा—कृत्वा। यदि पुच्छदि—यदि पृच्छति प्रश्नं कुर्यात्। तो—ततोऽनेन विधानेन। कहेदव्वं—कथयितव्यं प्रतिपादयितव्यं नान्यथा। तासां मध्ये एकस्याः कार्यं नैव कथयेदेकाकी सन्, गणिनीं पुरः कृत्वा यदि पुनः पृच्छति ततः कथनीयं मार्गप्रभावनामिच्छतेति ॥१७८॥

गाथार्थ—आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिए, उसी प्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए ॥१७७॥

आचारवृत्ति—यहाँ 'आर्यिकाणां' शब्द से संयतियों का ग्रहण करना उपलक्षण मात्र है उससे सम्पूर्ण स्त्रियों को ग्रहण कर लिया गया है। उन आर्यिका और स्त्रियों के आने के काल में उस मुनि को एकान्त में अकेले नहीं बैठना चाहिए और उसी प्रकार से उन आर्यिकाओं और स्त्रियों के साथ अकारण बहुलता से वचनालाप भी नहीं करना चाहिए। कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना ठीक भी है। तात्पर्य यह हुआ कि स्त्रियों के आने के समय मुनि एकान्त में अकेले न बैठे और धर्मकार्य के बिना उनके साथ वार्तालाप भी न करे।

यदि ऐसी बात है तो उनको प्रायश्चित्त आदि देने की बात कैसे बनेगी ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—पुनः उनमें से यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर न देवे। यदि गणिनी को आगे करके वह पूछती है तो फिर कहना चाहिए ॥१७८॥

आचारवृत्ति—उन आर्यिकाओं के प्रश्न कार्यों में यदि एकाकिनी आर्यिका है तो एकाकी मुनि अपवाद के भय से उन्हें उत्तर न देवे। यदि वह आर्यिका अपने संघ की प्रधान आर्यिकागणिनी को आगे करके कुछ पूछे तो इस विधान से उन्हें मार्ग प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रतिपादन करना चाहिए अन्यथा नहीं।

---

1. क वाच्य।

व्यतिरेकद्वारेण प्रतिपाद्यान्वयद्वारेण प्रतिपादयन्नाह—

तरुणो तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि कुज्जा।
आणाकोवादीया पंचवि दोसा कदा तेण ॥१७९॥

यदि कथितन्यायेन न प्रवर्तते चेत्। तरुणो—यौवनपिशाचगृहीतः। तरुणीए—तरुण्या उन्मत्तयौवनया। सह—सार्धं। कहाव—कथां वा प्राक्प्रबन्धचरितं। सल्लावणं च—सल्लापं च अथवा (असब्भावणं[1] च) प्रहासप्रवचनं च। जदि कुज्जा—यदि कुर्यात् विदध्याच्चेत्। आणाकोधा (वा) दीदा—आज्ञाकोपादयः आज्ञाकोपानवस्थामिथ्यात्वाराधनात्मनाशसंयमविराधनानि। पंचवि—पंचापि। दोसा—दोषाः पापहेतवः। कदा—कृता अनुष्ठिताः। तेण—तेनैवंकुर्वता। यदि तरुणस्तरुण्या सह कथासल्लापं न कुर्यात्तर्हि किं स्यात्? आज्ञाकोपादिकाः पंचापि दोषाः कृतास्तेन स्युरिति ॥१७९॥

यत्र बह्व्यस्तिष्ठन्ति तत्र किमावासादिक्रिया युक्ताः? नेत्याह—

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चिट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारभिक्खवोसरणं ॥१८०॥

णो कप्पदि—न कल्पते न युज्यते। विरदाणं—विरतानां संयतानां पापक्रियाक्षयकरणोद्यतानां। विरदीणं—विरतीनां आर्यिकाणां। उवासयम्हि—आवासे वसतिकादौ। चिट्ठेदुं—चेष्टयितुं स्थातुं वसितुं न केवलं। तत्थ—तत्र दीर्घकालाः क्रिया न युक्ताः किन्तु क्षणमात्राः क्रियास्ता अपि। णिसेज्ज—निषद्योप-

---

व्यतिरेक के द्वारा प्रतिपादन करके अब अन्वय के द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि कथा या वचनालाप करे तो उस मुनि ने आज्ञाकोप आदि पांचों ही दोष किये ऐसा समझना चाहिए ॥१७९॥

आचारवृत्ति—यदि कथित न्याय से मुनि प्रवृत्ति नहीं करे अर्थात् यौवनपिशाच से गृहीत हुआ तरुण मुनि यौवन से उन्मत्त हुई तरुणी के साथ पहले से सम्बन्धित चरित्र रूप कथा को अथवा संलाप या हँसी वचना आदि बातों को करता है तो पूर्व में कथित आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयमविराधना इन पाप के हेतुभूत पांच दोषों को करता है ऐसा समझना चाहिए।

जहाँ पर बहुत-सी आर्यिकाएँ रहती हैं वहाँ पर क्या आवास आदि क्रिया करना युक्त है? नहीं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों का रहना और वहाँ पर बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा व कायोत्सर्ग करना युक्त नहीं है ॥१८०॥

आचारवृत्ति—पापक्रिया के क्षय करने में उद्यत हुए विरत मुनियों का आर्यिकाओं की वसतिका आदि में रहना उचित नहीं है। केवल ऐसा ही नहीं है कि वहाँ पर बहुत काल तक होनेवाली क्रियाएँ न करें, किन्तु वहाँ अल्पकालिक क्रियाएँ भी करना युक्त नहीं है।

---

१. क सल्लापं।

वेशनं । उवट्टणं—उद्वर्तनं शयनं लोटनं । सज्झाय—स्वाध्यायः शास्त्रव्याख्यानं परिवर्तनादयो वा । आहार-भिक्खा—आहारभिक्षाग्रहणं । वोसरणं—प्रतिक्रमणादिकं अथवा व्युत्सर्जनं मूत्रपुरीषाद्युत्सर्गः [1]प्रदेशनाहृवयोः एतेषां द्वन्द्वः सः । अन्याश्चैवमादयश्च क्रिया न युक्ताः । विरतानां चेष्टितुं आर्यिकागमनावासे न कल्पते, निषद्योद्वर्तनस्वाध्यायाहारभिक्षाव्युत्सर्जनानि च तत्र न कल्पन्ते । आहारभिक्षयोः को विशेष इति चेन्न, तत्कृताऽन्यकृतभेदात् ताभिर्निष्पादितं भोजनं आहारः, श्रावकादिभिः कृतं यत्तत्र दीयते सा भिक्षा । अथवा मध्यान्ह-काले भिक्षार्थं पर्यटनं भिक्षा ओदनादिग्रहणमाहारः इति ॥१८०॥

किमर्थमेताभिः सह स्थविरत्वादिगुणसमन्वितस्यापि संसर्गो वार्यते यतः—

थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहुसुदं च तवसिं वा ।
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ॥१८१॥

जैसे कि वहाँ पर बैठना, सोना या लेटना, शास्त्र का व्याख्यान या परिवर्तन—पुनः पुनः पढ़ना-रटना आदि करना, आहार और भिक्षा का ग्रहण करना, वहाँ पर प्रतिक्रमण आदि करना या मलमूत्र विसर्जन आदि करना, और भी इसी प्रकार की अन्य क्रियाएँ करना युक्त नहीं है।

आहार और भिक्षा में क्या अंतर है ?

उन आर्यिकाओं के द्वारा निष्पादित भोजन आहार कहा गया है और श्रावक आदिकों द्वारा बनाया गया भोजन जो वहाँ पर दिया जाता है सो भिक्षा कहलाती है। (अथवा 'ताभि' का अर्थ 'आर्यिकाओं द्वारा' ऐसा न लेकर पूरे वाक्यार्थ को इस प्रकार लिया जाना उपयुक्त होगा —वह भोजन, जो उन्हीं श्राविकाओं द्वारा निष्पादित अर्थात् तैयार किया गया है जो दे भी रही होती हैं, आहार है। तथा वह भोजन, जिसे पड़ोसी आदि अन्य श्रावकजन तैयार किया हुआ लाकर देते हैं, वह भिक्षा है।) अथवा मध्यान्हकाल में चर्या के लिए पर्यटन करना सो भिक्षा और भात आदि भोजन ग्रहण करना आहार है ऐसा समझना।

विशेषार्थ—यहाँ पर जो आर्यिकाओं द्वारा निष्पादित भोजन को आहार संज्ञा दी है सो समझ में नहीं आया है। क्योंकि आर्यिकायें भी आरम्भ परिग्रह का त्याग कर चुकी हैं। मूलाचार प्रदीप अ० ७ श्लोक १६० में कहा है कि—"आर्यिकाएँ स्नान, रोदन, अन्नादि पकाना, सीवना, सूत कातना, गीत गाना, बाजे बजाना आदि क्रियाएँ न करें।" इससे आर्यिकाओं द्वारा भोजन बनाना सम्भव नहीं है। अतः टीका में अथवा कहकर जो दूसरा अर्थ किया गया है उसे ही यहाँ संगत समझना चाहिए।

उन आर्यिकाओं के साथ स्थविरत्व आदि गुणों से समन्वित का भी संसर्ग किसलिए मना किया गया है ? सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—काम से मलिनचित्त श्रमण स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है, कुल का भी विनाश कर देता है ॥१८१॥

---

1 क प्रदेश. मा°।

थेरं—स्थविरं आत्मानं सर्वत्र सम्बंधनीयं सामर्थ्यात् सोपस्कारत्वात् सूत्राणां । चिरपव्वइयं—चिरप्रव्रजितं प्रस्ढव्रतं । आयरियं—आचार्यं । बहुसुदं—बहुश्रुतं सर्वशास्त्रपारगं । तवसिं वा—तपस्विनं वा षष्ठाष्टमादिकयुक्तं चकाराद्वात्मनः समुच्चयः, अथवा स्थविरत्वादयो गुणा गृह्यंते, अथवात्मनोऽन्ये स्थविर-[1]त्वादयस्तान् । ण गणेदि—न गणयति नोऽपेक्षते[2] नो पश्यति न गणयेद्वा । काममलिणो—कामेन मलिनः कश्मलः काममलिनो मैथुनेच्छोपद्रुतः । कुलमवि—कुलमपि कुलं मातृपितृकुलं सम्यक्त्वादिकं वा । समणो—श्रमणः । विणासेदि—विनाशयति विराधयति । स्थविरं चिरप्रव्रजिताचार्यं बहुश्रुतं तपस्विनमात्मानं केवलं न गणयति काममलिनः सन् श्रमणः कुलमपि विनाशयति । अथवा न केवलमात्मनः स्थविरत्वादीन् गुणान् न गणयति सम्यक्त्वादिगुणानपि विनाशयति । अथवा न केवलं कुलं विनाशयति किन्तु स्थविरत्वादीनपि[3] न गणयति परिभवतीत्यर्थः ॥१८१॥

एताः पुनराश्रयन् यद्यपि कुलं न विनाशयत्यात्मानं वा तथाप्यपवादं प्राप्नोतीत्याह—

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा ।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥१८२॥

आचारवृत्ति—स्थविर, चिरप्रव्रजित आदि सभी के साथ 'आत्मा' शब्द का सम्बन्ध कर लेना चाहिए क्योंकि सूत्र उपस्कार— अध्याहार सहित होते हैं । जो स्थविर है, चिरकाल से दीक्षा लेने से व्रतों में दृढ़ है, आचार्य है, सर्व शास्त्र का पारंगत है अथवा बेला तेला आदि उपवासों का करनेवाला होने से तपस्वी है ऐसी योग्यता विशिष्ट होने पर भी काम से मलिन हुआ मुनि इन सब को कुछ नहीं गिनता है । अथवा स्थविर आदि शब्दों से यहाँ स्थविरत्व आदि गुणों को ग्रहण किया गया समझना चाहिए अर्थात् काम से पीड़ित हुआ मुनि अपने इन गुणों को कुछ नहीं समझता है—तिरस्कृत कर देता है । अथवा अपने से अन्य जो स्थविरत्व आदि हैं उनको लेना चाहिए अर्थात् यह कामेच्छा से पीड़ित हुआ मुनि उस संघ में रहनेवाले स्थविर—मुनि, चिरदीक्षित, या आचार्य, उपाध्याय अथवा तपस्वियों को भी कुछ नहीं समझता है उनको नहीं देखता है, उनकी उपेक्षा कर देता है । और तो और, अपने माता-पिता के कुल को अथवा अपने सम्यक्त्व आदि को भी नष्ट कर देता है, इन गुणों की विराधना कर देता है ।

तात्पर्य यह है कि काम से पीड़ित हुआ मुनि स्थविर आदि रूप अपने को ही केवल नहीं गिनता है ऐसी बात नहीं, वह कुल को भी नष्ट कर देता है । अथवा वह केवल अपने स्थविरत्व आदि गुणों को ही नहीं गिनता है ऐसी बात नहीं, वह सम्यक्त्व आदि गुणों को भी नष्ट कर देता है । अथवा केवल वह कुल का ही नाश करता है ऐसा नहीं, वह तो स्थविरत्व आदि को भी कुछ नहीं गिनता है, उनका तिरस्कार कर देता है ।

पुनः कोई आर्यिकाओं का आश्रय करता हुआ भले ही अपने कुल का अथवा अपना विनाश नहीं करता हो, लेकिन अपवाद को तो प्राप्त हो ही जाता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वह मुनि कन्या, विधवा, रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा तापसिनी महिला का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही उसमें अपवाद को प्राप्त हो जाता है ॥१८२॥

---

१ क 'विरादि' । २ क नापेक्षते । ३ क 'रादी' ।

कण्णं—कन्यां विवाहयोग्यां। विहवं—विगतो मृतो गतो धवो भर्ता यस्याः सा विधवा तां। अंतेउरियं—अन्तःपुरे भवा आन्तःपुरिका तामान्तःपुरिकां स्वार्थे कः—राज्ञीं राज्ञीसमानां विलासिनीं वा। तह—तथा। सइरिणी—स्वेच्छया परकुलानीयर्तीति स्वैरिणी तां स्वेच्छाचारिणीं। सलिंगं वा—समानं लिंगं सलिंगं व्रतादिकं कुलं वा तद्विद्यते यस्याः सा सलिंगिनी तां। अथवा सह लिंगेन वर्तते इति सलिंगा तां स्वदर्शनेऽन्यदर्शने वा प्रव्रजितां। अचिरेण—क्षणमात्रेण मनागपि। अल्लियमाणो—आलीयमानः आश्रयमाणः सहालापादिक्रियां कुर्वाणः। अववादं—अपवादं अकीर्तिं। तत्थ—तत्राश्रयणे। पप्पोदि—प्राप्नोति अर्जयतीति। कन्यां विधवां आन्तःपुरिकां स्वैरिणीं सलिंगिनीं वालीयमानोऽचिरेण तत्र अपवादं प्राप्नोतीति ॥१८२॥

नन्वार्यादिभिः सह संसर्गः सर्वथा यदि परित्यजनीयः कथं तासां प्रतिक्रमणादिकं क एवमाह सर्वथा त्यागो यावतैवं विशिष्टेन कर्तव्य इत्याह—

> **पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।**
> **संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥१८३॥**
> **गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।**
> **चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥१८४॥**

पियधम्मो—प्रिय इष्टो धर्मः क्षमादिकश्चारित्रं वा यस्यासौ प्रियधर्मा उपशमादिसमन्वितः। दढधम्मो—दृढः स्थिरो धर्मो धर्माभिप्रायो यस्यासौ दृढधर्मा। संविग्गो—संविग्नो धर्मतत्फलविषये हर्ष-

---

आचारवृत्ति—विवाह के योग्य लड़की अर्थात् जिसका अब तक विवाह नहीं हुआ है कन्या है। वि—विगत—मर गया है धव—पति जिसका वह विधवा है। अन्तःपुर—रणवास में रहनेवाली आन्तःपुरिका है, अर्थात् रानी अथवा रानी के समान विलासिनी स्त्रियों को अन्तःपुर में रहनेवाली शब्द से ग्रहण किया है। जो स्वेच्छा से पर-गृहों में जाती है वह स्वेच्छाचारिणी अर्थात् व्यभिचारिणी है। समान लिंग व्रतादि अथवा कुल जिसके है वह सलिंगिनी है। अथवा लिंग—वेषसहित स्त्री सलिंगिनी है वे चाहे अपने सम्प्रदाय की आर्यिका आदि हों या अन्य सम्प्रदाय की साध्वियाँ हों। इन उपर्युक्त प्रकार की महिलाओं का क्षणमात्र भी आश्रय लेता हुआ, उनके साथ सहवास वार्तालाप आदि क्रियाओं को करता हुआ मुनि उनके आश्रय से अपवाद को—अकीर्ति को प्राप्त कर लेता है ऐसा समझना।

यदि आर्यिकाओं के साथ संसर्ग करना सर्वथा छोड़ने योग्य है तो उनके प्रतिक्रमण आदि कैसे होंगे? कौन ऐसा कहता है कि सर्वथा उनका संसर्ग त्याग करना, किन्तु जो आगे कहे गये गुणों से विशिष्ट हैं उन्हें उनका प्रतिक्रमण आदि कराना होता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो धर्म के प्रेमी हैं, धर्म में दृढ़ हैं, संवेग भाव सहित हैं, पाप से भीरु हैं, शुद्ध आचरण वाले हैं, शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह में कुशल हैं और हमेशा ही पापक्रिया की निवृत्ति से युक्त हैं ॥१८३॥

गम्भीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मित बोलनेवाले हैं, किंचित् कुतूहल करते हैं, चिरदीक्षित हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं—ऐसे मुनि आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं ॥१८४॥

आचारवृत्ति—प्रिय—इष्ट है उत्तमक्षमादि धर्म अथवा चारित्र जिनको वे प्रियधर्मा

सम्पन्नः । अवज्जभीरु—अवद्यभीरुरवद्यं पापं कुत्स्यं तस्माद्भयनशीलोऽवद्यभीरुः । परिसुद्धो—परिसमन्ताच्छुद्धः परिशुद्धोऽखण्डिताचरणः । संगह—संग्रहो दीक्षाशिक्षाव्याख्यानादिभिरुपग्रहः, अणुग्गह—अनुग्रहः प्रतिपालनं आचार्यत्वादिदानं याभ्यां तयोर्वा (कुसलो) कुशलो निपुणः संग्रहानुग्रहकुशलः पात्रभूतं गृह्णाति गृहीतस्य च शास्त्रादिभिः संयोजनं । सददं—सततं सर्वकालं । सारक्खणाजुत्तो—सहारक्षणेन वर्तत इति सारक्षणा क्रिया पापक्रियानिवृत्तिस्तया युक्त रक्षायां युक्तः हितोपदेशदातेति ॥१८३॥

गंभीरो—गुणैरगाधोऽलब्धपरिमाणः । दुद्धरिसो—दुर्धर्षोऽकदर्थ्यः स्थिरचित्तः । मिदवादी—मितं परिमितं वदतीत्येवं शीलो मितवादी अल्पवदनशीलः । अप्पकोदुहल्लो य—अल्पं स्तोकं कुतूहलं कौतुकं यस्यासावल्पकुतूहलोऽविस्मयनीयो ऽथवा अल्पगुह्य[1]दीर्घस्तब्धः प्रश्नवादिरहितः चशब्दः समुच्चयार्थः । चिर-पव्वइदो—चिरप्रव्रजितः निर्व्यूढव्रतभारो गुणज्येष्ठः । गिहिदत्थो—गृहीतो ज्ञातोऽर्थः पदार्थ स्वरूपं येनासौ गृहीतार्थः आचारप्रायश्चित्तादिकुशलः । अज्जाणं—आर्याणां संयतीनां । गणधरो—मर्यादोपदेशकः प्रति-क्रमणाद्याचार्यः । होदि—भवति । प्रियधर्मा दृढधर्मा संविग्नोऽवद्यभीरुः परिशुद्धः संग्रहानुग्रहकुशलः सततं सार-क्षणयुक्तो गम्भीरदुर्धर्षमितवाद्यल्पकौतुकचिरप्रव्रजितगृहीतार्थश्च यः स आर्याणां गणधरो भवतीति ॥१८४॥

अथान्यथाभूतो यदि स्यात् तदानीं किं स्यादित्यत आह—

हैं अर्थात् उपशम आदि से समन्वित हैं । दृढ़ है धर्म का अभिप्राय जिनका वे दृढ़धर्मा हैं । जो धर्म और उसके फल में हर्ष से सहित हैं वे संविग्न हैं । जो पाप से डरनेवाले हैं वे पापभीरु हैं । जो सब तरफ से शुद्ध आचरणवाले—अर्थात् अखण्डित आचरणवाले हैं वे परिशुद्ध हैं । दीक्षा, शिक्षा, व्याख्यान आदि के द्वारा उपकार करना संग्रह है और उनका प्रतिपालन करना आचार्य-पद आदि प्रदान करना अनुग्रह है । जो इन संग्रह और अनुग्रह में निपुण हैं अर्थात् पात्र—योग्य को ग्रहण करते हैं और ग्रहण किए गये को शास्त्रज्ञान आदि से संयुक्त करते हैं और हमेशा सारक्षण क्रिया अर्थात् पाप क्रिया की निवृत्ति से युक्त रहते हैं अर्थात् संघ के मुनियों की रक्षा में युक्त होते हुए उन्हें हित का उपदेश देते हैं,

जो गुणों से अगाध हैं अर्थात् जिनके गुणों का कोई माप नहीं है, जो किसी से कदर्थित—तिरस्कृत नहीं हैं अर्थात् स्थिरचित्त हैं, जो थोड़ा बोलनेवाले हैं, जो अल्प कौतुक करनेवाले हैं—विस्मयकारी नहीं हैं अथवा अल्प गुह्य विषय को छिपानेवाले अर्थात् शिष्यों के दोषों को सुनकर उनको अन्य किसी से न बतानेवाले हैं. चिरकाल से दीक्षित हैं अर्थात् व्रतों के भार को धारण करनेवाले हैं, गुणों में ज्येष्ठ हैं, गृहीतार्थ—पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाले हैं—आचार-शास्त्र और प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों में कुशल हैं ऐसे आचार्य आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करानेवाले, उनको मर्यादा का उपदेश देनेवाले उनके गणधर होते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि उपर्युक्त गुणविशिष्ट आचार्य ही अपने संघ में आर्यिकाओं को रखते हुए उनको प्रायश्चित्त आदि देते हैं ।

यदि आचार्य इन गुणों से रहित है और आर्यिकाओं का गणधर बनता है तो क्या होगा ? सो ही बताते हैं—

---

[1] क °गुह्यः ।

एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं।
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज ॥१८५॥

एवं—अनेन प्रकारेण । एतैर्गुणैः । वदिरित्तो—व्यतिरिक्तो मुक्तः । जदि—यदि । गणधारित्तं—गणधारित्वं प्रतिक्रमणादिकं । करेदि—करोति । अज्जाणं—आर्याणां तपस्विनीनां । चत्तारि—चत्वारः । कालगा—कालकाः गणपोषणात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थकाला आद्या वा विराधिता भवन्तीति वाक्यशेषः । अथवा कलिकाग्रहणेन प्रायश्चित्तानि परिगृह्यन्ते चत्वारि प्रायश्चित्तानि छेदमूलपरिहारपारंचिकानि । अथवा चत्वारो मासाः कांजिकभक्ताहारेण । से—तस्य आर्यागणधरस्य भवन्तीत्यर्थः । गच्छादि—गच्छ ऋषिकुलं आदिर्येषां ते गच्छादयस्तेषां, विराहणा—विराधना विनाशो विपरिणामो वा गच्छादिविराधना गच्छात्मगणकुलश्रावकमिथ्यादृष्ट्यादयो विराधिता भवन्तीत्यर्थः अथवा गच्छात्मविनाशः । होज्ज—भवेत् । पूर्वोक्तगुणव्यतिरिक्तो यद्यार्याणां गणधरत्वं करोति तदानीं तस्य चत्वारः काला विनाशमुपयान्ति, अथवा चत्वारि प्रायश्चित्तानि लभते गच्छादेर्विराधना च भवेदिति ॥१८५॥⊕

गाथार्थ—इन गुणों से रहित आचार्य यदि आर्यिकाओं का आचार्यत्व करता है तो उसके चार काल विराधित होते हैं और गच्छ की विराधना हो जाती है ॥१८५॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त गुणों से रहित मुनि यदि आर्यिकाओं का प्रतिक्रमण आदि गुनकर उन्हें प्रायश्चित्त आदि देने रूप गणधरत्व करता है तो उसके गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ इन चार कालों की अथवा आदि के चार काल—दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसंकार इन चारों कालों की विराधना हो जाती है। अथवा 'कलिका' शब्द से प्रायश्चित्तादि का ग्रहण हो जाता है। अर्थात् उस आचार्य को छेद, मूल, परिहार और पारंचिक ऐसे चार प्रायश्चित्त लेने पड़ते हैं। अथवा उसे चार महीने तक कांजिक भोजन का आहार लेना पड़ता है। तथा ऋषि कुल रूप जो गच्छ—संघ है वह अपना संघ, आदि शब्द से कुल, श्रावक और मिथ्यादृष्टि आदि, इनकी भी विराधना हो जाती है। अर्थात् गुणशून्य आचार्य यदि आर्यिकाओं का पोषण करते हैं तो व्यवस्था बिगड़ जाने से संघ के साधु उनकी आज्ञा पालन नहीं करेंगे। इससे संघ का विनाश हो जायेगा।

तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वोक्त गुणों से रहित आचार्य यदि आर्यिकाओं का आचार्य बनता है तो उसके गणपोषण आदि चार काल नष्ट हो जाते हैं अथवा चार प्रकार के प्रायश्चित्त उसे लेने पड़ते हैं और उसके संघ आदि की विराधना—अव्यवस्था हो जाती है।

⊕ यह प्रायश्चित्त की निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

दीक्षादि कालों में यदि कोई एक आदि नष्ट हो जावे तो उनका प्रायश्चित्त बताते हैं—

आयंबिल णिव्वियडी एगट्ठाणं तहेव खमणं च ।
एक्केक्कं एगमासं करेदि जदि कालगं णट्ठं ॥६४॥

अर्थ—दीक्षाकाल आदि इन चारों में से यदि किसी एक-एक काल का विनाश हुआ है तो वह मुनि आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान और उपवास इन चारों में से एक-एक को एक-एक महीना तक करे।

तस्मात्तेन परगणस्थेन यत्तस्याचार्यस्यानुमतं तत्कर्तव्यं सर्वथा प्रकारेणेत्यत आह—

किंबहुणा भणिदेण दु जा इच्छा गणधरस्स सा सव्वा।
कादव्वा तेण भवे एसेव विधी दु सेसाणं ॥१८६॥

किंबहुणा—किं बहुना। **भणिदेण दु**—भणितेन तु किं बहूनोक्तेन। **जा इच्छा**—येच्छा योऽभिप्रायः। **गणधरस्स**—गणधरस्याचार्यस्य। **सा सव्वा**—सर्वैव सा **कादव्वा**—कर्तव्या। **तेण**—पादोष्णेन। **भवे**—भवेत्। किं परगणस्थेनैव कर्तव्या नेत्याह। **एसेव विधीदु सेसाणं**—एष एव इत्थंभूत एव विधिरनुष्ठानं शेषाणां स्वगच्छस्थानामेकाकिनां समुदायव्यवस्थितानां च। किं बहुनोक्तेन येच्छा गणधरस्य सा सर्वा कर्तव्या भवेत् न केवलमस्य शेषाणामप्येष एव विधिरिति ॥१८६॥

यदि यतीनामयं न्याय आर्यिकाणां क इत्यत आह—

एसो अज्जाणंपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥१८७॥

एसो—एषः। **अज्जाणंविय**—आर्याणामपि च। **सामाचारो**—सामाचारः। **जहक्खिओ**—यथाख्यातो यथा प्रतिपादितः। **पुव्वं**—पूर्वस्मिन्। **सव्वम्मि**—सर्वस्मिन्। **अहोरत्ते**—रात्रौ दिवसे च। **विभासिदव्वो**—विभाषयितव्यः प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा। **जहाजोग्गं**—यथायोग्यं आत्मानुरूपो वृक्षमूला-

---

इसलिए उस परगण में स्थित मुनि को, उन आचार्य को जो इष्ट है सभी प्रकार से वही करना चाहिए, इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—अधिक कहने से क्या, गणधर की जो भी इच्छा हो वह सभी उसे करनी होती है। यही विधि शेष मुनियों के लिए भी है ॥१८६॥

आचारवृत्ति—बहुत कहने से क्या, उस संघ के आचार्य का जो भी अभिप्राय है उसी के अनुसार आगन्तुक मुनि को उनकी सभी प्रकार की आज्ञा पालन करना चाहिए।

क्या परगण में स्थित वह आगन्तुक मुनि ही सभी आज्ञा पाले? नहीं, ऐसी बात नहीं है, किन्तु अपने संघ में एक मुनि अथवा समूह रूप सभी मुनियों के लिए भी यही विधि है अर्थात् संघस्थ सभी मुनि आचार्य की सम्पूर्णतया अनुकूलता रखें ऐसा आदेश है।

यदि मुनियों के लिए ऐसा न्याय है तो आर्यिकाओं के लिए क्या आदेश है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—पूर्व में जैसा कहा गया है वैसा ही यह समाचार आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य करना चाहिए ॥१८७॥

आचारवृत्ति—पूर्व में जैसा समाचार प्रतिपादित किया है, आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण काल रूप दिन और रात्रि में यथायोग्य—अपने अनुरूप अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए।

भावार्थ—इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए वे ही अट्ठाईस मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तर ग्रहण आदि तथा वे ही औधिक पदविभागिक समाचार

दिरहितः। सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोऽपि सामाचारो यथायोग्यमार्यिकाणां आर्यिकाभिर्वा प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथाख्यातः पूर्वस्मिन्निति ॥१८७॥

वसतिकायां ताः कथं गमयन्ति कालमिति पृष्टेऽत आह—

अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ ॥१८८॥

अण्णोण्णणुकूलाओ—अन्योन्यस्यानुकूलास्त्यक्तमत्सरा अन्योन्यानुकूलाः परस्परत्यक्तमात्सर्याः। अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ—अन्योन्यासां परस्पराणामभिरक्षणं प्रतिपालनं तस्मिन्नभियुक्ता उद्युक्ता अन्योन्याभिरक्षणाभियुक्ताः। गयरोसवेरमाया—रोषश्च वैरं च माया च रोषवैरमायाः गता विनष्टा रोषवैरमाया यासां ता गतरोषवैरमायास्त्यक्तमोहनीयविशेषक्रोधमारणपरिणामकौटिल्याः। सलज्जमज्जादकिरियाओ—लज्जा च मर्यादा च क्रिया च लज्जामर्यादक्रियाः सह ताभिर्वर्तन्त इति सलज्जमर्यादक्रियाः लोकापवादादात्मनो भयपरिणामो लज्जा, रागद्वेषाभ्यां न्यायादनन्यथा वर्तनं मर्यादा, उभयकु[illegible]ाचरणं क्रियते ॥१८८॥

पुनरपि ताः कथं विशिष्टा इत्यत आह—

अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ ॥१८९॥

माने गये हैं जो कि यहाँ तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित हैं। मात्र 'यथायोग्य' पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तर योगों के करने का अधिकार नहीं है। और यही कारण है कि आर्यिकाओं के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि-विधान का ग्रन्थ नहीं है।

वे आर्यिकाएँ वसतिका में अपना काल किस प्रकार से व्यतीत करती हैं? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—परस्पर में एक दूसरे के अनुकूल और परस्पर में एक दूसरे की रक्षा में तत्पर; क्रोध, वैर और मायाचार से रहित तथा लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से सहित रहती हैं ॥१८८॥

आचारवृत्ति—ये आर्यिकाएँ परस्पर में मात्सर्य भाव को छोड़कर एक दूसरे के अनुकूल रहती हैं, परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने में पूर्ण तत्पर रहती हैं, मोहनीय कर्मविशेष से क्रोधभाव, वैरभाव—मारने या बदला लेने के भाव और कौटिल्यभावों से रहित होती हैं। लज्जा से सहित मर्यादा में रहने वाली और उभयकुल के अनुरूप आचरण क्रिया से सहित होती हैं। लोकापवाद से डरते रहना लज्जागुण है। राग-द्वेष परिणाम से न्याय का उल्लंघन न करके प्रवृत्ति करना मर्यादा है अर्थात् अनुशासन में बद्ध रहना मर्यादा है। इन लज्जा और मर्यादा से सहित होती हुई अपने पितृकुल और पतिकुल अथवा गुरुकुल के अनुरूप आचरण में तत्पर रहती हैं।

पुनरपि वे किन गुणों से विशिष्ट रहती हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—पढ़ने में, पाठ करने में, सुनने में, कहने में और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में तथा तप में, विनय में और संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं ॥१८९॥

अज्झयणे—अध्ययनेऽनधीतशास्त्रपठने । परियट्टे—परिवर्तने पठितशास्त्रपरिपाट्यां । सवणे—श्रवणे श्रुतस्याश्रुतस्य च शास्त्रस्यावधारणे । कहणे—कथने आत्मज्ञातशास्त्रस्यान्यनिवेदने । अणुपेहाए—अनुप्रेक्षासु श्रुतसर्ववस्तुध्रुवानित्यत्वादिचिन्तासु श्रुतस्य शास्त्रस्यानुचिन्तने वा । तवविणयसंजमेसु य—तपश्च विनयश्च संयमश्च तपोविनयसंयमास्तेषु चानशनप्रायश्चित्तादिक्रियामनोवचनकाया (य) स्तब्धत्वेन्द्रियनिरोध-जीववधपरित्यागेषु । अविरहिद—अविरहिता: स्थिता नित्योद्युक्ता: । उवओग—उपयोग: तात्पर्यं ज्ञानाभ्यास: । [1]जोग—योगो मनोवचनकायशुभानुष्ठानं ताभ्यां । जुत्ताओ—युक्ता: उपयोगयोगयुक्ता: ॥१८९॥

पुनरपि ता: विशेष्यन्ते—

> अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ ।
> धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ ॥१९०॥

अविकारवत्थवेसा—न विद्यते विकारो विकृति: स्वभावादन्यथाभावो या येषां तेऽविकारा: वस्त्राणि च वेषश्च शरीरादिसंस्थानं च वस्त्रवेषा, अविकारा वस्त्रवेषा यासां ता अविकारवस्त्रवेषा रक्तांकितादिवस्त्रगति-भंगादिभ्रूविकारादिवेषरहिता: । जल्लं—सर्वांगीनं प्रस्वेदयुक्तं रज: । अंगैकदेशभवं मलं—ताभ्यां विलित्ता—विलिप्ता युक्ता जल्लमलविलिप्ता: । चत्तदेहाओ—त्यक्तोऽसंस्कृतो देह: शरीरं यासां तास्त्यक्तदेहा:, जल्लमल-विलिप्ताश्च तास्त्यक्तदेहाश्च तास्तथाभूता: । धम्म—धर्म: । कुलं—कुलं । कित्ति—कीर्ति: । दिक्खा—दीक्षा ।

आचारवृत्ति—बिना पढ़े हुए शास्त्रों का पढ़ना अध्ययन है । पढ़े हुए शास्त्रों का पुन: पुन: पढ़ना (फेरना) परिवर्तन है । सुने हुए अथवा नहीं सुने हुए शास्त्रों का अवधारण करना श्रवण है । अपने जाने हुए शास्त्रों को अन्य को सुनाना कथन है । सुनी हुई सभी वस्तुओं के ध्रुवानित्यत्व—अनित्य आदि का चिन्तवन करना अथवा सुने हुए शास्त्रों का चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा है । अनशन आदि और प्रायश्चित्त आदि बाह्याभ्यन्तर तप हैं । मन-वचन-काय की स्तब्धता का न होना अर्थात् नम्रता का होना विनय है और इन्द्रिय निरोध तथा जीव-वध का परित्याग करना संयम है । इन अध्ययन आदि कार्यों में जो हमेशा लगी रहती हैं, उपयोग अर्थात् ज्ञानाभ्यास तथा योग अर्थात् मन-वचन-काय का शुभ अनुष्ठान, इन उपयोग और योग से सतत युक्त रहती हैं ।

पुन: वे किन विशेषताओं से युक्त होती हैं ?—

गाथार्थ—विकार रहित वस्त्र और वेष को धारण करने वाली, पसीनायुक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुई वे शरीर संस्कार से शून्य रहती हैं । धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या को करती हैं ॥१९०॥

आचारवृत्ति—जिनके वस्त्र, वेष और शरीर आदि के आकार विकृति से रहित, स्वाभाविक-सात्त्विक हैं, अर्थात् जो रंग-बिरंगे वस्त्र, विलासयुक्त गमन और भ्रूविकार कटाक्ष आदि से रहित वेष को धारण करने वाली हैं । सर्वांग में लगा हुआ पसीना से युक्त जो रज है वह जल्ल है । अंग के एक देश में होने वाला मैल मल कहलाता है । जिनका गात्र इस जल्ल और मल से लिप्त रहता है, जो शरीर के संस्कार को नहीं करती हैं ऐसी वे आर्यिकाएँ क्षमा-मार्दव

---

१ जोग पाठ मूलप्रति में अतिरिक्त है ।

ताना, पडिरूव—प्रतिरूपा सदृशाः। विसुद्ध—विशुद्धा। चरियाओ—चर्यानुष्ठानं यासां ता धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः क्षमामार्दवादिभातृपितृकुलात्मयशोव्रतसदृशाभग्नाचरणा इति ॥१६०॥

कथं च तास्तिष्ठन्त्यत आह—

अगिहत्थमिस्सणिलए असण्णिवाए विसुद्धसंचारे।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा [1]सहत्थंति ॥१६१॥

अगिहत्थमिस्सणिलए—गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्थाः स्वदारपरिग्रहासक्तास्तैः, मिस्स—मिश्रो युक्तो न गृहस्थमिश्रोऽगृहस्थमिश्रः स चासौ निलयश्च वसतिका तस्मिन्नगृहस्थमिश्रनिलये यत्रासंयतजनैः सह सम्पर्को नास्ति तत्र। असण्णिवाए—असतां पारदारिकचौरपिशुनदुष्टतिर्यक्प्रभृतीनां निपातो विनाशोऽभावो यत्र तस्मिन्नसन्निपाते। अथवा सतां यतीनां निपातः प्रचारः सन्निकृष्टता सन्निपातः स न विद्यते यत्र सोऽसन्निपातस्तस्मिन्। अथवा असंज्ञिनां पातो[2]ऽसंज्ञिपातो बाधारहिते प्रदेशे इत्यर्थः। विसुद्धसंचारे—विशुद्धः संक्लेशरहितो गुप्तो वा संचरणं संचारः मलोत्सर्गप्रदेशयोग्यः गमनागमनार्हो वा यत्र स विशुद्धसंचारस्तस्मिन् बालवृद्धरोगिशास्त्राध्ययनयोग्ये। दो—द्वे। तिण्णि—तिस्रः। अज्जाओ—आर्याः संयतिकाः। बहुगीओ वा—बह्व्यो वा त्रिंशच्चत्वारिंशद्वा। सह—एकत्र। अत्थंति—तिष्ठन्ति वसन्तीति। अगृहस्थमिश्रनिलयेऽसन्निपाते विशुद्धसंचारे द्वे तिस्रो बह्व्यो वार्या अन्योन्यानुकूलाः परस्पराभिरक्षणाभियुक्ता गतरोषवैरमायाः सलज्जमर्यादक्रिया अध्ययनपरिवर्तनश्रवणकथनतपोविनयसंयमेषु अनुप्रेक्षासु च तथास्थिता उपयोगयोगयुक्ताश्चाविकार-

---

आदि धर्म, माता-पिता के कुल, अपना यश, और अपने व्रतों के अनुरूप निर्दोष चर्या करती हैं अर्थात् अपने धर्म, कुल आदि के विरुद्ध आचरण नहीं करती हैं।

वे अपने आवास में कैसे रहती हैं?

गाथार्थ—जो गृहस्थों से मिश्रित न हो, जिसमें चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध संचरण के योग्य हो ऐसी वसतिका में दो या तीन या बहुत सी आर्यिकाएँ साथ रहती हैं। ॥१६१॥

आचारवृत्ति—जो गृह में रहते हैं वे गृहस्थ कहलाते हैं। जो अपनी पत्नी और परिग्रह में आसक्त हैं उन गृहस्थों से मिश्र वसतिका नहीं होनी चाहिए। जहाँ पर असंयत जनों का संपर्क नहीं रहता है, जहाँ पर असज्जन—परदारालंपट, चोर, चुगलखोर, दुष्टजन और तिर्यंचों आदि का रहना नहीं है, अथवा जहाँ पर सत्पुरुष—यतियों की सान्निकटता नहीं है अथवा जहाँ असंज्ञियों अज्ञानियों का, पात—आना-जाना नहीं है अर्थात् जो बाधा रहित प्रदेश है, विशुद्धसंचार—जहाँ पर विशुद्ध—संक्लेशरहित अथवा गुप्त संचार है अर्थात् मल विसर्जन के योग्य गुप्त प्रदेश जहाँ पर विद्यमान है; अथवा जो गमन-आगमन के योग्य अर्थात् जो बाल, वृद्ध और रुग्ण आर्यिकाओं के रहने योग्य है और जो शास्त्रों के स्वाध्याय के लिए योग्य है ऐसा स्थान विशुद्ध संचार कहलाता है। इस प्रकार से गृहस्थों के संपर्क से रहित, दुराचारी जनों के संपर्क से रहित, मुनियों की वसतिका की निकटता से रहित और विशुद्ध

---

1 क °ओरा वि अच्छंति। 2 क असंज्ञिपातः।

वस्त्रवेषा जल्लमलविलिप्तास्त्यक्तदेहा धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः सन्तस्तिष्ठन्तीति समुदायार्थः ॥१९१॥

किं ताभिः परगृहं न कदाचिदपि गन्तव्यमित्यतः आह—

ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे ।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥१९२॥

णय—न च । परगेहं—परगृहं गृहस्थनिलयं यतिनिलयं वा । अकज्जे—अकार्येऽप्रयोजने कारणमन्तरेण । गच्छे—गच्छेयुः यान्ति । कज्जे—कार्ये उत्पन्ने प्रयोजने । अवस्सगमणिज्जे—अवश्यं गमनीयेऽवश्यं गन्तव्ये भिक्षाप्रतिक्रमणादिकाले । गणिणीं—गणिनीं महत्तरिकां । आपुच्छित्ता—आपृच्छ्यानुज्ञां लब्ध्वा । संघाडेणेव—संघाटकेनैवान्याभिः सह । गच्छेज्ज—गच्छेयुः गच्छन्तीति । परगृहं च ताभिर्न गन्तव्यं, किं सर्वथा नेत्याह अवश्यंगमनीये कार्ये गणिनीमापृच्छ्य संघाटकेनैव गन्तव्यमिति ॥१९२॥

स्ववासे परगृहे वा एताः क्रियास्ताभिर्न कर्तव्या इत्यत आह—

संचरण युक्त वसतिका में ये आर्यिकाएँ दो या तीन अथवा तीस या चालीस पर्यन्त भी एक साथ रहती हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि ये आर्यिकाएँ उपर्युक्त बाधारहित और सुविधायुक्त वसतिका में कम से कम दो या तीन अथवा अधिक रूप से तीस या चालीस पर्यन्त एक साथ मिलकर रहती हैं। ये परस्पर में एक-दूसरे की अनुकूलता रखती हुई एक-दूसरे की रक्षा के अभिप्राय को धारण करती हुई; रोष वैर माया से रहित लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से संयुक्त; अध्ययन, मनन, श्रवण, उपदेश, कथन, तपश्चरण, विनय, संयम और अनुप्रेक्षाओं में तत्पर रहती हुई ज्ञानाभ्यास--उपयोग तथा शुभयोग से संयुक्त, निर्विकार वस्त्र और वेष को धारण करती हुई, पसीना और मैल से लिप्त काय को धारण करती हुई, संस्कार—शृंगार से रहित; धर्म, कुल, यश, और दीक्षा के योग्य निर्दोष आचरण करती हुई अपनी वसतिकाओं में निवास करती हैं।

क्या इन्हें परगृह में कदाचित् भी नहीं जाना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बिना कार्य के पर-गृह में नहीं जाना चाहिए और अवश्य जाने योग्य कार्य में गणिनी से पूछकर साथ में मिलकर ही जाना चाहिए ॥१९२॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाओं के लिए गृहस्थ के घर और मुनियों की वसतिकाएँ परगृह हैं। बिना प्रयोजन के आर्यिकाएँ परगृह न जावें। यदि गृहस्थ के यहाँ भिक्षा आदि लेना और मुनियों के यहाँ प्रतिक्रमण, वन्दना आदि प्रयोजन से जाना है तो गणिनी से पूछकर पुनः कुछ आर्यिकाओं को साथ लेकर ही जाना चाहिए, अकेली नहीं जाना चाहिए।

अपने निवास स्थान में अथवा पर-गृह में आर्यिकाओं को निम्नलिखित क्रियाएँ नहीं करना चाहिए, उन्हें ही बताते हैं—

रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खणधोवणगेयं च ण य कुज्जा ॥१९३॥

रोदण—रोदनमश्रुविमोचनं दुःखार्तस्य। ण्हावण—स्नपनं बालादीनां मार्जनं। भोयण—भोजनं तेषामेव वल्भनपानादिक्रियाः। पयणं—पचनं ओदनादीनां पाकनिर्वर्तनं। सुत्तं च—सूत्रं सूत्रकरणं च। छव्विहारम्भे—षट् प्रकारा येषां ते षड्विधास्ते च ते आरम्भाश्चेति षड्विधारम्भाः। असिमषिकृषिवाणिज्यशिल्पलेखक्रियाप्रारम्भास्तान् जीवघातहेतून्। विरदाण—विरतानां संयतानां। पादमक्खणधोवण—म्रक्षणं अभ्यञ्जनं धावनं प्रक्षालनं पादयोश्चरणयोर्म्रक्षणधावनं पादम्रक्षणधावनं। गेयं—गीतं च रागपूर्वकं गन्धर्वं। णय—न च। कुज्जा—कुर्युः न कुर्वन्ति। परगृहं गता आर्यिका रोदनस्नपनभोजनपचनसूत्राणि षड्विधारम्भाश्च न कुर्वन्ति, विरतानां पादम्रक्षणधावनं वा न कुर्युः स्वावासे परवासे वान्याश्च या अयोग्याः क्रियास्ता न कुर्वन्त्यपवादहेतुत्वादिति ॥१९३॥

अथ भिक्षाचर्यायां कथमवतरन्ति ता इत्यत आह—

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥१९४॥

तिण्णि व—तिस्रो वा। पंच व—पंच वा। सत्त व—सप्त वा। अज्जाओ—आर्यिकाः। अण्णमण्णरक्खाओ—अन्योन्यरक्षायासां ता अन्योन्यरक्षाः परस्परकृतयत्नाः। थेरीहिं—स्थविराभिः वृद्धाभिः। सह—सार्धं। अंतरिदा—अन्तरिता व्यवहिताः काभिर्वृद्धाभिर्वान्यासामश्रुतत्वात्। भिक्खाय—भिक्षार्थं भिक्षार्थं भिक्षाभ्रमणकाले वोपलक्षणमात्रमेतद् भिक्षाग्रहणं यथा काकेभ्यो दधि रक्षतामिति। समोदरंति—

गाथार्थ—रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन पकाना, सूत कातना, छह प्रकार का आरम्भ करना, यतियों के पैर में मालिश करना, धोना और गीत गाना, आर्यिकाएँ इन कार्यों को नहीं करें ॥१९३॥

आचारवृत्ति—दुःख से पीड़ित को देखकर अश्रु गिराना, बच्चों को नहलाना धुलाना, उन्हें भोजन-पान आदि कराना, भात आदि पकाना, सूत कातना; असि, मषि, कृषि, व्यापार, शिल्पकला और लेखन क्रिया जीवघात के कारणभूत इन छह प्रकार के आरम्भों का करना, संयतों के पैर में तैल वगैरह का मालिश करना, उनके चरणों का प्रक्षालन करना तथा रागपूर्वक गंधर्व गीत गाना इन क्रियाओं को आर्यिकाएँ अपनी वसतिका में या अन्य के गृह में नहीं करें क्योंकि इनसे ये क्रियाएँ उनके अपवाद के लिए कारण हैं।

आहार के लिए वे कैसे निकलती हैं? सो ही बताते हैं—

समवतरन्ति सम्यक्पर्यटन्ति। सदा—सर्वकालं। यत्र तासां गमनं भवति तत्रानेन विधानेन नान्येनेति। तिस्रः पंच सप्त वा अन्योन्यरक्षाः स्थविराभिः सहान्तरिताश्च भिक्षार्थं समवतरन्ति सदेति ॥१९४॥

आचार्यादीनां च वन्दनां कुर्वन्ति ताः किं यथा मुनयो नेत्याह—

पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥१९५॥

पंचछसत्तहत्थे—पंचषट्सप्तहस्तान्। सूरीअज्झावगोय—सूर्यध्यापकौ चाचार्योपाध्यायौ च। साधूय—साधूंश्च। परिहरिऊण—परिहृत्य एतावदन्तरे स्थित्वा। अज्जाओ—आर्याः। गवासणेण—गवासनेन यथा गौरुपविशति तथोपविश्य एवकारोऽवधारणार्थः। वंदंति—वन्दन्ते प्रणमन्ति। पंचषट्सप्तहस्तैर्व्यवधानं कृत्वा आचार्योपाध्यायौ च साधूंश्च गवासनेनैव वन्दन्ते आर्या नान्येन प्रकारेणेत्यर्थः। आलोचनाध्ययनस्तुति-भेदात् क्रमभेद इति ॥१९५॥

उपसंहारार्थमाह—

एवंविधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥१९६॥

उसी प्रकार से यहाँ ऐसा अर्थ लेना कि आर्यिकाओं का जब भी वसतिका से बाहर गमन होता है तब इसी विधान से होता है अन्य प्रकार से नहीं।

तात्पर्य यह है कि आर्यिकाएँ देववंदना, गुरुवंदना, आहार, विहार, नीहार आदि किसी भी प्रयोजन के लिए बाहर जावें तो दो-चार आदि मिलकर तथा वृद्धा आर्यिकाओं के साथ होकर ही जावें।

जैसे मुनि आचार्य आदि की वंदना करते हैं, क्या आर्यिकाएँ भी वैसे ही करती हैं? नहीं, सो बताते हैं—

गाथार्थ—आर्यिकाएं आचार्य को पांच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन से ही वंदना करती हैं ॥१९५॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाएँ आचार्य के पास आलोचना करती हैं अतः उनकी वंदना के लिए पांच हाथ के अंतराल से गवासन से बैठकर नमस्कार करती हैं। ऐसे ही उपाध्याय के पास अध्ययन करना है अतः उन्हें छह हाथ के अंतराल से नमस्कार करती हैं तथा साधु की स्तुति करनी होती है अतः वे सात हाथ के अंतराल से उन्हें नमस्कार करती हैं, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।

अब उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधानरूप चर्या का जो साधु और आर्यिकाएँ आचरण करते हैं वे जगत् से पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं।

एवंविधाणचरियं—एवंविधां चर्या एवप्रकारानुष्ठानं। चरंति—आचरन्ति। जे—ये। साधवो य—साधवश्च मुनयश्च। अज्जाओ—आर्याः ते साधव आर्याश्च। जगपुज्जं—जगतः पूजा जगत्पूजा तां जगत्पूजां। कित्ति—कीर्ति यशः। सुहं च—सुखं च। लद्धूण—लब्ध्वा। सिज्झंति—सिद्ध्यन्ति। एवंविधानचर्या ये चरन्ति साधव आर्याश्च ते ताश्च जगत्पूजां कीर्तिं सुखं च लब्ध्वा सिद्ध्यन्तीति ॥१९६॥

ग्रन्थकर्ता गर्वनिरासार्थंमर्पणार्थमाह—

> एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण।
> वित्थारसमावण्णो वित्थरिदव्वो बुहजणेहिं ॥१९७॥

एवं—अनेन प्रकारेण। सामाचारो—सामाचारः—आगमप्रसिद्धानुष्ठानं। बहुभेदो—बहवो भेदा यस्यासौ बहुभेदो बहुप्रकारः। वण्णिदो—वर्णितः कथितः। समासेन—संक्षेपेण। वित्थारसमावण्णो—विस्तारं प्रपंचं समापन्नः प्राप्तो विस्तारयोग्यः। वित्थरियव्वो—विस्तारयितव्यः प्रपंचनीयः। बुहजणेहिं—बुधजनैरागमव्याकरणादिकुशलैः। एवं पूर्वस्मिन् यो बहुभेदः सामाचारोऽभूत् स मया संक्षेपेण वर्णितो यतोऽतो विस्तारयोग्यतत्वाद्विस्तारयितव्यो बुधजनैरिति।

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां चतुर्थः परिच्छेदः।

टीका का अर्थ सरल है ॥१९६॥

अब ग्रन्थकर्ता आचार्य अपने गर्व को दूर करने हेतु और समर्पण हेतु निवेदन करते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से अनेक भेदरूप समाचार को मैंने संक्षेप से कहा है। बुद्धिमानों को इसका विस्तार स्वरूप जानकर इसे विस्तृत करना चाहिए ॥१९७॥

आचारवृत्ति—आगम में प्रसिद्ध अनुष्ठान रूप यह समाचार विविध प्रकार का है, इसे मैंने कहा है। चूंकि यह विस्तार के योग्य है इसलिए आगम और व्याकरण आदि में कुशल बुद्धिमान जनों को इसका विस्तार से विवेचन करना चाहिए।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार में
वसुनन्दि आचार्य द्वारा विरचित आचारवृत्ति
नाम की टीका में चौथा परिच्छेद पूर्ण हुआ।

५. पंचाचाराधिकारः

पंचाचाराधिकारप्रतिपादनार्थं नमस्कारमाह—

तिहुयणमन्दरमहिदे तिलोगबुद्धे तिलोगमत्थत्थे ।
तेलोक्कविदिदवीरे तिविहेण य पणिविदे सिद्धे ॥१९८॥

तिहुयणमंदरमहिदे—मन्दरे मेरौ महिताः पूजिताः स्नापिताः मन्दरमहिताः त्रयाणां भुवनानां लोकानां समाहारस्त्रिभुवनं तेन मन्दरमहितास्त्रिभुवनमन्दरमहिताः। अथवा त्रिभुवनस्य मन्दराः प्रधानाः सौधर्मेन्द्रादयस्तैर्महितास्त्रिभुवनमन्दरमहितास्तांस्त्रिभुवनमन्दरमहितान्। तिलोगबुद्धे—त्रिलोकानां त्रिलोकैर्वा बुद्धा ज्ञातारः ज्ञाता वा त्रिलोकबुद्धास्तांस्त्रिलोकबुद्धान्। तिलोगमत्थत्थे—त्रिलोकस्य मस्तकं सिद्धिक्षेत्रं तस्मिंस्तिष्ठन्तीति त्रिलोकमस्तकस्थास्तांस्त्रिलोकमस्तकस्थान् सिद्धिक्षेत्रस्थान्। तेलोक्कविदिदवीरे—त्रिषु लोकेषु विदितः ख्यातो वीरो वीर्यं येषां, अथवा त्रिलोकानां विदिताः प्रख्यातास्ते च ते वीराः शूराश्च त्रिलोकविदितवीरा त्रैलोक्यविदितवीर्यान् त्रिलोकविदितवीरान्वा। तिविहेण—त्रिविधेन त्रिप्रकारेण मनोवचनकर्मभिः। पणिविदे—प्रणिपत्य नत्वान्तोऽयं, अथवा प्रणिपतामि मिडन्तोऽयं क्रियाशब्दः। सिद्धे—सिद्धान् निराकृतनिर्मूलकर्माणः। न चात्र तेषामसिद्धता पूर्वापराविरुद्धागमतत्त्वरूपप्रतिपादकप्रमाणसद्भावात्, तत्सद्भावबाध-

---

अब पंचाचार अधिकार के प्रतिपादन हेतु नमस्कार-गाथा को कहते हैं—

गाथार्थ—त्रिभुवन के प्रधान पुरुषों से पूजित, तीन लोक को जाननेवाले, तीन लोक के अग्रभाग पर स्थित, तीन लोक में विख्यात वीर—ऐसे सिद्धों को मन, वचन और काय से प्रणाम करता हूँ ॥१९८॥

आचारवृत्ति—मन्दर—सुमेरु पर जिनका त्रिभुवन के इन्द्र द्वारा अभिषेक किया गया है वे त्रिभुवनमन्दर महित हैं। अथवा त्रिभुवन के मन्दर—प्रधान जो सौधर्म आदि देव हैं उनसे जो महित—पूजित हैं। तीनों लोकों के जो जाननेवाले हैं अथवा तीनों लोकों के द्वारा जो बुद्ध—ज्ञात हैं वे त्रिलोकबुद्ध हैं। त्रिलोक के मस्तक पर—सिद्ध क्षेत्र पर जो विराजमान हैं, जिनका वीर्य तीनों लोकों में ख्यात है अथवा तीनों लोकों में ये प्रख्यातवीर—शूर हैं अथवा तीनों लोकों के वीर्य—शक्ति को जिन्होंने जान लिया है वे त्रिलोकविदितवीर हैं और जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों को निर्मूल कर दिया है वे सिद्ध परमेष्ठी हैं ऐसे उपर्युक्त विशेषण युक्त अर्हन्त और सिद्धपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करके पाँच आचारों को कहूँगा। इस तरह यहाँ पर 'वक्ष्ये' क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए। और 'पणिविदे' क्रिया को क्त्वा-प्रत्ययान्त मानकर 'नमस्कार करके' ऐसा अर्थ करना अथवा 'प्रणिपतामि' ऐसा 'मिडन्त' क्रियापद ही समझना।

कप्रमाणाभावाद्वा। न चेतरेतराश्रयसद्भावः। द्रव्यार्थिकनयार्पणयानादिनिधनस्यागमस्य स्वमहिम्नैव प्रामाण्यात्। पर्यायार्थिकनयाश्रयणाच्च घातिकर्मविनिर्मुक्तार्हत्प्रणीतत्वाद्वा। न च जीवानां कर्मबन्धाभावाभावो हानिवृद्धिदर्शनादिति। त्रिभुवनमन्दरमहितानर्हतस्त्रिलोकमस्तकस्थांस्त्रैलोक्यविदितवीर्यान् सिद्धांश्च प्रणिपत्य वक्ष्ये, इति सम्बन्धः। अथवा सर्वाणि शास्त्राणि नमस्कारपूर्वाणि, कुतः सर्वज्ञपूर्वकत्वात् तेषां यतोऽतः स्वतंत्रोऽयं नमस्कारः त्रिभुवनमन्दरमहितानर्हतः सिद्धांश्च प्रणिपतामि। शेषाणि विशेषणान्यनयोरेव। अथवा सिद्धानामेव नमस्कारोऽयं भूतपूर्वगतिन्यायेन विशेषणानां सद्भावादिति। वक्ष्ये इति क्रियापदमुक्तं ॥१८६॥

प्रश्न—सिद्धों का अस्तित्व यहाँ सिद्ध ही नहीं है इसलिए वे असिद्ध हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्वापर से विरोध रहित आगम और उन सिद्धों के या अर्हंतों के स्वरूप का प्रतिपादक प्रमाण विद्यमान है। अथवा सर्वज्ञ के सद्भाव को वाधित करनेवाले प्रमाण का अभाव है।

प्रश्न—इससे तो इतरेतराश्रय दोष आ जावेगा, क्योंकि जब सर्वज्ञ की सिद्धि हो तब उनसे प्ररूपित आगम प्रामाणिक सिद्ध हों और जब आगम की प्रामाणिकता सिद्ध हो तब उसके द्वारा सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो। इस तरह तो दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

उत्तर—नहीं, यहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से यह आगम अनादि-निधन है और वह अपनी महिमा से ही प्रामाणिक है तथा पर्यायार्थिकनय की विवक्षा करने से घातिकर्म से रहित ऐसे अर्हन्तदेव के द्वारा प्रणीत है इसलिए वह प्रमाणभूत है। अतः ऐसे आगम से सर्वज्ञदेव की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न—जीवों के कर्मबन्ध का अभाव नहीं हो सकता है। अर्थात् एक अनादिनिधन ईश्वर को मानने वाले कुछ संप्रदायवादी ऐसे हैं जो किसी भी कर्मसहित जीवों के सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होना स्वीकार नहीं करते हैं।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि संसारी जीवों में कर्मबन्ध के अभाव की हानि-वृद्धि देखी जाती है। अर्थात् किसी जीव में राग-द्वेष आदि या दुःख शोक कर्मबन्ध के कार्य कम-कम हैं, किन्हीं जीवों में अधिक-अधिक हैं इसलिए ऐसा निश्चय हो जाता है कि किसी-न-किसी जीव में सम्पूर्णतया कर्मों का अभाव अवश्य हो जाता होगा। इसलिए कर्मबन्ध का अभाव होना प्रसिद्ध ही है।

तात्पर्य यह है कि तीन लोक के जीवों द्वारा मंदर पर पूजा को प्राप्त अर्हन्त देव को और तीनलोक के मस्तक पर स्थित तथा तीन लोक में जिनकी शक्ति प्रसिद्ध है ऐसे सिद्धों को नमस्कार करके मैं पंचाचार को कहूँगा, ऐसा गाथा में सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए।

अथवा सभी शास्त्र नमस्कार पूर्वक ही होते हैं अर्थात् सभी शास्त्रों के प्रारम्भ में इष्टदेव को नमस्कार किया जाता है इसलिए यहाँ भी किया गया है।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—यतः ये सभी शास्त्र सर्वज्ञपूर्वक ही होते हैं अतः यह नमस्कार स्वतंत्र है।

किं वक्ष्ये ? किमर्थं वा नमस्कार इति पृष्टेऽत आह—

दंसणणाणचरित्ते तवेविरियाचारह्मि पंचविहे।
वोच्छं अदिचारेऽहं कारिदे अणुमोदिदे अ कदे ॥१६९॥

दंसणं—दर्शनं सम्यक्त्वं तत्त्वरुचिः। णाणं—ज्ञानं तत्त्वप्रकाशनं। चरित्तं—चरित्रं पापक्रियानिवृत्तिः। नात्र विभक्त्यन्तरं प्राकृतलक्षणेनाकारस्यैकारः कृतो यतः। तवे—तपः तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपः बाह्याभ्यन्तरलक्षणं कर्मदहनसमर्थं। वीरियाचारह्मि—वीर्यं शक्तिरस्थिशरीरगतबलं, एतेषां द्वन्द्वः दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याणि तेषां तान्येव वा आचारो अनुष्ठानं तस्मिन् दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याचारे। तत्त्वार्थविषयपरमार्थश्रद्धानुष्ठानं दर्शनाचारः। नावलोकनार्थवाची दर्शनशब्दोऽनधिकारात्। पंचविधज्ञाननिमित्तं शास्त्राध्ययनादिक्रिया ज्ञानाचारः। प्राणिवधपरिहारेन्द्रियसंयमनप्रवृत्तिश्चारित्राचारः। कायक्लेशाद्यनुष्ठानं तप

त्रिभुवन के द्वारा मंदर पर पूजित अर्हन्तों को और सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ। शेष विशेषण इन दोनों के ही हैं। अथवा यों समझिए कि सिद्धों को ही नमस्कार किया गया है क्योंकि भूतपूर्वगति के न्याय से सभी विशेषण उनमें लग जाते हैं। अर्थात् भूतपूर्व में वे अर्हन्त थे ही थे, अर्हन्त से ही सिद्ध हुए हैं। यहाँ पर 'वक्ष्ये' इस क्रियापद का अध्याहार किया गया है।

विशेष—यहाँ गाथा में सिद्धों को नमस्कार किया गया है, टीकाकार ने उसे अर्हन्तों में भी घटित किया है और 'वक्ष्ये' क्रिया को ऊपर से लेकर पंचाचार को कहने का संकेत दिया है।

क्या कहूँगा ? सो ही बताते हैं। अथवा किसलिए नमस्कार किया है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच प्रकार के आचार में कृत, कारित और अनुमोदना से हुए अतीचारों को कहूँगा ॥१६९॥

आचारवृत्ति—सम्यक्त्व—तत्त्वरुचि का नाम दर्शन है। तत्त्व प्रकाशन का नाम ज्ञान है। पापक्रिया से दूर होना चारित्र है। जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है—दहन करता है वह तप है। वह बाह्य और अभ्यन्तर लक्षणवाला है और कर्मों को दहन करने में समर्थ है। हड्डी और शरीरगत बल को वीर्य कहते हैं। इन पाँचों का आचार—अनुष्ठान अथवा ये पाँच ही आचार—अनुष्ठान पंचाचार कहलाते हैं।

परमार्थभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना और उन्हीं रूप तत्त्वार्थविषयक अनुष्ठान करना दर्शनाचार है। यहाँ पर दृश् धातु से दर्शन लेना है। उसका अवलोकन अर्थ नहीं लेना, क्योंकि उसका यहाँ अधिकार नहीं है।

पाँच प्रकार के ज्ञान के निमित्त अध्ययन आदि क्रियाएँ करना ज्ञानाचार है। प्राणियों के वध का त्याग करना और इन्द्रियों के संयमन—निरोध में प्रवृत्त होना चारित्राचार है।

कायक्लेश आदि तपों का अनुष्ठान करना तप-आचार है। शक्ति का नहीं छिपाना अर्थात् शुभविषय में अपनी शक्ति से उत्साह रखना वीर्याचार है।

आचारः, वीर्यस्यानिह्नवो वीर्याचारः शुभविषयस्वशक्त्योत्साहः। पंचविधे—पंचप्रकारे। वोच्छं—वक्ष्ये कथयिष्यामि। अदिचारे—अतीचारान् प्रमादादन्यथाचरितानि। अहंकारादिदं अहं—आत्मनः प्रयोगः। कारिदे—कारितान्। अणुमोदिदे—अनुमतान्। चशब्दः समुच्चयार्थः। कदे—कृतान्। आचारे—दर्शनज्ञान-चारित्रतपोवीर्यभेदे पंचप्रकारे कृतकरितानुमतानतीचारानहं वक्ष्ये इति सम्बन्धः ॥१९९॥

दर्शनातिचारप्रतिपादनार्थं तावदाह ते चाष्टौ शंकादिभेदेन कुतो यतः—

दंसणचरणविसुद्धी अट्ठविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा।
दंसणमलसोहणयं वोच्छं तं सुणह एयमणा ॥२००॥

दंसणचरणविसुद्धी—दर्शनाचरणस्य विशुद्धिर्निर्मलता दर्शनाचरणविशुद्धिः। अट्ठविहा—अष्ट-विधाऽष्टप्रकारा। जिणवरेहिं—कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषां वराः श्रेष्ठाः जिनवरास्तैः। णिद्दिट्ठा—निर्दिष्टा कथिता। दंसणमलसोहणयं—दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य मलमतीचारस्तस्य शोधनकं निराकरणं दर्शनमल-शोधनकं। वोच्छं—वक्ष्ये। तं—तत्। सुणह—शृणुत जानीध्वं। एयमणा—एकाग्रमनसः तद्गतचित्ताः। पूर्वं संग्रहसूत्रेण दर्शनातीचारार्थं जिनवरैर्दर्शनविशुद्धिरष्टप्रकारा निर्दिष्टा यतोऽतस्तद्भेदादशुद्धिरप्यष्टविधा तद्दर्शन-मलशोधनकं वक्ष्येऽहं यूयं शृणुतैकाग्रमनस इति ॥२००॥

अष्टप्रकारा शुद्धिरुक्ता के तेऽष्टप्रकारा इत्यत आह—

प्रमाद से किये गये अन्यथा आचरण—विपरीत आचरण को अतिचार कहते हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार के आचारों में स्वयं करने से, और कराने और करते हुए को अनुमति देने रूप से जो अतिचार होते हैं, उन अतिचारों को मैं (वट्टकेराचार्य) कहूँगा।

अब दर्शन के अतिचारों को पहले कहते हैं। वे शंका आदि के भेद से आठ हैं। कैसे? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव ने दर्शनाचरण की विशुद्धि आठ प्रकार की कही है। अतः दर्शन-मल के शोधन को मैं कहूँगा। तुम एकाग्रमन होकर सुनो ॥२००॥

आचारवृत्ति—जो कर्म-शत्रुओं को जीतते हैं वे जिन हैं। उनमें वर—श्रेष्ठ जिनवर हैं अर्थात् तीर्थंकर परमदेव को जिनवर कहते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्र ने दर्शनाचरण की विशुद्धि—निर्मलता को आठ प्रकार की कहा है। दर्शन—सम्यक्त्व के मल—अतीचार के शोधनक—निराकरण को मैं कहूँगा, उसे एकाग्रचित्त होकर आप सुनें।

पूर्व में संग्रहसूत्र के द्वारा पाँच आचारों को कहने की प्रतिज्ञा की है। पुनः इस संग्रह-सूत्र से दर्शन के अतिचार को प्ररूपित करने के लिए कहा है। अतः जिनेन्द्रदेव ने दर्शन की विशुद्धि आठ प्रकार की कही है अतः उन आठ भेदों से दर्शन की अशुद्धि (अतिचार) भी आठ प्रकार की ही हो जाती है। मैं दर्शनाचार के शोधन को कहूँगा, तुम सावधान होकर सुनो, ऐसा ग्रन्थकार ने कहा है।

आपने शुद्धि आठ प्रकार की कही है। वे आठ प्रकार कौन हैं? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिंच्छा अमूढदिट्ठीय ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा य ते अट्ठ ॥२०१॥

णिस्संकिद—शंका निश्चयाभावः शुद्धपरिणामाच्चलनं शंकाया निर्गतो निःशंकस्तस्य भावो निःशंकता तत्त्वरुचौ शुद्धपरिणामः। णिक्कंखिद—कांक्षा इहपरलोकभोगाभिलाषः, कांक्षाया निर्गतो निष्कांक्षस्तस्य भावो निष्कांक्षता सांसारिकसुखारुचिः। णिव्विदिगिंछा—विचिकित्सा जुगुप्सा अस्नानव्रतमलधारणनग्नत्वादिव्रतारुचिर्विचिकित्साया निर्गतो निर्विचिकित्सस्तस्य भावो निर्विचिकित्सता द्रव्यभावद्वारेण विपरिणामाभावः। अमूढदिट्ठीय—मूढान्यत्र गता न मूढा अमूढा, अमूढा दृष्टिः रुचिर्यस्यासावमूढदृष्टिस्तस्य भावोऽमूढदृष्टिता लौकिकसामयिकवैदिकमिथ्याव्यवहारापरिणामः। उवगूहण—उपगूहनं चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघदोषप्रच्छादनं प्रमादाचरितस्य च संवरणं। ठिदिकरणं—अस्थिरः स्थिरः क्रियते सम्यक्त्वचारित्रादिषु स्थिरीकरणं रत्नत्रये

गाथार्थ—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ शुद्धि हैं ॥२०१॥

आचारवृत्ति—शंका—निश्चय का अभाव होना, या शुद्ध परिणाम से चलित होना। इस शंका से जो रहित है वह निःशंक है उसका भाव निःशंकता है अर्थात् तत्त्वों की रुचि में शुद्ध परिणाम का होना।

इस लोक परलोक सम्बन्धी भोगों की अभिलाषा कांक्षा है। कांक्षा जिसकी निकल गई है वह निष्कांक्ष है, उसका भाव निष्कांक्षता है अर्थात् सांसारिक सुखों में अरुचि का होना।

जुगुप्सा—ग्लानि को विचिकित्सा कहते हैं। अस्नानव्रत, मलधारण और नग्नत्व आदि में अरुचि होना। इस विचिकित्सा का न होना निर्विचिकित्सा है, उसका भाव निर्विचिकित्सता है अर्थात् द्रव्य और भाव के द्वारा विकाररूप (ग्लानि या निन्दा) परिणाम का नहीं होना।

अन्यत्र जानेवाली दृष्टि—रुचि मूढ़दृष्टि है और जिसकी मूढ़दृष्टि नहीं है वह अमूढ़दृष्टि है, उसका भाव अमूढ़दृष्टिता है। लौकिक, सामयिक, वैदिक मूढ़ताओं में मिथ्या-व्यवहार रूप परिणाम न होना। अर्थात् अग्नि में जलकर मरना, सती होना आदि लोकमूढ़ता है। अन्य संप्रदाय को समय कहते हैं उसमें मूढ़बुद्धि होना तथा वेदों में रुचि होना यह सब मूढ़दृष्टिता है, इनमें रुचि—श्रद्धा न होना अमूढ़दृष्टिता है।

चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ में हुए किसी भी दोष को दूर करना अर्थात् प्रमाद से कोई दोष-रूप आचरण हुआ हो तो उसे ढांक देना यह उपगूहन है।

अस्थिर को स्थिर करना अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र आदि में उन्हें स्थिर करना, जो रत्नत्रय में शिथिल हो रहा है उसको हितमित उपदेश आदि से उसी में दृढ़ कर देना स्थिरी-करण है।

वत्सल का भाव वात्सल्य है। चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ के अनुकूल ही सर्वथा वर्तन करना, सधर्मी जीवों के ऊपर आपत्ति के आने पर या बिना आपत्ति के भी उनके उपकार के लिए धर्म-परिणाम से प्रासुक द्रव्य व उपदेश आदि के द्वारा उनके हितरूप आचरण करना वात्सल्य है।

शिथिलस्य दृढयनं हितमितोपदेशादिभिः। वच्छल्ल—वत्सलस्य भावो वात्सल्यं चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघे सर्वथानुप्रवर्तनं धर्मपरिणामेनापद्यनापदि सधर्मजीवानामुपकाराय द्रव्योपदेशादिना हितमाचरणं। पभावणाय—प्रभावना च प्रभाव्यते मार्गोऽनयेति प्रभावना वादपूजादानव्याख्यानमंत्रतंत्रादिभिः सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टिरोधं कृत्वार्हत्प्रणीतशासनोद्योतनं ते एते निःशंकितादयो गुणाः। अट्ठ—अष्टौ वेदितव्याः। एतेषां वैपरीत्येन तावन्तोऽतीचारा व्यतिरेकद्वारेण कथिता एवातो नातिचारकथनं प्रतिज्ञाय शुद्धिकथनं दोषायेति ॥२०१॥

अथ दर्शनं किं लक्षणं? यस्य शुद्धयोऽतीचाराश्चोक्ता दर्शनं मार्गः सम्यक्त्वं कुत इत्यत आह—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥२०२॥

मग्गो—मार्गो मोक्षमार्गोऽभ्युपायः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामन्योन्यापेक्षया वर्तनं। मग्गफलंति य—मार्गस्य फलं सम्यक्सुखाद्यवाप्तिःमार्गफलमिति च। इतिशब्दो व्यवच्छेदार्थः नान्यत्रैविध्यमित्यर्थः। दुविहं—द्वौ प्रकारावस्यद्विविधं तस्य भावो द्वैविध्यं। जिणसासणे—जिनस्य शासनमागमस्तस्मिन् जिनशासने। समक्खादं—समाख्यातं सम्यगुक्तं। अथवा प्रथमान्तमेतज्जिनशासनमिति। मग्गो—मार्गः। खलु—स्फुटं।

जिसके द्वारा मार्ग प्रभावित किया जाता है वह प्रभावना है। वाद—शास्त्रार्थ, पूजा, दान, व्याख्यान, मन्त्र, तन्त्र आदि के द्वारा और सच्चे उपदेश के द्वारा मिथ्यादृष्टि जनों के प्रभाव को रोककर अर्हन्त देव के द्वारा प्रणीत जैन शासन का उद्योतन करना प्रभावना है।

ये निशंकित आदि आठ गुण हैं ऐसा जानना चाहिए। इन आठ गुणों से विपरीत उतने ही अतिचार होते हैं जो कि व्यतिरेक द्वारा कहे ही गए हैं। इसलिए आचार्य ने अतिचार के कहने की प्रतिज्ञा करके जो यहाँ पर शुद्धियों का कथन किया है वह दोषास्पद नहीं है।

विशेष—गाथा क्र० २०० में आचार्य ने तो कहा है कि मैं दर्शन के अतिचारों को कहूँगा तथा गाथा क्र० २०१ में वे दर्शन की आठ शुद्धियों का वर्णन करते हैं। सो यह कोई दोष नहीं है क्योंकि ये निशंकित आदि आठ गुण कहे गए हैं। इनसे उल्टे ही आठ दोष हो जाते हैं जो कि इनके वर्णन से ही जाने जाते हैं।

उस दर्शन का लक्षण क्या है जिसकी शुद्धियाँ और अतिचारों को कहा गया है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि दर्शन मार्ग है अर्थात् सम्यक्त्व है। यह कैसे? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—मार्ग और मार्गफल इन तरह दो प्रकार ही जिन शासन में कहे गये हैं। निश्चित रूप से सम्यक्त्व है मार्ग और मार्ग का फल है निर्वाण ॥२०२॥

आचारवृत्ति—मोक्षमार्ग या मोक्ष के उपाय को यहाँ मार्ग कहा है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का परस्पर में सापेक्ष वर्तन होना मार्ग है। सम्यक् सुख आदि की प्राप्ति हो जाना मार्ग का फल है। इस तरह दो ही प्रकार जिनशासन में—जैन आगम में कहे गये हैं,

सम्मत्तं—सम्यक्त्वं। ननु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि समुदितानि मार्गस्ततः कथं सम्यक्त्वमेव मार्गः। नैष दोषः अवयवे समुदायोपचारात् मार्गं प्रति सम्यक्त्वस्य प्राधान्याद्वा। मग्गफलं—मार्गस्य फलं मार्गफलं। होइ—भवति। णिव्वाणं—निर्वाणं अनन्तचतुष्टयावाप्तिः। किमुक्तं भवति, जिनशासने मार्गमार्गफलाभ्यामेव द्वैविध्यमाख्यातं कार्यकारणाभ्यां विनान्यस्याभावात्। अतो मार्गः सम्यक्त्वं कारणं, मार्गफलं च निर्वाणं कार्यरूपं। अथवा मार्गमार्गफलाभ्यामिति कृत्वा जिनशासनं द्विविधमेव समाख्यातं। स मार्गः सम्यक्त्वं, तस्य फलं निर्वाणमिति ॥२०२॥

यद्यपि मार्गः सम्यक्त्वं इति व्याख्यातं तथापि सम्यक्त्वस्यापि स्वरूपं न बुध्यते इत्याशंकायामाह—

अन्य तीसरा प्रकार नहीं है। अथवा 'जिन शासन' पद को प्रथमान्त मानकर ऐसा अर्थ करना कि यह जिनशासन दो प्रकार का ही है। और वह मार्ग सम्यक्त्व ही है।

शंका—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मार्ग है। पुनः आपने सम्यक्त्व को ही मार्ग कैसे कहा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। अवयव में समुदाय का उपचार कर लेने से यहाँ पर सम्यक्त्व को ही मार्ग कह दिया गया है। अथवा मार्ग के प्रति सम्यग्दर्शन प्रधान है इसलिए भी यहाँ सम्यक्त्व को ही 'मार्ग' शब्द से कह दिया है।

मार्ग का फल निर्वाण है जो कि अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति रूप है। अभिप्राय यह है कि जिनशासन में मार्ग और मार्गफल ये दो प्रकार कहे गये हैं, क्योंकि कार्य और कारण से अतिरिक्त अन्य कुछ तृतीय बात सम्भव नहीं है। अतः मार्ग तो सम्यक्त्व है वह कारण है और मार्ग का फल निर्वाण है जो कि कार्यरूप है। अथवा मार्ग और मार्गफल के द्वारा जिनशासन दो प्रकार का है। उसमें मार्ग तो सम्यक्त्व है और उसका फल निर्वाण है।

विशेष—नियमसार में श्री कुन्दकुन्ददेव की दूसरी गाथा यही है, किंचित् अन्तर के साथ—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं।

अर्थात् मार्ग और मार्गफल इन दो प्रकार का जिनशासन में कथन किया गया है। मार्ग तो मोक्ष का उपाय है और उसका फल निर्वाण है। अभिप्राय यह है कि यहाँ पर आचार्य ने मोक्ष के उपाय रूप रत्नत्रय को मार्ग कहा है जिसके विषय में उपर्युक्त टीका में प्रश्न उठाकर समाधान किया गया है कि अवयव—एक सम्यग्दर्शन में भी रत्नत्रयरूप समुदाय का उपचार कर लिया गया है अथवा मोक्ष के मार्ग में सम्यग्दर्शन ही प्रमुख है इसके बिना ज्ञान अज्ञान है और चारित्र भी अचारित्र है।

मार्ग सम्यक्त्व है, यद्यपि आपने ऐसा बताया है फिर भी सम्यक्त्व का स्वरूप मुझे अभी तक मालूम नहीं है, ऐसा कहने पर आचार्य सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हैं, किन्तु कहते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥२०३॥

अवयवार्थपूर्विका वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति कृत्वा तावदवयवार्थो व्याख्यायते। भूदत्थेण—भूतश्चासावर्थश्च भूतार्थस्तेन। यद्यप्ययं भूतशब्दः पिशाचजीवसत्यपृथिव्याद्यनेकार्थे वर्तते तथाप्यत्र सत्यवाची परिगृह्यते, तथार्थशब्दो यद्यपि पदार्थप्रयोजनस्वरूपाद्यर्थे वर्तते तथापि स्वरूपार्थे वर्तमानः परिगृहीतोऽन्यार्थवाचकेन प्रयोजनाभावात्, भूतार्थेन सत्यस्वरूपेण याथात्म्येन। अभिगदा—अभिगताः अधिगताः स्वेन स्वेन स्वरूपेण प्रतिपन्नाः जीवाश्चेतनलक्षणा ज्ञानदर्शनसुखदुःखानुभवनशीलाः। तद्व्यतिरिक्ता अजीवाश्च पुद्गलधर्माधर्मास्तिकायाकाशकालाः रूपादिगतिस्थित्यवकाशवर्तनालक्षणाः। पुण्णं—शुभप्रकृतिस्वरूपपरिणतपुद्गलपिंडो जीवाह्लादननिमित्तः। पावं—पापं चाशुभकर्मस्वरूपपरिणतपुद्गलप्रचयो जीवस्यासुखहेतुः। आसव—आसमन्तात् स्रवत्युपढौकते कर्मनिनास्रवः। संवर—कर्मागमनद्वारं संवृणोतीति संवरणमात्रं वा संवरोऽपूर्वकर्मागमननिरोधः। णिज्जर—निर्जरणं निर्जरयत्यनया वा निर्जरा जीवलग्नकर्मप्रदेशहानिः। बंधो—बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धो जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसंश्लेषोऽस्वतंत्रीकरणं। मोक्खो—मुच्यतेऽनेन मुक्तिर्वा मोक्षो जीव-

---

गाथार्थ—सत्यार्थरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये ही सम्यक्त्व हैं ॥२०३॥

आचारवृत्ति—अवयवों के अर्थपूर्वक ही वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिए पहले अवयव के अर्थ का व्याख्यान करते हैं। अर्थात् पदों से वाक्य रचना होती है इसलिए प्रत्येक पद का अर्थ पहले कहते हैं जिससे वाक्यों का ज्ञान हो सकेगा।

भूत और अर्थ इन दो पदों से भूतार्थ बना है। उसमें से यद्यपि भूत शब्द पिशाच, जीव, सत्य, पृथ्वी आदि अनेक अर्थों में विद्यमान है फिर भी यहाँ पर सत्य अर्थ में होना चाहिए। उसी प्रकार से अर्थ शब्द यद्यपि पदार्थ, प्रयोजन और स्वरूप आदि अनेक अर्थों का वाचक है फिर भी यहाँ पर स्वरूप अर्थ में लिया गया है क्योंकि यहाँ पर अन्य अर्थ का प्रयोजन नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ जिस रूप से व्यवस्थित हैं वे अपने-अपने स्वरूप से ही जाने गये हैं, सम्यक्त्व हैं।

जीव का लक्षण चेतना है। वह चेतना ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख के अनुभव स्वभाववाली है, उससे व्यतिरिक्त पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये अजीव द्रव्य हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणवाला पुद्गल है। धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों की गति में सहायक होने से गति लक्षणवाला है। अधर्मद्रव्य इनकी स्थिति में सहायक होने से स्थितिलक्षणवाला है। आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाला होने से अवकाश लक्षणवाला है और काल द्रव्य वर्तना लक्षणवाला है। शुभ प्रकृति स्वरूप परिणत हुआ पुद्गल पिण्ड पुण्य कहलाता है जो कि जीवों में आह्लादरूप सुख का निमित्त है। अशुभ कर्म स्वरूप परिणत हुआ पुद्गलपिण्ड पापरूप है जो कि जीव के दुःख का हेतु है। जिससे कर्म आ—सब तरफ से, स्रवन्ति—आते हैं वह आस्रव है अर्थात् कर्मों का आना आस्रव है। कर्म के आगमन-द्वार को जो रोकता है अथवा कर्मों का रुकना मात्र ही संवर है अर्थात् आनेवाले कर्मों का आना रुक जाना

प्रदेशानां कर्मरहितत्वं स्वतंत्रीभावः। चशब्दः समुच्चयार्थः। सम्मत्तं—सम्यक्त्वं। एतेषां यथाक्रम एव न्यायः,[1] जीवस्य प्राधान्यादुत्तरोत्तराणां पूर्वपूर्वोपकाराय प्रवृत्तत्वाद्वा। न चैतेषामभावो ज्ञानरूपमुपचारो वा धर्मार्थकाममोक्षाणामभावादाश्रयाभावात्पुण्याभावाच्च प्रमाणप्रमेयव्यवहाराभावाल्लोकव्यापाराभावाच्च। जीवाजीवा[2] भूतार्थेनाधिगताः सम्यक्त्वं[3]। तथा पुण्यपापं चाधिगतं सम्यक्त्वं। तथा आस्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाश्चाधिगताः सन्तः सम्यक्त्वं भवति। ननु कथमेतेऽधिगताः सम्यक्त्वं यावतैषामधिगतानां यच्छ्रद्धानं तत् सम्यक्त्वमित्युक्तं, नैष दोषः, श्रद्धानरूपैवेयमधिगतिरन्यथा परमार्थाधिगतेरभावात् कारणे कार्योपचाराद्वा जीवादयोऽधिगताः सम्यक्त्वमित्युक्तं। जीवादीनां [4]परमार्थानां यच्छ्रद्धानं तत्सम्यक्त्वं। अनेन न्यायेनाधिगमलक्षणं दर्शनमुक्तं भवति ॥२०३॥

संवर है। कर्मों का निर्जीर्ण होना अथवा जिसके द्वारा कर्म निर्जीर्ण होते हैं, झड़ते हैं, वह निर्जरा है। अर्थात् जीव में लगे हुए कर्म प्रदेशों की हानि होना निर्जरा है। यहाँ व्याकरण के लक्षण की व्युत्पत्ति से 'निर्जरणं अनया निर्जरयति वा' इस प्रकार से भाव अर्थ में और करण-साधन में विवक्षित है, जिसका ऐसा अर्थ है कि कर्मों का झड़ना यह तो द्रव्य निर्जरा है और जिन परिणामों से कर्म झड़ते हैं वे परिणाम ही भावनिर्जरा है।

जिसके द्वारा कर्म बँधते हैं अथवा बँधना मात्र ही बन्ध का लक्षण है (बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा) इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी भावबन्ध और द्रव्यबन्ध विवक्षित हैं। जीव के प्रदेश और कर्म प्रदेश—परमाणुओं का परस्पर में संश्लेष हो जाना—एकमेक हो जाना बन्ध है, जो जीव और पुद्गलवर्गणा दोनों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर उन्हें परतन्त्र कर देता है।

जिसके द्वारा जीव मुक्त होवे, छूट जाय अथवा छूटना मात्र ही मोक्ष है। इसमें भी व्युत्पत्ति (मुच्यतेऽनेन मुक्तिर्वा) के लक्षण से भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष विवक्षित है अर्थात् जिन परिणामों से आत्मा कर्म से छूटता है वह भावमोक्ष है और कर्मों से छूटना ही द्रव्य मोक्ष है सो ही कहते हैं कि जीव के प्रदेशों का कर्म से रहित हो जाना, जीव की परतन्त्र अवस्था समाप्त होकर उसका पूर्ण स्वतन्त्र भाव प्रकट हो जाना ही मोक्ष है।

इन नव पदार्थों का जो यहाँ क्रम लिया है वही न्यायपूर्ण है, क्योंकि जीव द्रव्य ही प्रधान है अथवा आगे-आगे के पदार्थ पूर्व-पूर्व के उपकार के लिए प्रवृत्त होते हैं।

शंका—इन पदार्थों का अभाव है अथवा ये पदार्थ ज्ञान रूप ही हैं या ये उपचार रूप ही हैं? अर्थात् शून्यवादी किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नहीं मानते हैं सो वे ही सबका अभाव कहते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सभी चर-अचर जगत् को एक ज्ञान रूप ही मानते हैं। तथा सामान्य बौद्ध या ब्रह्माद्वैतवादी सभी वस्तुओं को उपचार अर्थात् कल्पना रूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व अविद्या का ही विलास है। इन सम्प्रदायवादियों की अपेक्षा से ये तीन शंकाएँ उठाई गई हैं।

समाधान—आप ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि जीव पदार्थों को या मात्र जीव को ही न माना जाय तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का अभाव हो जायेगा;

---

१ क न्यायम् इति प्रतिभाति। २ क [illegible]। ३ क [illegible]। ४ क [illegible]।

अथवा यदि जीव को ज्ञानरूप ही मान लोगे तो ज्ञान तो एक गुण है और जीव गुणी है, ज्ञान गुण के ही मानने से उसके आश्रय का अभाव हो जायेगा अर्थात् आश्रयभूत जीव पदार्थ नहीं सिद्ध हो सकेगा। यदि जीवादि को उपचार कहोगे तो मुख्य का अभाव हो जायेगा और मुख्य के बिना उपचार की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी। तथा इन एकान्त मान्यताओं से प्रमाण और प्रमेय अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय रूप व्यवहार का भी अभाव हो जायेगा। और तो और, लोक-व्यवहार का ही अभाव हो जाता है अर्थात् जो कुछ भी लोकव्यवहार चल रहा है वह सब समाप्त हो जावेगा।

सत्यार्थस्वरूप से जाने गये ये जीव-अजीव सम्यक्त्व हैं। उसी प्रकार से सत्यार्थ स्वरूप से जाने गये पुण्य और पाप ही सम्यक्त्व हैं। तथैव सत्यार्थ स्वरूप से जाने गये आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ही सम्यक्त्व हैं।

शंका—ये जाने गये सभी सम्यक्त्व कैसे हैं? सत्यार्थरूप से जाने गये इनमें से जो प्रधान है वह सम्यक्त्व है ऐसा कहना तो युक्त हो भी सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह अधिगति—ज्ञान श्रद्धानरूप ही है अन्यथा—यदि ऐसा नहीं मानोगे, तो परमार्थ रूप से जानने का अभाव हो जायेगा। अथवा कारण में कार्य का उपचार होने से जाने गये जीवादि पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है। किन्तु वास्तव में परमार्थरूप जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यक्त्व है। इस न्याय से यहाँ पर अधिगम लक्षण सम्यग्दर्शन को कहा गया है—ऐसा समझना।

विशेषार्थ—यहाँ पर सम्यग्दर्शन के विषयभूत पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। चूंकि परमार्थ रूप में जाने गये ये पदार्थ ही श्रद्धा के विषय हैं अतः ये श्रद्धान में कारण हैं और श्रद्धान होना यह कार्य है जो कि सम्यक्त्व है किन्तु कारणभूत पदार्थों में कार्यभूत श्रद्धान का अध्यारोप करके उन पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है।

यही गाथा 'समयसार' में भी है जिसका अर्थ भी श्री अमृतचन्द्र सूरि और श्री जयसेनाचार्य ने इसी प्रकार से किया है। यथा—

> भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
> आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

अर्थात् परमार्थ रूप जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते हैं।

तात्पर्यवृत्ति—भूयत्थेण-भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन अभिगदा—अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः संतः के ते? जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य—जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवर निर्जरा बन्धमोक्षस्वरूपा नव पदार्थाः सम्मत्तं। त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवन्ति। निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति।······

अर्थ—भूतार्थरूप निश्चयनय—शुद्धनय के द्वारा निर्णय किये गये, निश्चय किये गये, जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष स्वरूप जो नव

आदौ निर्दिष्टस्य जीवस्य भेदपूर्वकं लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

दुविहा य होंति जीवा संसारत्था य णिव्वुदा चेव ।
छद्धा संसारत्था सिद्धिगदा णिव्वुदा जीवा ॥२०४॥

दुविहा य—द्विप्रकारा द्वौ प्रकारौ येषां ते द्विप्रकारा द्विभेदाः जीवाः प्राणिनः । संसारत्था य—संसारे तिष्ठन्तीति संसारस्थाश्चतुर्गतिनिवासिनः । णिव्वुदा चेव—निर्वृत्ताश्चेति मुक्तिं गता इत्यर्थः । छद्धा—षड्धा षट्प्रकाराः । संसारत्था—संसारस्थाः । सिद्धिगदा—सिद्धिगता उपलब्धात्मस्वरूपाः । णिव्वुदा—निर्वृता जीवास्तेषां भेदकारणाभावादभेदास्ते । संसारमुक्तिवासभेदेन द्विविधा जीवाः । संसारस्थाः पुनः षट्प्रकारा एकरूपाश्च निर्वृता इति सम्बन्धः ॥२०४॥

पदार्थ हैं वे ही अभेद उपचार के द्वारा सम्यक्त्व के विषय होने से, कारण होने से सम्यक्त्व है। किन्तु अभेद रूप से निश्चय से देखें तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है।

प्रश्न—भूतार्थ नय के द्वारा जाने हुए नव पदार्थ सम्यक्त्व होते हैं ऐसा जो आपने कहा, उस भूतार्थ के ज्ञान का क्या स्वरूप है?

उत्तर—यद्यपि ये नव पदार्थ तीर्थ की प्रवृत्ति निमित्त होने से प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से भूतार्थ कहे जाते हैं। फिर भी अभेद रत्नत्रयलक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में ये अभूतार्थ-असत्यार्थ ठहरते हैं अर्थात् ये शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं होते हैं। किन्तु इस परम समाधि के काल में तो उन नव पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही झलकता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है, अनुभव किया जाता है। और, जो वहाँ पर यह अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चय सम्यक्त्व है। वह अनुभूति ही गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है ऐसा तात्पर्य है। और जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे केवल प्रारम्भ अवस्था में तत्त्वों के विचार के समय सम्यक्त्व के लिए सहकारी कारणभूत होते हैं वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं, किन्तु परमसमाधि काल में तो वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं। उन सबमें भूतार्थ रूप से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति में आता है।

अभिप्राय यह है कि आचार्य ने यहाँ पर समीचीनतया जाने गये नव पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है सो अभेदोपचार करके कहा है। वास्तव में ये सम्यक्त्व के विषय हैं अथवा सम्यक्त्व के लिए कारण भी हैं।

अब आदि में जिसका निर्देश किया है उस जीव का भेदपूर्वक लक्षण बतलाते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जीव दो प्रकार के होते हैं—संसार में स्थित अर्थात् संसारी और मुक्त। संसारी जीव छह प्रकार के हैं और मुक्तजीव सिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं ॥२०४॥

आचारवृत्ति—संसार और मुक्ति में वास करने की अपेक्षा से जीव के मूल में दो भेद हैं। 'संसारे तिष्ठन्तीति संसारस्थाः' संसार में जो ठहरे हुए हैं वे संसारी जीव हैं। ये चारों गतियों में निवास करने वाले हैं। मुक्ति को प्राप्त हुए जीव निर्वृत कहलाते हैं। संसारी जीव के छह भेद हैं और भेद के कारणों का अभाव होने से मुक्त जीव अभेद—एक रूप ही हैं।

के ते षट्प्रकारा इत्याह—

पुढवी आऊ तेऊ वाऊ य वणप्फदी तहा य तसा ।
छत्तीसविहा पुढवी तिस्से भेदा इमे णेया ॥२०५॥

पुढवी—पृथिवी चतुष्प्रकारा पृथिवी, पृथिवीशरीरं, पृथिवीकायिकः, पृथिवीजीवः। आपोऽप्कायोऽप्कायिकोऽप्जीवः। तेजस्तेजस्कायस्तैजस्कायिकस्तेजोजीवः। वायुर्वायुकायो वायुकायिको वायुजीवः। वनस्पतिर्वनस्पतिकायो वनस्पतिकायिको वनस्पतिजीवः। यथा पृथिवी चतुष्प्रकारा तथाप्तेजोवायुवनस्पतयः, चशब्दतथाशब्दाभ्यां सूचितत्वात्। जीवाधिकाराद् द्वयोर्द्वयोराद्ययोस्त्यागः शेषयोः सर्वत्र ग्रहणम्। आद्यस्य प्रकारस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह—छत्तीसविहा पुढवी—षडभीरधिका त्रिंशत् षट्त्रिंशद्विधा. प्रकारा यस्याः सा षट्त्रिंशत्प्रकारा पृथिवी। तिस्से—तस्याः। भेदा—प्रकाराः। इमे—प्रत्यक्षवचनं। णेया—ज्ञेया ज्ञातव्याः ॥२०५॥

वे छह प्रकार कौन हैं ?—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छह भेद हैं। पृथ्वी के छत्तीस भेद हैं उसके ये भेद जानना चाहिए ॥२०५॥

आचारवृत्ति—पृथिवी के चार प्रकार हैं—पृथिवी, पृथिवीशरीर, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव। जल, जलकाय, जलकायिक और जलजीव। अग्नि, अग्निकाय, अग्निकायिक और अग्निजीव। वायु, वायुकाय, वायुकायिक और वायुजीव। वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव। अर्थात् जैसे पृथिवी के चार भेद हैं वैसे ही जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भी चार भेद हैं यह गाथा के 'च' शब्द और 'तथा' शब्द से सूचित है। यहाँ जीवों का अधिकार-प्रकरण होने से पृथिवी आदि के प्रत्येक के आदि के दो-दो भेद छोड़ने योग्य हैं अर्थात् वे निर्जीव हैं और शेष दो-दो भेदों को सभी में ग्रहण करना है क्योंकि वे ही जीव हैं। अर्थात् प्रथम भेद सामान्य पृथ्वी रूप है जिसके अन्दर अभी जीव नहीं हैं लेकिन आ सकता है। पृथिवीकाय से जीव निकल चुका है पुनः उसमें जीव नहीं आयेगा। जो पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से पृथिवीपर्याय में पृथिवी शरीर को धारण किये हुए हैं तथा जिस जीव ने विग्रहगति में पृथिवी शरीर को अभी ग्रहण नहीं किया है वह पृथिवीजीव है। इनमें से आदि के दो निर्जीव और शेष दो जीव हैं। इनमें भी विग्रहगति सम्बन्धी पृथिवीजीव के घात का प्रश्न नहीं उठता है। एक प्रकार के, मात्र पृथिवीकायिक की ही रक्षा करने की बात रहती है।

जीव के छह भेदों में जो सर्वप्रथम पृथ्वी का कथन आया है उसी के प्रतिपादन हेतु कहते हैं—पृथ्वी के छत्तीस भेद होते हैं, उनके नाम आगे बताते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ—मार्ग में पड़ी हुई धूलि आदि पृथ्वी है। पृथ्वीकायिक जीव के द्वारा परित्यक्त ईंट आदि पृथ्वीकाय हैं। जैसे कि मृतक मनुष्यादि की काया। पृथ्वीकायिक नाम कर्म के उदय से जो जीव पृथिवीशरीर को ग्रहण किये हुए हैं वे पृथिवीकायिक हैं जैसे खान में स्थित पत्थर आदि, और पृथ्वी में उत्पन्न होने के पूर्व विग्रहगति में रहते हुए एक, दो या तीन समय तक जीव पृथिवीजीव है।

क इमे इत्यत आह—

> पुढवी य वालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य।
> अय तंव तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥२०६॥
>
> हरिदाले हिंगुलये मणोसिला सस्सगंजण पवालेय।
> अब्भपडलब्भवालुय वादरकाया मणिविधीय ॥२०७॥
>
> गोमज्झगेय रुजगे अंके फलिहे लोहिदंकेय।
> चंदप्पभेय वेरुलिए जलकंते सूरकंतेय ॥२०८॥
>
> गेरुय चंदण वव्वग वय मोए तह मसारगल्ले य।
> ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२०९॥

विलोडा गया, इधर-उधर फैलाया गया और छना हुआ पानी सामान्य जल है। जलकायिक जीवों से छोड़ा गया पानी और गरम किया गया पानी जलकाय है। जिसमें जलजीव हैं वह जलकायिक और जल काय में उत्पन्न होनेवाला विग्रहगतिवाला जीव जलजीव है।

इधर-उधर फैली हुई या जिस पर जल सींच दिया गया है या जिसका बहुभाग भस्म बन चुका है, या किंचित् गरम मात्र ऐसी अग्नि सामान्य अग्नि है। अग्निजीव के द्वारा छोड़ी हुई अग्नि भस्म आदि अग्निकाय है। जिसमें अग्निजीव मौजूद है वह अग्निकायिक और अग्निकाय में उत्पन्न होने के लिए विग्रह गतिवाला अग्निजीव है।

जिसमें वायुकायिक जीव आ सकता है ऐसी वायु को अर्थात् केवल सामान्य वायु को वायु कहते हैं। वायुकायिक जीव के द्वारा छोड़ी गयी, पंखा आदि से चलाई गयी, वायु, हमेशा विलोडित की गयी वायु वायुकाय है। वायुकायिक जीव से सहित वायुकायिक है और वायुकायिकों में उत्पन्न से पूर्व विग्रहगतिजीव वायुजीव है।

गीली, छेदी गयी, भेदी गयी या मर्दित की गयी लता आदि यह सामान्य वनस्पति है। सूखी आदि वनस्पति जिसमें वनस्पति जीव नहीं है वह वनस्पतिकाय है। वनस्पतिकायिक जीव सहित वनस्पतिकायिक है और वनस्पतिकाय में उत्पन्न होनेवाला विग्रहगति वाला जीव वनस्पति जीव है। इस प्रकार से इनके उदाहरण तत्त्वार्थवृत्ति अ० २ सूत्र १३ में दिये गये हैं।

वे भेद कौन हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—मिट्टी, बालू, शर्करा, उपल, शिला, लवण, लोहा, तांबा, रांगा, शीशा, चांदी, सोना और हीरा।

हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रक और अभ्रबालू ये बादरकाय हैं। और अब मणियों के भेद कहते हैं—

गोमेदमणि, रुचकमणि, अंकमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त ये मणि हैं।

गेरु, चन्दन, वप्पक, वक, मोच तथा मसारगल्ल ये मणि हैं। इन पृथिवीकायिक

पुढवी—पृथिवी मृद्रूपा। वालुया—वालुका रूक्षा गंगाद्युद्भवा। सक्करा—शर्करा परुषरूपा त्र्यस्र चतुरस्रादिरूपा। उवले—उपलानि वृत्तपाषाणरूपाणि। सिला य—शिला च वृहत्पाषाणरूपा। लोणे य—लवणभेदाः सामुद्रादयः। अय—अयो लोहरूपं। तंव—ताम्रं। तउय—त्रपुयं। सीसय—सीसकं श्यामवर्णं। रुप्प—रूप्यवर्णं शुक्लरूपं। सुवण्णेय—सुवर्णानि च रक्तपीतरूपाणि। वइरे य—वज्रं च रत्नविशेषः ॥२०७॥

हरिदाले—हरितालं नटवर्णकं। हिंगुलये—हिंगुलकं रक्तद्रव्यं। मणोसिला—मनःशिला कास-प्रतिकाराय प्रवृत्तं। सस्सग—सस्यकं हरितरूपं। अंजण—अञ्जनं अक्ष्युपकारकं (चक्षुरूपकारकं) द्रव्यं। पवालेय—प्रवालं च। अब्भपडल—अभ्रपटलं। अब्भवालुग—अभ्रवालुका चैक्यचित्ररूपा। वादरकाया—स्थूलकायाः। मणिविधीय—इत ऊर्ध्वं मणिविधयो मणिप्रकारा वक्ष्यन्त इति सम्बन्धः ॥२०७॥

शर्करोपलशिलावज्रप्रवालवर्जिताः शुद्धाः पृथिवीविकाराः पूर्वे एते च खरपृथिवीविकाराः। गोमज्झगेय—गोमध्यको मणिः कर्केतनमणिः। रुजगे—रुचकश्च मणी राजवर्तकरूपः। अंके—अंको मणिः पुलकवर्णः। फलिहे—स्फटिकमणिः स्वच्छरूपः। लोहिदंकेय—लोहितांको मणी रक्तवर्णः पद्म-रागः। चंदप्पभेय—चन्द्रप्रभो मणिः। वेरुलिए—वैडूर्यो मणिः। जलकंते—जलकान्तो मणिरुदकवर्णः। सूर-कंतेय—सूर्यकान्तो मणिः ॥२०८॥

जीवों को जानो और जानकर उनका परिहार करना चाहिए ॥२०६-२०९॥

आचारवृत्ति—सामान्य मिट्टी रूप को पृथिवी कहते हैं। वालुका—जो रूक्ष है तथा गंगानदी आदि में उत्पन्न होती है। शर्करा—कंकरीली रेत जो कठोर होती है और चौकोन आदि आकारवाली होती है। उपल—गोल-गोल पत्थर के टुकड़े, शिला—पत्थर की चट्टानें, लवण—पहाड़ या समुद्र आदि के जल से जमकर होने वाला नमक, लोह—लोहा, रूप्य—चाँदी, सुवर्ण—सोना और वज्र—हीरा ये सब रत्नविशेष हैं।

हरिताल—यह नटवर्ण का होता है। हिंगूल—यह लाल वर्ण का होता है। मेनसिल यह पत्थर खाँसी के रोग में औषधि के काम आता है। सस्यक—(तूतिया) यह हरे वर्ण का होता है। अंजन—यह नेत्रों का उपकार करने वाला द्रव्य है। प्रवाल—इसे मूंगा भी कहते हैं। अभ्र-पटल—अभ्रक, इसे भोडल भी कहते हैं। अभ्रवालुका—चमकने वाली कोई रेत। ये सब भेद वादर पृथिवीकायिक के हैं। इसके अनन्तर मणियों के भेदों को कहते हैं।

शर्करा, उपल, शिला, वज्र और प्रवाल इनको छोड़कर बाकी के जो भेद ऊपर कहे हैं शुद्ध पृथिवी के विकार हैं अर्थात् उन्हें शुद्ध पृथिवी कहते हैं। इनके पूर्व में कहे गए (शर्करा आदि) भेद तथा इस गाथा में और अगली गाथा में कहे जाने वाले भेद खरपृथिवी के विकार हैं अर्थात् उन्हें खरपृथिवी कहते हैं। अन्यत्र पृथिवी के शुद्धपृथिवी और खरपृथिवी ऐसे दो भेद किये गये हैं।

गोमेद—कर्केतनमणि। रुचक—राजावर्तमणि जो अलसी के फूल के समान वर्ण-वाली होती है। अंक—पुलकमणि जो प्रवालवर्ण की होती है। स्फटिक—यह स्फटिक मणि स्वच्छ विशेष होती है। लोहितांक—पद्मरागमणि, यह लाल होती है। चन्द्रप्रभ—यह चन्द्रकान्त मणि है। इसमें चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से अमृत झरता है। वैडूर्य—यह नीलवर्ण की होती

गेरुय—गैरिकवर्णो मणी रुधिराभः। चंदण—चन्दनो मणिः श्रीखंडचन्दनगन्धः। वव्वग—वप्पको मणिर्मरकतमनेकभेदं। वग—वको मणिः वकवर्णाकारः पुष्परागः। मोए—मोचो मणिः कदलीवर्णाकारो नीलमणिः। तह—तथा। मसारगल्लेय—मसृणपाषाणमणिर्विद्रुमवर्णः। ते जाण—तान् जानीहि। पुढविजीवा पृथिवीजीवान्। तैर्ज्ञातैः किं प्रयोजनं? जाणित्ता—ज्ञात्वा। परिहरेदव्वा—परिहर्तव्या रक्षितव्याः संयमपालनाय। तानेतान् शुद्धपृथिवीजीवान् तथा खरपृथिवीजीवांश्च मणिप्रकारान् स्थूलान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहर्तव्याः। सूक्ष्माः पुनः सर्वत्र ते विज्ञातव्याः आगमबलेन। षट्त्रिंशद्भेदेषु पृथिवीविकारेषु पृथिव्यष्टक—मेरु-कुलपर्वत-द्वीप-वेदिका-विमान-भवन प्रतिमा-तोरण-स्तूप-चैत्यवृक्ष-जम्बू-शाल्मलीष्वाकार-मानुषोत्तर-विजयार्ध-कांचनगिरि-दधिमुखाञ्जन-रतिकर-वृषभगिरि-सामान्यपर्वत-स्वयंभु-नगवरेन्द्र-वक्षार-रुचक-कुण्डलवर-दंष्ट्रा-पर्वतरत्नाकरादयोऽन्तर्भवन्तीति ॥२०६॥

है। जलकान्त—यह मणि जल के समान वर्ण वाली है। सूर्यकान्त—इस मणि पर सूर्य की किरणों के पड़ने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है।

गैरिक—यह मणि लालवर्ण की होती है। चन्दन—यह मणि श्रीखण्ड और चन्दन के समान गन्धवाली है। वप्पक—यह मरकत मणि है। इसके अनेक भेद हैं। वक—यह मणि वगुले के समान वर्णवाली है, इसे ही पुष्परागमणि कहते हैं। मोच—यह मणि कदलीपत्र के समान वर्णवाली है, इसे नीलमणि भी कहते हैं। मसारगल्ल—यह चिकने-चिकने पाषाणरूप-मणि है और मूंगे के वर्णवाली है। इन सबको पृथिवीकायिक जीव समझो।

शंका—इनके जानने का क्या प्रयोजन है?

समाधान—इन्हें जानकर संयम के हेतु इन जीवों की रक्षा करना चाहिए अर्थात् शुद्ध पृथिवी के जीवों को और खरपृथिवी के जीवों तथा मणियों के नाना प्रकार रूप बादर कायिक जीवों को जानकर उनका परिहार करना चाहिए। क्योंकि बादर-जीवों की ही रक्षा हो सकती है। पुनः सूक्ष्म जीव सर्वत्र लोक में तिल में तेल के समान भरे हुए हैं, उनको भी आगम के द्वारा जानना चाहिए।

इन छत्तीस भेदरूप पृथिवी के विकारों में सात नरक की पृथिवी और एक ईषत् प्राग्भार नामवाली सिद्धशिला रूप पृथ्वी ये आठ भूमियाँ, मेरुपर्वत, कुलाचल, द्वीप और द्वीपसमूहों की वेदिकाएँ, देवों के विमान, भवन, जिनप्रतिमा आदि प्रतिमाएँ, तोरणद्वार, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मली वृक्ष, इष्वाकारपर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, विजयार्धपर्वत, कांचन पर्वत, दधिमुखपर्वत, अंजनगिरि, रतिकर पर्वत, वृषभाचल तथा और भी सामान्यपर्वत, स्वयंप्रभ पर्वत, वक्षारपर्वत, रुचकवरपर्वत, कुण्डलवरपर्वत, गजदन्त और रत्नों की खान आदि अन्तर्भूत हो जाते हैं। अर्थात् मध्यलोक में होनेवाले सम्पूर्ण पर्वत, वेदिकाएँ, जिनभवन और जिनप्रतिमाएँ, नरक की भूमियाँ, बिल, भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विमान, भवन, इनमें स्थित जिनमन्दिर, जिनप्रतिमाएँ तथा सिद्धशिला भूमि, जम्बूवृक्ष आदि सभी इन छत्तीस भेदों में गर्भित हो जाते हैं।

भावार्थ—पृथिवी के भेद—१. मिट्टी, २. रेत, ३. कंकड़, ४. पत्थर, ५. शिला,

अप्कायिकभेदप्रतिपादनार्थमाह—

ओसाय हिमग महिगा [1]हरदणु सुद्धोदगे घणुदगे य।
ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१०॥

ओसाय—अवश्यायजलं रात्रिपश्चिमप्रहरे निरभ्रावकाशात् पतितसूक्ष्मोदकं। हिमग—हिमं प्रालेयं जलबन्धकारणं। महिगा—महिका धूमाकारजलं कुहडरूपं। हरद[2]—हरत्[3] स्थूलविन्दुजलं। अणु—अणुरूपं सूक्ष्मविंदुजलं। सुद्ध—शुद्धजलं चन्द्रकान्तजलं। उदगे—उदकं सामान्यजलं निर्झराद्युद्भवं। घणुदगे—घनोदकं समुद्रह्रदघनवाताद्युद्भवं घनाकारं। अथवा हरदणु—महाह्रदसमुद्राद्युद्भवं। घणुदए—मेघाद्युद्भवं घनाकारं, एवमाद्यप्कायिकान् जीवान् जानीहि ततः किं ? जाणित्ता—ज्ञात्वा। परिहरिदव्वाः—परिहर्तव्याः पालयितव्याः सरित्सागर-ह्रद-कूप-निर्झर-घनोद्भवाकाशज-हिमरूप-धूमरूप-भूम्युद्भव-चन्द्रकान्तजघनवाताद्यप्कायिका अत्रैवान्तर्भवन्तीति ॥२१०॥

---

६. नमक, ७. लोहा, ८. तांबा, ९. रांगा, १०. सीसा, ११. चाँदी, १२. सोना, १३. हीरा, १४. हरताल, १५. हिंगुल, १६. मनःशिला, १७. गेरु, १८. तूतिया, १९. अंजन, २०. प्रवाल, २१. अभ्रक, २२. गोमेद, २३. राजवर्तमणि, २४. पुलकमणि, २५. स्फटिकमणि, २६. पद्मरागमणि, २७. वैडूर्यमणि, २८. चन्द्रकांतमणि, २९. जलकान्त, ३०. सूर्यकान्त, ३१. गैरिकमणि, ३२. चन्दनमणि, ३३. मरकतमणि, ३४. पुष्परागमणि, ३५. नीलमणि और ३६. विद्रुममणि ये छत्तीस भेद हैं। इसी में मेरु पर्वत आदि सभी भेद सम्मिलित हो जाते हैं।

अब जलकायिक जीवों के भेद प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—ओस, हिम, कुहरा, मोटी बूंदें और छोटी बूंदें, शुद्धजल और घनजल—इन्हें जलजीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२१०॥

आचारवृत्ति—रात्रि के पश्चिम प्रहर में मेघ रहित आकाश से जो सूक्ष्म जलकण गिरते हैं उसे ओस कहते हैं। जो पानी घन होकर नीचे ओले के रूप में हो जाता है वह हिम है, इसे ही बर्फ कहते हैं। धूमाकार जल जो कि कुहरा कहलाता है, इसे ही महिका कहते हैं। स्थूल-बिन्दुरूप जल हरत् नामवाला है। सूक्ष्म बिन्दु रूप जल अणुसंज्ञक है। चन्द्रकान्त से उत्पन्न हुआ जल शुद्ध जल है। झरना आदि से उत्पन्न हुआ सामान्यजल उदक कहलाता है। समुद्र, सरोवर, घनवात आदि से उत्पन्न हुआ जल, जो कि घनाकार है, घनोदक कहलाता है। अथवा महासरोवर, समुद्र आदि से उत्पन्न हुआ जल हरदणु है और मेघ आदि से उत्पन्न हुआ घनाकार जल घनोदक है। इत्यादि प्रकार के जलकायिक जीवों को तुम जानो।

उससे क्या होगा ? उन जीवों को जानकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। नदी, सागर, सरोवर, कूप, झरना, मेघ से बरसनेवाला, आकाश से उत्पन्न हुआ हिम-बर्फ रूप, कुहरा रूप, भूमि से उत्पन्न, चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न, घनवात आदि का जल, इत्यादि सभी प्रकार के जलकायिक जीवों का उपर्युक्त भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

१, २, ३, क हरिद।

तेजःकायिकभेदप्रतिपादनायाह—

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणीय अगणी य।
ते जाण तेउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२११॥

इंगाल—अंगाराणि ज्वलितनिर्धूमकाष्ठादीनि। जाल—ज्वाला। अच्चि—अर्चिः प्रदीपज्वालाग्रं। मुम्मुर—मुर्मुरं कारीषाग्निः। सुद्धागणीय—शुद्धाग्निः वज्राग्निर्विद्युत्सूर्यकान्ताद्युद्भवः। अगणीय—सामान्याग्निर्धूमादिसहितः। वाडवाग्निनन्दीश्वरधूमकुण्डिकामुकुटानलादयोऽत्रैवान्तर्भवन्तीति। तानेतांस्तेजःकायिकजीवान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहरणीया एतदेव ज्ञानस्य प्रयोजनमिति ॥२११॥

वायुकायिकस्वरूपमाह—

वादुब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महा घण तणू य।
ते जाण वाउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१२॥

वादुब्भामो—वातः सामान्यरूपः उद्भ्रमो भ्रमन्नूर्ध्वं गच्छति। उक्कलि—उत्कलिरूपः। मंडलि—पृथिवीं लग्नो भ्रमन् गच्छति। गुंजा—गुंजन् गच्छति। महा—महावातो वृक्षादिभंगहेतुः। घणतणुय—घनोदधिः घनानिलस्तनुवातः, व्यजनादिकृतो वा तनुवातो लोकप्रच्छादकः। उदरस्थपंचवात—विमानाधार—

अब अग्निकायिक भेदों के प्रतिपादन हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—अंगारे, ज्वाला, लौ, मुर्मुर, शुद्धाग्नि और अग्नि—इन्हें अग्निजीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२११॥

आचारवृत्ति—जलते हुए धुएँ रहित काठ आदि अर्थात् धधकते कोयले अंगारे कहलाते हैं। अग्नि की लपटें ज्वाला कहलाती है। दीपक का और ज्वाला का अग्रभाग (लौ) अर्चि है। कण्डे की अग्नि का नाम मुर्मुर है। वज्र से उत्पन्न हुई अग्नि, बिजली की अग्नि, सूर्यकान्त से उत्पन्न हुई अग्नि ये शुद्ध अग्नि है। धुएँ आदि सहित सामान्य अग्नि को अग्नि कहा है। वडवा अग्नि, नन्दीश्वर के मन्दिरों में रखे हुए धूपघटों की अग्नि, अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि आदि सभी अग्नि के भेदों का उपर्युक्त भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इन अग्निकायिक जीवों को जानो और जानकर उनकी रक्षा हेतु उनका परिहार करो, यही इनके जानने का प्रयोजन है।

अब वायुकायिक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—घूमती हुई वायु, उत्कलि रूप वायु, मंडलाकार वायु, गुंजा वायु, महावायु, घनोदधिवातवलय की वायु और तनुवातवलय की वायु वायुकायिक जीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२१२॥

आचारवृत्ति—वात शब्द से सामान्य वायु को कहा है। जो वायु घूमती हुई ऊपर को उठती है वह उद्भ्रम वायु है। जो लहरों के समान होती है वह उत्कलिरूप वायु है। पृथ्वी से लगकर घूमती हुई वायु मण्डलिवायु है। गूंजती हुई वायु गुंजावायु है। वृक्षादि को गिरा देने वाली वायु महावायु है। घनोदधिवातवलय, तनुवातवलय की वायु घनाकार है और पंखे आदि

भवनस्थानादिवाता अत्रैवान्तर्भवन्तीति। तानेतान् वायुकायिकजीवान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहारः कार्यः ॥२१२॥

वनस्पतिकायिकार्थमाह—

> मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।
> संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥२१३॥

मूल—मूलबीजा जीवा येषां मूलं प्रादुर्भवति ते च हरिद्रादयः। अग्ग—अग्रबीजा जीवाः कोरंटकमल्लिकाकुब्जकादयो येषामग्रं प्रारोहति। पोरबीया—पोरबीजजीवा इक्षुवेत्रादयो येषां पोरप्रदेशः प्रारोहति। कंदा—कन्दजीवाः कदलीपिण्डालुकादयो येषां कन्ददेशः प्रादुर्भवति। तह—तथा। खंधबीया—स्कन्धबीजजीवाः शल्लकीपालिभद्रकादयो येषां स्कन्धदेशो रोहति। बीयबीया—बीजबीजा जीवा यवगोधूमादयो येषां क्षेत्रोदकादिसामग्र्याः प्ररोहः। सम्मुच्छिमाय—सम्मूर्च्छिमाश्च मूलाद्यभावेऽपि येषां जन्म। भणिया—भणिताः कथिताः। क आगमे जिनवरैः। पत्तेया—प्रत्येकजीवाः पूगफल-नालिकेरादयः। अणंतकाया य—अनन्तकायाश्च स्नुहीगुडूच्यादयः, ये छिन्ना भिन्नाश्च प्रारोहन्ति, एकस्य यच्छरीरं तदेवानन्तानन्तानां साधारणाहारप्राणत्वात् साधारणानां, एकमेकं प्रति प्रत्येकं पृथक्कायादयः शरीरं येषां ते प्रत्येककायाः। अनन्तः साधारणः कायो येषां तेऽनन्तकायाः। एते मूलादयः सम्मूर्च्छिमाश्च प्रत्येकानन्तकायाश्च भवन्ति ॥२१३॥

से की गयी वायु अथवा लोक को वेष्टित करने वाली वायु तनुवात हैं। उदर में स्थित पाँच प्रकार की वायु होती है। अर्थात् हृदय में स्थित वायु प्राणवायु है, गुद में अपानवायु है, नाभिमण्डल में समानवायु है, कण्ठ प्रदेश में उदानवायु है और सम्पूर्ण शरीर में रहनेवाली वायु व्यानवायु है। ये शरीर सम्बन्धी पाँच वायु हैं। इसी प्रकार से ज्योतिष्क आदि स्वर्गों के विमान के लिए आधारभूत वायु, भवनवासियों के स्थान के लिए आधारभूत वायु इत्यादि वायु के भेद इन्हीं उपर्युक्त भेदों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इन्हें वायुकायिक जीव जानो और जानकर उनका परिहार करो, ऐसा तात्पर्य है।

अब वनस्पतिकायिक जीवों का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—पर्व, बीज, कन्द, स्कन्ध तथा बीजबीज; इनसे उत्पन्न होनेवाली और संमूर्च्छिम वनस्पति कही गयी हैं। ये प्रत्येक और अनन्तकाय ऐसे दो भेदरूप हैं ॥२१३॥

आचारवृत्ति—मूल से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ मूलबीज हैं; जैसे हल्दी आदि। अग्र से उत्पन्न होने वाली वनस्पति अग्रबीज हैं; जैसे कोरंटक, मल्लिका, कुब्जक—एक प्रकार का वृक्ष आदि। इनका अग्रभाग उग जाता है। जिनकी पर्व—पोरभाग से उत्पत्ति होती है वे पर्वबीज हैं; जैसे ईख, बेंत आदि। जिनकी कन्दभाग से उत्पत्ति होती है वे स्कन्धबीज जीव हैं; कदली, पिंडालु आदि। कोई स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं वे स्कन्धबीज जीव हैं; जैसे सल्लकी, पालिभद्र आदि। कोई बीज से उत्पन्न होती हैं वे बीज-बीज कहलाती हैं; जैसे जौ, गेहूँ आदि इनकी खेत में मिट्टी, जल आदि सामग्री से उत्पत्ति होती है।

मूल, अग्र-बीज आदि के अभाव में भी जिनका जन्म होता है वे संमूर्च्छिम वनस्पति हैं। इन वनस्पतियों के प्रत्येक और अनन्तकाय ये दो भेद हैं। जिनका स्वामी एक है वे प्रत्येक-

[1]अवयविरूपं व्याख्यायावयवभेदप्रतिपादनार्थमाह। अथवा वनस्पतिजातिर्द्विप्रकारा भवतीति बीजोद्भवा सम्मूर्च्छिमा च तत्र बीजोद्भवा मूलादिस्वरूपेण व्याख्याता। सम्मूर्च्छिमानां स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

> कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल पुप्फफलं।
> गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य ॥२१४॥

कन्दा—कन्दकः सूरणपद्मकन्दकादिः। मूला—मूलं [2]पिण्डाधः प्ररोहकं हरिद्रार्द्रकादिकं। छल्ली—त्वक् वृक्षादिबहिर्वल्कलं [illegible] च। खंधं—स्कन्धः [3]पिण्डशाखयोरन्तर्भागः पालिभद्रादिकाः।

काय हैं जैसे सुपारी, नारियल आदि के वृक्ष। जो अनन्तजीवों के काय हैं वे अनन्तकाय हैं; जैसे स्नुही, गिलोय—गुरच आदि। ये छिन्नभिन्न हो जाने पर भी उग जाती हैं।

एक-एक के प्रति पृथक्-पृथक् शरीर जिनका होता है वे प्रत्येकशरीर कहलाते हैं और एक जीव का जो शरीर है वही अनन्तानन्त जीवों का शरीर हो, उन का साधारण ही आहार और श्वासोच्छ्वास हो वे अनन्तकाय हैं। अर्थात् जिनके पृथक्-पृथक् शरीर आदि हैं वे प्रत्येककाय जीव हैं और जिनका अनन्त—साधारण काय है वे अनन्तकाय नाम वाले हैं। ये मूल आदि और संमूर्च्छन आदि वनस्पति प्रत्येक और अनन्तकाय भेद से दो प्रकार की होती हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ—जो वनस्पति मूल अग्र पर्व बीज आदि से उत्पन्न होती हैं उनमें से मूलादि प्रधान हैं। तथा जो मिट्टी, पानी आदि के संयोग से बिना मूल बीज आदि के उत्पन्न होती हैं वे संमूर्च्छन हैं। यद्यपि एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक जीव संमूर्च्छन ही होते हैं और पंचेन्द्रियों में भी संमूर्च्छन होते हैं, फिर भी यहाँ मूल एवं बीजादि की विवक्षा का न होना ही संमूर्च्छन वनस्पति में विवक्षित है; जैसे घास आदि।

अवयवी का स्वरूप बताकर अवयवों के भेद प्रतिपादन करने हेतु कहते हैं—अथवा वनस्पति जाति के दो प्रकार हैं—एक, बीज से उत्पन्न होनेवाली और दूसरी, संमूर्च्छन। उनमें से बीज से होनेवाली वनस्पतियाँ मूलज अग्रज आदि के स्वरूप से बतलाई जा चुकी हैं, अब संमूर्च्छन वनस्पतियों का स्वरूप बतलाते हुए अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—कन्द, मूल, छाल, स्कन्ध, पत्ता, कोंपल, फूल, फल, गुच्छा, गुल्म, बेल, तृण और पर्वकाय ये वनस्पति हैं ॥२१४॥

आचारवृत्ति—सूरण, पद्मकन्द आदि कन्द हैं। मूल अर्थात् पिण्ड के नीचे भाग से जो उत्पन्न होती हैं वे मूलकाय हैं; जैसे हल्दी, अदरक आदि। वृक्षादि के बाहर का वल्कल छाल कहलाता है। पिण्ड और शाखा का मध्यभाग स्कन्ध है; जैसे पारिभद्र* आदि। अंकुर से उत्पन्न की अवस्था पत्ता है। पत्तों की पूर्व अवस्था प्रवाल है जिसे कोंपल कहते हैं। और फल के कारण

---

१ क अवयवरूपं। २, ३, क [illegible]।

* कोश में पारिभद्र के अर्थ हैं—नीम का वृक्ष, देवदारु वृक्ष, मन्दारवृक्ष और [illegible] वृक्ष [illegible] कहते हैं।

पत्तं—पत्रं अंकुरोर्ध्वावस्था। पवाल—प्रवालं पल्लवं पत्राणां पूर्वावस्था। पुप्फ—पुष्पं फलकारणं। फलं—पुष्पकार्यं पूगफलतालफलादिकं। गुच्छा—गुच्छो बहूनां समूह एककालीनोत्पत्तिः जातिमल्लिकादिः। गुम्म—गुल्मं करंजकंथारिकादिः। वल्ली—वल्लरी श्यामा लतादिका। तणाणि—तृणानि। तह—तथा। पव्व—पर्व ग्रंथिकयोर्मध्यं वेत्रादि। काया—कायः स प्रत्येकमभिसम्बध्यते कन्दकायो मूलकाय इत्यादि, एते सम्मूर्छिमाः प्रत्येकानन्तकायाश्च मूलमादायपत्रमादायोत्पद्यन्त इत्यर्थः। अथवा मूलकायावयवः कन्दकायावयवः इत्यादि, पूर्वाणां वीजमुपादानं कारणं एतेषां पुनः पृथिवीसलिलादिकं उपादानकारणं। तथा च दृश्यते शृङ्गाच्छरः गोमयाच्छालूकं वीजमन्तरेणोत्पत्तिः पुष्पमन्तरेण च यस्योत्पत्तिः फलानां स फल इत्युच्यते, यस्य पुष्पाण्येव भवन्ति स पुष्प इत्युच्यते, यस्य पत्राण्येव न पुष्पाणि न फलानि स पत्र इत्युच्यते इत्यादि सम्बन्धः कर्तव्य इति ॥२१४॥

सेवाल पणग केण्णग कवगो कुहणोय वादरा काया।
सव्वेवि सुहमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे ॥२१५॥

है वह पुष्प है। पुष्पों के कार्य को फल कहते हैं; जैसे सुपारी फल आदि। अनेक के समूह का नाम गुच्छा है; जैसे एक काल में उत्पन्न होनेवाले जाति पुष्पों के, मालती पुष्पों के गुच्छे। करंज और कंथारिका आदि गुल्म कहलाते हैं। लता, वेल आदि वल्ली संज्ञक हैं। हरित घास आदि तृण नाम वाले हैं। दो गाँठों के मध्य को, जिससे वेत्रादि उत्पन्न होते हैं, पर्व कहते हैं। गाथा के अन्त में जो काय शब्द है वह प्रत्येक के साथ लगेगा। जैसे कन्दकाय, मूलकाय, स्कन्धकाय, पत्रकाय, पल्लवकाय, पुष्पकाय, फलकाय, गुच्छकाय, गुल्मकाय, वल्लीकाय, तृणकाय और पर्वकाय। ये संमूर्च्छन वनस्पतियाँ प्रत्येक और अनन्तकाय होती हैं। ये मूल या पत्रों का आश्रय लेकर और भी इसी भाँति उत्पन्न होती हैं। अथवा इनको मूलकाय अवयव, कन्दकायावयव इत्यादि नामों से भी कहते हैं।

पूर्वगाथा (२१३) में जिनका वर्णन किया है उनका उत्पादन कारण बीज है। और इस (२१४) गाथा में जिनका वर्णन है उनका उत्पादन कारण पृथिवी, जल, वायु आदि हैं। देखा जाता है कि शृंग—सींग से शर—दर्भ उत्पन्न होता है, गोबर से शालूक उत्पन्न होता है अर्थात् ये बीज के बिना ही उत्पन्न हो जाते हैं। पुष्प के बिना भी जिसमें फल उत्पन्न हो जाते हैं वे फलवनस्पति कहलाती हैं। जिसमें मात्र पत्ते ही रहते हैं, न फूल आते हैं और न फल लगते हैं वे पत्रवनस्पति हैं इत्यादि रूप से सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

गाथार्थ—काई, पणक, कचरे में होनेवाली वनस्पति, छत्राकार आदि कुकुरमुत्ता—ये बादरकाय वनस्पति हैं। सभी सूक्ष्मकाय वनस्पति सर्वत्र जल, स्थल और आकाश में व्याप्त हैं ॥२१५॥०

---

० निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

जलथलजिया मज्झे इट्टय वम्मीय [illegible]।
सेवाल पणग केणुग कवगो कुहणो [illegible] होंति ॥१६॥

त्वाद्वा। सचेतना एते [1]संज्ञादिभीरागमे निरूप्यमाणत्वात्, सर्वत्वगपहरणे मरणात् उदकादिभिः साड्वलभावात्, स्पृष्टस्य [2]लज्जरिकादेः संकोचकारणत्वात्[3] वनितागण्डूपसेकाद्धर्पदर्शनात्[4] वनितापादताडनात्पुष्पांकुरादिप्रादुर्भावात्, निधानादिदिशि पादादिप्रसारणादिति ॥२१७॥

त्रसस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलेंदिया मुणेयव्वा।
बितिचउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा ॥२१८॥

जीव आदि के समान ही एकेन्द्रिय हैं। अथवा यह साधारण वनस्पति जीवों का विशेषण है। पूर्व में प्रत्येककाय जीवों का वर्णन किया है।

जो ये मूलादि बीज-वनस्पति, कंदादिकाय-वनस्पति, साधारणशरीर वनस्पति और प्रत्येककाय वनस्पति बतलायी हैं जिनका कि सूक्ष्म और स्थूल रूप से वर्णन किया है इनको हरितकाय जीव जानो। तथा इनको और इनसे भिन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायुकायिक एकेन्द्रिय जीवों को भी जानो और जानकर इनकी दया पालो। यह 'परिहर्तव्याः' पद अन्तदीपक है इसलिए इसका सम्बन्ध सभी के साथ हो जाता है।

शंका—ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव कैसे हैं? अर्थात् इनमें जीव किस तरह माना जाय?

समाधान—ऐसा नहीं कहना; क्योंकि आगम से, अनुमान प्रमाण से अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से या आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह इन चारों संज्ञाओं के इनमें पाये जाने से, इन पृथ्वी आदि में जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ये आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओं के द्वारा सचेतन हैं ऐसा आगम में निरूपण किया गया है। देखा जाता है कि सम्पूर्ण-रूप से छाल को दूर कर दो तो वृक्ष आदि वनस्पति का मरण हो जाता है और जल वायु आदि के मिलने से हरे-भरे हो जाते हैं इसलिए आहार संज्ञा स्पष्ट है। स्पर्श कर लेने पर लाजवंती आदि वनस्पतियाँ संकुचित हो जाती हैं अतः भय संज्ञा भी स्पष्ट है। स्त्रियों के कुल्ले के जल से सिंचित होने से कुछ लता आदि हर्षित अर्थात् पुष्पित हो जाती हैं तथा स्त्रियों के पैरों के ताडन से कुछेक में पुष्प, अंकुर आदि प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इसलिए मैथुन संज्ञा मानी जाती है। निधान—खजाने आदि की दिशा में पाद—जड़ आदि फैल जाती हैं इसलिए परिग्रह संज्ञा भी स्पष्ट ही है। अर्थात् इन चारों संज्ञाओं को वनस्पतिकायिक में घटित कर देने से पृथ्वी आदि सभी स्थावरों में जीव है ऐसा निर्णय हो जाता है।

अब त्रसजीवों का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से [illegible] के कहे गये हैं ऐसा जानना चाहिए। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय जीव [illegible] जीव सकलेन्द्रिय हैं ॥२१८॥

सेवाल—शैवलं उदकगतकायिका हरितवर्णा। पणग—पणकं भूमिगतं शैवलं इष्टकादिभवकायिका। केण्णग—आलम्बकच्छत्राणि शुक्लहरितनीलरूपाणि अवस्करोद्भवानि। कवगो—शृंगाद्युद्भवरूपाणि जटाकाराणि। कुहणो य—आहारकांजिकादिगतपुष्पिका। बादरा काया—स्थूलकायाः अतीतोक्तैः सर्वैरतीतपृथिव्यादिभिः सह सम्बध्यते सर्वेऽपि पृथिवीकायिकादयो वनस्पतिपर्यन्ता व्याख्यातप्रकाराः स्थूलकाया इति। सूक्ष्मकायप्रतिपादनार्थमाह। सव्वेवि—सर्वेऽपि पृथिव्यादिभेदा वनस्पतिभेदाश्च सुहुमकाया—सूक्ष्मकायाश्चांगुलासंख्यातभागशरीराः। सव्वत्थ—सर्वत्र सर्वस्मिन्लोके। जलथलआगासे—जले स्थले आकाशे च। एते—पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ता बादरकायाः सूक्ष्मकायाश्च भवन्ति, किन्तु पृथिव्यष्टकविमाना दिकमाश्रित्य स्थूलकायाः, सूक्ष्मकायाः पुनः सर्वत्र जलस्थलाकाशे ॥२१५॥

सर्वत्र साधारणानां स्वरूपप्रतिपादनायाह—

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥२१६॥

गूढसिरसंधिपव्वं—गूढा अदृश्यमानाः शिराः, सन्धयोऽस्थिबन्धा पर्वाणि ग्रन्थयो यस्य तद्गूढसिर

आचारवृत्ति—जल में होनेवाली हरी-हरी काई शैवाल है। जमीन पर तथा ईंट आदि पर लग जाने वाली काई पणक है। वर्षाकाल में कूड़े-कचरे पर जो छत्राकार वनस्पति हो जाती है वह किण्व कहलाती है। सींग में उत्पन्न होनेवाली जटाकार वनस्पति कवक है। भोजन और कांजी आदि पर लग जाने फूली (फफूंदी) कुहन है। और भी, पीछे जिनका वर्णन किया गया है ये सभी वनस्पतियाँ बादरकाय हैं। अर्थात् पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पति कायिक पर्यन्त जितने भी प्रकार बतलाए गये हैं वे सभी स्थूलकाय के ही प्रकार हैं।

अब सूक्ष्मकाय का वर्णन करते हुए कहते हैं—सभी पृथिवी आदि से लेकर वनस्पति पर्यंत पांचों स्थावरकायों में सूक्ष्मकाय भी होते हैं। ये अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की अवगाहना वाले हैं और सर्वत्र लोकाकाश में—जल में, स्थल में, आकाश में भरे हुए हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पृथिवी से लेकर वनस्पति पर्यन्त अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पांचों प्रकार के स्थावर जीव बादरकाय और सूक्ष्मकाय के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें से जो आठ प्रकार की पृथिवी और विमान आदि का आश्रय लेकर होते हैं वे बादरकाय हैं और सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में बिना आधार के रहनेवाले जीव सूक्ष्मकाय कहलाते हैं।

सर्वत्र साधारण वनस्पति का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिनकी स्नायु, रेखाबंध और गांठ अप्रगट हों, जिनका समान भंग हो और दोनों भंगों में परस्पर हीरुक—अन्तर्गत सूत्र—तंतु नहीं लगा रहे तथा छिन्न करने पर भी जो उग जावे उसे साधारणशरीर वनस्पति कहते हैं और इससे विपरीत को प्रत्येकवनस्पति कहते हैं ॥२१६॥

आचारवृत्ति—जिसकी शिरा अर्थात् बहिःस्नायु, संधि—रेखाबन्ध, और पर्व

सन्धिपर्वं। समभंगं—समः सदृशो भंगः छेदो यस्य तत्समभंगं त्वग्रहितं[1]। अहीरहं—न विद्यते हीरकं वालरूपं यस्य तदहीरुहं पुनः सूत्राकारादिवर्जितं मंजिष्ठादिकं। छिन्नरुहं—छेदेन रोहतीति च्छेदरुहं छिन्नो भिन्नश्च यो रोहमागच्छति। साहारणं सरीरं—तत्साधारणं सामान्यं शरीरं साधारणशरीरं। तव्विवरीयं (च)—तद्विपरीतं च साधारणलक्षणविपरीतं। पत्तेयं—प्रत्येकं प्रत्येकशरीरं॥२१६॥

दिखती नहीं हैं वे गूढ़ शिरासंधि—पर्व वनस्पति हैं। जिनको तोड़ने पर समान भंग हो जाता है, छाल आदि नहीं रहती है वे समभंग हैं। जिनके तोड़ने पर हीरुक—बालरूप तंतु नहीं लगा रहता है, अन्तर्गत सूत्र नहीं लगा रहता है, वे अहीरुक हैं; जैसे कि मंजीठ आदि वनस्पतियाँ। जो छिन्न-भिन्न कर देने पर भी उग जाती हैं, छिन्नरुह हैं। इन लक्षण वाली वनस्पति को साधारणशरीर कहा है और इनसे विपरीत लक्षणवाली को प्रत्येकशरीर वनस्पति कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ पर जो साधारण वनस्पति का लक्षण किया है इसके विषय में विशेष बात यह है कि 'गोम्मटसार' में इसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक का ही लक्षण माना है और आगे साधारण का लक्षण अलग किया है। अर्थात् पहले वनस्पति के प्रत्येक और साधारण दो भेद किये हैं। पुनः प्रत्येक के सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित ऐसे दो भेद कर दिये हैं। इसमें अप्रतिष्ठित प्रत्येक तो वह है जिसके आश्रित निगोदिया जीव नहीं हैं और सप्रतिष्ठित वह है जिसके आश्रित अनन्त निगोदिया जीव हैं। इसे ही अनन्तकाय कहा है और सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के पहचान हेतु यही "गूढसिर संधिपव्वं···" गाथा दी है। इसी 'मूलाचार' की गाथा २१३ में भी जो 'अनन्तकाया' शब्द है वहाँ पर टीकाकार ने साधारण वनस्पति अर्थ किया है। किन्तु यही गाथा 'गोम्मटसार' में भी (गाथा क्रम १८६) है। उसमें 'अनन्तकाय' पद से सप्रतिष्ठित प्रत्येक अभिप्राय ग्रहण किया गया है। आगे साधारणशरीर वनस्पति का लक्षण करते हुए कहा है कि—

> साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।
> ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहुमा त्ति विण्णेया॥१६॥

अर्थात् जिन जीवों का शरीर साधारण नामकर्म के उदय से निगोदरूप होता है उन्हीं को सामान्य या साधारण कहते हैं। इनके दो भेद हैं, एक बादर और दूसरा सूक्ष्म।•

---

१ क °हितं महीरुहं पुनः।

• निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

> बीजे जोणीभूदे जीवो उव्वक्कमदि सो य अण्णो वा।
> जा विय समुणादीया पत्तेया पढमदाए ते॥२२॥

अर्थात् जिस योनिभूत बीज में वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह मूल कन्द आदि वनस्पति प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक रहते हैं। अर्थात् मूल कन्द आदि सभी वनस्पतियाँ जो कि सप्रतिष्ठित प्रत्येक मानी गई हैं वे भी अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यंत अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहती हैं।

किंभूतमिति पृष्टेऽत उत्तरमाह—

होदि वणप्फदि वल्ली रुक्खतणादी तहेव एइंदी।
ते जाण हरितजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१७॥

होदि—भवति। वणप्फदि—वनस्पतिः फलवान् वनस्पतिर्ज्ञेयः। वल्ली—वल्लरी लता। रुक्ख—वृक्षः पुष्पफलोपगतः। तणादी—तृणादीनि। तहेव—तथैव। एइंदी—एकेन्द्रियाः। अथवा साधारणनामोक्त-विशेषणं पूर्वं प्रत्येककायानां एते मूलादिबीजाः कन्दादिकायाः साधारणशरीराः प्रत्येककायाश्च सूक्ष्माः स्थूलाश्च ये व्याख्यातास्तान् हरितकायान् जानीहि तथा[1] एतेऽन्ये च पृथिव्यादयश्चैकेन्द्रिया ज्ञानवता परिहर्तव्याः अन्त्य-दीपकत्वात्। कथमेते जीवा इति चेन्नैष दोषः, आगमादनुमानात्प्रत्यक्षाद्वा, आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्ति-

---

यह वनस्पति और कैसी है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बेल, वृक्ष, घास आदि वनस्पति हैं तथा पृथ्वी आदि की तरह ये एकेन्द्रिय जीव हैं इन्हें तुम हरितकाय जीव समझो और ऐसा समझकर इनका परिहार करो ॥२१७॥

आचारवृत्ति—जो फलवाली है वह वनस्पति है। लताओं को बेल कहते हैं। पुष्प और फल जिसमें आते हैं उसे वृक्ष कहते हैं। घास आदि को तृण कहते हैं। ये सब पृथ्वीकायिक

अर्थात् साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनन्त जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ पर अनन्त जीवों का उत्पाद होता है।

भावार्थ—साधारण जीवों में मरण और उत्पत्ति की अपेक्षा भी सादृश्य है। प्रथम समय में उत्पन्न होनेवाले साधारण की तरह द्वितीयादि समयों में भी उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवों का जन्म-मरण साथ ही होता है। यहाँ इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीर में साथ उत्पन्न होनेवाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक होते हैं किन्तु मिश्ररूप नहीं होते हैं।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥२४॥

अर्थात् इन साधारण जीवों का साधारण (समान) ही तो आहार आदि होता है और साधारण—एक साथ श्वासोच्छ्वास ग्रहण होता है। इस तरह से साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही बताया है।

फली वणप्फदी णेया रुक्खा पुप्फफलं गदो।
ओसही फलपक्कंता गुम्मा वल्ली य वीरुधा ॥२५॥

अर्थात् जिसमें फलों ही लगते हैं उसे वनस्पति कहते हैं। जिसमें पुष्प और फल आते हैं उन्हें वृक्ष कहते हैं। फलों के पक जाने पर जो नष्ट हो जाते हैं उन्हें वनस्पति को औषधि कहते हैं। गुल्म और वल्ली को वीरुध कहते हैं। जिनकी शाखाएँ छोटी हैं और जिनमें [illegible] ऐसे छोटे झाड़ गुल्म हैं। जो पेड़ पर चढ़ती है और लताकार रहती है वे वल्ली हैं।

---

१ क तथा हि एतान्येकेन्द्र'।

त्वाद्रा । सचेतना एते [1]संज्ञादिभीरागमे निरूप्यमाणत्वात्, सर्वत्वगपहरणे मरणात् उदकादिभिः साङ्ग्यलभावात्, स्पृष्टस्य [2]लज्जरिकादेः संकोचकारणत्वात्[3] वनितागण्डूपसेकाद्धर्षदर्शनात्[4] वनितापादताडनात्पुष्पांकुरादि-प्रादुर्भावात्, निधानादिदिशि पादादिप्रसारणादिति ॥२१७॥

त्रसस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलेंदिया मुणेयव्वा ।
वितिचउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा ॥२१८॥

जीव आदि के समान ही एकेन्द्रिय हैं। अथवा यह साधारण वनस्पति जीवों का विशेषण है। पूर्व में प्रत्येककाय जीवों का वर्णन किया है।

जो ये मूलादि बीज-वनस्पति, कंदादिकाय-वनस्पति, साधारणशरीर वनस्पति और प्रत्येककाय वनस्पति बतलायी हैं जिनका कि सूक्ष्म और स्थूल रूप से वर्णन किया है इनको हरितकाय जीव जानो। तथा इनको और इनसे भिन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायुकायिक एकेन्द्रिय जीवों को भी जानो और जानकर इनकी दया पालो। यह 'परिहर्तव्याः' पद अन्तदीपक है इसलिए इसका सम्बन्ध सभी के साथ हो जाता है।

शंका—ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव कैसे हैं? अर्थात् इनमें जीव किस तरह माना जाय?

समाधान—ऐसा नहीं कहना; क्योंकि आगम से, अनुमान प्रमाण से अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से; या आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह इन चारों संज्ञाओं के इनमें पाये जाने से, इन पृथ्वी आदि में जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ये आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओं के द्वारा सचेतन हैं ऐसा आगम में निरूपण किया गया है। देखा जाता है कि सम्पूर्ण-रूप से छाल को दूर कर दो तो वृक्ष आदि वनस्पति का मरण हो जाता है और जल वायु आदि के मिलने से हरे-भरे हो जाते हैं इसलिए आहार संज्ञा स्पष्ट है। स्पर्श कर लेने पर लाजवंती आदि वनस्पतियाँ संकुचित हो जाती हैं अतः भय संज्ञा भी स्पष्ट है। स्त्रियों के कुल्ले के जल से सिंचित होने से कुछ लता आदि हर्षित अर्थात् पुष्पित हो जाती हैं तथा स्त्रियों के पैरों के ताडन से कुछेक में पुष्प, अंकुर आदि प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इसलिए मैथुन संज्ञा मानी जाती है। निधान—खजाने आदि की दिशा में पाद—जड़ आदि फैल जाती हैं इसलिए परिग्रह संज्ञा भी स्पष्ट ही है। अर्थात् इन चारों संज्ञाओं को वनस्पतिकायिक में घटित कर देने से पृथ्वी आदि सभी स्थावरों में जीव हैं ऐसा निर्णय हो जाता है।

अब त्रसजीवों का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से त्रस दो प्रकार के कहे गये हैं, ऐसा जानना चाहिए। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय ये विकलेन्द्रिय जीव हैं। पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय हैं ॥२१८॥

---

१ क संज्ञादि । २ क लज्जरि[illegible] । ३ क [illegible]नात् । ४ क [illegible] ।

दुविहा—द्विविधा द्विप्रकाराः। तसा—त्रसा उद्वेगनबहुलाः। **वुत्ता**—उक्ताः प्रतिपादिताः। **विकला**—विकलेन्द्रियाः। **सकला**:—सकलेन्द्रियाः। इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। **मुणेदव्वा**—ज्ञातव्याः। **बितिचउरिंदिय**—द्वे त्रीणि चत्वारीन्द्रियाणि येषां ते द्वित्रिचतुरिन्द्रिया द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाश्चेति। **विगला**—विकला विकलेन्द्रिया एते। सेसा—शेषाः सकलेन्द्रियाः सकलानि पूर्णानीन्द्रियाणि येषां ते सकलेन्द्रियाः पंचेन्द्रिया इत्यर्थः। जीवा—जीवा ज्ञानाद्युपयोगवन्तः। द्विप्रकारा विकलेन्द्रियसकलेन्द्रिय-भेदेन ॥२१८॥

के विकलेन्द्रियाः, के सकलेन्द्रिया इत्यत आह—

संखो गोभी भमरादिया दु विगलिंदिया मुणेदव्वा।
सकलिंदिया य जलथलखचरा सुरणारयणरा य ॥२१९॥

संखो—शंख। गोभी—गोपालिका। भमर—भ्रमरः। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, शंखादयो भ्रमरादयः। आदिशब्देन शुक्ति-कृमि-वृश्चिक-मत्कुण-मक्षिका पतंगादयः परिगृह्यन्ते। एते **विगलिंदिया**—विकलेन्द्रियाः। **मुणेदव्वा**—ज्ञातव्याः। शेषाः पुनः सकलिंदिया—सकलेन्द्रियाः। के ते **जलथलखचरा**—जले चरन्तीति जलचराः मत्स्यमकरादयः, स्थले चरन्तीति स्थलचराः सिंहव्याघ्रादयः, खे चरन्तीति खचरा हंससारसादयः। **सुरणारयणरा य**—सुरा देवा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनः, नारकाः सप्तपृथिवी-निवासिनो दुःखबहुलाः, नरा मनुष्या इति ॥२१९॥

आचारवृत्ति—जो प्रायः उद्विग्न होते रहते हैं वे त्रस कहलाते हैं। उनके विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार हैं। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय कहलाते हैं और सकल अर्थात् पूर्ण हैं इन्द्रियाँ जिनकी ऐसे पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय कहलाते हैं। ये ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग लक्षणवाले होने से जीव हैं ऐसा समझना।

विकलेन्द्रिय कौन हैं और सकलेन्द्रिय कौन हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—शंख, गोपालिका और भ्रमर आदि जीवों को विकलेन्द्रिय जानना चाहिए। जलचर, थलचर और नभचर तथा देव, नारकी और मनुष्य ये सकलेन्द्रिय हैं ॥२१९॥

आचारवृत्ति—'भ्रमर' के साथ में प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। यथा—शंख, सीप, कृमि आदि दो-इन्द्रिय जीव हैं। गोपालिका—बिच्छू, खटमल आदि तीन-इन्द्रिय जीव हैं। भ्रमर, मक्खी, पतंग आदि चार-इन्द्रिय जीव हैं। इनके विकल—न्यून इन्द्रियाँ हैं, पूर्ण नहीं हुई हैं इसलिए ये विकलेन्द्रिय कहे जाते हैं। इन विकलेन्द्रिय तथा पूर्व-कथित एकेन्द्रिय से बचे हुए पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय हैं। उनमें से तिर्यंच के तीन भेद हैं—जलचर, थलचर और नभचर। जो जल में रहते हैं वे जलचर हैं; जैसे मत्स्य, मकर आदि। जो थल पर विचरण करते हैं वे थलचर हैं; जैसे सिंह, व्याघ्र आदि। जो आकाश में उड़ते हैं वे नभचर हैं; जैसे हंस, सारस आदि। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी ये चारों प्रकार के देव सुर कहलाते हैं। सात पृथिवी में निवास करनेवाले और दुःख की अत्यन्त बहुलता वाले नारकी हैं और मनुष्य गति को प्राप्त जीव मनुष्य हैं। ये तीन प्रकार के तिर्यंच—देव, नारकी और मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव हैं।

पुनरपि भेदप्रकरणायाह—

कुलजोणिमग्गणा विय णादव्वा सव्वजीवाणं।
णाऊण सव्वजीवे णिस्संका होदि कादव्वा ॥२२०॥

कुल—कुलं जातिभेदः। जोणि—योनिरुत्पत्तिकारणं। कुलयोन्योः को विशेष इति चेन्न, वटपिप्पलकृमिशुक्तिमत्कुणपिपीलिकाभ्रमरमक्षिकागोश्वक्षत्रियादि कुलं। कन्दमूलाण्डगर्भरसस्वेदादिर्योनिः। मग्गणा वि य—मार्गणाश्च गत्यादयः। णादव्वा—ज्ञातव्याः। सव्वजीवाणं—सर्वजीवानां पृथिव्यादीनां। णाऊण—ज्ञात्वा। सव्वजीवे—सर्वजीवान्। निस्संका—निःशंका संदेहाभावः। होदि—भवति। कादव्वा—कर्तव्या। कुलयोनिमार्गणाभेदेन सर्वजीवान् ज्ञात्वा निःशंका भवति कर्तव्येति ॥२२०॥

कुलभेदेन जीवान् प्रतिपादयन्नाह—

बावीस सत्ततिण्णि य सत्त य कुलकोडिसदसहस्साइं।
णेया पुढविदगागणिवाऊकायाण पडिसंखा ॥२२१॥

बावीस—द्वाविंशतिः। सत्त—सप्त। तिण्णि य—त्रीणि च। सत्त य—सप्त च। कुलकोडिसदसहस्साइं—कुलानां कोट्यः कुलकोट्यः कुलकोटीनां शतसहस्राणि तानि कुलकोटीशतसहस्राणि। द्वाविंशतिः सप्त त्रीणि च सप्त च। णेया—ज्ञातव्याः। पुढवि—पृथिवीकायिकानां। दग—अप्कायिकानां। अगणि—अग्निकायिकानां। वाऊ—वायुकायिकानां। पडिसंखा—परिसंख्या। पृथिवीकायानां कुलकोटि-

---

पुनरपि इनके भेदों को बतलाते हैं—

गाथार्थ—सभी जीवों के कुल, उनकी योनि और मार्गणाओं को भी जानना चाहिए। और सभी जीवों को जानकर शंका रहित हो जाना चाहिए ॥२२०॥

आचारवृत्ति—जाति के भेद को कुल कहते हैं और उत्पत्ति के कारण को योनि कहते हैं।

कुल और योनि में क्या अन्तर है?

बड़-पीपल, कृमि-सीप, खटमल-चींटी, भ्रमर-मक्खी, गौ, अश्व क्षत्रिय आदि ये कुल हैं। कन्द, मूल, अंड, गर्भ, रस, पसीना आदि योनि कहलाते हैं। गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाएँ हैं।

इन कुल योनि और मार्गणाओं के भेद से पृथिवीकायिक से लेकर पंचेन्द्रिय त्रस पर्यंत सभी जीवों को जानकर उनके विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

अब कुल के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों की संख्या क्रम से बाईस, सात, तीन और सात लाख करोड़ है। इन्हें कुल नाम से जानना चाहिए ॥२२१॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकायिक जीवों के कुलों की संख्या बाईस लाख करोड़ है। जलकायिक जीवों के कुलों की सात लाख करोड़ है। अग्निकायिक जीवों के कुलों की तीन लाख

लक्षाणि द्वाविंशतिः । अप्कायानां कुलकोटिलक्षाणि सप्त । अग्निकायिकानां कुलकोटी लक्षाणि त्रीणि । वायु-कायिकानां कुलकोटी लक्षाणि सप्त यथाक्रमेण परिसंख्या ज्ञातव्येति ॥२२१॥

कोडिसदसहस्साइं सत्तट्ठ य णव य अट्ठवीसं च ।
वेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ॥२२२॥

अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं ।
जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ॥२२३॥

छव्वीसं पणवीसं चउदस कुलकोडिसदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होइ णायव्वं ॥२२४॥

कोटीशत सहस्राणि सप्ताष्टौ नवाष्टाविंशतिश्च यथासंख्यं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियहरित-कायानां । द्वीन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाणि सप्त । त्रीन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाण्यष्टौ । चतुरिन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाणि नव । हरितकायानां कुलकोटी लक्षाण्यष्टाविंशतिरिति ॥२२२॥

अर्धत्रयोदश, द्वादश, दश च कुलकोटीशतसहस्राणि जलचरपक्षिचतुष्पदां । उरसा परिसर्पन्तीति उरःपरिसर्पाः, गोधासर्पादयस्तेषामुरःपरिसर्पाणां णव होंति—नव भवन्ति । जलचराणां मत्स्यादीनां कुलकोटी-लक्षाण्यर्धत्रयोदश । पक्षिणां हंसभेरुण्डादीनां कुलकोटीलक्षाणि द्वादश । चतुष्पदां सिंहव्याघ्रादीनां कुलकोटी लक्षाणि दश । उरःपरिसर्पाणां कुलकोटी लक्षाणि नव भवन्तीति सम्बन्धः ॥२२३॥

षड्विंशतिः पंचविंशतिः चतुर्दश कुलकोटीशतसहस्राणि सुरनारकनराणां च यथाक्रमं भवन्ति ज्ञातव्यं । देवानां कुलकोटी लक्षाणि षड्विंशतिः नारकाणां कुलकोटी लक्षाणि पंचविंशतिः । मनुष्याणां कुल-

---

करोड़ है और वायुकायिक जीवों के कुलों की संख्या सात लाख करोड़ है ऐसा जानना चाहिए।

गाथार्थ—दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय और हरितकायिक जीवों के कुल क्रमशः सात, आठ, नव और अट्ठाईस लाख करोड़ हैं ॥२२२॥

जलचर, पक्षी, पशु और छाती के सहारे चलनेवाले के कुल क्रम से साढ़े बारह, बारह, दश और नव लाख करोड़ होते हैं ॥२२३॥

देव, नारकी और मनुष्यों के कुल क्रम से छब्बीस, पच्चीस और चौदह लाख करोड़ हैं ॥२२४॥

आचारवृत्ति—'यथाक्रम' शब्द २२४वीं गाथा के अन्त में है वह अन्तदीपक है अतः तीनों गाथा के साथ इसका सम्बन्ध करके अर्थ करना चाहिए। अर्थात् द्वीन्द्रिय के कुल सात लाख करोड़, त्रीन्द्रिय के आठ लाख करोड़, चतुरिन्द्रिय के नव लाख करोड़ और वनस्पति-कायिक के अट्ठाईस लाख करोड़ हैं। मत्स्य, मगर आदि जलचर हैं। हंस भेरुंड आदि पक्षी कहलाते हैं। सिंह, व्याघ्र आदि चार पैर वाले जीव पशु संज्ञक हैं और छाती के सहारे चलने वाले गोह, दुमुही, सांप आदि उरःपरिसर्प नामक होते हैं। जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़, पक्षियों के बारह लाख करोड़, पशुओं के दश लाख करोड़ और छाती के सहारे चलने-

कोटीलक्षाणि चतुर्दश सर्वत्र यथाक्रमं भवन्ति ज्ञातव्यं यथोद्देशस्तथा निर्देशः क्रमानतिलङ्घनं वेदितव्यम् ॥२२४॥

सर्वकुलसमासार्थं गाथोत्तरेति—

एया य कोडिकोडी णवणवदीकोडिसदसहस्साइं ।
पण्णासं च सहस्सा संवग्गीणं कुलाण कोडीओ ॥२२५॥

एका कोटीकोटी, नवनवतिः कोटी शतसहस्राणि पंचाशत्सहस्राणि च । **संवग्गेण**—सर्वसमासेन कुलानां कोट्यः । सर्वसमासेन कुलानां एका कोटीकोटी नवनवतिश्च कोटीलक्षाणि पंचाशत्सहस्राणि च कोटीनामिति ॥२२५॥

योनिभेदेन जीवान्प्रतिपादयन्नाह—

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदिएसु छच्चेव ।
सुरणरयतिरिय चउरो चउदश मणुएसु सदसहस्सा ॥२२६॥

णिच्च—नित्यनिकोतं यैस्त्रसत्वं न प्राप्तं कदाचिदपि ते जीवा नित्यनिकोतशब्देनोच्यंते । **इदर**—

वाले दुमुही आदि सर्पों के नव लाख करोड़ कुल होते हैं ।

देवों के कुल छब्बीस लाख करोड़, नारकियों के पच्चीस लाख करोड़ और मनुष्यों के कुल चौदह लाख करोड़ माने गये हैं ।

अब सभी कुलों का जोड़ बताते हैं—

गाथार्थ—एक कोटाकोटि, निन्यानवे लाख करोड़, और पचास हजार करोड़ संख्या कुलों की है ॥२२५॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार पृथिवीकायिक से लेकर मनुष्यपर्यन्त समस्त कुलों की संख्या को जोड़ने से एक कोड़ाकोड़ी तथा निन्यानवे लाख और पचास हजार करोड़ है ।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवों के कुलों की संख्या एक करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार को एक करोड़ से गुणने पर जितना प्रमाण लब्ध हो उतना अर्थात् १९९५०००००००००० है । गोम्मटसार में मनुष्यों के १२ लाख कोटि कुल गिनाये हैं । उस हिसाब से सम्पूर्ण कुलों का जोड़ एक करोड़ सत्तानवे लाख पचास हजार करोड़ होता है ।[1]

अब योनि के भेदों से जीवों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—नित्य-निगोद, इतर-निगोद और पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार धातु में सात-सात लाख; वनस्पति के दश लाख और विकलेन्द्रियों के छह लाख; देव, नारकी और तिर्यंचों के चार-चार लाख और मनुष्य के चौदह लाख योनियाँ हैं ॥२२६॥

आचारवृत्ति- जिन्होंने कदाचित् भी त्रसपर्याय नहीं प्राप्त की है वे नित्य-

---

१. एया य कोडिकोडी सत्ताणउदी सदसहस्साइं ।
पण्णं कोडिसहस्सा, सव्वंगीणं कुलाणं य ॥११७॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

इतरन्निकोतं चतुर्गतिनिगोतं पंचत्वस्य प्राप्तं। यद्यपत्र निगोतशब्दो नास्ति तथापि द्रष्टव्यो देशामर्शकत्वात्सूत्राणां। धादु—धातवः पृथिव्यप्तेजोवायुकायाश्चत्वारो धातव उच्यन्ते। सत्त य—सप्त च। तरु—तरूणां वृक्षाणां। दस—दश। विगलिंदिएसु—विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां। छच्चेव—षडेव। सुरणरयतिरिय—सुरनारकतिरश्चां। चउरो—चत्वारः। चोद्दस—चतुर्दश। मणुएसु—मनुष्याणां। सदसहस्सा—शतसहस्राणि। नित्यनिकोतानां सप्त लक्षाणि योनीनामिति। चतुर्गतिनिकोतानां सप्तलक्षाणि, पृथिवीकायिकानां सप्तलक्षाणि, अप्कायिकानां सप्तलक्षाणि, तेजःकायिकानां सप्तलक्षाणि, वायुकायानां सप्तलक्षाणि योनीनामिति सम्बन्धः। तरूणां दश लक्षाणि, द्वीन्द्रियाणां द्वे लक्षे, त्रीन्द्रियाणां द्वे लक्षे, चतुरिन्द्रियाणां द्वे लक्षे, सुराणां चत्वारि लक्षाणि, नारकाणां चत्वारि लक्षाणि, तिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां संज्ञिनामसंज्ञिनां च चत्वारि लक्षाणि। मनुष्याणां चतुर्दश लक्षाणि योनीनामिति। सर्वसमासेन चतुरशीतियोनिलक्षाणि भवन्तीति ॥२२६॥

मार्गणाद्वारेण च जीवभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

तसथावरा य दुविहा जोगगइकसायइंदियविधीहिं।
बहुविह भव्वाभव्वा एस गदी जीवणिद्देसे ॥२२७॥

कायमार्गणाद्वारेण तसथावराय—त्रसनामकर्मोदयाद्द्वीन्द्रियादयः स्थावरनामकर्मोदयाच्च पृथिवीकायादिवनस्पत्यन्ताः। दुविहा—द्विप्रकारास्त्रसस्थावरभेदेन द्विप्रकाराः जीवाः। जोग—योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणो

निगोद शब्द से कहे जाते हैं। इनसे भिन्न जिन्होंने त्रसपर्याय को प्राप्त कर लिया वे पुनः यदि निगोद जीव हुए हैं तो वे इतर-चतुर्गति निगोद कहलाते हैं। यद्यपि यहाँ गाथा में नित्य और इतर के साथ निगोद शब्द नहीं है तो भी उसे जोड़ लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र देशामर्शक होते हैं। पृथिवी,जल, अग्नि और वायु इन चारों को धातु शब्द से कहा गया है। नित्य-निगोद, इतरनिगोद और चार धातु, इनकी योनियाँ सात सात लाख हैं। दो-इन्द्रिय की दो लाख, तीन-इन्द्रिय की दो लाख और चार-इन्द्रिय की दो लाख ऐसे विकलेन्द्रिय जीवों की योनियाँ छह लाख हैं। देव, नारकी और संज्ञी-असंज्ञी भेद सहित पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार-चार लाख योनियाँ हैं। अर्थात् नित्यनिगोद की ७०००००+चतुर्गतिनिगोद की ७०००००+पृथिवी-कायिक की ७०००००+जलकायिक की ७०००००+अग्निकायिक की ७०००००+वायु-कायिक की ७०००००+वनस्पतिकायिक की १००००००+द्वीन्द्रिय की २०००००+त्रीन्द्रिय की २०००००+चतुरिन्द्रिय की २०००००+देवों की ४०००००+नारकी की ४०००००+तिर्यंचों की ४०००००+मनुष्यों की १४०००००=८४००००० योनियाँ होती हैं।

अब मार्गणाओं द्वारा जीवों के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—त्रस और स्थावर के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। योग, गति, कषाय और और इन्द्रियों के प्रकारों से ये भव्य अभव्य जीव अनेक प्रकार के हैं। जीव का वर्णन करने में यही गति है ॥२२७॥

आचारवृत्ति—कायमार्गणा के द्वारा त्रस और स्थावर ऐसे दो भेद होते हैं। त्रसनाम-कर्मोदय—त्रस नामकर्म के उदय वाले जीव त्रस कहलाते हैं, ...

मनोवाक्कायलक्षणस्त्रिप्रकारस्तस्य विधिर्योगविधिस्तेन जीवास्त्रिप्रकारा मनोयोगिनो वाग्योगिनः काययोगिनश्चेति। मनोयोगिनश्चतुष्प्रकाराः सत्यानृतसत्यानृतासत्यानृतभेदेन। एवं वाग्योगिनोऽपि चतुष्प्रकाराः। काययोगिनः सप्तविधा औदारिकवैक्रियिकाहारकतन्मिश्रकार्मणभेदेन। गदि—गतिर्भवान्तरप्राप्तिः, गतेर्विधिर्गतिविधिस्तेन, गतिविधिना चतस्रो गतयस्तद्भेदेन जीवाश्चतुर्विधा भवन्ति नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदेन तेऽपि स्वभेदेनानेकविधाः। कसाय—कषन्तीति कषायः क्रोधमानमायालोभाः, अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनभेदेन चतुःप्रकारास्तद्भेदेन प्राणिनोऽपि भिद्यन्ते। इंदिय—इन्द्र आत्मा तस्य लिंगं इन्द्रेण नामकर्मणा वा निर्वर्तितमिन्द्रियं तस्य विधिरिन्द्रियविधिस्तेनेन्द्रियविधिना जीवाः पंचप्रकारा एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियभेदेन। बहुविहा—बहुविधा बहुप्रकारा। अनेन किमुक्तं भवति स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन, ज्ञान-दर्शन-संयम-लेश्या-सम्यक्त्व-संज्ञाहारभेदेन च बहुविधास्ते सर्वेऽपि। (भव्व) भव्या निर्वाणपुरस्कृताः, (अभव्वा—)

है। ये द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हैं। जो स्थानशील अर्थात् स्थिर रहने के स्वभाव वाले हैं वे स्थावर हैं। यहाँ 'स्था' धातु से स्वभाव अर्थ में 'वर' प्रत्यय हुआ है। ये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति पर्यन्त एकेन्द्रिय जीव होते हैं। अर्थात् 'त्रस' और 'स्था' धातु से इन त्रस, स्थावर शब्दों की व्युत्पत्ति होने से उपर्युक्त अर्थ किया है। यह अर्थ औपचारिक है क्योंकि त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से जो त्रस-स्थावर पर्याय मिलती है वही अर्थ यहाँ विवक्षित है।

आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द होना योग का लक्षण है। उसके मन, वचन और काय की अपेक्षा से तीन प्रकार हो जाते हैं। उस योग की विधि योगविधि है। इसके निमित्त से जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी ऐसे तीन प्रकार के हो जाते हैं। सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग के भेद से मनोयोगी के चार भेद हैं। ऐसे ही वचनयोगी के भी सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और अनुभय वचनयोग के निमित्त से चार भेद हो जाते हैं। औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रयोग, वैक्रियिककाय योग, वैक्रियिक मिश्रयोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रयोग और कार्मण काययोग इन सात योगों की अपेक्षा से काययोगी के सात भेद होते हैं।

भवान्तर की प्राप्ति का नाम गति है। इसके चार भेद हैं। इन नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के भेदों से जीवों के भी चार भेद हो जाते हैं। इनमें से भी प्रत्येक गति वाले जीव अनेक प्रकार के होते हैं।

जो आत्मा को कसती हैं—दुःख देती हैं वे कषाय कहलाती हैं। उनके क्रोध, मान, माया, लोभ से चार भेद हैं। ये चारों कषायें भी भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार-चार भेद रूप हो जाती हैं। इन कषायों के भेद से प्राणियों के भी उतने ही भेद हो जाते हैं।

इन्द्र अर्थात् आत्मा, उसके लिंग-चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र अर्थात् नाम कर्म, उसके द्वारा जो बनाई गई है वे इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों के भेद से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस तरह जीव पाँच प्रकार के होते हैं।

अभव्यास्तद्विपरीता भवन्ति जीवसमासभेदेन गुणस्थानभेदेन च बहुविधाः। एत्तगदी—एषा गतिः। जीवणिद्देसे—जीवनिर्देशे जीवप्रपंचे। गतीन्द्रियकाययोगवेदादिविधिभिः कुलयोन्यादिभिश्च बहुविधा जीवा इति, जीवनिर्देशे कर्तव्ये एतावती गतिः ॥२२७॥

ननु जीवभेदा एते ये व्याख्यातास्ते किंलक्षणाः ? इत्यत आह—

णाणं पंचविधं पिअ अण्णाणतिगं च सागरुवओगो।
चदुदंसणमणगारो सव्वे तल्लक्खणा जीवा ॥२२८॥

णाणं—जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञानमात्रं वा ज्ञानं वस्तुपरिच्छेदकं। तच्च पंचविहं-पंचप्रकारं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलभेदेन। षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदं चावग्रहेहावायधारणाभिः षडिन्द्रियाणि प्रगुणितानि यानि चतुर्विंशतिप्रकाराणि भवन्ति तत्र चतुर्षु व्यञ्जनावग्रहेषु प्रक्षिप्तेष्वष्टाविंशतिर्भवन्ति ता अष्टाविंशतिर्बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवेतरभेदैर्द्वादशभिर्गुणिताः षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदा भवन्ति मतिज्ञानमेतत्। श्रुतज्ञानमंगांगबाह्यभेदेन द्विविधं, अंगभेदेन द्वादशविधं पर्यायाक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्तिकानुयोग-प्राभृतकप्राभृतक-प्राभृतक-वस्तु-

---

स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से ये तीन प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार जीवों के अनेक प्रकार हैं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार इन मार्गणाओं के भेद से भी जीव नाना प्रकार के होते हैं।

ये सभी जीव भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जो निर्वाण से पुरस्कृत होने योग्य हैं वे भव्य हैं और उनसे विपरीत अभव्य हैं।

इसी तरह जीवसमास के भेद से और गुणस्थानों के भेद से भी जीव अनेक प्रकार के होते हैं। जीव का निर्देश करने में ये सभी प्रकार कहे गए हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद आदि विधानों से और कुल योनि आदि के भेदों से जीव अनेक प्रकार के होते हैं। जीव के वर्णन करने में यही व्यवस्था होती है।

जिन जीवों के ये भेद बतलाये हैं उन जीवों का लक्षण क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच प्रकार का ज्ञान और तीन प्रकार का अज्ञान ये आठ साकारोपयोग हैं। चार प्रकार का दर्शन अनाकार उपयोग है। सभी जीव इन ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले हैं ॥२२८॥

आचारवृत्ति—जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है अथवा जो जानना मात्र है वह ज्ञान है। यह ज्ञान पदार्थों को जानने रूप लक्षणवाला है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से इसके पाँच भेद हैं।

उसमें से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं। यथा मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। इन चारों में पाँच इन्द्रिय और मन—इन छहों का गुणा करने से (६×४) चौबीस भेद हो जाते हैं। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है, अतः चार इन्द्रियों से होने की अपेक्षा इस व्यंजनावग्रह के चार भेद इन चौबीस में मिला देने

पूर्वभेदेन विंशतिविधं च। अवधिज्ञानं देशावधि-परमावधि-सर्वावधिभेदतस्त्रिप्रकारं। मनःपर्ययज्ञानं ऋजु-मति-विपुलमतिभेदेन द्विप्रकारं। केवलमेकमसहायं। अण्णाणतिगं—अज्ञानमयथात्मवस्तुपरिच्छित्तिस्वरूपं तस्य त्रयमज्ञानत्रयं मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-विभंगज्ञानभेदेन संशयविपर्ययानध्यवसायाकिञ्चित्करादिभेदेन अनेक-प्रकारं। सागरुवजोगो—सहाकारेण व्यक्त्यार्थेन वर्तत इति साकारः सविकल्पो गुणीभूतसामान्यविशेषग्रहणप्रवण-

---

से २८ भेद हो जाते हैं। पुनः अट्ठाईस को वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव तथा इनसे उल्टे अर्थात् अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव इन वारह भेदों से गुणा करने पर (२८ × १२ = ३३६) तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है; उसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह की अपेक्षा दो भेद हैं। व्यक्तपदार्थ को ग्रहण करनेवाला अर्थाव-ग्रह है और अव्यक्त को ग्रहण करनेवाला व्यंजनावग्रह है। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है तथा इस अवग्रह के वाद ईहा आदि नहीं होते हैं और अर्थावग्रह पाँच इन्द्रियों तथा मन से भी होता है और इसके वाद ईहा, अवाय, धारणा भी होते हैं। पुनः इन ज्ञान के विषयभूत पदार्थ वहु, वहुविध आदि के भेद से वारह भेद रूप हैं अतः उस सम्वन्धी ज्ञान के भी वारह भेद हो जाते हैं। इस प्रकार से अवग्रह आदि चार को छह इन्द्रियों से गुणित करके व्यंजनावग्रह के चार भेद मिला देने पर पुनः उन अट्ठाईस को वारह से गुणा करने पर तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं।

जो मतिज्ञानपूर्वक होता है वह श्रुतज्ञान है। उसके अंग और अंगवाह्य की अपेक्षा से दो भेद हैं। अंग के वारह भेद हैं जो कि आचारांग आदि के नामों से प्रसिद्ध हैं। अंगवाह्य के वीस भेद होते हैं।

पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतक, प्राभृतक-प्राभृतक, वस्तु और पूर्व ये दश भेद हुए। पुनः प्रत्येक के साथ समास पद जोड़ने से दश भेद होकर वीस हो जाते हैं। अर्थात् पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतक, प्राभृतकसमास, प्राभृतक-प्राभृतक, प्राभृतकप्राभृतकसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये वीस भेद माने हैं।

अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार होते हैं।

मनःपर्यय ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति की अपेक्षा दो भेद हैं।

केवलज्ञान एक असहाय है। अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता से रहित होने से असहाय है और परिपूर्ण होने से एक है।

अयथात्मक वस्तु—जो वस्तु जैसी है उसको उससे विपरीत जाननेरूप जाननेवाला ज्ञान अज्ञान कहलाता है। उसके तीन भेद हैं। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान। तथा संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, और अकिंचित्कर आदि के भेद से यह अज्ञान अनेक प्रकार का भी है।

उपयोगः । ज्ञानं पंचप्रकारमज्ञानत्रयं च साकार उपयोगः चदुवियप्पं—चत्वारि दर्शनानि चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन । अणगारो—अनाकारोऽविकल्पको गुणीभूतविशेषसामान्यग्रहणप्रधानः, चत्वारि दर्शनान्यनाकार उपयोगः । सव्वे—सर्वे । तल्लक्खणा—तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ लक्षणं येषां ते तल्लक्षणाः ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणाः सर्वे जीवा ज्ञातव्या इति ॥२२८॥

जीवभेदोपसंहारादजीवभेदसूचनाय गाथा—

एवं जीवविभागा बहु भेदा वण्णिया समासेण ।
एवंविधभावरहियमजीवदव्वेत्ति 'विण्णेयं ॥२२९॥

एवं—व्याख्यातप्रकारेण । जीवविभागा—जीवविभागाः । बहुभेदा—बहुप्रकाराः । वण्णिदा—वर्णिताः । समासेण—संक्षेपेण । एवंविधभावरहियं—व्याख्यातस्वरूपविपरीतमजीवद्रव्यमिति विज्ञेयम् ॥२२९॥

अजीवभेदप्रतिपादनायाह—

अज्जीवा विय दुविहा रुवारुवा य रुविणो चदुधा ।
खंधा य खंधदेसो खंधपदेसो अणू य तहा ॥२३०॥

यह ज्ञान साकार है। अर्थात् आकार के साथ, व्यक्तिरूप से पदार्थ को जानता है इसलिए इसे साकार या सविकल्प कहते हैं। अर्थात् सामान्य को गौण करके विशेष को ग्रहण करने में कुशल जो उपयोग है वह साकारोपयोग है। पांच प्रकार का ज्ञान और तीन प्रकार का अज्ञान ये आठ प्रकार का साकारोपयोग होता है।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का है। यह अनाकार या अविकल्पक है। जो विशेष को गौण करके सामान्य को ग्रहण करने में प्रधान है वह अनाकारोपयोग है। ये चारों दर्शन अनाकारोपयोग कहलाते हैं।

ये ज्ञान-दर्शन हैं लक्षण जिनके ऐसे जीव तल्लक्षणवाले होते हैं। अर्थात् सभी जीव ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षणवाले होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

जीव के भेदों को उपसंहार करके अब अजीव के भेदों को सूचित करने हेतु अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—इस तरह से अनेक भेदरूप जीवों के विभाग का मैंने संक्षेप से वर्णन किया है। उपर्युक्त प्रकार के भावों से रहित अजीव द्रव्य है ऐसा जानना चाहिए ॥२२९॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त कहे गये प्रकार से जीव विभागों के विविध प्रकार मैंने संक्षेप में कहे हैं। इन कहे गये लक्षण से विपरीत लक्षणवाले द्रव्य को अजीवद्रव्य जानना चाहिए।

अजीव के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—अजीव भी रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। रूपी के स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु ये चार भेद हैं ॥२३०॥

अज्जीवा विय—अजीवाश्चाजीवपदार्थाश्च। दुविहा—द्विप्रकाराः। रूवा—रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शवन्तो यतो रूपाविनाभाविनो रसादयस्ततो रूपग्रहणेन रसादीनामपि ग्रहणं। अरूवा य—अरूपिणश्च रूपादिवर्जिताः। रूविणो—रूपिणः पुद्गलाः। चदुधा—चतुःप्रकाराः। के ते चत्वारः प्रकारा इत्यत आह—खंधा य—स्कन्धः। खंधदेसो—स्कन्धदेशः। खंधपदेसो—स्कन्धप्रदेशः। अणू य तहा—अणुरपि तथा परमाणुः। रूप्यरूपिभेदेनाजीवपदार्था द्विप्रकाराः, रूपिणः पुनः स्कन्धादिभेदेन चतुःप्रकारा इति ॥२३०॥

स्कन्धादिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेय अविभागी ॥२३१॥

खंधं—स्कन्धः। सयल—सह कलाभिर्वर्तते इति सकलं सभेदं परमाण्वन्तं। समत्थं—समस्तं सर्वं पुद्गलद्रव्यं। सभेदं स्कन्धः सामान्यविशेषात्मकं पुद्गलद्रव्यमित्यर्थः। अतो न सकलसमस्तयोः पौनरुक्त्यं। तस्स दु—तस्य तु स्कन्धस्य। अद्धं—अर्धं सकलं। भणंति—वदन्ति। देसोत्ति—देश इति तस्य समस्तस्य

आचारवृत्ति—अजीव पदार्थ रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार का है। रूपी शब्द से रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चारों गुणवाले को लिया जाता है क्योंकि रस, गंध और स्पर्श ये रूप के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाले हैं। इसलिए रूप के ग्रहण करने से रस आदि का भी ग्रहण हो जाता है। जो रूपादि से वर्जित हैं वे अरूपी कहलाते हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है। उसके चार भेद हैं—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु।

तात्पर्य यह हुआ कि रूपी और अरूपी के भेद से अजीव पदार्थ दो प्रकार का है। पुनः रूपी पुद्गल के स्कंध आदि के भेद से चार प्रकार होते हैं।

अब स्कंध आदि का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—भेद सहित सम्पूर्ण पुद्गल स्कंध है, उसके आधे को देश कहते हैं। उस आधे के आधे को प्रदेश और अविभागी हिस्से को परमाणु कहते हैं ॥२३१॥

आचारवृत्ति—जो कलाओं के साथ—अपने अवयवों के साथ रहता है वह सकल है अर्थात् परमाणु पर्यंत भेदों से रहित सभी पुद्गल सकल हैं। 'समत्थ' पद का अर्थ समस्त है अर्थात् सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य समस्त है। भेद सहित स्कंधरूप, सामान्य विशेषात्मक पुद्गल द्रव्य को यहाँ 'सकलसमस्त' पद से कहा गया है। इसलिए सकल और समस्त इन दोनों में पुनरुक्ति दोष नहीं है अर्थात् सकल और समस्त का अर्थ यदि एक ही सम्पूर्णतावाचक लिया जाए तो पुनरुक्ति दोष आ सकता है किन्तु यहाँ पर तो सकल का अर्थ कलाओं से सहित—परमाणु से लेकर महास्कंध पर्यंत ग्रहण किया गया है और समस्त का अर्थ सामान्य विशेष धर्म सहित सर्वपुद्गल द्रव्य विवक्षित किया गया है। इस स्कंध के आधे को स्कंधदेश कहते हैं। अर्थात् उस समस्त पुद्गल द्रव्य के आधे को जिनेंद्र देव ने 'देश' शब्द से कहा है। उस आधे से आधे को अर्थात् समस्त पुद्गल द्रव्य के आधे को आधा करना, पुनः उस आधे का आधा करना, इसप्रकार जब तक द्वयणुक स्कंध न हो जावे तब तक आधा आधा करते जाना, ये सभी भेद

पुद्गलद्रव्यस्यार्धं देश इति वदन्ति जिनाः। अद्धद्धं च—अर्धस्यार्धस्यार्धमर्धार्धं तत्समस्तपुद्गलद्रव्यार्धं तावदर्धनार्धेन कर्तव्यं यावद् द्व्यणुकस्कन्धः ते सर्वे भेदाः प्रदेशवाच्या भवन्ति। परमाणूचेव—परमाणुश्च। अविभागी—निरंशो यस्य विभागो नास्ति तत्परमाणुद्रव्यम् ॥२३१॥

अरूपिद्रव्यभेदनिरूपणार्थमाह—

> ते पुणु धम्माधम्मागासा य अरूविणो य तह कालो।
> खंधा देस पदेसा अणुत्ति विय पोग्गला रूवी ॥२३२॥*

प्रदेश शब्द से कहे जाते हैं। और निरंश भाग—जिसका दूसरा विभाग अब नहीं हो सकता है उस अविभागी पुद्गल को परमाणु कहते हैं।

अरूपी द्रव्य के भेदों का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—पुनः वे धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल अरूपी हैं तथा स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु इन भेद सहित पुद्गल द्रव्य रूपी हैं ॥२३२॥

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में दो गाथाएँ किंचित् बदली हुई हैं और एक अधिक है।

> खंधा देसपदेसा आय अणुत्तीवि पोग्गलारूवी।
> वण्णादिमंत जीवेण होंति बंधा जहाजोग्गं ॥४१॥

अर्थ—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश आदि अणु तक होनेवाले जो जो विभाग हैं वे सब पुद्गल हैं। वे सब रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों से युक्त होने से रूपी हैं। और जीव के साथ यथायोग्य कर्म-नोकर्म रूप होकर बद्ध होते हैं।

> पुढवी जलं च छाया चउरिंदिय विसय कम्मपरमाणू।
> छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥४२॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य को जिनेन्द्र देव ने छह प्रकार का बतलाया है। जैसे पृथिवी, जल, छाया, नेत्रेंद्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों का विषय, कर्म और परमाणु।

> बादरबादर बादर बादरसुहुमं च सुहुमथूलं च।
> सुहुमं सुहुमसुहुमं धरादियं होदि छब्भेयं ॥४३॥

अर्थ—जिसका छेदन-भेदन और अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्ध को बादरबादर कहते हैं। जैसे पृथिवी, काष्ठ, पाषाणादि। जिसका छेदन भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र ले जाया जा सके वह स्कन्धबादर है जैसे जल, तैल आदि। जिसका छेदन-भेदन और अन्यत्र प्रापण भी न हो सके ऐसे नेत्र से दिखने योग्य स्कन्ध को बादरसूक्ष्म कहते हैं जैसे छाया, आतप, चाँदनी आदि। नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गल स्कन्ध को सूक्ष्मस्थूल कहते हैं जैसे शब्द, रस, गंध आदि। जिनका किसी इन्द्रिय से ग्रहण न हो सके उन पुद्गलस्कन्धों को सूक्ष्म कहते हैं जैसे कर्मवर्गणाएँ। जो स्कन्धरूप नहीं है ऐसे अविभागी परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं।

विशेषार्थ—ऊपर की ये दो गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी हैं जो कि पुद्गलद्रव्य के छह भेद

ते पुण—तच्छब्द: पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी ते पुनररूपिणोऽजीवा:। धम्माधम्मागासा य—धर्माधर्माकाशानि। किंलक्षणानि अरूविणोय—अरूपीणि रूपरसगन्धस्पर्शरहितानि। तह कालो—तथा कालश्चारूपी लोकमात्र: सप्तरज्जूनां घनीकृतानां यावन्त: प्रदेशास्तावत्परिमाणानि, अलोकाकाशं पुनरनन्तं। स्कन्धादय: के ते आह—स्कन्धदेश प्रदेशा अणुरिति च पुद्गला: पूरणगलनसमर्था:। रूवी—रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शवन्तोऽनन्तपरिमाणा:। ननु काल: किमिति कृत्वा पृथग्व्याख्यातश्चेत् नैष दोष:, धर्माधर्माकाशान्यस्तिकायरूपाणि काल: पुनरनस्तिकायरूप एकैकप्रदेशरूप:; निचयाभावप्रतिपादनाय पृथग्व्याख्यात इति। रूपिण: पुद्गला इति ज्ञापनार्थं पुन: स्कंधादिग्रहणमतो न पौनरुक्त्यं। धर्मादीनां च स्कन्धादिभेदप्रतिपादनार्थं च पुनर्ग्रहणम् ॥२३२॥

आचारवृत्ति—'तत्' शब्द पूर्व प्रकरण का परामर्श करनेवाला है। वे पुन: अरूपी अजीव द्रव्य हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश ये अजीव द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होने से अरूपी हैं। उसी प्रकार से काल द्रव्य भी अरूपी है। यह लोकमात्रप्रमाण है अर्थात् घनरूप सात राजू (७×७×७=३४३) के जितने प्रदेश हैं यह काल द्रव्य उतने प्रमाण है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, इनके प्रदेश लोकाकाश प्रमाण हैं। अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है।

जो स्कंधादि हैं वे क्या हैं?

स्कंध, देश, प्रदेश और अणु ये सब पुद्गल द्रव्य हैं। यह पूरण और गलन में समर्थ है अर्थात् पूरण गलन स्वभाववाला है। यह पुद्गलद्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला है अनन्तपरिमाण है।

करके परमाणु तक भेद कर देती हैं। किन्तु कुन्द कुन्द देव ने नियमसार में स्कन्ध के छह भेद किये हैं और परमाणु के भेद अलग किये हैं। उसमें सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद के उदाहरण में कर्म के अयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ ली गई हैं।

यथा—

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥२४॥

अर्थ—अतिस्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कन्धों के छह भेद हैं। भूमि, पर्वत आदि अतिस्थूल स्कन्ध कहे गये हैं। घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध हैं। छाया, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध हैं। चार इन्द्रिय के विषय भूत स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल हैं। कर्मवर्गणा योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं। इनसे विपरीत अर्थात् कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कन्ध अतिसूक्ष्म कहे गये हैं।

पंचास्तिकाय में भी स्कन्धों के ही छह भेद और ये ही उदाहरण हैं।

ननु यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थं सत् तदेषां धर्मादीनां किं कार्यं ? केषामेतानि कारणानीत्यत आह—

गदिठाणोग्गाहणकारणाणि कमसो दु वत्तणगुणोय ।
रूवरसगंधफासवि कारणा[1] कम्मबंधस्स ॥२३३॥

गदि—गतिर्गमनक्रिया। ठाणं—स्थानं स्थितिक्रिया। ओगाहण—अवगाहनमवकाशदानक्रिया। कारणाणि—निमित्तानि। कमसो—क्रमशः यथाक्रमेण। वत्तणगुणोय—वर्तनागुणश्च परिणामकारणं। गतेः कारणं धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलानां। तथा तेषामेव स्थितेः कारणमधर्मद्रव्यं। अवकाशदाननिमित्तमाकाशद्रव्यं पंचद्रव्याणां। तथा तेषामपि वर्तनालक्षणं कालद्रव्यं स्वस्य च परमार्थकालग्रहणात्। धर्माधर्माकाशकाल-द्रव्याणि स्वपरिणामनिमित्तानि परेषां गत्यादीनां निमित्तान्यपि भवन्ति, अनेककार्यकारित्वाद् द्रव्याणां तस्मान्न विरोधो यथा मत्स्यः स्वगतेः कारणं, जलमपि च कारणं तद्गतेः, स्वगतेः कारणं पुरुषः पुनः पन्थाश्च। तथा

प्रश्न—आपने काल का अलग से व्याख्यान क्यों किया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अरूपी द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं और काल अस्तिकाय रूप नहीं है क्योंकि वह एक-एक प्रदेश रूप ही है उसमें निचय—प्रदेशों के अभाव को बतलाने के लिए ही उसको पृथक्‌रूप से कहा है।

यहाँ इस गाथा में जो रूपी हैं वे पुद्गल हैं ऐसा बतलाने के लिये पुनः स्कंध आदि को लिया है इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं आता है। धर्म आदि का प्रतिपादन करके पुद्गल के स्कंध आदि के भेद बतलाने के लिए यहाँ उनका पुनः ग्रहण किया गया है।

जो अर्थक्रियाकारी होता है वही परमार्थ सत् है। इसलिए इन धर्म आदि का क्या कार्य है ? और किनके लिए ये कारण हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—क्रम से अरूपी द्रव्य गमन करने, ठहरने, और अवकाश देने में कारण हैं तथा काल वर्तना गुणवाले है। रूप, रस, गंध और स्पर्शवाला (पुद्गल) द्रव्य कर्मबन्ध का कारण है ॥२३३॥

आचारवृत्ति—जाने की क्रिया का नाम गति है, ठहरने की क्रिया का नाम स्थान है, अवकाश देने का नाम अवगाहन है। परिणमन का कारण वर्तनागुण है। क्रम से चार अरूपी द्रव्य इन गति आदि में कारण हैं। अर्थात् जीव और पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य कारण है। इन्हीं जीव और पुद्गलों के ठहरने में अधर्मद्रव्य कारण है। पांच द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त आकाश द्रव्य है, तथा इन पांच द्रव्यों में परिणमन के लिए कारणभूत वर्तनालक्षण वाला कालद्रव्य है और वह अपने में भी परिणमन का कारण है क्योंकि यहाँ परमार्थ काल को लिया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अपने परिणाम में निमित्त हैं और पर-द्रव्यों की गति स्थिति आदि में भी निमित्त होते हैं, क्योंकि सभी द्रव्य अनेक कार्यों को करने वाले होते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं आता है। जैसे मछली अपने गमन में कारण है और जल भी इसकी गति में कारण है। पुरुष अपनी गति में कारण है और मार्ग भी उसके गमन में कारण

---

१ क कारणाणि।

ते पुण—तच्छब्दः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी ते पुनररूपिणोऽजीवाः। धम्माधम्मागासा य—धर्माधर्माकाशानि। किलक्षणानि अरूविणोय—अरूपीणि रूपरसगन्धस्पर्शरहितानि। तह कालो—तथा कालश्चारूपी लोकमात्रः सप्तरज्जूनां घनीकृतानां यावन्तः प्रदेशास्तावत्परिमाणानि, अलोकाकाशं पुनरनन्तं। स्कन्धादयः के ते आह—स्कन्धदेश प्रदेशा अणुरिति च पुद्गलाः पूरणगलनसमर्थाः। रूवी—रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शवन्तोऽनन्तपरिमाणाः। ननु कालः किमिति कृत्वा पृथग्व्याख्यातश्चेत् नैष दोषः, धर्माधर्माकाशान्यस्तिकायरूपाणि कालः पुनरनस्तिकायरूप एकैकप्रदेशरूपः; निचयाभावप्रतिपादनाय पृथग्व्याख्यात इति। रूपिणः पुद्गला इति ज्ञापनार्थं पुनः स्कंधादिग्रहणमतो न पौनरुक्त्यं। धर्मादीनां च स्कन्धादिभेदप्रतिपादनार्थं च पुनर्ग्रहणम् ॥२३२॥

आचारवृत्ति—'तत्' शब्द पूर्व प्रकरण का परामर्श करनेवाला है। वे पुनः अरूपी अजीव द्रव्य हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश ये अजीव द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होने से अरूपी हैं। उसी प्रकार से काल द्रव्य भी अरूपी है। यह लोकमात्रप्रमाण है अर्थात् घनरूप सात राजू (७×७×७=३४३) के जितने प्रदेश हैं यह काल द्रव्य उतने प्रमाण है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, इनके प्रदेश लोकाकाश प्रमाण हैं। अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है।

जो स्कंधादि हैं वे क्या हैं?

स्कंध, देश, प्रदेश और अणु ये सब पुद्गल द्रव्य हैं। यह पूरण और गलन में समर्थ है अर्थात् पूरण गलन स्वभाववाला है। यह पुद्गलद्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला है अनन्तपरिमाण है।

करके परमाणु तक भेद कर देती हैं। किन्तु कुन्द कुन्द देव ने नियमसार में स्कन्ध के छह भेद किये हैं और परमाणु के भेद अलग किये हैं। उसमें सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद के उदाहरण में कर्म के अयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ ली गई हैं।

यथा—

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥२४॥

अर्थ—अतिस्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कन्धों के छह भेद हैं। भूमि, पर्वत आदि अतिस्थूल स्कन्ध कहे गये हैं। घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध हैं। छाया, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध हैं। चार इन्द्रिय के विषय भूत स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल हैं। कर्मवर्गणा योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं। उनसे विपरीत अर्थात् कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कन्ध अतिसूक्ष्म कहे गये हैं।

पंचास्तिकाय में भी स्कन्धों के ही छह भेद और ये ही उदाहरण हैं।

ननु यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थं सत् तदेषां धर्मादीनां किं कार्यं ? केषामेतानि कारणानीत आह—

गदिठाणोग्गाहणकारणाणि कमसो दु वत्तणगुणो य ।
रूवरसगंधफासदि कारणा[1] कम्मबंधस्स ॥२३३॥

गदि—गतिर्गमनक्रिया। ठाणं—स्थानं स्थितिक्रिया। ओगाहण—अवगाहनमवकाशदानमेषां। कारणाणि—निमित्तानि। कमसो—क्रमशः यथाक्रमेण। वत्तणगुणोय—वर्तनागुणश्च परिणामकारणं। गतेः कारणं धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलानां। तथा तेषामेव स्थितेः कारणमधर्मद्रव्यं। अवकाशदाननिमित्तमाकाशद्रव्यं पंचद्रव्याणां। तथा तेषामपि वर्तनालक्षणं कालद्रव्यं स्वस्य च परमार्थकालग्रहणात्। धर्माधर्माकाशकाल-द्रव्याणि स्वपरिणामनिमित्तानि परेषां गत्यादीनां निमित्तान्यपि भवन्ति, अनेककार्यकारित्वाद् द्रव्याणां तस्मान्न विरोधो यथा मत्स्यः स्वगतेः कारणं, जलमपि च कारणं तद्गतेः, स्वगतेः कारणं पुरुषः पुनः पन्थाश्च। तथा

प्रश्न—आपने काल का अलग से व्याख्यान क्यों किया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अरूपी द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं और काल अस्तिकाय रूप नहीं है क्योंकि वह एक-एक प्रदेश रूप ही है उसमें निचय—प्रदेशों के अभाव को बतलाने के लिए ही उसको पृथक्‌रूप से कहा है।

यहाँ इस गाथा में जो रूपी हैं वे पुद्गल हैं ऐसा बतलाने के लिये पुनः स्कंध आदि को लिया है इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं आता है। धर्म आदि का प्रतिपादन करके पुद्गल के स्कंध आदि के भेद बतलाने के लिए यहाँ उनका पुनः ग्रहण किया गया है।

जो अर्थक्रियाकारी होता है वही परमार्थ सत् है। इसलिए इन धर्म आदि का क्या कार्य है ? और किनके लिए ये कारण हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—क्रम से अरूपी द्रव्य गमन करने, ठहरने, और अवकाश देने में कारण हैं तथा काल वर्तना गुणवाले हैं। रूप, रस, गंध और स्पर्शवाला (पुद्गल) द्रव्य कर्मबन्ध का कारण है ॥२३३॥

आचारवृत्ति—जाने की क्रिया का नाम गति है, ठहरने की क्रिया का नाम स्थान है, अवकाश देने का नाम अवगाहन है। परिणमन का कारण वर्तनागुण है। क्रम से चार अरूपी द्रव्य इन गति आदि में कारण हैं। अर्थात् जीव और पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य कारण है। इन्हीं जीव और पुद्गलों के ठहरने में अधर्मद्रव्य कारण है। पांच द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त आकाश द्रव्य है, तथा इन पांच द्रव्यों में परिणमन के लिए कारणभूत वर्तनालक्षण वाला कालद्रव्य है और यह अपने में भी परिणमन का कारण है क्योंकि यहाँ परमार्थ काल को लिया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अपने परिणाम में निमित्त हैं और पर-द्रव्यों की गति स्थिति आदि में भी निमित्त होते हैं, क्योंकि सभी द्रव्य अनेक कार्यों को करने वाले होते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं आता है। जैसे मछली अपने गमन में कारण है और जल भी उसकी गति में कारण है। पुरुष अपनी गति में कारण है और [illegible] मार्ग भी उसके गमन में कारण

---

१ क कारणाणि।

स्वस्थितेः कारणं पुरुषः, छायादिकं च कारणं। अथ रूपादयः कस्य कारणमिति चेत्, रूपरसगन्धस्पर्शादयः कारणं कर्म बन्धस्य, जीवस्वरूपान्यथानिमित्तकर्मबन्धस्योपादानहेतवः रूपादिवन्तः पुद्गलाः। कथं पुद्गला इति लभ्यन्ते, तेनाभेदोपचारात् तात्स्थ्याद्वा बन्धः पुद्गलरूपो भवतीत्यर्थः ॥२३३॥

कर्मबन्धो द्विधा पुण्यपापभेदादतस्तत्स्वरूपं तन्निमित्तं च प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं ।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ॥२३४॥

सम्यक्त्वेन, श्रुतेन, विरत्या पंचमहाव्रतपरिणत्या, तथा कषायनिग्रहगुणैरुत्तमक्षमामार्दवार्जव-सन्तोषगुणैः चशब्दादिन्द्रियनिरोधैश्च । जो परिणदो—यः परिणतो जीवस्तस्य यत्कर्मसंश्लिष्टं तत्पुण्यमित्यु-च्यते, अथवा सम्यक्त्वादिगुणपरिणतो जीवोऽपि पुण्यमित्युच्यते अभेदात् । तव्विवरीदेण—तद्विपरीतेन मिथ्या-त्वाज्ञानासंयमकषायगुणैर्यः परिणतः पुद्गलनिचयस्तत्पापमेव । शुभप्रकृतयः पुण्यमशुभप्रकृतयः पापमिति पुण्य-पापास्रवको जीवो वानेन व्याख्यातो ॥२३४॥

है। उसी प्रकार से पुरुष अपने ठहरने में कारण है तथा छायादिक भी उसके ठहरने में कारण है।

ये रूपादि किसके कारण हैं ?

ये रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि कर्मबन्ध के लिए कारण हैं, क्योंकि जीव के स्वरूप से अन्यथाभूत जो रागादि परिणाम हैं उनके निमित्त से जो कर्मबन्ध होता है, उस कर्मबन्ध के लिए उपादानकारण रूपादिमान् पुद्गल द्रव्य वर्गणाएँ हैं।

यहाँ गाथा में पुद्गल शब्द नहीं है पुनः आपने पुद्गल को कैसे लिया ?

रूपादि से अभिन्न उपचार से पुद्गल द्रव्य आ जाता है अथवा ये रूपादि उस पुद्गल में ही स्थित हैं इसलिए कर्मबन्ध पुद्गल रूप होता है ऐसा समझना।

कर्मबन्ध पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार का है, इसलिये उसका स्वरूप और उसके कारणों को बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सम्यक्त्व से, श्रुतज्ञान से, विरतिपरिणाम से और कषायों के निग्रहरूप गुणों से जो परिणत है वह पुण्य है और उससे विपरीत पाप है ॥२३४॥

आचारवृत्ति—सम्यक्त्व से, श्रुतज्ञान से, पाँच महाव्रतों के परिणतिरूप चारित्र से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों को निग्रह करनेवाले उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव तथा संतोष रूप गुणों से, एवं च शब्द से समझना कि इन्द्रियों के निरोध से जो जीव परिणत हो रहा है उसके जो कर्मों का संश्लेष होता है वह पुण्य कहलाता है। अथवा सम्यक्त्व आदि गुणों से परिणत हुआ जीव भी पुण्य कहलाता है क्योंकि जीव से उन गुणों में अभेद पाया जाता है। अथवा सम्यक्त्व आदि कारणों से जो कर्मबन्ध होता है वह पुण्य कहा जाता है। और उससे विपरीत अर्थात् मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम तथा कषायरूप गुणों से जो परिणत हुआ पुद्गल-समूह है वह पाप ही है। शुभ प्रकृतियाँ पुण्य हैं और अशुभ प्रकृतियाँ पाप हैं। अथवा पुण्यास्रव और पापास्रव को करने वाला जीव है ऐसा इस पुण्य और पाप पदार्थ का व्याख्यान किया गया है।

इत ऊर्ध्वं पुण्यपापास्रवकारणमाह—

पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो।
विवरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणाहि ॥२३५॥

पुण्यस्य सुखनिमित्तपुद्गलस्कन्धस्यास्रवभूता आस्रवत्यागच्छत्यनेनेत्यास्रवः आगमनमात्रं वास्रवः आस्रवभूता द्वारभूता कारणरूपा अनुकम्पा कृपा दया शुद्धोपयोगश्च शुद्धमनोवाक्कायक्रिया इत्यर्थः शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगश्चताभ्यामनुकम्पा शुद्धोपयोगाभ्यां। विवरीदं—विपरीतोऽननुकम्पाऽशुद्धमनोवाक्काय-क्रियाः मिथ्याज्ञानदर्शनोपयोगः। पावस्स दु—पापस्यैव। आसव—आस्रव आगमनं शुभमास्रवहेतुं। **वियाणाहि**—विजानीहि बुध्यस्व। पूर्वगाथार्थेनास्य गाथार्थस्य नैकार्थं बन्धास्रवोपकारेण प्रतिपादनात्। पूर्वैः कारणैः पुण्यबन्धः पापबन्धश्च व्याख्यातः, आभ्यां पुनः कारणाभ्यां शुभास्रवः शुभकर्मागमोऽशुभास्रवोऽशुभकर्मागमो व्याख्यातः। पुण्यस्यागमनहेतू अनुकम्पाशुद्धोपयोगौ जानीहि, पापागमस्य तु विपरीताननुकम्पाऽशुद्धोपयोगौ हेतू विजानीहीति ॥२३५॥

भावार्थ—पुण्य और पाप पदार्थ के जीव और अजीव की अपेक्षा दो-दो भेद हो जाते हैं। सम्यक्त्व आदि परिणामों से युक्त जीव पुण्यजीव है और मिथ्यात्व आदि परिणत जीव पाप जीव है। उसीप्रकार से सातावेदनीय आदि प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ये पौद्गलिक हैं और असाता आदि प्रकृतियाँ पापरूप हैं ये भी पुद्गलरूप हैं।

इसके अनन्तर पुण्यास्रव और पापास्रव के कारणों को बताते हैं—

गाथार्थ—दयाभावना और शुद्ध उपयोग ये पुण्यास्रव के कारण हैं और इससे विपरीत कार्य पाप के आस्रव में कारण हैं ऐसा तुम जानो ॥२३५॥

आचारवृत्ति—सुख के लिए निमित्तभूत पुद्गल स्कन्ध जिसके द्वारा आते हैं वह पुण्य का आस्रव है अथवा सुख निमित्त रूप कर्मों का आना मात्र ही पुण्य का आस्रव है। ऐसे आस्रवभूत कर्मों के आने के लिए द्वारस्वरूप या कारणस्वरूप को बताते हैं। अनुकम्पा—दया, शुद्ध उपयोग—शुद्ध मनवचनकाय की क्रिया को शुद्धोपयोग कहते हैं। अर्थात् शुद्धज्ञानोपयोग, शुद्धदर्शनोप-योग और अनुकम्पा इनके द्वारा पुण्य का आस्रव होता है। इनसे विपरीत अर्थात् दया न करना, तथा अशुद्ध मनवचनकाय की क्रिया अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानोपयोग रूप से परिणत होना—ये पाप के आस्रव के लिए कारण हैं ऐसा जानो।

पूर्व गाथा के अर्थ से इस गाथा का अर्थ एक नहीं है क्योंकि यहाँ बन्ध को आस्रव के उपकार द्वारा कहा गया है। अर्थात् पूर्व गाथा कथित सम्यक्त्व आदि कारणों से पुण्यबंध और मिथ्यात्वादि कारणों से पाप बंध होता है ऐसा कहा गया है। इस गाथा में अनुकंपा और शुद्ध उपयोग द्वारा शुभ कर्मों के आगमनरूप शुभास्रव और अदया आदि से अशुभ कर्मों के आगमन-रूप अशुभास्रव होता है ऐसा कहा गया है। इस गाथा का तात्पर्य यही है कि पुण्य कर्म के आने में हेतु अनुकंपा और शुद्धोपयोग हेतु हैं ऐसा समझो। यहाँ मन-वचन-काय की निर्मल प्रवृत्ति को ही शुद्ध उपयोग शब्द से कहा है।

ननु जीवप्रदेशानाममूर्तानां कथं कर्मपुद्गलैर्मूर्तैः सह सम्बन्धोऽत आह—

णेहोउप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे ।
तह रागदोससिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ॥२३६॥

स्नेहो घृतादिकं तेनार्द्रीकृतस्य गात्रस्य शरीरस्य रेणवः पांसवो लगन्ति संश्रयंति यथा तथा रागद्वेष-स्नेहार्द्रस्य जीवस्यांगे शरीरे कर्मपुद्गला ज्ञातव्यास्तैजसकार्मणयोः शरीरयोः सतोरित्यर्थः । रागः स्नेहः, कामादिपूर्विका रतिः, द्वेषोऽप्रीतिः क्रोधादिपूर्विकाऽरतिरिति ॥२३६॥

तद्विपरीतेन पापस्यास्रव इत्युक्तं तन्मुख्यरूपेण किमित्यत आह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
अरिहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥२३७॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाया योगश्चैते आस्रवा भवन्ति । अथ मिथ्यात्वस्य किं लक्षणमित्यत आह—अर्हदुक्तार्थेषु सर्वज्ञभाषितपदार्थेषु विमोहः संशयविपर्ययानध्यवसायरूपो मिथ्यात्वमिति भवति ॥२३७॥

अविरमणादीन्प्रतिपादयन्नाह—

अमूर्तिक जीव प्रदेशों का मूर्तिक कर्म-पुद्गलों के साथ संबंध कैसे होता है ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे तेल को मर्दन करने से मर्दन करने वाले के शरीर में धूलि चिपक जाती है उसी प्रकार से रागद्वेष और स्नेह से लिप्त हुए जीव के कर्म चिपकते हैं ऐसा जानना चाहिए ॥२३६॥

आचारवृत्ति—घृत, तैल आदि को स्नेह कहते हैं। उससे आर्द्र—गीला या चिकना है शरीर जिसका ऐसे मनुष्य के शरीर में जैसे धूलि चिपक जाती है उसी प्रकार से राग द्वेष और स्नेह से लिप्त हुए जीव के अंग में कर्म पुद्गल चिपक जाते हैं। अर्थात् जीव के तैजस और कार्मण शरीर से कार्मण वर्गणाएँ सम्बन्धित हो जाती हैं। राग और स्नेह शब्द से काम पूर्वक रति को लेते हैं और द्वेष—अप्रीति अर्थात् क्रोधादि पूर्वक अरति को द्वेष कहते हैं।

जो आपने कहा है कि अनुकंपा आदि के विपरीत कारणों से पाप का आस्रव होता है वे मुख्य रूप से कौन कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव कहलाते हैं। अर्हंत देव के कथित पदार्थों में विमोह होना मिथ्यात्व है ॥२३७॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व का क्या लक्षण है ? सो बताते हैं। सर्वज्ञ के द्वारा भाषित पदार्थों में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप परिणाम का नाम मिथ्यात्व है।

अब अविरति आदि का लक्षण बतलाते हैं—

प्रमादरहिता विद्वांसो रुन्धन्ति प्रतिकूलयन्ति । अनेन संवारको जीवो व्याख्यात इति ॥२४०॥

आस्रवसंवरसमुच्चयप्रतिपादनायोत्तरगाथा संवरकारणाय वा—

मिच्छत्ताविरदीहि य कसायजोगेहिं जं च आसवदि ।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि ॥२४१॥

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्यत्कर्मास्रवति, दर्शनविरतिनिग्रहनिरोधनैस्तु नास्रयति । न च पूर्वगाथानां पौनरुक्त्यं बन्धास्रवसंवरभेदेन व्याख्यानाद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहाद्वा ॥२४१॥

निर्जरार्थप्रतिपादनायोत्तरप्रबन्धः—

संयमजोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं ।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्ठदे जीवो ॥२४२॥

निर्जरकनिर्जरानिर्जरोपायास्तत्र निर्जरकः किंविशिष्ट इत्यत आह—संयमो द्विविध इन्द्रियसंयमः प्राणसंयमश्च । जोगे—योगे यत्नः शुभमनोवचनकायो ध्यानं वा । संयमयोगयुक्तो यस्तपसा तपसि वा चेष्टते प्रयततेऽनेकविधे द्वादशविधे वा, द्वादशविधं तपो यः करोति यत्नपरः स कर्मनिर्जरायां कर्मविनाशे वर्तते जीवः

पदार्थ का व्याख्यान किया गया समझना चाहिए।

अब आस्रव और संवर को समुच्चय रूप से प्रतिपादित करने हेतु अथवा संवर के कारणों को कहने के लिए अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनसे जो कर्म आते हैं वे सम्यग्दर्शन, विरतिपरिणाम, निग्रह और निरोध से नहीं आते हैं ॥२४१॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व से जो कर्म आता है वह सम्यग्दर्शन से नहीं आता है। अविरतिपरिणाम से जो कर्म आता है वह व्रतपरिणामों से नहीं आता है (कषायों से जो कर्म आते हैं वे कषायों के निग्रह से अर्थात् क्षमा आदि भावों से नहीं आते हैं और योग से जो कर्म आते हैं वे योग के निरोध से नहीं आते हैं। पूर्व गाथा में और इसमें एक बात होने से पुनरुक्ति दोष होता है ऐसा नहीं कहना, क्योंकि क्रम से बन्ध, आस्रव और संवर के भेद से व्याख्यान किया गया है। अथवा द्रव्यार्थिक नय से और पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यों के लिए ही ऐसा कथन किया गया है।

अब निर्जरा पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—संयम के योग से युक्त जो जीव तपश्चर्या में अनेक प्रकार प्रवृत्ति करता है वह जीव विपुल कर्म-निर्जरा में प्रवृत्त होता है ॥२४२॥

आचारवृत्ति—निर्जरा करनेवाला, निर्जरा और निर्जरा के उपाय ये तीन जानने योग्य हैं। उनमें से निर्जरा करनेवाला आत्मा कैसा होता है ? सो ही बताते हैं। संयम दो प्रकार का है—इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम। प्रयत्न को, शुभ मन-वचन-काय को अथवा ध्यान को योग कहते हैं। जो मुनि द्विविध संयम से और शुभ योग से सहित हैं और अनेक प्रकार के अथवा बारह प्रकार के तपश्चरण में प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् जो प्रयत्न पूर्वक बारह प्रकार का तप करते हैं वे बहुत-सी कर्म निर्जरा को करते हैं। इस से निर्जरा के उपायों का कथन किया गया है।

परिणामः प्रकृतिबन्धः। तेषां कर्मस्वरूपपरिणतानामनन्तानन्तानां जीवप्रदेशैः सह संश्लेषः प्रदेशबन्धः। तेषां जीवप्रदेशानुप्रविष्टानां जीवस्वरूपान्यथाकरणं सोऽनुभागबन्धः। तेषामेव कर्मरूपेण परिणतानां पुद्गलानां जीवप्रदेशैः सह यावत्कालमवस्थितिः स स्थितिबन्धः। योगाज्जीवाः प्रकृतिबन्धं च करोति। कषायेण स्थितिबन्धमनुभागबन्धं च करोति अथवा योगः प्रकृतिबन्धं प्रदेशबन्धं च करोति। कषायाः स्थितिबन्धमनुभागबन्धं च कुर्वन्ति। यतोऽतोऽपरिणतस्य नित्यस्य, उच्छिन्नस्य निरन्वयक्षणिकस्य च बन्धस्थितेःकारणं नास्ति। अथवा-ऽयमभिसम्बन्धः कर्तव्यो मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तानामेतद् व्याख्यानं वेदितव्यं। कुतो यतो योगः प्रकृतिप्रदेशबन्धौ करोति कषायाश्च स्थित्यनुभागौ कुर्वन्ति, अतोऽपरिणतयोरयोगिसिद्धयोः सयोग्ययोगिनोर्वोच्छिन्नस्य क्षीण-

---

कार्मण वर्गणा रूप से आये हुए पुद्गलों का ज्ञानावरण आदि भाव से परिणमन कर जाना प्रकृति-बन्ध है। उन्हीं कर्मस्वरूप से परिणत अनन्तानन्त पुद्गलों का जीव के प्रदेशों के साथ संश्लेष सम्बन्ध (गाढ़ सम्बन्ध) हो जाना प्रदेशबन्ध है। उन्हीं जीव के प्रदेशों में संश्लिष्ट हुए पुद्गलों का जीव के स्वरूप को अन्यथा करना अर्थात् जीव के प्रदेश में लगे हुए पुद्गल कर्म द्वारा जीव को सुख-दुःख रूप फल का अनुभव होना अनुभागबन्ध है। कर्म रूप से परिणत हुए उन्हीं पुद्गलों का जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक सम्बन्ध रहता है उसे स्थितिबन्ध कहते हैं।

यह जीव योग से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध करता है तथा कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध करता है। अथवा योग प्रकृति और प्रदेशबन्ध करता है और कषायें स्थिति तथा अनुभागबन्ध को करती हैं। जिस कारण से ऐसी बात है उसी कारण से अपरिणत—नित्य और उच्छिन्न—निरन्वय क्षणिक पक्ष में अर्थात् आत्मा को सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक मान लेने पर बन्ध स्थिति के कारण नहीं बनते हैं।

अथवा ऐसा सम्बन्ध करना कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान पर्यन्त यह (बन्ध का) व्याख्यान समझना चाहिए; क्योंकि योग प्रकृति और प्रदेश बन्ध करते हैं तथा कषायें स्थिति और अनुभाग बन्ध करती हैं इसलिए अपरिणत अर्थात् उपशान्त मोह और उच्छिन्न अर्थात् क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में स्थितिबन्ध के कारण नहीं हैं। उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय सत्ता में तो रहती है परन्तु उदय में न होने से अपरिणत रहती है और क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में कषाय की सत्ता उच्छिन्न हो जाती है। इस तरह मिथ्यादृष्टि से लेकर दशम गुणस्थान तक चारों बन्ध होते हैं और ११, १२ तथा १३वें गुणस्थान में मात्र प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते हैं। अयोग केवली गुणस्थान में योग और कषाय—दोनों का अभाव हो जाने से पूर्ण अबन्ध रहता है।

शंका—क्षीण कषाय और सयोग केवली के तो योग है। पुनः उनके योग का अभाव होने से बन्ध के कारण का न होना कैसे कहा?

कषायस्य न बन्धस्थितेः कारणं नास्ति । ननु क्षीणकषायसयोगिनोर्योगोऽस्ति, सत्यमस्ति, किंतु तस्याकिंचित्करत्वादभाव एवेति ॥२४४॥

निर्जराभेदार्थमाह—

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजादा य ॥२४५॥

अथ का निर्जरा ? पूर्वकृतकर्मसटनं गलनं निर्जरेत्युच्यते सा पुनर्निर्जरा द्विविधा द्विप्रकारा भवेत् । प्रथमा विपाकजातोदयस्वरूपेण कर्मानुभवनं । द्वितीया निर्जरा अविदविपाकजातानुभवमन्तरेणैवहेतुवशात् कारणवशात् कर्मविनाशः ॥२४५॥

विपाकजाताविपाकजातयोर्निर्जरयोर्दृष्टान्तद्वारेण स्वरूपमाह—

कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि ।
तध कालेण उवाएण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥२४६॥

यथा कालेन क्रमपरिणामेनोपायेन च पलालधूमादिर्वनस्पतेः फलानि पच्यन्ते तथा कालेनोदयागत-

---

नहीं होते हैं। पुनः सयोगकेवली तक यद्यपि योग से प्रकृति-प्रदेशबन्ध हो रहा है जो कि एक समय मात्र का है उसकी यहाँ पर विवक्षा नहीं करने से ही योग का अभाव कहकर बन्ध के कारण का अभाव कह दिया है; क्योंकि वहां का योग और उसके निमित्त से हुए प्रकृति प्रदेशबन्ध अकिंचित्कर होने से अभाव रूप ही है।

अब निर्जरा के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—पूर्वकृत कर्मों का झड़ना निर्जरा है। उसके पुनः दो भेद हैं। विपाक से होनेवाली पहली है और अविपाक से होने वाली दूसरी है ॥२४५॥

आचारवृत्ति—निर्जरा किसे कहते हैं? पूर्व में किये गये कर्मों का झड़ना-गलना निर्जरा है। इसके दो भेद होते हैं। उदयरूप से कर्मों के फल का अनुभव करना विपाकजा निर्जरा है और अनुभव के बिना ही लीलामात्र में कारणों के निमित्त से—तपश्चरण आदि से जो कर्म झड़ जाते हैं वह अविपाकजा निर्जरा है।

इन सविपाक और अविपाक निर्जरा को दृष्टांत द्वारा कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे वनस्पति और फल समय के साथ तथा उपाय—प्रयोग से पकते हैं उसी प्रकार संचित किये हुए कर्म समय पाकर तथा उपाय के द्वारा फल देते हैं ॥२४६॥

गोपुच्छंत्सायेन च सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोभिः कृतानि कर्माणि पच्यन्ते विनश्यन्ति ध्वस्तीभवन्तीत्यर्थः ॥२४६॥

मोक्षपदार्थं निरूपयन्नाह—

रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥२४७॥

अत्रापि मोचको मोक्षो मोक्षकारणं च प्रतिपादयति बन्धस्य च बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य । रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागः पुनर्जीवो मुच्यते । एष जिनोपदेशः आगमः समासतः संक्षेपात् कयोर्बन्धमोक्षयोः । संक्षेपेणायमुपदेशो जिनस्य, रागी बध्नाति कर्माणि वैराग्यं संप्राप्तः पुनर्मुच्यते इति ॥२४८॥

अथ पदार्थान् संक्षेपयन् प्रकृतेन च योजयन्नाह--

णव य पदत्था एदे जिणदिट्ठा वण्णिदा मए तच्चा ।
एत्थ भवे जा संका दंसणघादी हवदि एसो ॥२४८॥

अथ का शंका नाम, एते ये व्याख्याता नवपदार्था जिनोपदिष्टाः, अनेन किमुक्तं भवति यत्तु:

भावार्थ—योग्य काल में जैसे आम, केला आदि पकते हैं तथा उन्हें पाल से असमय में भी पका लिया जाता है। उसी प्रकार से जीव के द्वारा बांधे गये कर्म समय पर उदय में आकर फल देकर झड़ जाते हैं, यह विपाकजा निर्जरा है; और समय के पहले ही रत्नत्रय और तपश्चरणरूप प्रयोग के द्वारा उन्हें निर्जीर्ण कर दिया जाता है यह अविपाकजा निर्जरा है। इसके अनौपक्रमिक और औपक्रमिक ऐसे भी सार्थक नाम होते हैं।

अब मोक्ष पदार्थ का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—रागी कर्मों को बांधता है और विरागसंपन्न जीव कर्मों से छूटता है। बन्ध और मोक्ष के विषय में संक्षेप से यही जिनेन्द्र देव का उपदेश है ॥२४७॥

आचारवृत्ति—यहां पर भी मोचक, मोक्ष और मोक्ष के कारण इन तीनों का प्रतिपादन करते हैं। और बन्ध का भी व्याख्यान करते हैं क्योंकि बन्धपूर्वक ही मोक्ष होता है। रागी जीव कर्मों को बांधता रहता है जबकि वीतरागी जीव कर्मों से छूट जाता है। बन्ध और मोक्ष के कथन में संक्षेप से यही जिनेन्द्र देव का उपदेश—आगम है। तात्पर्य यही है कि जिनेन्द्र देव का संक्षेप में यही उपदेश है कि राग सहित जीव ही कर्मों का बन्ध करता है तथा वैराग्य से सहित हुआ जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

अब पदार्थों के कथन को संकुचित करते हुए अपने प्रकृत विषय निःशंकित अंग को कहते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्र देव द्वारा कथित जो ये नव पदार्थ हैं मैंने उनका वास्तविक वर्णन किया है। उसमें जो शंका हो तो वह दर्शन का घात करनेवाली हो जाती है ॥२४८॥

आचारवृत्ति—शंका किसे कहते हैं? जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित जो नव पदार्थ हैं

प्रामाण्याद्वचनस्य प्रामाण्यं, वर्णिता व्याख्याता मया । तथ्या—तत्त्वभूताः, जिनमतानुसारेण मयानुवर्णिता इत्यर्थः । एतद्भवेत्—एतेषु पदार्थेषु भवेत् यस्य शंका स जीवो दर्शनघातेन मिथ्यादृष्टिः । अथवा शंका सन्दिग्धाभिप्राया सैषा दर्शनघातिनी स्यात् ॥२४७॥

किमेते पदार्था नित्या आहोस्विदनित्याः, किं सन्त आहोस्विदविद्यमानाः, यथैते वर्णिता एवं अन्यैरपि बुद्धकणादाक्षपादादिभिश्च वर्णिता न ज्ञायन्ते के सत्या इति संशयो दर्शनविनाशहेतुरिति शंकां प्रतिपाद्याकांक्षां निरूपयन्नाह—

> तिविहा य होइ कंखा इह परलोए तधा कुधम्मे य ।
> तिविहं पि जो ण कुज्जा दंसणसुद्धीमुवगदो सो ॥२४९॥

उन्हीं का यहाँ व्याख्यान किया गया है । इससे क्या समझना ? वक्ता की प्रमाणता से ही वचनों में प्रमाणता मानी जाती है । अर्थात् जिनोपदिष्ट कहने से यह अभिप्राय निकलता है कि अर्हन्त भगवान् वक्ता हैं, वे प्रमाण हैं अतएव उनके वचन भी प्रामाणिक हैं । अभिप्राय यही है कि जिन मत के अनुसार ही मैंने इन नव पदार्थों का वर्णन किया है, स्वरुचि से नहीं । इन पदार्थों में जिस जीव को 'यह ऐसा है या नहीं' ऐसी शंका हो जावे वह जीव सम्यग्दर्शन का घात करने वाला मिथ्यादृष्टि हो जाता है । अथवा संदिग्ध अभिप्राय को भी शंका कहते हैं सो यह भी दर्शन का घात करनेवाला है ।

क्या ये पदार्थ नित्य हैं अथवा अनित्य ? क्या ये विद्यमान हैं या अविद्यमान ? जैसे ये नव पदार्थ यहाँ बताये गये हैं वैसे ही अन्य बुद्ध, कणाद ऋषि, आचार्य अक्षपाद आदि ने भी वर्णित किये हैं । पुनः समझ में नहीं आता है कि कौन से सत्य हैं और कौन से असत्य हैं इस प्रकार का जो संशय है वह सम्यग्दर्शन के विनाश का कारण है ऐसा समझना । इस शंका से रहित साधु निःशंकित शुद्धि को धारण करनेवाले होते हैं ।

शंका का स्वरूप बताकर अब आकांक्षा का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—इह लोक में, परलोक में तथा कुधर्म में आकांक्षा होने से यह तीन प्रकार की होती है । जो तीन प्रकार की भी आकांक्षा नहीं करता है वह दर्शन की शुद्धि को प्राप्त हुआ है ॥२४९॥*

---

*निम्नलिखित गाथाएँ फलटन से प्रकाशित में अधिक हैं—

> अरहंतसिद्धसाहुगुरुभत्ती धम्मम्हि जा हि खलु चेट्ठा ।
> अणुगमणं य गुरूणं पसत्थरागोत्ति उच्चदि सो ॥

अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, साधु और गुरु इनमें भक्ति रखना; इनके गुणों में प्रेम करना, धर्म में—व्रतादिकों में उत्साह रखना तथा गुरुओं का स्वागत करना, उनके पीछे-पीछे नम्र होकर चलना, अंजलि जोड़ना इत्यादि कार्यों को प्रशस्त राग कहते हैं । [यह गाथा 'पञ्चास्तिकाय' में है।]

प्रशस्त राग पुण्यबन्ध का प्रधान कारण है—

त्रिविधा भवति कांक्षाभिलाष इह लोकविषया परलोकविषया तथा कुधर्मविषया च। इह लोके मम यदि गजतुरगद्रव्यपशुपुत्रकलत्रादिकं भवति तदानीं शोभनोऽयं धर्मः। परलोके चैतन्मम स्यात्, भोगा मे सन्तु लोकधर्मश्च शोभनः सर्वपूज्यस्तमहमपि करोमीति कांक्षा। तां त्रिप्रकारामपि यो न कुर्यात् स जीवो दर्शनशुद्धिमुपगतः। कांक्षामन्तरेण यदि सर्वं लभ्यते किमिति कृत्वा काङ्क्षा क्रियते। क्रियते च सर्वैः काङ्क्षा-वानिति ॥२४९॥

आचारवृत्ति—कांक्षा अर्थात् अभिलाषा के तीन भेद हैं—इह लोक सम्बन्धी, परलोक सम्बन्धी और कुधर्म सम्बन्धी। यदि मुझे इस लोक में हाथी, घोड़े, द्रव्य, पशु, पुत्र, स्त्री आदि मिलते हैं तब तो यह धर्म सुन्दर है ऐसा सोचना इह लोक आकांक्षा है। परलोक में ये वस्तुएँ मुझे मिलें, भोग प्राप्त होवें यह सोचना परलोक आकांक्षा है। लौकिक धर्म सुन्दर है, सर्वजनों

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपुण्णो।
बज्झदि बहु सो पुण्णं ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥

अर्थात् अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन—परमागम, गण—चतुर्विध संघ और ज्ञान में जो भक्ति सम्पन्न है वह बहुत से पुण्य का संचय करता है किन्तु वह कर्मक्षय नहीं करता है। अर्थात् सम्यक्त्व सहित प्रशस्त राग से परम्परया मुक्ति है साक्षात् नहीं है। [यह गाथा भी 'पंचास्तिकाय' में है]

अशुभोपयोग का स्वरूप—

विसयकसाओ गाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥

अर्थात् जो विषय और कषायों में आबद्ध हैं, जो कुशास्त्र के पठन या श्रवण में लगे हैं, अशुभ परिणामवाले हैं, दुष्टों की गोष्ठी में आनन्द मानते हैं, उग्र स्वभावी हैं और उन्मार्ग में तत्पर हैं; उपर्युक्त प्रकार से जिनका उपयोग है वह अशुभ कहलाता है। [यह गाथा 'प्रवचनसार' में है]

शुद्धोपयोग का लक्षण—

सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति॥

अर्थात् सम्यक्प्रकार से जीवादि पदार्थों को जानकर श्रद्धालु संयम और तप से संयुक्त वैराग्य सम्पन्न या वीतरागी और सुख-दुःख में समतावी श्रमण शुद्धोपयोगी कहलाता है। [यह गाथा भी 'प्रवचन-सार' में है]

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप—

जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थमिदि भावदो गहणं।
सम्मत्तस्स भावो तं विवरीदं च मिच्छत्तं॥

इह लोककाङ्क्षां परलोकाकांक्षां च प्रतिपादयन्नाह—

बलदेवचक्कवट्टीसेट्ठीरायत्तणादिश्रहिलासो।
इहपरलोगे देवत्तपत्थणा दंसणाभिघादी सो ॥२५०॥

बलदेवचक्रवर्तिश्रेष्ठ्यादीनां राज्याभिलाष इहलोके यो भवति सेहलोकाकाङ्क्षा। परलोके च स्वर्गादौ देवत्वप्रार्थना यस्य स्यात् दर्शनाभिघाती सः। इहलोके षट्खण्डाधिपतित्वं, बलदेवत्वं, राजश्रेष्ठित्वं, परलोके इन्द्रत्वं, सामान्यदेवत्वं, महर्द्धिकत्वं, [1]स्वत्वरूपत्वमित्येवमादि प्रार्थयन् मिथ्यादृष्टिर्भवति, निदान-शल्यत्वात्कांक्षयेति ॥२५०॥

कुधर्मकांक्षास्वरूपमाह—

रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीणमण्णतित्थीणं।
धम्मह्मि य श्रहिलासो कुधम्मकंखा हवदि एसा ॥२५१॥

रक्तपट-चरक-तापस-परिव्राजकादीनामन्यतीर्थिकानां धर्मविषये योऽभिलाषः कुधर्मकांक्षा

से पूज्य है इसको मैं भी धारण कर लूं ऐसी आकांक्षा होना कुधर्माकांक्षा है। इन तीनों कांक्षाओं को जो नहीं करता है वह जीव दर्शनविशुद्धि प्राप्त कर लेता है।

क्योंकि, यदि कांक्षा के बिना भी सभी कुछ मिल सकता है तो क्यों पर कांक्षा करना। तथा कांक्षावान् मनुष्य सभी के द्वारा निंदित भी होता है इसलिए कांक्षा नहीं करना चाहिए।

अब इह-लोकाकांक्षा और परलोकाकांक्षा को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिसके इस लोक में बलदेव, चक्रवर्ती, सेठ, राजा आदि होने की अभिलाषा होती है, और परलोक में देवपने की चाहना होती है वह सम्यग्दर्शन का घाती है। ॥२५०॥

आचारवृत्ति—जो इस लोक में बलदेव, चक्रवर्ती आदि के राज्य की अभिलाषा करता है, श्रेष्ठी पद चाहता है उसके वह इह-लोकाकांक्षा है। जिसके परलोक में—स्वर्ग आदि में देवपने की प्रार्थना होती वह परलोकाकांक्षा करता है। ये दोनों आकांक्षाएं सम्यक्त्व का घात करती हैं। अर्थात् इस लोक में मुझे षट्खण्ड का साम्राज्य, बलदेव पद, राजश्रेष्ठी पद मिले और परलोक में मुझे इन्द्रपद, सामान्य देवपद या महान् ऋद्धिधारी देवपद तथा सुन्दर रूप मिले इत्यादि रूप से प्रार्थना करता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है; क्योंकि कांक्षा निदानशल्य रूप है ऐसा समझना।

अब कुधर्माकांक्षा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—रक्तपट, चरक, तापसी और परिव्राजक आदि के तथा अन्य सम्प्रदाय-वालों के धर्म में जो अभिलाषा है वह कुधर्माकांक्षा है ॥२५१॥

आचारवृत्ति—रक्तपटवाले साधुओं के चार भेद हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक,

---

१ क स्वरूप°। २ क परिव्राज°।

भवति। चत्वारो रक्तपटा वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकभेदात्। नैयायिकवैशेषिकदर्शने चरकशब्देनोच्येते कणचरादिर्वा। कन्दफलमूलाद्याहारा भस्मोद्गुण्ठनपरा जटाधारिणो विनयपरास्तापसाः। सांख्यदर्शनस्थाः पंचविंशतितत्त्वज्ञाः परिव्राजकशब्देनोच्यन्ते इत्येवमाद्यन्येष्वपि तैर्थिकमतेष्वभिलाषः कुधर्माकांक्षेति। कथमेषां कुधर्मत्वं चेत् पदार्थानां तदीयानां विचार्यमाणानामयोगात्सर्वथा नित्यक्षणिकोभयत्वात्। इन्द्रियसंयमप्राणसंयमजीवविज्ञानपदार्थसर्वज्ञपुण्यपापादीनां परस्परविरोधाच्चेति ॥२५१॥

योगाचार और माध्यमिक। अर्थात् बौद्धों के वैभाषिक आदि चार भेद होते हैं। उन्हीं सम्प्रदायों की अपेक्षा उनके साधुओं के भी चार भेद हो जाते हैं। चरक शब्द से नैयायिक और वैशेषिक दर्शन कहे गये हैं अतः इन सम्प्रदायों के साधु भी चरक कहे जाते हैं। अथवा कणचर आदि भी चरक हैं अर्थात् खेत के कट जाने पर जो उञ्छावृत्ति से—वहां से धान्य बीनकर, लाकर उदर-पोषण करते हैं वे कणचर हैं। ऐसे साधु चरक कहलाते हैं। कन्दमूल फल आदि खानेवाले, भस्म से शरीर को लिप्त करनेवाले, जटा धारण करनेवाले और सभी की विनय करनेवाले तापसी कहलाते हैं।[1]

सांख्य सम्प्रदाय में कहे गये पच्चीस तत्त्व को माननेवाले परिव्राजक कहलाते हैं। इसी प्रकार और भी जो अन्य सम्प्रदाय हैं उनके मतों की अभिलाषा होना कुधर्माकांक्षा है।

इनमें कुधर्मपना कैसे है?

इन सभी के यहां के मान्य पदार्थों का विचार करने पर उनकी व्यवस्था नहीं बनती है; क्योंकि इनमें कोई पदार्थों को सर्वथा नित्य मानते हैं, कोई सर्वथा क्षणिक मानते हैं और कोई सर्वथा रूप से ही उभय रूप मानते हैं। इसलि इनकी मान्यताएं कुधर्म हैं। तथा इन सभी के यहां इन्द्रियसंयम, प्राणीसंयम, जीव का लक्ष विज्ञान, पदार्थ, सर्वज्ञदेव, पुण्य तथा पाप आदि के विषय में परस्पर विरोध देखा जाता है।

इस प्रकार से इन तीनों कांक्षाओं को नहीं करनेवाला जीव निष्कांक्षित अंग की शुद्धि का पालन करनेवाला है।

विशेषार्थ—बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि सत्रूप हैं। अर्थात् वे सभी अन्तरंग बहिरंग पदार्थ को सर्वथा एक क्षण ठहरनेवाले मानते हैं। इनके चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक और वैभाषिक। माध्यमिक बाह्य और अभ्यंतर सभी वस्तुओं का अभाव कहते हैं अतः ये शून्यवादी अथवा शून्याद्वैतवादी हैं। योगाचार बाह्य वस्तु का अभाव मानते हैं और मात्र एक विज्ञान तत्त्व को स्वीकार करते हैं अतः ये विज्ञानाद्वैतवादी हैं। सौत्रांतिक बाह्य वस्तु को मानकर उसे अनुमान ज्ञान का विषय कहते हैं और वैभाषिक बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष मानते हैं। अर्थात् ये दोनों अन्तरंग बहिरंग वस्तु को तो मानते हैं किन्तु सभी को सर्वथा क्षणिक कहते हैं।

बौद्ध के इन चार भेदों की अपेक्षा उनके साधुओं में भी चार भेद हो जाते हैं। ये साधु लाल वस्त्र पहनते हैं।

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १६।

विचिकित्सास्वरूपमाह—

विदिगिंछा वि य दुविहा दव्वे भावे य होइ णायव्वा।
उच्चारादिसु दव्वे छुधादिए भावविदिगिंछा ॥२५२॥

विचिकित्सापि द्विप्रकारा द्रव्यभावभेदात् भवति ज्ञातव्या उच्चारप्रस्रवणादिषु कुष्ठरोगादिदर्शने विचिकित्सा द्रव्यगता क्षुदादिषु क्षुत्तृष्णानग्नत्वादिषु भावविचिकित्सा व्याधितस्य वान्तस्य वा साधोर्मूत्रपुरीषछ-र्दिश्लेष्मलालादिकं यदि दुर्गन्धिविरूपमिति कृत्वा घृणां करोति वैयावृत्यं न करोति स द्रव्यविचिकित्सायुक्तः

नैयायिक सम्प्रदायवाले ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं। इनके यहाँ सोलह तत्त्व माने गये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान। इन्हें ये पदार्थ भी कहते हैं।

वैशेषिक भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता सिद्ध करते हैं। इन्होंने सात पदार्थ माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

इन पदार्थों के अतिरिक्त अन्य विषयों में प्रायः नैयायिक और वैशेषिक की मान्यताएँ एक ही हैं।

"एक महर्षि कणाद नाम के हुए हैं इन्होंने ही वैशेषिक दर्शन को जन्म दिया है। कहा जाता है कि ये इतने संतोषी थे कि खेतों से चुने हुए अन्न को खाकर ही अपना जीवन-यापन करते थे। इसलिए उपनाम कणाद या कणचर हो गया। इनका वास्तविक नाम उलूक था।"

तापसियों का लक्षण तो स्पष्ट ही है।

सांख्य दर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गये हैं। इनके यहाँ मूल में दो तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति से ही तो सारा संसार बनता है और पुरुष भोक्ता मात्र है, कर्ता नहीं है ॥२५१॥

अब विचिकित्सा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव के विषय की अपेक्षा विचिकित्सा दो प्रकार की होती है ऐसा जानना। मल-मूत्र आदि द्रव्यों में द्रव्य विचिकित्सा और क्षुधा आदि भावों में भाव-विचिकित्सा होती है ॥२५२॥

स्यात् । सर्वमेतच्छोभनं न क्षुधातृष्णानग्नत्वेन केशोत्पाटनादिना च दुःखं भवति एतद्विरूपकमित्येवं भाव-विचिकित्सेति ॥२५२॥

द्रव्यविचिकित्साप्रपंचनार्थमाह—

उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयं च चम्मट्ठी ।
पूयं च मंससोणिदवंतं जल्लादि साघूणं ॥२५३॥

उच्चारं, प्रश्रवणं, खेलं—श्लेष्मा, सिंहानकं, चर्म, अस्थिपूयं च क्लिन्नरुधिरं, मांसं,[1] मलं, शोणितं, वान्तं जल्लं सर्वांगीनं,मलं अंगैकदेशाच्छादकं, लालादिकं च साधूनामिति ॥२५३॥

भावविचिकित्सां प्रपंचयन्नाह—

छुहतण्हा सीदुण्हा दंसमसयमचेलभावो य ।
अरदिरदिइत्थिचरियाणिसीधिया सेज्जअक्कोसो[2] ॥२५४॥
वधजायणं अलाहो रोग तणप्फास जल्लसक्कारो ।
तह चेव पण्णपरिसह अण्णाणमदंसणं खमणं ॥२५५॥

छुह—क्षुत् चारित्रमोहनीयवीर्यान्तरायापेक्षाऽसातावेदनीयोदयादशनाभिलाषः । तण्हा—तृषा चारित्रमोहनीयवीर्यान्तरायापेक्षाऽसातावेदनीयोदयादुदकपानेच्छा । सीद—शीतं तद्द्रव्यापेक्षाऽसातोदयात्प्रावरणे-

---

या नग्नता से तथा केशलोंच आदि से दुःख होता है वह बुरा है—ठीक नहीं है ऐसा सोचना भावविचिकित्सा है।

द्रव्य विचिकित्सा को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—साधुओं के मल, मूत्र, कफ, नाक का मल, चर्म, हड्डी, पीब, मांस, रुधिर, वमन और पसीने तथा धूलि से युक्त मल को देखकर ग्लानि होना द्रव्य-विचिकित्सा है ॥२५३॥

आचारवृत्ति—मल, मूत्रादि का अर्थ सरल है। सर्वांगीण मल को जल्ल कहते हैं और शरीर के एक देश को प्रच्छादित करनेवाला मल कहलाता है। आदि शब्द से थूक, लार आदि को देखकर ग्लानि होना द्रव्यविचिकित्सा है।

भाव विचिकित्सा को कहते हैं—

गाथार्थ—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरतिरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इनको परीषह को सहन नहीं करना भाव-विचिकित्सा है ॥२५४-२५५॥

आचारवृत्ति—१. चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय कर्म की अपेक्षा लेकर असाता वेदनीय का उदय होने से जो भोजन की अभिलाषा है वह क्षुधा है।

२. चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय की सहायता से तथा असातावेदनीय के उदय से जो जल पीने की इच्छा है वह तृषा है।

---

१ क मांसं शोणितं [illegible] । २ क अक्कोसो ।

च्छाकारणपुद्गलस्कंधः। उण्हं—उष्णं पूर्वोक्तत्रयकर्मणां सन्निधाने उष्णाभिलाषकारणं सूर्यज्वरादिजनितसंतापः। दंसमसयं—दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकं दंशमशकैः प्रारब्धस्य शरीरपीडा दंशमशकमित्युच्यते कार्ये कारणोपचारात्। अचेलभावो य—अचेलकत्वं नाग्न्यमिति यावत्। अरदिरदि—अरतिरती चारित्रमोहोदयात् चारित्रद्वेषासंयमाभिलाषौ। इत्थि—स्त्रीकटाक्षेक्षणादिभिर्योत्पन्ना बाधा कार्ये कारणोपचारात्। चरिया—चर्या आवश्यकाद्यनुष्ठानपरस्यातिश्रान्तस्याप्युपानत्पादत्राणादिरहितस्यापि मार्गयानं। णिसीधिया—निषिद्या श्मशानोद्यानशून्यायतनादिषु वीरासनोत्कुटिकाद्यासनजनितपीडा। सेज्जा—शय्या स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमनिमित्तं निद्रावस्थायां प्रचुरशर्कराद्याकीर्णभूमौ शयनस्यैकपार्श्वे दण्डवच्छयनादिजनितपीडा। अक्कोसो—आक्रोशः मिथ्यादृष्टिविमुक्तावज्ञासंपन्निन्दावचनकृताबाधा। वह—वधः मुद्गरादिभिः घातः पीडा। जायणं—

---

३. चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय की अपेक्षा करके और असाता के उदय से जो शरीर को ढकने की इच्छा के कारणभूत पुद्गलस्कन्ध है उसे शीत कहते हैं।

४. पूर्वोक्त प्रकार तीनों कर्मों के सन्निधान में उष्ण की अभिलाषा के लिए कारणभूत सूर्य अथवा ज्वर आदि से जो संताप होता है वह उष्ण कहलाता है।

५. डांस और मच्छरों के द्वारा डसने पर जो शरीर में पीड़ा होती है वह दंशमशक कहलाती है। अर्थात् यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया है। इसलिए दंशमशक को ही परिषह कह दिया है।

६. नग्न अवस्था का नाम अचेलकत्व है।

७. चारित्रमोह के उदय से चारित्र में द्वेष—अरुचि होना और असंयम की अभिलाषा होना सो अरतिरति-परिषह है।

८. स्त्रियों का कटाक्ष से देखना आदि द्वारा जो बाधा है वह स्त्री-परीषह है। यहां पर भी कार्य से कारण का उपचार किया है।

९. आवश्यक आदि क्रियाओं के अनुष्ठान में तत्पर, जो कि अत्यन्त थके हुए हैं, उनका पादत्राण आदि से रहित होकर भी—नंगे पैरों से मार्ग में चलना है वह चर्या-परीषह है।

१०. श्मशान में, उद्यान में या शून्य मकान आदि में वीरासन, उत्कुटिकासन आदि आसनों से बैठने पर जो पीड़ा होती है वह निषद्या-परीषह है।

११. स्वाध्याय, ध्यान या मार्ग का श्रम, इनसे थके हुए मुनि नीचा, विषम—ऊँची-नीची, या अधिक कंकरीली रेत आदि से व्याप्त भूमि में जो एक पसवाड़े से या दण्डाकार आदि रूप से शयन करते हैं उस शयन आदि में जो शय्या के निमित्त से शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है वह शय्या-परिषह है।

अयाञ्चा अकारोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः प्राणात्ययेऽपि रोगादिभिः पीडितस्यायाचयतः अयाञ्चापीडा। अथवा वरं मृतो न कश्चिद्याचितव्यः शरीरादिसंदर्शनादिभिः यांचा तु नाम महापीडा। अलाहो—अलाभः अंतरायकर्मोदयादाहाराद्यलाभकृतपीडा। रोय—रोगो ज्वरकासभगन्दरादिजनितव्यथा। तणफास—तृणस्पर्शः शुष्कतृणपरुषशर्कराकण्टकनिशितमृत्तिकाकृतशरीरपादवेदना। जल्ल—सर्वांगीणं मलमस्नानादिजनितप्रस्वेदादुद्भवा पीडा। सक्कारो—सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः। पुरस्कारो—नमनक्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामंत्रणं। तह चेव—तथा चैव। पण्ण—प्रज्ञा विज्ञानमदोद्भूतगर्वः। परिसह—परीषहः। पीडाशब्दः सर्वत्रापि सम्बध्यते। क्षुत्परिषहः, तृणपरिषहः, दंशमशकपिपीलिकामत्कुणादिभक्षणपरीषह इत्यादि। अण्णाणं—अज्ञानं सिद्धान्तव्याकरणतर्कादिशास्त्रापरिज्ञानोद्भूतमनःसन्तापः। अदंसणं—अदर्शनं महाव्रतानुष्ठानेनाप्यदृष्टातिशयबाधा, उपलक्षणमात्रमेतत् अन्येऽप्यत्र पीडाहेतवो द्रष्टव्याः। एतैः परीषहैर्व्रतभंगेऽपि संक्लेशकरणं भावविनिश्चिन्ता।

कुछ भी याचना नहीं करते हुए मुनि के अयाचना-परीषह होती है। यहाँ पर 'याञ्चा' पद में अकार का लोप समझना चाहिए इसलिए याञ्चा शब्द से अयाञ्चा ही ग्रहण करना चाहिए। अथवा मरना अच्छा है किन्तु कुछ भी याचना करना बुरा है क्योंकि याचना यह बहुत बड़ा दुःख है ऐसा सोचकर शरीर से या मुख के म्लान आदि किसी संकेत के द्वारा कुछ भी नहीं माँगना यह याञ्चा-परीषहजय है।

१५. अंतराय कर्म के उदय से आहार आदि का लाभ न होने से जो बाधा होती है वह अलाभ परीषह है।

१६. ज्वर, खांसी, भगंदर आदि व्याधियों से हुई पीड़ा रोग-परीषह है।

१७. सूखे तृण, कठिन कंकरीली रेत, कांटा, तीक्ष्ण, मिट्टी आदि से जो शरीर या पैर में वेदना होती है वह तृणस्पर्श परीषह है।

१८. सर्वांगीण मल को जल्ल कहते हैं अर्थात् स्नान आदि के नहीं करने से तथा पसीने आदि से उत्पन्न हुआ जो कष्ट है वह जल्ल अथवा मल परीषह है।

१९. पूजा प्रशंसा आदि होना सत्कार है और नमन क्रिया या किसी कार्य के प्रारम्भ आदि में आगे करना—प्रमुख करना, उन्हें आमन्त्रित करना पुरस्कार है। इस सत्कार-पुरस्कार के न होने से जो मानसिक ताप है वह सत्कार-पुरस्कार-परिषह है।

२०. विज्ञान के मद से उत्पन्न हुआ जो गर्व है वह प्रज्ञापरीषह है।

२१. सिद्धान्त, व्याकरण, तर्क आदि शास्त्रों का ज्ञान न होने से जो अन्तरंग में सन्ताप उत्पन्न होता है वह अज्ञान है।

२२. महाव्रत आदि के अनुष्ठान से भी आज तक मुझे कोई अतिशय नहीं दिख रहा है ऐसा सोचना अदर्शन-परीषह है।

इस प्रकार से इन बाईस के नाम गिनाये हैं। यह कथन उपलक्षण मात्र है अतः अन्य भी पीड़ा के कारणों को यहाँ समझ लेना चाहिए। परीषह का अर्थ पीड़ा है। यह परीषह शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए, जैसे क्षुधापरीषह, तृषापरीषह आदि।

क्षमणं—क्षमणं सहनं तत्प्रत्येकमभिसम्बध्यते क्षुत्परीषहक्षमणं तृट्परीषहक्षमणमित्यादि। ततः परीषहजयो भवति ततश्च भावविचिकित्सा दर्शनमलं निराकृतं भवतीति ॥२५४-२५५॥

दृष्टिमोहप्रपंचनार्थमाह—

लोइयवेदियसामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्तं ।
णच्चा दंसणघादी ण य कायव्वं ससत्तीए ॥२५६॥

लोइय—लोकः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तस्मिन् भवो लौकिकः आचार इति सम्बन्धः। वेदेषु—सामऋग्यजुःषु भवो वैदिकः आचारः। समयेषु—नैयायिकवैशेषिकबौद्धमीमांसककापिलचार्वाकेषु भव आचारः सामयिकस्तेषु लौकिकवैदिकसामयिकेषु आचारेषु क्रियाकलापेषु तथान्यदेवतेषु। मूढत्तं— मूढत्वं मोह परमार्थरूपेण ग्रहणं तद्दर्शनघाति। सम्यक्त्वविनाशं ज्ञात्वा तस्मात्तन्मूढत्वं सर्वशक्त्या न कर्तव्यं ॥२५६॥

लौकिकमूढत्वप्रपंचनार्थमाह—

इन परीषहों के द्वारा व्रतादि के भंग न होने पर भी जो संक्लेश उत्पन्न होता है वह भाव विचिकित्सा है। इनको क्षमण—सहन करना परीषहक्षमण है। यह क्षमण शब्द भी प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए; जैसे क्षुधापरीषहक्षमण, तृषापरीषहक्षमण इत्यादि। इन क्षुधा आदि बाधाओं के सहने से परीषहजय होता है अर्थात् क्षुधा आदि बाधाओं के आ जाने पर संक्लेश परिणाम नहीं करने से परीषहजय होता है। और इन परीषहों को जीतने से भाव विचिकित्सा नाम का जो सम्यग्दर्शन का मल—दोष है उसका निराकरण हो जाता है।

भावार्थ—मुनियों के शरीर सम्बन्धी मल-मूत्रादि से ग्लानि नहीं करना तथा उनकी वैयावृत्ति करना यह द्रव्यनिर्विचिकित्सा है। क्षुधा, तृषा आदि बाधाओं से पीड़ित होकर भी मन में यह नहीं सोचना कि जिन मत में यह बहुत कठिन है कैसे सहन कर सकेंगे इत्यादि तथा व्रतों को भंग नहीं करते हुए संक्लेश भी नहीं करना यह भाव निर्विचिकित्सा है। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि मुनि इस निर्विचिकित्सा का पालन करने हेतु सम्यक्त्व शुद्ध रखता है।

अब दृष्टिमोह अर्थात् मूढ़दृष्टि का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—लौकिक, वैदिक और सामयिक के विषय में तथा अन्य देवताओं में मूढ़ता को जानकर सर्वशक्ति से दर्शन का घात नहीं करना चाहिए ॥२५६॥

आचारवृत्ति—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को लोक कहते हैं। इनमें होनेवाला या इनसे सम्बन्धित आचार लौकिक आचार है। सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद इनमें वर्णित आचार वैदिक आचार है। नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसक, सांख्य और चार्वाक इनसे सम्बन्धित आचार सामयिक आचार है। अर्थात् लौकिक आदि क्रियाकलापों में तथा अन्य देवों में जो मूढ़ता—मोह है उसे परमार्थ रूप से जो ग्रहण करना है वह दर्शन का घात करनेवाला है। इस मूढ़ता से सम्यक्त्व का विनाश जानकर सर्वशक्ति से इनमें मोह को प्राप्त नहीं होना चाहिए।

लौकिक मूढ़त्व को कहते हैं—

कोडिल्लमासुरक्खा भारहरामायणादि जे धम्मा ।
होज्जु व तेसु विसुत्ती लोइयमूढो हवदि एसो ॥२५७॥

कोडिल्ल—कुटिलस्य भावः कौटिल्यं तदेव प्रयोजनं यस्य धर्मस्य सः कौटिल्यधर्मः ठकादिव्यवहारो लोकप्रतारणशीलो धर्मः परलोकाद्यभावप्रतिपादनपरो व्यवहारः । आसुरक्खा—असवः प्राणास्तेषां छेदनभेदनताडनत्रासनोत्पाटनमारणादिप्रपंचेन वञ्चनादिरूपेण वा रक्षा यस्मिन् धर्मे स आसुरक्षो धर्मो नगराद्यारक्षिकोनायभूतः । अथवा कौटिल्यधर्मः, इंद्रजालादिकं पुत्रबन्धुमित्रपितृमातृस्वाम्यादिघातनोपदेशः, चाणक्योद्भव आसुरक्षः मद्यमांसखादनाद्युपदेशः । बलाधानरोगाद्यपनयनहेतुः वैद्यधर्मः । भारतरामायणादिकाः पंचपाण्डवानामेका योषित्, कुंतिश्च पंचभर्तृका, विष्णुश्च सारथिः, रावणादयो राक्षसाः, हनुमानादयश्च मर्कटाः इत्येवमादिका असद्धर्मप्रतिपादनपरा ये धर्मास्तेषु या भवेद्विश्रुतिर्विपरिणामः एतेपि धर्मा इत्येवं मूढो लौकिकमूढो भवत्येष इति ॥२५७॥

वैदिकमोहप्रतिपादनार्थमाह—

रिव्वेदसामवेदा वागणुवादादिवेदसत्थाइं ।
तुच्छाणित्तिण[1] गेण्हइ वेदियमूढो हवदि एसो ॥२५८॥

गाथार्थ—कौटिल्य, प्राणिरक्षण, भारत, रामायण आदि सम्बन्धी जो धर्म हैं, उनमें जो विपरिणाम का होना है—यह लौकिक मूढ़ता है ॥२५७॥

आचारवृत्ति—कुटिल का भाव कुटिलता है। वह कुटिलता ही जिस धर्म का प्रयोजन है वह कौटिल्य धर्म है। जो ठगने आदि का व्यवहार रूप लोगों की वंचना में तत्पर धर्म है अर्थात् जो परलोक आदि के अभाव को कहनेवाला धर्म है वह सब कौटिल्यधर्म है। जिस धर्म में असु—प्राणों के छेदन, भेदन, ताड़न, त्रास देना, उत्पाटन करना, मारना इत्यादि प्रकार से अथवा वंचना आदि प्रकार से प्राणों की रक्षा की जाती है वह आसुरक्ष धर्म है अर्थात् नगर आदि की रक्षा में नियुक्त हुए कोतवाल आदि के जो धर्म हैं वे आसुरक्ष धर्म हैं।

अथवा इन्द्रजाल आदि कार्य; पुत्र, भाई, मित्र, पिता, माता, स्वामी आदि के घात करने का उपदेश जो कि चाणक्य द्वारा उत्पन्न हुआ है, कौटिल्यधर्म है। मद्य पीना, मांस खाना इत्यादि का उपदेश आसुरक्ष है। बल को बढ़ाने, रोगादि को दूर करने आदि के लिए उपायभूत वैद्य का धर्म है। भारत और रामायण आदि में जो कहा गया है कि पाँचों पाण्डवों की एक पत्नी द्रौपदी थी, और कुन्ती भी पाँच पतिवाली थी, पाण्डवों के युद्ध में विष्णु भगवान सारथी थे, रावण आदि राक्षस थे, हनुमान् आदि बन्दर थे, इत्यादि रूप से असत् धर्म के प्रतिपादन करनेवाले जो धर्म हैं उन धर्मों के विषय में जो विश्रुति—विपरिणाम है अर्थात् ये भी सब धर्म हैं इत्यादि रूप से मोह को प्राप्त होना लौकिक मूढ़ता है ऐसा समझना।

वैदिक मोह का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ऋग्वेद, सामवेद, उनके वाक् और अनुवाद आदि से सम्बन्धित तुच्छ जो वेदशास्त्र हैं उन्हें जो ग्रहण करना है वह वैदिक मूढ़ होना है ॥२५८॥

---

1 तुच्छाणित्ति—मु० ।

रिग्वेद—ऋग्वेदः। सामवेदः। वाग्—वाक्, ऋचः। अणुवाग्—अनुवाक् [illegible]।
अथवा वाक्—ऋग्वेदप्रतिबद्धप्रायश्चित्तादिः, अनुवाक् मन्वादिस्मृतयः। आदि शब्देन यजुर्वेदाथर्वणादयः परि-गृह्यन्ते। वेदसत्थाइं—वेदशास्त्राणि हिंसोपदेशकानि अग्न्यादिकार्यप्रतिपादकानि। गृह्यसूत्रारण्यगर्भाधानपुंसवन-नामकरणान्नप्राशनचौलोपनयनव्रतबन्धनसौत्रामण्यादिप्रतिपादकानि नन्दिकेसर[1]गौतमयाज्ञवल्क्यपिप्पलादवर-रुचिनारदबृहस्पतिशुक्रबुद्धा[2]दिप्रणीतानि तुच्छानि धर्मरहितानि निरर्थकानीति यदि न गृह्णाति [यदि गृह्णाति] वैदिकाचारमूढो भवत्येष इति ॥२५८॥

सामयिकमोहप्रतिपादनार्थमाह—

> रत्तवडचरगतावसपरिहत्ता[3]दीय अण्णपासंडा।
> संसारतारगत्ति य जदि गेण्हइ[4] समयमूढो सो ॥२५९॥

रत्तवड—रक्तपटः। चरग—चरकः। [illegible], अथवा भिक्षावेलायां [illegible]-लेहनशीला उत्सिष्टाः कालमुखादयः। तावसा—तापसाः [illegible]

आचारवृत्ति—ऋग्वेद, सामवेद, वाक्—ऋचाएँ, अनुवाक्—[illegible] का समूह। अथवा वाक् अर्थात् ऋग्वेद में कहे गये प्रायश्चित्त आदि तथा अनुवाक् अर्थात् मनु आदि ऋषियों द्वारा बनाये गये मनुस्मृति आदि। आदि शब्द से यजुर्वेद अथर्ववेद आदि का भी ग्रहण किया जाता है। हिंसा आदि के प्रतिपादक वेदशास्त्र, अग्नि—होम आदि कार्य के प्रतिपादक गृह्य-सूत्र, आरण्य, गर्भाधान, पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल—मुंडन, उपनयन, व्रतबन्धन, सौत्रामणि—यज्ञविशेष आदि के प्रतिपादक जो शास्त्र हैं तथा जो नंदि केसर, गौतम, याज्ञ-वल्क्य, पिप्पलाद, वररुचि, नारद, बृहस्पति, शुक्र और बुद्ध आदि के द्वारा प्रणीत हैं वे सब शास्त्र तुच्छ हैं—धर्मरहित, निरर्थक हैं। यदि कोई मुनि इनको ग्रहण करता है तो वह वैदिकाचारमूढ़ कहलाता है।

भावार्थ—ऋग्वेद आदि वेदों में हिंसा का उपदेश तथा परस्पर विरोधी एकान्त कथन है। ऐसे ही मनुस्मृति भी कुशास्त्र है। इनमें कहे आचरण को मानने वाला वैदिकाचार-मूढ़ माना जाता है। वह अपने सम्यक्त्व का नाश कर देता है।

सामयिक मोह का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—रक्तवस्त्रवाले साधु, चरक, तापस, परिव्राजक आदि तथा अन्य भी पाखंडी साधु संसार से तारनेवाले हैं इस तरह यदि कोई ग्रहण करता है तो वह समयमूढ़ होता है ॥२५९॥

आचारवृत्ति—रक्तपट और चरक साधुओं [illegible]। अर्थात् बौद्ध भिक्षुओं को रक्तपट और नैयायिक वैशेषिक साधुओं को [illegible]। अथवा भिक्षा की वेला में हाथ चाटने का जिनका स्वभाव है और जो [illegible] करनेवाले हैं ऐसे अन्यमतीय साधु 'चरक' हैं। इनमें कालमुख आदि भेद हैं। [illegible]

1 क केसर। 2 क शुक्र। 3 क परिव्राजकादी। 4 क [illegible]।

धारिणः। परिहत्ता—परिव्राजका एकदण्डित्रिदण्डयादयः स्नानशीला शुचिवादिनः। आदिशब्देन शैव-पाशुपति-कापालिकादयः परिगृह्यन्ते। (अण्ण पासंडा—)। एते लिंगिनः संसारतारकाः शोभनानुष्ठाना यदैवं गृह्णाति समयमूढोऽसाविति ॥२५९॥

देवमोहप्रतिपादनार्थमाह—

ईसरबंभाविण्हूअज्जाखंदादिया य जे देवा।
ते देवभावहीणा देवत्तणभावणे मूढो ॥२६०॥

ईश्वर-ब्रह्म-विष्णु-भगवती-स्वामिकार्तिकादयो ये देवास्ते देवभावहीनाः चतुर्णिकायदेवस्वरूपेण सर्वज्ञत्वेन च रहितास्तेषूपरि यदि देवत्वपरिणामं करोति तदानीं देवत्वभावेन मूढो भवतीत्यर्थः ॥२६०॥

उपगूहनस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

दंसणचरणविवण्णे जीवे दट्ठूण धम्मभत्तीए।
उपगूहणं करितो दंसणसुद्धो हवदि एसो ॥२६१॥

आदि भक्षण करनेवाले वन में रहनेवाले और जटा, कौपीन आदि को धारण करनेवाले तापस कहलाते हैं। एकदण्डी, त्रिदण्डी आदि साधु परिव्राजक हैं। ये स्नान में धर्म माननेवाले और अपने को पवित्र माननेवाले हैं। आदि शब्द से शैव पाशुपति, कापालिक आदि का भी संग्रह किया जाता है। और भी अन्य पाखण्डी साधु जो अनेक लिंग धारण करनेवाले हैं। ये संसार से तारनेवाले है, इनके आचरण सुंदर हैं—यदि ऐसा कोई ग्रहण करता है तो वह समयमूढ़ कहलाता है।

देवमोह का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—महेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, पार्वती, कार्तिक आदि जो देव हैं वे देवपने से रहित हैं उनमें देवभावना करने पर वह देवमूढ़ होता है ॥२६०॥

आचारवृत्ति—ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, भगवती—पार्वती, स्वामी कार्तिक आदि जो कि देव माने गये हैं। ये चतुर्निकाय के देवों के स्वरूप से भी देव नहीं हैं और सर्वज्ञदेव के स्वरूप से भी देव नहीं है, अतः सभी तरह से ये देवभाव से रहित हैं। यदि कोई इन पर देवत्व परिणाम करता है तब वह देवत्व भाव से मूढ़ हो जाता है।

भावार्थ—अमूढ़दृष्टि अंग से विपरीत मूढ़दृष्टि होती है जिसका अर्थ है मूढ़दृष्टि का होना। यहाँ पर इसे ही दृष्टिमूढ़ कहा है और उसके चार भेद किये हैं—लौकिकमोह, वैदिकमोह, सामयिकमोह और देवमोह। इन चारों प्रकार के मोह से रहित होनेवाले साधु अमूढ़दृष्टि अंग का पालन करते हुए अपने दर्शनाचार को निर्मल बना लेते हैं।

अब उपगूहन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन या चारित्र से शिथिल हुए जीवों को देखकर धर्म की भक्ति से उनका उपगूहन करते हुए यह दर्शन से शुद्ध होता है ॥२६१॥

दर्शनचरणविपन्नान् सम्यग्दर्शनचारित्रम्लानान् जीवान् दृष्ट्वा धर्मभक्त्या वा उपगूहन् उपग्रहन् संवरयन्त्वा एतेषामुपगूहनं संवरणं कुर्वन् दर्शनशुद्धो भवत्येव उपगूहनकर्तेति ॥२६१॥

स्थिरीकरणस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

> दंसणचरणुवभट्ठे जीवे दट्ठूण धम्मबुद्धीए।
> हिदमिदमवगूहिय ते खिप्पं तत्तो णियत्तेइ ॥२६२॥

दर्शनचरणोपभ्रष्टान् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रेभ्यो भ्रष्टान्निर्गतान् जीवान् दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या हित-मितवचनैः सुखनिमित्तैः पूर्वापरविवेकसहितैर्वचनैरवगूह्य स्वीकृत्य तेभ्यो दोषेभ्यः क्षिप्रं शीघ्रं व्यावर्तयति निवर्तयति यः स स्थिरीकरणं कुर्वन् दर्शनशुद्धो भवतीति सम्बन्धः ॥२६२॥

वात्सल्यार्थं प्रतिपादयन्नाह—

> चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे।
> वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी ॥२६३॥

आचारवृत्ति—जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में म्लान हैं—भ्रष्ट हैं, ऐसे जीवों को देखकर धर्म की भक्ति से उनके दर्शन और चारित्र को उज्ज्वल करते हुए अथवा उनके दोषों को ढकते हुए उनका उपगूहन—दोषों का छादन करते हुए मुनि सम्यक्त्व की शुद्धि को प्राप्त करता है। यह साधु उपगूहन का करनेवाला होता है।

भावार्थ—सम्यक्त्व या चारित्र में दोष लगानेवालों को देखकर उनके दोषों को दूर करते हुए, उनके गुणों को बढ़ाना और उनके दोषों को प्रकट नहीं करना उपगूहन अंग है। यह सम्यक्त्व को निर्मल बनाता है।

स्थिरीकरण का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवों को देखकर धर्म की बुद्धि से हितमित वचन से उन्हें स्वीकार करके उनको शीघ्र ही उन दोषों से हटाना स्थिरीकरण है ॥२६२॥

आचारवृत्ति—सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवों को देखकर धर्म की बुद्धि से सुख के लिए कारणभूत पूर्वापर विवेक सहित ऐसे हित-मित वचनों से उन्हें स्वीकार करके या समझा करके शीघ्र ही उन दोषों से उनको वापस करना—उन दोषों से उन्हें हटा देना, वापस पुनः उन्हीं दर्शन या चारित्र में स्थिर कर देना स्थिरीकरण है। इस स्थिरीकरण को करते हुए मुनि अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध कर लेता है। अर्थात् धर्म से च्युत होते हुए देख उन्हें जैसे-तैसे वापस उसी में दृढ़ करना स्थिरीकरण अंग है।

वात्सल्य का अर्थ प्रतिपादन करते हैं—

चातुर्वर्ण्ये ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकासमूहे संघे चतुर्गतिसंसारनिस्तरणभूते नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु चतसृषु भ्रमणं तस्य विनाशहेतौ वात्सल्यं यथा नवप्रसूता गौर्वत्से स्नेहं करोति । एवं वात्सल्यं कुर्वन् दर्शनविशुद्धो भवति । वात्सल्यं च कायिक-वाचिक-मानसिकानुष्ठानैः सर्वप्रयत्नेनोपकरणौषधाहारावकाशशास्त्रादिदानैः संघे कर्तव्यमिति ॥२६३॥

प्रभावनास्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

> धम्मकहाकहणेण य बाहिरजोगेहिं चावि [1]णवज्जेहिं ।
> धम्मो पहाविदव्वो जीवेसु दयाणुकंपाए ॥२६४॥

धर्मकथाकथनेन त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिताख्यानेन सिद्धान्ततर्कव्याकरणादिव्याख्यानेन धर्मपापादिस्वरूपकथनेन वा बाह्ययोगैश्चापि अभ्रावकाशातापनवृक्षमूलानशनादिभिर्नवद्यैर्हिंसादिदोषरहितैर्धर्मः प्रभावयि-

---

आचारवृत्ति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में जो संसरण है, भ्रमण है उसी का नाम संसार है। ऐसे संसार के नाश हेतु ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के समूहरूप चतुर्विध संघ में वात्सल्य करना चाहिए। जैसे नवीन प्रसूता गौ अपने बछड़े में स्नेह करती है उसी तरह वात्सल्य को करते हुए मुनि दर्शनशुद्धि सहित होते हैं। अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक अनुष्ठानों के द्वारा सम्पूर्ण प्रयत्न से संघ में उपकरण, औषधि, आहार, आवास—स्थान और शास्त्र आदि का दान करके वात्सल्य करना चाहिए।

भावार्थ—जैसे गाय का अपने बछड़े पर सहज प्रेम होता है वैसे ही चतुर्विध संघ के प्रति अकृत्रिम प्रेम होना वात्सल्य है। यह धर्मात्माओं का धर्मात्माओं के प्रति होता है। ऐसे वात्सल्य अंगधारी मुनि अपने सम्यक्त्व को निर्दोष करते हैं।

प्रभावना का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—धर्म कथाओं के कहने से, निर्दोष बाह्य योगों से और जीवों में दया की अनुकम्पा से धर्म की प्रभावना करना चाहिए ॥२६४॥

आचारवृत्ति—चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव और नव प्रतिवासुदेव ये त्रेसठ शलाकापुरुष हैं। इनके चरित्र का आख्यान—वर्णन करना, सिद्धान्त, तर्क, व्याकरण आदि का व्याख्यान करना, अथवा धर्म और पाप आदि के स्वरूप का कथन करना यह धर्मकथा है। शीत ऋतु में खुले मैदान में ध्यान करना अभ्रावकाश है। ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की चोटी पर ध्यान करना आतापन है। वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान करना वृक्षमूल है।

जीव दया की अनुकम्पा से युक्त होकर धर्म कथाओं के कहने से, इन बाह्य योगों से, निर्दोष—हिंसा आदि दोषरहित अनशन—उपवास आदि तपश्चरणों से धर्म की प्रभावना करना चाहिए अर्थात् जिनमार्ग को उद्योतित करना चाहिए। अथवा जीवदया रूप अनुकम्पा से भी धर्म की प्रभावना करना चाहिए। तथा 'अपि' शब्द से सूचित होता है कि परवादियों से

---

1 क °हि अणवज्जेहिं।

तपसो मार्गस्योद्योतः कर्तव्यो जीवदयानुकम्पापूर्वकेन, अथवा जीवदयानुकम्पया च धर्मः प्रभावयितव्यः तथादि-शब्दसूचितैः परवादिजयाष्टांगनिमित्तदानपूजादिभिश्च धर्मः प्रभावयितव्य इति ॥२६४॥

अधिगमस्वरूपं प्रतिपाद्य नैसर्गिकसम्यक्त्वस्वरूपप्रतिपादनायाह—

जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थित्ति भावदो गहणं।
सम्मद्दंसणभावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तं ॥२६५॥*

यत्तत्त्वं जिनैरुपदिष्टं प्रतिपादितं तदेव तथ्यं सत्यं भवतु इत्यभिनिवेशं भावतः परमार्थेन ग्रहणं यत्सम्यग्दर्शनभावः आज्ञासम्यक्त्वमिति यावत्। तद्विपरीतं मिथ्यात्वमसत्यरूपेण जिनोपदिष्टस्य तत्त्वस्य ग्रहणं मिथ्यात्वं भवतीति ॥२६५॥

दर्शनाचारसमर्पणाय ज्ञानाचारसूचनायोत्तरगाथा—

शास्त्रार्थ करके उन पर जय से अष्टांग निमित्त के द्वारा तथा दान, पूजा आदि के द्वारा भी धर्म की प्रभावना करना चाहिए।

भावार्थ—धर्मोपदेश के द्वारा घोर-घोर तपश्चरण और ध्यान आदि के द्वारा, जीवों की रक्षा के द्वारा तथा परवादियों से विजय द्वारा, अष्टांग निमित्त के द्वारा; आहार, औषधि, अभय और ज्ञान दान द्वारा तथा महापूजा महोत्सव आदि के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना की जाती है।

इस प्रकार से अधिगम सम्यक्त्व का स्वरूप प्रतिपादित करके अब नैसर्गिक सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—जो जिनेन्द्र देव ने कहा है वही वास्तविक है इस प्रकार से जो भाव से ग्रहण करना है सो सम्यग्दर्शन है और उससे विपरीत मिथ्यात्व है ॥२६५॥

आचारवृत्ति—जिन तत्त्वों का जिनेन्द्र देव ने उपदेश किया है स्पष्ट रूप से वे ही सत्य हैं इस प्रकार जो परमार्थ से ग्रहण करना है वह आज्ञा सम्यक्त्व है और उससे विपरीत अर्थात् जिनोपदिष्ट तत्त्वों को असत्यरूप से ग्रहण करना मिथ्यात्व है, ऐसा समझना।

भावार्थ—इस सम्यक्त्व में आठ प्रकार के शंकादि दोषों को न लगाकर निर्दोष रूप से आठ अंग पूर्वक जो सम्यग्दर्शन का पालन करना है वह दर्शनाचार कहलाता है।

अब दर्शनाचार को पूर्ण करने हेतु और ज्ञानाचार को कहने की सूचना हेतु अगली गाथा कहते हैं—

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति में इस गाथा के स्थान पर निम्नलिखित गाथा है—

दंसणचरणो एसो णाणाचारं च वोच्छमट्ठविहं ।।
अट्ठविहकम्ममुक्को जेण य जीवो लहइ सिद्धिं ।।२६६।।

दर्शनाचार एष मया वर्णितः समासेनेत ऊर्ध्वं ज्ञानाचारं वक्ष्ये कथयिष्याम्यष्टविधं येन ज्ञानाचारेणाष्टविधकर्ममुक्तो जीवो लभते सिद्धिं, ज्ञानभावनया कर्मक्षयपूर्विका सिद्धिरिति भावार्थः ।।२६६।।

किं ज्ञानं यस्याचारः कथ्यते इति चेदित्याह—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ।।२६७।।

येन तत्त्वं वस्तुयाथात्म्यं विबुध्यते परिच्छिद्यते येन च चित्तं मनोव्यापारो निरुद्ध्यते आत्मवशं क्रियते येन चात्मा जीवो विशुद्ध्यते वीतरागः क्रियते परिच्छिद्यते तज्ज्ञानं जिनशासने प्रमाणं मोक्षप्रापणाभ्युपायं संशयविपर्ययानध्यवसायाकिञ्चित्करविपरीतं प्रत्यक्षं परोक्षं च। तत्र प्रत्यक्षं द्विप्रकारं मुख्यममुख्यं च, मुख्यं द्विविधं देशमुख्यं परमार्थमुख्यं, देशमुख्यमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च, परमार्थमुख्यं केवलज्ञानं, सर्वद्रव्यपर्यायपरिच्छेदात्मकं। अमुख्यं प्रत्यक्षेन्द्रियविषयसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसविकल्पकमीषत्प्रत्यक्षभूतं। परोक्षं श्रुतानुमानार्थापत्तितर्कोपमानादिभेदेनानेकप्रकारं, श्रुतं मतिपूर्वकं इन्द्रियमनोविषयादन्यार्थविज्ञानं यथाग्निशब्दात् शरीर-

---

गाथार्थ—यह दर्शनाचार हुआ। अब आठ प्रकार का ज्ञानाचार कहेंगे जिससे जीव आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।।२६६।।

आचारवृत्ति—मैंने यह दर्शनाचार का वर्णन किया है। अब इसके बाद संक्षेप में आठ प्रकार का ज्ञानाचार कहूँगा जिसके माहात्म्य से यह जीव आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर सिद्धिपद को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् ज्ञान की भावना से कर्मक्षय पूर्वक सिद्धि होती है ऐसा समझना।

वह ज्ञान क्या है कि जिसका आचार आप कहेंगे ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिन शासन में उसका नाम ज्ञान है ।।२६७।।

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिसके द्वारा मन का व्यापार रोका जाता है अर्थात् मन अपने वश में किया जाता है और जिसके द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाती है, जीव वीतराग हो जाता है, वह ज्ञान जिनशासन में प्रमाण है, अर्थात् वही ज्ञान मोक्ष को प्राप्त कराने के लिए उपायभूत है। वह ज्ञान संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अकिंचित्कर से रहित है। उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। उसमें मुख्य और अमुख्य की अपेक्षा प्रत्यक्ष के भेद हैं। मुख्य प्रत्यक्ष भी देश मुख्य और परमार्थ मुख्य से दो भेदरूप है। देश मुख्य के अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये दो भेद हैं। केवलज्ञान परमार्थ मुख्य है। यह सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जाननेवाला है। इन्द्रिय और विषयों के सन्निपात के अनन्तर उत्पन्न हुआ जो सविकल्पक ज्ञान है वह अमुख्य प्रत्यक्ष है, यह ईषत् प्रत्यक्षभूत है।

परोक्ष प्रमाण भी आगम, अनुमान, अर्थापत्ति, तर्क, उपमान आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है। यह इन्द्रिय और मन के विषय से भिन्न अर्थ के विज्ञान रूप है, जैसे अग्नि शब्द से शरीर का विज्ञान होता है।

विज्ञानं । अंगपूर्वं वस्तुप्राभृतकादि सर्वं श्रुतज्ञानं । अनुमानं त्रिरूपं त्रिविधलिंगादुत्पन्नं साध्याविनाभाविलिंग-गादुत्पन्नं वा एतच्छ्रुतज्ञानेऽन्तर्भवति । एकमर्थं ज्ञात दृष्ट्वाविनाभावेनान्यस्यार्थस्य परिच्छित्तिरर्थापत्तिर्यथा शूनपीनांगो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते अर्थादापन्नं रात्रौ भुंक्ते इति । प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं यथा गौस्तथा गवय इति । साध्य-साधनसम्बन्धग्राहकस्तर्कः सर्वमेतत्परोक्षं ज्ञानम् ॥२६७॥

अंग और पूर्वरूप तथा वस्तु प्राभृतक आदि सभी ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। अनुमान तीन रूप है। तीन प्रकार के लिंग से उत्पन्न अथवा साध्य के साथ अविनाभावी लिंग से उत्पन्न हुआ ज्ञान अनुमान ज्ञान है। यह श्रुतज्ञान में अन्तर्भूत हो जाता है।

एक अर्थ को हुआ देखकर उसके अविनाभाव से अन्य अर्थ का ज्ञान होना अर्थापत्ति है; जैसे 'हृष्ट-पुष्ट अंगवाला देवदत्त दिन में नहीं खाता है' ऐसा कहने पर अर्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह रात्रि में खाता है यह अर्थापत्ति है। साधर्म्य अर्थात् सदृशता की प्रसिद्धि से साध्य-साधन का ज्ञान होना उपमान है, जैसे जिसप्रकार की गौ है वैसे ही गवय (रोझ नाम का पशु) है। साध्य-साधन के सम्बन्ध को ग्रहण करनेवाला तर्कज्ञान है। ये सभी परोक्ष हैं।

विशेष—न्यायग्रन्थों में भी स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चायक ज्ञान प्रमाण कहा गया है। परीक्षामुख में आचार्य ने इस प्रमाण के दो भेद किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के भी दो भेद किए हैं—सांव्यवहारिक और मुख्य अर्थात् पारमार्थिक। इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान सांव्यवहारिक है। उसे ही यहाँ अमुख्य प्रत्यक्ष कहा है। तथा मुख्य प्रत्यक्ष के भी देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद हैं। परोक्ष-प्रमाण के पाँच भेद किये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

यहाँ पर जो अर्थापत्ति और उपमान को परोक्ष में लिया है। तथा, और भी अनेक भेद होते हैं, ऐसा कहा है। सो ये सभी इन्हीं पाँचों में ही सम्मिलित हो जाते हैं। यथा—

श्री अकलंक देव कहते हैं, कि अनुमान, उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये सभी प्रमाण हैं। इनमें से उपमान आदि प्रमाण अनुमान में अन्तर्भूत हैं। एवं अनुमान प्रमाण और ये भी स्वप्रतिपत्ति काल में अनक्षर श्रुत में अन्तर्भूत हैं और परप्रतिपत्ति काल में अक्षरश्रुत में अन्तर्भूत हैं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि परोक्ष प्रमाण के अनेक भेद हैं।

प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान को तीनरूप माना है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट। इन्हें क्रम से केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी भी कहते हैं। (तत्त्वार्थवार्तिक)

इन तीन प्रकार के लिंग से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमान है। अथवा साध्य के साथ अविनाभावी रहने वाला ऐसा अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से होनेवाला साध्य का ज्ञान अनुमान है। ये सभी परोक्षज्ञान हैं। विशेष बात यह है कि यहाँ पर टीकाकार ने न्यायग्रन्थों के आधार से ही मतिज्ञान को ईषत्प्रत्यक्ष कहा है परन्तु सिद्धान्त ग्रन्थों में मति, श्रुत दोनों को परोक्ष ही कहा है। (तत्त्वार्थवार्तिक अ० १०)

सम्यक्त्वसहचरं ज्ञानस्वरूपं व्याख्याय चारित्रसहचरस्य ज्ञानस्य प्रतिपादयन्नाह—

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥२६८॥

येन रागात् स्नेहात् कामक्रोधादिरूपाद्विरज्यते पराङ्मुखो भवति जीवः। येन च श्रेयसि रक्तो रक्तो भवति। येन मैत्रीं द्वेषाभावं प्रभावयेत् तज्ज्ञानं जिनशासने। किमुक्तं भवति—अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवताभिप्रायोऽनागमे आगमबुद्धिरचारित्रे चारित्रबुद्धिरनेकान्ते एकान्तबुद्धिरित्यज्ञानम् ॥२६८॥

ज्ञानाचारस्य कति भेदा इति पृष्टेऽत आह—

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥२६९॥

काले—स्वाध्यायवेलायां पठनपरिवर्तनव्याख्यानादिकं क्रियते सम्यक् शास्त्रस्य यत्स कालोऽपि ज्ञानाचार इत्युच्यते, साहचर्यात्कारणे कार्योपचाराद्वा। **विणए**—कायिकवाचिकमानसशुद्धपरिणामैः स्थितस्य तेन वा योऽयं श्रुतस्य पाठो व्याख्यानं परिवर्तनं यत्स विनयाचारः। **उवहाणे**—उपधानं अवग्रहविशेषेण

सम्यक्त्व के सहचारी ज्ञान का स्वरूप कहकर अब चारित्र के सहचारी ज्ञान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिनशासन में वह ज्ञान कहा गया है ॥२६८॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा जीव राग—स्नेह से और काम-क्रोध आदि से विरक्त होता है—पराङ्मुख होता है, और जिसके द्वारा मोक्ष में अनुरक्त होता है, जिसके द्वारा मैत्री भावन अर्थात् द्वेष का अभाव करता है जिनशासन में वही ज्ञान है। तात्पर्य क्या हुआ? अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि, अदेव में देवता का अभिप्राय, जो आगम नहीं है उनमें आगम की बुद्धि, अचारित्र में चारित्र की बुद्धि और अनेकान्त में एकान्त की बुद्धि यह सब अज्ञान है।

ज्ञानाचार के कितने भेद हैं? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—काल, विनय, उपधान, बहुमान और अनिह्नव सम्बन्धी तथा व्यंजन, अर्थ और उभयरूप ऐसा ज्ञानाचार आठ प्रकार का है ॥२६९॥

आचारवृत्ति—काल में अर्थात् स्वाध्याय की वेला में सम्यक् शास्त्र का पढ़ना, पढ़े हुए को फेरना, और व्याख्यान आदि कार्य किये जाते हैं वह काल भी ज्ञानाचार है। साहचर्य से अथवा कारण में कार्य का उपचार करने से काल को भी ज्ञानाचार कह दिया है। विनय—अर्थात् काय वचन और मन सम्बन्धी शुद्ध भावों से स्थित हुए मुनि से विनयाचार होता है अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक, शुद्ध परिणामों से सहित मुनि के द्वारा जो शास्त्र का पढ़ना, परिवर्तन करना और व्याख्यान करना है वह विनयाचार है। उपधान में अर्थात् उपधान-अवग्रह नियम विशेष करके पठन आदि करना उपधानाचार है। यहाँ भी साहचर्य से युक्त है

गवां पशूनां सर्गो निर्गमो यस्मिन् काले स कालो गोसर्गः। गोसर्ग एव गौसर्गिको द्विघटिकोदयादूर्ध्वंकालो द्विघटिकासहितः मध्याह्नात्पूर्वः। एतत्कालचतुष्टयं गृहीत्वोभयकाले दिवसस्य पूर्वाण्हकालेऽपराह्णकाले च तथा रात्रेः पूर्वकालेऽपरकाले च पुनः अभीक्ष्णं स्वाध्यायो भवति कर्तव्यः पठनपरिवर्तनव्याख्यानादीनि कर्तव्यानि भवन्तीति ॥२७०॥

स्वाध्यायस्य ग्रहणकालं परिसमाप्तिकालं च प्रतिपादयन्नाह—

सज्झाये पट्ठवणे जंघच्छायं वियाण सत्तपयं।
पुव्वण्हे अवरण्हे तावदियं चेय णिट्ठवणे ॥२७१॥

स्वाध्यायस्य परमागमव्याख्यानादिकस्य प्रस्थापने प्रारम्भे, जंघयोश्छाया जंघच्छाया तां जघच्छायां विजानीहि सप्तपदां सप्तवितस्तिमात्रां पूर्वाण्हेऽपराण्हे च तावन्मात्रां स्वाध्यायसमाप्तिकाले छायां विजानीहि। सवितुरुदये यदा जंघाच्छाया सप्तवितस्तिमात्रा भवति तदा स्वाध्यायो ग्राह्यः। अपराण्हे च सवितुर-

---

रात्रि के पश्चिम भाग को विरात्रि कहते हैं अर्थात् दो घड़ी सहित अर्धरात्रि के ऊपर का काल विरात्रि है। विरात्रि ही वैरात्रिक है। गायों का सर्ग—निकलना जिसकाल में हो वह गोसर्ग काल है। गोसर्ग ही गौसर्गिक है। दो घड़ी सहित उदय काल से ऊपर का यह काल दो घड़ी सहित मध्याह्न से पूर्व तक होता है।

इन चारों कालों को लेकर के दोनों कालों में अर्थात् दिवस के पूर्वाह्न काल और अपराह्न काल में तथा रात्रि के पूर्वकाल और अपरकाल में अभीक्ष्ण—निरन्तर स्वाध्याय करना होता है अर्थात् पठन, परिवर्तन, व्याख्यान आदि करने होते हैं।

भावार्थ—चौबीस मिनट की एक घड़ी होती है अतः दो घड़ी से अड़तालीस मिनट विवक्षित हैं। सूर्योदय के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर मध्याह्न काल के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वाह्न स्वाध्याय का काल है। इसी को 'गोसर्गिक' कहा है। मध्याह्न के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट पहले तक अपराह्न स्वाध्याय का काल है इसे 'प्रादोषिक' कहा है। सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वरात्रि के स्वाध्याय का काल है इसे भी 'प्रादोषिक' कहा है। पुनः अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्योदय के अड़तालीस मिनट पहले तक अपररात्रि के स्वाध्याय का काल है। इसे 'वैरात्रिक' कहा है। अर्थात् चारों संधिकालों में छयानवे मिनट (लगभग डेढ़ घण्टे) तक का काल अस्वाध्याय काल माना गया है।

अब स्वाध्याय के ग्रहण काल और परिसमाप्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—पूर्वाह्न में, स्वाध्याय-प्रारम्भ काल में जंघाछाया सात पद प्रमाण समझो और अपराह्न में स्वाध्याय समाप्ति में उतनी ही मानो ॥२७१॥

आचारवृत्ति—परमागम के व्याख्यान आदि करने रूप स्वाध्याय के प्रारम्भ में पूर्वाह्न काल में जंघा छाया सात पाद [illegible] प्रमाण है, अपराह्न में अर्थात् स्वाध्याय के निष्ठापन में भी सात [illegible] मात्र है। सूर्य के उदय होने पर जब जंघा की छाया सात-

तावद्दिनं प्रति दिनं प्रति अंगुलस्य पंचदशभागो वृद्धिं गच्छति ततो हानिः। अत्र त्रैराशिकक्रमेण हानिवृद्धी साधितव्ये। अपराह्ण स्वाध्यायप्रारम्भकालस्य रात्रौ स्वाध्यायकालस्य च कालपरिमाणं न ज्ञातं तज्ज्ञात्वा वक्तव्यम्। मध्याह्नादुपरिघटिकाद्वये स्वाध्यायो ग्राह्यः, तथा रात्रौ प्रथमघटिकाद्वये गतायां सर्वासु संध्यास्वादौ च घटिकाद्वये वर्जयित्वा स्वाध्यायो ग्राह्यो ह्यानवरतेनेति ॥२७२॥

दिग्विभागशुद्धयर्थमाह—

> णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोहीए।
> पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाए ॥२७३॥

दिशां विभागो दिग्विभागस्तस्य शुद्धिरुल्कापातादिरहितत्वं दिग्विभागशुद्धेर्निमित्तं कायोत्सर्गेण-

---

पुनः पौष सुदी पूर्णिमा के बाद से लेकर महीने-महीने में छाया दो-दो अंगुल तब तक घटती जाती है जब तक कि आषाढ़ मास में वह दो पादप्रमाण नहीं हो जावे।

कर्कट संक्रांति के प्रथम दिन से प्रारम्भ करके धनुःसंक्रांति के अन्तिम दिनपर्यन्त तक दिन प्रति-दिन अंगुल के पन्द्रहवें भाग प्रमाण छाया बढ़ती जाती है। पुनः आगे इतनी-इतनी ही घटती जाती है। यहाँ पर त्रैराशिक के क्रम से हानि और वृद्धि को निकाल लेना चाहिए।

अपराह्ण काल के स्वाध्याय का प्रारम्भकाल और रात्रि में स्वाध्याय के काल का प्रमाण नहीं मालूम हुआ उसको जानकर कहना चाहिए। अर्थात् मध्याह्न काल के ऊपर दो घड़ी हो जाने पर अपराह्ण स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए, तथा रात्रि में सूर्यास्त के बाद दो घड़ी बीत जाने पर पूर्वरात्रिक स्वाध्याय करना चाहिए। अर्थात् सभी संध्याओं के आदि और अन्त में दो-दो घड़ी छोड़कर स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और समाप्त करना चाहिए।

भावार्थ—आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के बाद मध्याह्न होने के कुछ पहले जब जंघाछाया दोपाद (१२ अंगुल) प्रमाण रहती है तब पूर्वाह्ण स्वाध्याय निष्ठापन का काल है। पुनः श्रावण के अन्तिम दिन १४ अंगुल, भाद्र पद के अन्तिम दिन १६ अंगुल, आश्विन के अन्तिम दिन १८ अंगुल, कार्तिक की पूर्णिमा को २० अंगुल, मगसिर की पूर्णिमा को २२ अंगुल और पौष की पूर्णिमा को चार पाद अर्थात् २४ अंगुल हो जाती है। तब स्वाध्याय निष्ठापन का काल होता है। आगे पुनः दो-दो अंगुल घटाइए—माघ के अन्तिम दिन २२ अंगुल, फाल्गुन की पूर्णिमा को २० अंगुल, चैत्र की पूर्णिमा को १८ अंगुल, वैशाख की पूर्णिमा को १६ अंगुल, ज्येष्ठ की पूर्णिमा के दिन १४ अंगुल, आषाढ़ की पूर्णिमा के दिन दो पाद अर्थात् १२ अंगुल जंघाछाया रहे तब पूर्वाह्ण स्वाध्याय निष्ठापन का काल होता है।

दिग्विभाग की शुद्धि के लिए कहते हैं—

अथ के ते दिग्दाहादय इति पृष्टे तानाह—

> दिसदाह उक्कपडणं विज्जु चडक्कासणिंदधणुगं च ।
> दुग्गंधसंज्झदुद्दिणचंदग्गहसूरराहुजुज्झं च ॥२७४॥
> कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च ।
> इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा ॥२७५॥

दिशां दाह उत्पातेन दिशोऽग्निवर्णाः। उल्कायाः पतनं गगनात् तारकाकारेण पुद्गलपिण्डस्य पतनं। विद्युच्चंचलप्रकाशं, चडत्कारः वज्रं मेघसंघट्टोद्भवं। अशनिः करकनिचयः। इन्द्रधनुः धनुराकारेण

अपररात्रि के समय वाचना नहीं है, क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का उपाय नहीं है। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी समस्त अंगश्रुत के धारक, आकाश स्थित चारणमुनि तथा मेरु व कुलाचलों के मध्य स्थित चारण ऋषियों के अपररात्रिक वाचना भी है, क्योंकि वे क्षेत्र-शुद्धि से रहित हैं।"[1]

अभिप्राय यह हुआ कि पिछली रात्रि के स्वाध्याय में आजकल मुनि और आर्यिकाएँ सूत्रग्रन्थों का वाचना नामक स्वाध्याय न करें। एवं उनसे अतिरिक्त आराधनाग्रन्थ आदि का स्वाध्याय करके सूर्योदय के दो घड़ी (४८ मिनट) पहले स्वाध्याय समाप्त कर बाहर निकलकर प्रासुक प्रदेश में खड़े होकर चारों दिशाओं से तीन-तीन उच्छ्वास पूर्वक नव नव बार णमोकार मन्त्र का जाप्य करके दिशा-शुद्धि करें। पुनः पूर्वाह्न स्वाध्याय समाप्ति के बाद भी अपराह्न स्वाध्याय हेतु चारों दिशाओं में सात-सात बार महामन्त्र जपें। तथैव अपराह्न स्वाध्याय के अनन्तर भी पूर्वरात्रिक स्वाध्याय हेतु पाँच-पाँच महामन्त्र से दिशाशोधन कर लेवें। अपररात्रिक के लिए दिक्शोधन का विधान नहीं है, क्योंकि उस काल में ऋद्धिधारी महामुनि ही वाचना स्वाध्याय करते हैं और उनके लिए दिशा शुद्धि की आवश्यकता नहीं है।

वे दिग्दाह आदि क्या हैं? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—दिशादाह, उल्कापात, विद्युत्पात, वज्र का भयंकर शब्द, इन्द्रधनुष, दुर्गन्ध उठना, संध्या समय, दुर्दिन, चन्द्रग्रहण, सूर्य और राहु का युद्ध, कलह आदि तथा धूमकेतु, भूकम्प और मेघगर्जन तथा इसीप्रकार के और भी दोष हैं जो कि स्वाध्याय में वर्जित हैं ॥२७४-२७५॥

आचारवृत्ति—दिशादाह—उत्पात से दिशाओं का अग्नि वर्ण हो जाना, उल्कापतन—उल्का का गिरना अर्थात् आकाश से तारे के आकार के पुद्गल पिण्ड का गिरना, बिजली चमकना, मेघ के संघट्ट से उत्पन्न हुए वज्र का चटचट शब्द होना या वज्रपात होना, ओला—

तक मास पाद प्रमाण छाया में हानि होती है और पुनः [illegible] मास तक वृद्धि होते-होते [illegible] प्रमाण छाया होती है।

रुधिरं रक्तं। आदिशब्देनाशुचिशुक्रास्थिव्रणादीनि परिगृह्यन्ते, पूयं—कुथितरक्तं। मांसं आर्द्र पंचेन्द्रियावयवः। द्रव्ये आत्मशरीरेऽन्यशरीरे चैतानि वर्जनीयानि। क्षेत्रे स्वाध्यायकरणप्रदेशे चतसृषु दिक्षु हस्तशतचतुष्टयमात्रेण सर्वाणि वर्जनीयानि। यदि शोधयितुं न शक्यन्ते तत्क्षेत्रं द्रव्यं च त्याज्यं तस्मिन् जीवे सति स्वाध्यायो न कर्तव्यः। प्रवक्तृश्रोत्रादिभिरुष्णोदकादीनि ग्राह्याणि, वातप्रचुराहारादिर्न ग्राह्यः, अजीर्णादयोऽपि न कर्तव्याः। द्रव्यशुद्धिं क्षेत्रशुद्धिं चेच्छुभिः क्रोधादयोऽपि संक्लेशा वर्जनीयाः। क्रोधमानमाया-

---

आचारवृत्ति—रुधिर आदि शब्द से अपवित्र, शुक्र, हड्डी, और घाव आदि ग्रहण किये जाते हैं। पीव अर्थात् सड़ा खून, मांस—पंचेंद्रिय जीव का अवयव, ये अपने शरीर में हों या अन्य के शरीर में हों अर्थात् अपने या पर के शरीर से यदि ये अपवित्र पदार्थ निकल रहे हों तो द्रव्य शुद्धि न होने से स्वाध्याय वर्जित है। क्षेत्र में—स्वाध्याय करने के प्रदेश में चारों ही दिशाओं में चार सौ हाथ प्रमाण तक अर्थात् प्रत्येक दिशा में सौ-सौ हाथ प्रमाण तक इन सब अपवित्र वस्तुओं का वर्जन करना चाहिए। यदि इनका शोधन करना—दूर करना शक्य नहीं है तो उस क्षेत्र को और द्रव्य को छोड़ देना चाहिए। जीव सहित प्रदेश के होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रवक्ता—प्रवचन करनेवालों या पढ़ानेवालों को तथा श्रोता आदि को उष्ण जल आदि वस्तुएँ आहार में लेनी चाहिए। जिसमें वात प्रचुर मात्रा में हो ऐसे आहार आदि नहीं ग्रहण करना चाहिए। अजीर्ण आदि भी नहीं करना चाहिए अर्थात् गरिष्ठ भोजन करके अजीर्ण आदि दोष उत्पन्न हों ऐसा नहीं करना चाहिए। इस तरह द्रव्यशुद्धि और क्षेत्र शुद्धि को चाहनेवाले मुनियों को क्रोधादि संक्लेश परिणामों का भी त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि क्रोध-मान-माया-लोभ, असूया, ईर्ष्या आदि का अभाव होना भावशुद्धि है। पठनकाल में इस भावशुद्धि को करते हुए अत्यर्थ रूप से उपशम आदि भाव रखना चाहिए। इस तरह कालशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि और भावशुद्धि के द्वारा पढ़ा गया शास्त्र कर्मक्षय के लिए होता है अन्यथा—इन शुद्धियों के अभाव में, पढ़ा गया शास्त्र कर्मबन्ध के लिए हो जाता है, ऐसा समझना।

विशेष—सिद्धान्त ग्रन्थ में चार प्रकार की शुद्धि का वर्णन है जो निम्न प्रकार है : "यह व्याख्यान करनेवालों और सुननेवालों का भी अर्थात् सिद्धान्त ग्रन्थ को पढ़ानेवाले गुरुओं एवं पढ़नेवाले मुनियों को भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि से व्याख्यान करना चाहिए—पढ़ाना चाहिए।"

उनमें ज्वर, कुक्षिरोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, लेप, अतिसार और पीव का बहना—इत्यादिकों का शरीर में न रहना द्रव्यशुद्धि कही जाती है। व्याख्याता से आश्रित प्रदेश से चारों दिशाओं में २८ हजार धनुषप्रमाण क्षेत्र में विष्ठा, मूत्र, हड्डी,

लोभासूयेर्ष्यादीनामभावो भावशुद्धिः पठनकाले कर्तव्या अत्यर्थमुपक्रमादयो भावयितव्याः । कालशुद्ध्यादिभिः शास्त्रं पठितं कर्मक्षयाय भवत्यन्यथा कर्मबन्धायेति ॥२७६॥

नख और चमड़े आदि के अभाव को तथा समीप में पंचेन्द्रिय जीव के शरीर सम्बन्धी गीली हड्डी, चमड़ा, मांस और रुधिर के सम्बन्ध के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते हैं।' बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, अकाल-वृष्टि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आछन्न दिशाएँ, दिशादाह, धूमिका-पात—कुहरा, संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महिमा, जिन महिमा इत्यादि के अभाव को काल-शुद्धि कहते हैं। तथा पूर्वाह्न आदि वाचना हेतु दिशा की शुद्धि करना भी कालशुद्धि है जो नव, सात और पांच गाथाओं द्वारा पहले कही जा चुकी है।

राग-द्वेष, अहंकार, आर्त-रौद्र ध्यान इनसे रहित पांच महाव्रत, समिति और गुप्ति से सहित दर्शनाचार आदि समन्वित मुनियों के भावशुद्धि होती है।"

इस विषय की उपयोगी गाथाएँ दी गयी हैं यथा—

"यमपटह का शब्द सुनने पर, अंग से रक्तस्राव होने पर, अतिचार के हो जाने पर तथा दातारों के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।' तिल मोदक, चिउड़ा, लाई, पुआ आदि चिक्कण एवं सुगन्धित भोजनों के करने पर तथा दावानल का धुआं होने पर, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। एक योजन के घेरे में (चार कोस में) संन्यास विधि होने पर, तथा महोपवास-विधि, आवश्यक क्रिया एवं केशलोंच के समय अध्ययन नहीं करना चाहिए। आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक अध्ययन का निषेध है। आचार्य का स्वर्गवास एक योजन दूर होने पर तीन दिन तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक अध्ययन निषिद्ध है।

प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा या गुंठा) मात्र में तिर्यंचों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। उतने मात्र में स्थावरकाय के घात होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यन्त सड़ी गन्ध के आने पर या ग्रन्थ का ठीक अर्थ समझ में न आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्ध न होने पर मोक्ष इच्छुक मुनि को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

मल-विसर्जन भूमि से सौ अरत्नि प्रमाण दूर, मूत्र-विसर्जन के स्थान से पचास अरत्नि दूर, मनुष्य शरीर के लेश मात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष और तिर्यंचों के शरीर सम्बन्धी अवयवों के स्थान से उससे आधी मात्र—पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए।

कालशुद्धयां[1] यद्यत्सूत्रं पठ्यते तत्तत्केनोक्तमत आह—

सुत्तं गणहरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकहिदं च।
सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्णदसपुव्वकहिदं च ॥२७७॥

व्यन्तरों द्वारा भेरी ताड़न करने पर, उनकी पूजा का संकट होने पर, कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालकों के द्वारा समीप में झाड़ू-बुहारी करने पर; अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के मांस व हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र विशुद्धि नहीं होती, जैसा कि सर्वज्ञों ने कहा है।

मुनि क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना को ग्रहण करे। बाजू, कांख आदि अपने अंग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करके, पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड़ दे। साधुओं ने बारह तपों में भी स्वाध्याय को श्रेष्ठ तप कहा है।

पर्व दिनों में—नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिम दिवसों—आष्टाह्निक दिनों में और सूर्य चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान् व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए।

अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनों के वियोग को करता है। पौर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है। यदि साधु जन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवास विधि सब विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। मध्याह्न काल में किया गया अध्ययन जिन रूप को नष्ट करता है। दोनों संध्याकालों में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त हो जाते हैं।

अतिशय दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।

...सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ से जो मुनि द्रव्य-क्षेत्र आदि की शुद्धि को न करके अध्ययन करते हैं वे असमाधि अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना, अस्वाध्याय—शास्त्र आदिकों का अलाभ, कलह, व्याधि या वियोग को प्राप्त होते हैं।"

काल शुद्धि में जो जो सूत्र पढ़े जाते हैं वे वे सूत्र किनके द्वारा कथित होते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—गणधर देव द्वारा कथित, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिधारी द्वारा कथित, श्रुतकेवली द्वारा कथित और अभिन्न दशपूर्वी ऋषियों द्वारा कथित को सूत्र कहते हैं ॥२७७॥

---

१ क °द्धया।

सूत्रं अंगपूर्ववस्तुप्राभृतादि गणधरदेवैः कथितं सर्वज्ञमुखकमलादर्थं गृहीत्वा ग्रन्थरूपेण रचितं गौतमादिभिः। तथैवैकं कारणं प्रत्याश्रित्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः। धर्मश्रवणाद्युपदेशमन्तरेण चारित्रावरणादि-क्षयोपशमात्, ग्रहणोल्कापातादिदर्शनात् संसारस्वरूपं विदित्वा गृहीतसंयमाः प्रत्येकबुद्धास्तैः कथितं। श्रुत-केवलिना कथितं रचितं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वधरेणोपदिष्टं। अभिन्नानि रागादिभिरपरिणतानि दशपूर्वाणि उत्पाद-पूर्वादीनि येषां तेऽभिन्नदशपूर्वास्तैः कथितं प्रतिपादितमभिन्नदशपूर्वकथितं च सूत्रमिति सम्बन्धः ॥२७७॥

तत्सूत्रं किम्—

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ॥२७८॥

तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य संयतसमूहस्य स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य

आचारवृत्ति—सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निकले हुए अर्थ को ग्रहण कर गौतम देव आदि गणधर देवों द्वारा ग्रन्थ रूप से रचित जो अंग, पूर्व, वस्तु और प्राभृतक आदि हैं, वे सूत्र कहलाते हैं। जो किसी एक कारण को निमित्त करके प्रबुद्ध हुए हैं वे प्रत्येकबुद्ध हैं अर्थात् जो धर्म-श्रवण आदि उपदेश के बिना ही चारित्र के आवरण करनेवाले ऐसे चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से बोध को प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने ग्रहण—सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण या उल्कापात आदि देखने से संसार के स्वरूप को जानकर संयम ग्रहण किया है वे प्रत्येकबुद्ध हैं। अर्थात् प्रत्येकबुद्धि नाम की एक प्रकार की ऋद्धि से सहित जो महर्षि हैं उनके द्वारा कथित शास्त्र सूत्रसंज्ञक है।

उसी प्रकार से द्वादशांग और चौदह पूर्व ऐसे सम्पूर्ण श्रुत के धारक जो श्रुतकेवली हैं उनके द्वारा कथित—उपदिष्ट—रचितशास्त्र भी सूत्र संज्ञक है। जो ग्यारह अंग और उत्पाद-पूर्व से लेकर विद्यानुवाद नामक दशवें पूर्व को पढ़कर पुनः रागादि भावों से परिणत नहीं हुए हैं वे अभिन्न दशपूर्वी हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र भी सूत्र हैं, ऐसा समझना।

विशेष—दशवें पूर्व को पढ़ते समय मुनि के पास अनेक विद्यादेवता आती हैं और उन्हें नमस्कार कर उनसे आज्ञा माँगती हैं। तब कोई मुनि चारित्रमोहनीय के उदय से चारित्र से शिथिल होकर उन विद्याओं को स्वीकार करके चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं। इनमें कुछ तो नियम से दशवें पूर्व को पढ़कर भ्रष्ट होकर दुर्गति के भाजन बनते हैं और, कुछ मुनि वापस चारित्र में स्थिर हो जाते हैं वे भिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं। और कुछ मुनि इन विद्या देवताओं को वापस कर देते हैं, स्वयं चारित्र से चलायमान नहीं होते हैं वे अभिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं।

इन सूत्रों के लिए क्या विधान है—

च। इतोऽस्मादन्यो ग्रन्थः कल्प्यते पठितुमस्वाध्यायेऽन्यत्पुनः सूत्रं कालशुद्ध्याद्यभावेऽपि पठितु-मिति ॥२७८॥

किं तदन्यत्सूत्रमित्यत आह—

आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ ॥२७९॥

आराधना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामुद्योतनोद्यवननिर्वाहणसाधनादीनि तस्या निर्युक्तिराराध-नानिर्युक्तिः। मरणविभक्तिः सप्तदशमरणप्रतिपादकग्रन्थरचना। संग्रहः पंचसंग्रहादयः। स्तुतयः देवागमपर-मेष्ठ्यादयः। प्रत्याख्यानं त्रिविधचतुर्विधाहारादिपरित्यागप्रतिपादनो ग्रन्थः सावद्यद्रव्यक्षेत्रादिपरिहारप्रति-पादनो वा। आवश्यकाः सामायिकचतुर्विंशतिस्तववन्दनादिस्वरूपप्रतिपादको ग्रन्थः। धर्मकथास्त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरितानि द्वादशानुप्रेक्षादयश्च। ईदृग्भूतोऽन्योऽपि ग्रन्थः पठितुमस्वाध्यायेऽपि च युक्तः ॥२७९॥

कालशुद्ध्यनन्तरं कस्मिन् ग्रन्थे कस्मिंश्चावसरे काः क्रियाः कर्तव्या इति पृष्टेऽत आह—

करना युक्त नहीं है किन्तु इन सूत्रग्रन्थों से अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को कालशुद्धि आदि के अभाव में भी पढ़ा जा सकता है ऐसा समझना।

इनसे भिन्न अन्य सूत्रग्रन्थ कौन-कौन से हैं? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आराधना के कथन करने वाले ग्रन्थ, मरण को कहने वाले ग्रन्थ, संग्रह ग्रन्थ, स्तुतिग्रन्थ, प्रत्याख्यान, आवश्यक क्रिया और धर्मकथा सम्बन्धी ग्रन्थ तथा और भी ऐसे ही ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं ॥२७९॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इन चारों के उद्योतन, उद्यवन, निर्वाहण, साधन और निस्तरण आदि का वर्णन जिन ग्रन्थों में है वे आराधनानिर्युक्ति ग्रन्थ हैं। सत्रह प्रकार के मरणों के प्रतिपादक ग्रन्थों की जो रचना है वह मरणविभक्ति है। संग्रह ग्रन्थ से 'पंचसंग्रह' आदि लिये जाते हैं। स्तुतिग्रन्थ से देवागमस्तोत्र, पंचपरमेष्ठीस्तोत्र आदि सम्बन्धी ग्रन्थ होते हैं। तीन प्रकार और चार प्रकार आहार के त्याग के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्याख्यान ग्रन्थ हैं। अथवा सावद्य—सदोष द्रव्य, क्षेत्र, आदि के परिहार करने के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्याख्यान ग्रन्थ हैं। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना आदि के स्वरूप को कहनेवाले ग्रन्थ आवश्यक ग्रन्थ हैं। त्रेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र को कहनेवाले ग्रन्थ तथा द्वादश अनुप्रेक्षा आदि ग्रन्थ धर्मकथा ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों को और इन्हीं सदृश अन्य ग्रन्थों को भी अस्वाध्याय काल में पढ़ा जा सकता है।

विशेषार्थ—वर्तमानकाल में षट्खंडागम सूत्र, कसायपाहुड़ सूत्र और महाबंध सूत्र अर्थात् धवला, जयधवला और महाधवला को सूत्रग्रन्थ माना जाता है। चूंकि श्री वीरसेनाचार्य ने धवला, जयधवला टीका में इन्हें सूत्र सदृश मानकर सूत्र-ग्रन्थ कहा है। इनसे अतिरिक्त ग्रन्थों को अस्वाध्याय काल में भी पढ़ा जा सकता है।

कालशुद्धि के अनन्तर किस ग्रन्थ के विषय में और किस अवसर पर क्या क्रियाएँ करना चाहिए? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

उद्देस समुद्देसे अणुणापणए अ होंति पंचेव ।
अंगसुदखंधझेणुवदेसा विय पदविभागी य ।।२८०।।

उद्देशे प्रारम्भकाले, समुद्देशे शास्त्रसमाप्तौ, अनुज्ञायां गुरोरनुज्ञायां भवन्ति पंचैव । नात्र केवलं निर्दिष्टास्तथाप्युपदेशादुपवासाः कायोत्सर्गा वा ग्राह्याः । अथवा अनुज्ञायां एतावन्त एव पणगा व्यवहाराः प्रायश्चित्तानि पंचैव भवन्ति पंचोपवासाः कायोत्सर्गा वा । अंगं द्वादशाङ्गानि । श्रुत चतुर्दशपूर्वाणि । स्कन्धः वस्तूनि । झेणुव—प्राभृतं । देशश्च प्राभृतप्राभृतं । पदविभागादेकैकस्मिन् । अंगस्याध्ययनप्रारम्भे समाप्तौ बुद्धिमच्छिष्यानुज्ञायामुपवासाः कायोत्सर्गा वा पंच कर्तव्या भवन्ति । एवं पूर्वाणां, वस्तूनां, प्राभृतानां, प्राभृतप्राभृतानां प्रारम्भे समाप्तौ अनुज्ञायामेकैकस्य पंच पंचोपवासाः कायोत्सर्गा वा कर्तव्या भवन्तीति ।।२८०।।

गाथार्थ—अंग, पूर्व, वस्तु, प्राभृत, प्राभृतक इनमें से किसी एक-एक के प्रारम्भ में, समाप्ति में और अनुज्ञा के लेने में पांच ही (क्रियाएँ) होती हैं ।।२८०।।

आचारवृत्ति—अंग—बारहअंग, श्रुत—चौदहपूर्व, स्कन्ध—वस्तु, प्राभृत—प्राभृतक, देश—प्राभृतप्राभृत, इन ग्रन्थों में से पदविभागी—एक-एक का अध्ययन प्रारम्भ करने में अर्थात् अंग या बारह अंगों में से किसी एक के उद्देश्य—अध्ययन के प्रारम्भ में, समुद्देश—उस ग्रन्थ के अध्ययन की समाप्ति में और अनुज्ञा—गुरु से उस विषय में आज्ञा लेने पर पांच ही होते हैं। यहाँ पर पांच कहकर किसी क्रिया का निर्देश नहीं किया है कि पांच क्या होते हैं। फिर भी उपदेश के निमित्त से पांच उपवास या पांच कायोत्सर्ग ग्रहण करना चाहिए। अथवा अनुज्ञा में इतने ही पांच पणक—व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त समझना। अर्थात् पांच ही उपवास या पांच कायोत्सर्ग रूप प्रायश्चित्त होते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि बुद्धिमान शिष्य को अंग का अध्ययन प्रारम्भ करते तथा समाप्ति में और गुरु से आज्ञा लेने में ये पांच उपवास अथवा पांच कायोत्सर्ग करना चाहिए। ऐसे ही पूर्वग्रन्थ, वस्तुग्रन्थ, प्राभृतग्रन्थ, प्राभृतप्राभृत-ग्रन्थ—इन ग्रन्थों में किसी एक के भी प्रारम्भ में, समाप्ति में और उस विषय में गुरु की आज्ञा लेने पर पांच-पांच उपवास या पांच-पांच कायोत्सर्ग करना चाहिए।

विशेषार्थ—"अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत, वस्तु और पूर्व ये नव तथा इनमें प्रत्येक के साथ समास पद जोड़ने से हुए नव अर्थात् अक्षरसमास, पद-समास आदि ऐसे ये अठारह भेद द्रव्यश्रुत के होते हैं। इन्हीं में पर्याय और पर्यायसमास के मिलाने से बीस भेद ज्ञानरूप श्रुत के होते हैं। ग्रन्थरूप श्रुत की विवक्षा करने पर आचारांग आदि बारहअंग और उत्पाद, पूर्व आदि चौदह पूर्व होते हैं अर्थात् द्रव्यश्रुत और भावश्रुत की अपेक्षा दो भेद किये गये हैं। उनमें से शब्दरूप और ग्रन्थरूप सब द्रव्यश्रुत हैं। ज्ञानरूप को भावश्रुत कहते हैं। तथा अंगबाह्य नाम से चौदह प्रकीर्णक भी लिये जाते हैं।"

उपर्युक्त अठारह भेदों के अन्तर्गत जो प्राभृतप्राभृत कहे हैं उनमें से एक-एक वस्तु अधिकार में बीस-बीस प्राभृत होते हैं और एक-एक प्राभृत में चौबीस-चौबीस प्राभृत-प्राभृत होते हैं। आगे पूर्व नामक श्रुतज्ञान के चौदह भेद हो जाते हैं। इन सबका विशेष स्वरूप गोम्मटसार जीवकाण्ड की ज्ञानमार्गणा में समझना चाहिए।[1]

---

1. गोम्मटसार जीवकाण्ड, ज्ञानमार्गणा, गाथा ३४८-३४९

पदविभागतः पृथक्पृथक्कालशुद्धिं व्याख्याय विनयशुद्धयर्थमाह—

पलियंकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अंजलीकदपणामो ।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥२८१॥*

पर्यंकेन निषद्यां गत उपविष्टः पर्यंकनिषद्यागतः पर्यंकेन वीरासनादिभिर्वा सम्यग्विधानेनोपविष्टेन, प्रतिलिख्य चक्षुषा पिच्छिकया शुद्धजलेन च पुस्तकं भूमिहस्तपादादिकं च सम्मार्ज्य । अञ्जलिना कृतः प्रणामो येनासावञ्जलिकृतप्रणामस्तेन करमुकुलाङ्कितचक्षुषा सूत्रार्थसंयोगः सम्पर्कस्तेन युक्तः समन्वितः सूत्रार्थयोगयुक्तोऽङ्गादिग्रन्थः पठितव्योऽध्येतव्यः । आत्मशक्त्या सूत्रार्थाव्यभिचारेण शुद्धोपयोगेन शक्तिमनवगुह्य यत्नेन जिनोक्तं सूत्रमर्थयुक्तं पठनीयमिति ॥२८१॥

उपधानशुद्धयर्थमाह—

आयंबिल णिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं ।
तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ॥२८२॥

पदविभाग से—एक-एक रूप से पृथक्-पृथक् कालशुद्धि को कहकर अब विनयशुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—पर्यंकासन से बैठकर पिच्छिका से प्रतिलेखन करके अंजलि जोड़कर प्रणाम पूर्वक सूत्र और उसके अर्थ में उपयोग लगाते हुए अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना चाहिए ॥२८१॥

आचारवृत्ति—मुनि पर्यंकासन से अथवा वीरासन आदि से सम्यक् प्रकार की विधि से बैठ कर शुद्ध जल से हाथ-पैर आदि धोकर तथा चक्षु से अच्छी तरह निरीक्षण करके और पिच्छिका से भूमि को, हाथ-पैर आदि को और पुस्तक को परिमार्जित करके मुकुलित हाथ बनाकर अंजलि जोड़कर प्रणाम करके सूत्र और अर्थ के संयोग युक्त अंग आदि ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार सूत्र और अर्थ में व्यभिचार न करते हुए अर्थात् सूत्र के अनुसार उसका अर्थ समझते हुए, शुद्धोपयोग पूर्वक अर्थात् उपयोग को निर्मल बनाकर और शक्ति को न छिपाकर प्रयत्न पूर्वक जिनेन्द्र देव द्वारा कथित सूत्र को अर्थ सहित पढ़ना चाहिए। यह दूसरी विनयशुद्धि हुई है।

अब उपधान का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—आचाम्ल निर्विकृति या अन्य भी कुछ नियम जिस स्वाध्याय के लिए करना होता है उसके लिए उस नियम को करते हुए ये मुनि उपधान आचार सहित होते हैं ॥२८२॥

* फलटन से प्रकाशित प्रति में निम्नलिखित दो गाथाएँ और हैं—

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो च णिज्जरहेदुं ।
[illegible] ॥

आचाम्लं सौवीरौदनादिकं, विकृतेर्निर्गतं निर्विकृतं घृतदध्यादिविरहितौदनः, अन्यद्वा पक्वान्नादिकं यस्य शास्त्रस्य कर्तव्यमुपधानं सम्यक्सन्मानं तदुपधानं कुर्वाणस्तस्य शास्त्रस्योपधानशुद्धो भवत्येषः । शक्त्यनाव-ग्रहादिकं कृत्वा शास्त्रं सर्वं श्रोतव्यमिति तात्पर्यं पूजादरश्च कृतो भवति ॥२८२॥

बहुमानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं ।
आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि बहुमाणं ॥२८३॥

अङ्गश्रुतादीनां सूत्रार्थं यथास्थितं तथैव जल्पन्नुच्चरन् पाठयन् वाचयंस्तथापि प्रतिपादयन्नन्यस्य निर्जराहेतोः कर्मक्षयनिमित्तं न आचार्यादीनां शास्त्रादीनामन्येषामपि आसादनं परिभवं न कुर्याद्गर्वितो न भवेत्तेन शास्त्रादीनां बहुमानं पूजादिकं कृतं भवति । शास्त्रस्य गुरोरन्यस्य वा परिभवो न कर्तव्यः पूजावचनादिकं च वक्तव्यमिति तात्पर्यार्थः ॥२८३॥

अनिह्नवस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आचारवृत्ति—सौवीर—कांजी के साथ भात आदि को आचाम्ल कहते हैं। जो विकृति से रहित है अर्थात् घी, दूध आदि से रहित भात निर्विकृति है। अथवा अन्य पके हुए अन्न आदि भी निर्विकृति हैं। अर्थात् जिस चावल या रोटी आदि में कोई रस—नमक, घी आदि या मसाला आदि कुछ भी नहीं डाला है वह भोजन निर्विकृति है। कोई एक शास्त्र के स्वाध्याय को प्रारम्भ करके उस शास्त्र के पूर्ण हुए पर्यन्त इन आचाम्ल या निर्विकृति आदि का आहार लेना अर्थात् इस ग्रन्थ के पूर्ण होने तक मेरा आचाम्ल भोजन का नियम है या अमुक रस का त्याग है इत्यादि नियम करना उपधान है। यह उस ग्रन्थ के लिए सम्यक् सम्मान रूप है। ऐसा उपधान-नियम विशेष करके स्वाध्याय करते हुए मुनि उस ग्रन्थ के विषय में उपधानशुद्धि से युक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि साधु को कुछ नियम आदि करके ग्रन्थ पढ़ने या सुनने चाहिए। इससे उस ग्रन्थ की पूजा और आदर होता है। यह तीसरी शुद्धि हुई।

अब बहुमान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—निर्जरा के लिए सूत्र और उसके अर्थ को पढ़ते हुए तथा उनकी वाचना करते हुए भी आसादना नहीं करे। इससे बहुमान होता है ॥२८३॥

आचारवृत्ति—मुनि निर्जरा के लिए—कर्मों के क्षय हेतु—अंग, पूर्व आदि के सूत्र और अर्थ को, जो जैसे व्यवस्थित हैं वैसे ही उनका उच्चारण करते हुए, पढ़ाते हुए, वाचना करते हुए और अन्यों का भी प्रतिपादन करते हुए आचार्य आदि की, शास्त्रों की और अन्य मुनियों की भी आसादना (तिरस्कार) नहीं करे अर्थात् गर्वित नहीं होवे। इससे शास्त्रादि का बहुमान होता है, पूजादिक करना होता है। तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्र का, गुरु का अथवा अन्य किसी मुनि या आचार्य का तिरस्कार नहीं करना चाहिए बल्कि उनके प्रति पूजा बहुमान आदि सूचक वचन बोलना चाहिए। यह बहुमानशुद्धि चौथी है।

अब अनिह्नव का स्वरूप बतलाते हैं—

कुलवयसीलविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं ।
कुलवयसीलमहल्ले णिण्हवदोसो दु जप्पंतो ॥२८४॥

कुलं गुरुसन्ततिः, व्रतानि हिंसादिविरतयः, शीलं व्रतपरिरक्षणाद्यनुष्ठानं तैर्विहीना म्लानाः कुलव्रतशीलविहीनाः । मठादिपालनेनाज्ञानादिना वा गुरुः सदोषस्तस्य शिष्यो ज्ञानी तपस्वी न कुलहीन इत्युच्यते । अथवा तीर्थंकरगणधरसप्तर्धिसंप्राप्तेभ्योऽन्ये यतयः कुलव्रतशीलविहीनास्तेभ्यः कुलव्रतशीलविहीनेभ्यः सम्यक्शास्त्रमवगम्य ज्ञात्वा कुलव्रतशीलैर्ये महान्तस्तान् यदि कथयति तेभ्यो मया शास्त्रं ज्ञातमित्येवं तस्य जल्पतो निह्नवदोषो भवति । आत्मनो गर्वमुद्वहता शास्त्रनिह्नवो गुरुनिह्नवश्च कृतो भवति । ततश्च महान् कर्मबन्धः । जैनेन्द्रं च शास्त्रं पठित्वा श्रुत्वा पश्चाज्जल्पति न मया तत्पठितं, न तेनाहं ज्ञानीति किन्तु नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य-मीमांसा-धर्मकीर्त्यादिभ्यो मम बोधः संजात इति निर्ग्रन्थयतिभ्यः शास्त्रमवगम्यान्यान् प्रतिपादयति ब्राह्मणादीन्, कस्माल्लोकपूजाहेतोर्यदा मिथ्यादृष्टिरसौ तदाप्रभृति मन्तव्यः निह्नवदोषेणेति । सामान्ययतिभ्यो ग्रन्थं श्रुत्वा तीर्थंकरादीन् प्रतिपादयत्येवमपि निह्नवदोष इति ॥२८४॥

गाथार्थ—कुल, व्रत और शील से हीन व्यक्ति से सूत्र और अर्थ को ठीक से पढ़कर 'कुल, व्रत और शील से महान् व्यक्ति से मैंने पढ़ा है' ऐसा कहना निह्नव दोष है। ॥२८४॥

आचारवृत्ति—गुरु की संतति—परम्परा का नाम कुल है। हिंसा आदि पाँच पापों से विरति होना व्रत है। व्रतों के रक्षण आदि हेतु जो अनुष्ठान हैं उसे शील कहते हैं। इन कुल, व्रत और शील से जो हीन हैं, म्लान हैं वे कुल, व्रत और शील विहीन हैं। अर्थात् मठादिकों का पालन करने से अथवा अज्ञान आदि से गुरु सदोष होते हैं ऐसे गुरु के शिष्य यद्यपि ज्ञानी और तपस्वी हैं फिर भी वे शिष्य कुलहीन कहे जाते हैं। अथवा तीर्थंकर भगवान, गणधर देव और सप्तऋद्धि सम्पन्न महामुनियों से अतिरिक्त जो अन्य यतिगण हैं वे यहाँ पर कुल, व्रत और शील से विहीन माने गए हैं। उन कुलव्रतशील से विहीन यतियों से समीचीन शास्त्रों को समझकर, पढ़कर जो ऐसा कहते हैं कि 'मैंने कुल, व्रत और शील में महान् ऐसे गुरु से यह शास्त्र पढ़ा है' इस प्रकार से कहनेवाले उन मुनि के निह्नव नाम का दोष होता है। अपने आप में गर्व को धारण करते हुए मुनि के शास्त्र-निह्नव और गुरुनिह्नव दोष होता है और इससे महान् कर्मबन्ध होता है।

जिनेन्द्रदेव कथित शास्त्रों को पढ़कर या सुनकर पुनः यह कहना है कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है, उस शास्त्र से मैं ज्ञानी नहीं हुआ हूँ। किन्तु नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा बौद्ध गुरु धर्मकीर्ति आदि से मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ यतियों से शास्त्र समझकर अन्य का नाम, ब्राह्मण आदि का नाम प्रतिपादित करने लगता है।

ऐसा किसलिए ?

व्यंजनार्थोभयशुद्धिस्वरूपार्थमाह—

> **विजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं।**
> **पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥२८५॥***

व्यञ्जनशुद्धं, अक्षरशुद्धं पदवाक्यशुद्धं च द्रष्टव्यं देशामर्शकत्वात्सूत्राणां। अर्थविशुद्धं—अर्थसहितं। तदुभयविशुद्धं च व्यंजनार्थसहितं सूत्रमिति सम्बन्धः। प्रयत्नेन च व्याकरणज्ञानोपदेशेन वा जल्पन् पठन् प्रतिपादयन् वा ज्ञानविशुद्धो भवत्येषः। सिद्धांतादीनक्षरविशुद्धानर्थशुद्धान् ग्रंथार्थशुद्धांश्च पठन् वाचयन् प्रतिपादयंश्च ज्ञानविशुद्धो भवत्येषः। अक्षरादिव्यत्ययं न करोति यथा व्याकरण यथोपदेशं पठतीति ॥२८५॥

किमर्थं विनयः क्रियत इत्याह—

व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि और तदुभय शुद्धि का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—व्यंजन से शुद्ध, अर्थ से विशुद्ध और इन उभय से विशुद्ध सूत्र को प्रयत्न पूर्वक पढ़ते हुए यह मुनि ज्ञान से विशुद्ध होता है ॥२८५॥

आचारवृत्ति—व्यंजनशुद्ध—शब्द से अक्षरों से शुद्धि। पद और वाक्यों में शुद्धि को भी लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र देशामर्षक होते हैं अर्थात् सूत्र में एक अवयव का उल्लेख अनेक अवयवों के उल्लेख के लिए उपलक्षण रूप रहता है। अतः व्यंजनशुद्ध शब्द से अक्षर, पद और वाक्यों की शुद्धि को भी समझना चाहिए। उन सूत्रों का अर्थ शुद्ध समझना अर्थशुद्ध है। इन दोनों को शुद्ध पढ़ना तदुभयशुद्ध है। सूत्र का सम्बन्ध तीनों के साथ करना चाहिए, अर्थात् सूत्रों को अक्षर मात्रादिक से शुद्ध पढ़ना, उन का ठीक ठीक अर्थ समझना और सूत्र तथा अर्थ दोनों को सही पढ़ना। प्रयत्नपूर्वक व्याकरण के अनुसार अथवा गुरु के उपदेश के अनुसार इन सूत्र, अर्थ और उभय को पढ़ते हुए अथवा अन्य को वैसा प्रतिपादन करते हुए मुनि ज्ञान में विशुद्धि को प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह हुआ कि सिद्धांत आदि ग्रन्थों को अक्षर से शुद्ध, अर्थ से शुद्ध और ग्रन्थ तथा अर्थ इन दोनों से शुद्ध पढ़ता हुआ, उनकी वाचना करता हुआ और उनको प्रतिपादित करता हुआ मुनि ज्ञानविशुद्ध हो जाता है। वह अक्षर आदि का विपर्यय नहीं करता है, व्याकरण के अनुकूल और गुरु उपदेश के अनुकूल पढ़ता है। इस प्रकार से इन तीन शुद्धियों का अर्थात् छठी, सातवीं और आठवीं शुद्धियों का कथन किया गया है। यहाँ तक ज्ञानाचार के आठ भेद रूप आठ शुद्धियों का वर्णन हुआ।

किसलिए ज्ञान किया जाता है? सो ही बताते हैं—

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति में यह अधिक है—

> तित्थयरकहियं अत्थं गणहररचियं कदोणि अणुवादिदं।
> णिव्वाणहेदुभूदं सुत्तमहं णमिदरामि ॥

अर्थ—जो श्रुत तीर्थंकर के द्वारा अर्थरूप से कथित है, [illegible] है, और अन्य यतियों के द्वारा अनुवादित है अर्थात् [illegible] और जो निर्वाण के हेतु [illegible] है ऐसे सम्पूर्ण—[illegible] सूत्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि बिस्सरिदं।
तमुवट्ठादि[1] परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥२८६॥

विनयेन श्रुतमधीतं यद्यपि प्रमादेन विस्मृतं भवति तथापि परभवेऽन्यजन्मनि तत्सूत्रमुपतिष्ठते, केवलज्ञानं चावहति प्रापयति तस्मात्कालादिशुद्धया पठितव्यं शास्त्रमिति ॥२८६॥

ज्ञानाचारप्रबन्धमुपसंहरंश्चारित्राचारप्रबन्धं सूचयन्नाह—

णाणाचारो एसो णाणगुणसमण्णिदो मए वुत्तो।
एत्तो चरणाचारं चरणगुणसमण्णिदं वोच्छं ॥२८७॥

ज्ञानाचारो ज्ञानगुणसमन्वितो मयोक्तः। इत ऊर्ध्वं चरणाचारं चरणगुणसमन्वितं वक्ष्ये कथयिष्ये-ऽनुवदिष्यामीति। तेनात्मकर्तृत्वं परिहृतमाप्तकर्तृत्वं च ख्यापितं ॥२८७॥

[2]तथा प्रतिज्ञानिर्वहन्नाह—

पाणिवहमुसावाद-अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदी।
एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥२८८॥

गाथार्थ—विनय से पढ़ा गया शास्त्र यद्यपि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी वह परभव में उपलब्ध हो जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है ॥२८६॥

आचारवृत्ति—विनय से जो शास्त्र पढ़ा गया है, प्रमाद से यदि उसका विस्मरण भी हो जावे तो अन्य जन्म में वह सूत्र ग्रन्थ उपस्थित हो जाता है, स्मरण में आ जाता है। और वह पढ़ा हुआ शास्त्र केवलज्ञान को भी प्राप्त करा देता है। इसलिए काल आदि की शुद्धिपूर्वक शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

अब ज्ञानाचार के कथन का उपसंहार करते हुए और चारित्राचार के कथन की सूचना करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान गुण से सहित यह ज्ञानाचार मैंने कहा है। इससे आगे चारित्र गुण से सहित चारित्राचार को कहूँगा ॥२८७॥

आचारवृत्ति—ज्ञानगुण समन्वित ज्ञानाचार मैंने कहा। अब मैं चरण गुण से समन्वित चरणाचार को कहूँगा। यहाँ पर 'वक्ष्ये' क्रिया का अर्थ ऐसा समझना कि 'जैसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है उसी के अनुसार मैं कहूँगा।' इस कथन से यहाँ पर ग्रन्थकर्ता ने आत्मकर्तृत्व का परिहार किया है और आप्तकर्तृत्व को स्थापित किया है। अर्थात् इस ग्रन्थ में जो भी मैं कह रहा हूँ वह मेरा नहीं है किन्तु आप्त के द्वारा कहे हुए को मैं किंचित् शब्दों में कह रहा हूँ। इससे इस ग्रन्थ की प्रमाणता स्पष्ट हो जाती है।

उसी चारित्राचार को कहने की प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा और असत्य से तथा अदत्तवस्तुग्रहण, मैथुन और परिग्रह से विरत होना—यह पाँच प्रकार का चारित्राचार है ऐसा जानना चाहिए ॥२८८॥

---

१ क अणुट्ठादि। २ क यथा

प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहाणां विरतयो निवृत्तय एष चारित्राचारः पंचप्रकारो भवति ज्ञातव्यः। येन प्राण्युपघातो जायते तत्सर्वं मनसा वचसा कायेन च परिहर्तव्यं येनानृतं, येन च स्तैन्यं, येन मैथुनेच्छा, येन च परिग्रहेच्छा तत्सर्वं त्याज्यमिति ॥२८८॥

प्रथमव्रतप्रपंचनार्थमाह—

> एइंदियादिपाणा पंचविहावज्जभीरुणा सम्मं।
> ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ॥२८९॥

एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः, एकेन्द्रिया आदिर्येषां प्राणानां जीवानां त एकेन्द्रियादयः प्राणाः, ते कियन्तः पंचविधाः पंचप्रकारास्ते, खलु स्फुटं अवद्यभीरुणा सम्यग्विधानेन न हिंसितव्याः, मनसा वचसा कायेन च सर्वत्र पीडा न कर्तव्या न कारयितव्या नानुमन्तव्येति। सर्वस्मिन् काले, सर्वस्मिन् देशे सर्वस्मिन्वा भावे चेति ॥२८९॥

द्वितीयव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

> हस्सभयकोहलोहा मणिवचिकायेण सव्वकालम्मि।
> मोसं ण य भासिज्जो पच्चयघादी हवदि एसो ॥२९०॥

हास्यभयलोभक्रोधैर्मनोवाक्कायप्रयोगेण सर्वस्मिन् कालेऽतीतानागतवर्तमानकालेषु मृषावादं—

आचारवृत्ति—जीववध, असत्यभाषण, अदत्तग्रहण, मैथुनसेवन और परिग्रह से निवृत्त होना यह पांच प्रकार का चारित्राचार है। जिसके द्वारा प्राणियों का उपघात होता है उन सब का मन से, वचन से और काय से परिहार करना चाहिए। ऐसे ही, जिनसे असत्य बोलना होता है, जिनसे चोरी होती है, जिनसे मैथुन की इच्छा होती है और जिनसे परिग्रह की इच्छा होती है उन सभी कारणों का त्याग करना चाहिए।

अब प्रथम व्रत का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय आदि जीव पांच प्रकार के हैं। पापभीरु को सम्यक् प्रकार से मन-वचन-काय पूर्वक सर्वत्र उन जीवों की निश्चितरूप से हिंसा नहीं करना चाहिए ॥२८९॥

आचारवृत्ति—एक इन्द्रिय है जिनको वे एकेन्द्रिय हैं। यहां 'प्राण' शब्द से जीवों को लिया है। वे कितने हैं? पांच प्रकार के हैं। पापभीरु मुनि को स्पष्टतया, सम्यक् विधान से, उनकी हिंसा नहीं करना चाहिए। मन-वचन-काय से सर्वत्र अर्थात् सर्वकाल में, सर्वदेश में अथवा सभी भावों में इन जीवों को पीड़ित नहीं करना चाहिए, न कराना चाहिए और न करते हुए की अनुमोदना ही करना चाहिए—यह अहिंसा महाव्रत है।

द्वितीय व्रत का स्वरूप निरूपण करने हेतु कहते हैं—

परपीडाकरं वचनं नो वदेत्। यत एष मृषावादः प्रत्ययघाती भवतीति न कस्यापि विश्वासस्थानं जायते। अतो रागात्, क्रोधात्, भयाल्लोभाद्वा परपीडाकरं वस्तुयाथात्म्यविपरीतप्रतिपादकं वचनं मनसा न चिन्तयेत्, ताल्वादिव्यापारेण नोच्चारयेत्, कायेन नानुष्ठापयेदिति ॥२९०॥

अस्तेयव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

गामे णगरे रण्णे थूलं सचित्त बहु सपडिवक्खं।
तिविहेण वज्जिदव्वं अदिण्णगहणं च तण्णिच्चं ॥२९१॥

ग्रामो वृत्त्यावृतः। नगरं चतुर्गोपुरोद्भासि शालं। अरण्यं महाटवीगहनं। उपलक्षणमात्रमेतत्। तेन ग्रामे, नगरे, पत्तने, अरण्ये, पथि, खले, मटंबे, खेटे, कर्वटे, संवाहने, द्रोणमुखे, सागरे, द्वीपे, पर्वते, नद्यां चैवमादिष्वन्येष्वपि प्रदेशेषु स्थूलं सूक्ष्मं, सचित्तमचित्तं, बहु स्तोकं वा सप्रतिपक्षं द्रव्यं सुवर्णादिकं धनधान्यं वा द्विपदचतुष्पदजातं वा कांस्यवस्त्राभरणादिकं वा पुस्तिकाकपलिकानखरदनपिच्छिकादिकं वा, नष्टं वा विस्मृतं पतितं स्थापितं परसंगृहीतं त्रिविधेन मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतैर्वादत्तग्रहणं नित्यं तत्सर्वं वर्जितव्यं। अन्य-

---

रूप त्रिकाल में भी पर-पीड़ा उत्पन्न करनेवाले तथा वस्तु के यथावत् स्वरूप से विपरीत प्रतिपादक वचनों को मन में भी नहीं लावे, तालु आदि व्यापार से उनका उच्चारण नहीं करे और काय से उन असत्य वचनों का अनुष्ठान नहीं करे। अर्थात् सदैव मन-वचन-काय पूर्वक असत्य बोलनेवाला सर्वत्र विश्वास का पात्र नहीं रह जाता। यह द्वितीय महाव्रत हुआ।

अचौर्यव्रत का स्वरूप-निरूपण करने हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—ग्राम में, नगर में तथा अरण्य में जो भी स्थूल, सचित्त और बहुत तथा इनसे प्रतिपक्ष सूक्ष्म, अचित्त और अल्प वस्तु है, बिना दिए हुए उसके ग्रहण करने रूप उसका सर्वथा ही मन-वचन-कायपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥२९१॥

आचारवृत्ति—बाड़ से वेष्टित को ग्राम कहते हैं। चार गोपुरवाले परकोट से सहित को नगर कहते हैं। महाअटवी को अरण्य कहते हैं। ये उपलक्षण मात्र हैं। इससे ग्राम, नगर, पत्तन, अरण्य, मार्ग, खलिहान, मटम्ब, खेट, कर्वट, संवाहन, द्रोणमुख, सागर, द्वीप, पर्वत और नदी तथा अन्य और भी जो कोई प्रदेश—स्थान है उन सब में जो भी वस्तु है वह चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, सचित्त हो या अचित्त, बहुत हो या थोड़ी, अथवा सुवर्ण आदि द्रव्य हों या धनधान्य हों या द्विपद—दासी, दास, चतुष्पद—गौ, भैंस आदि हों, कांस्य के बर्तन आदि या वस्त्र आभरण आदि हों; या पुस्तक, कपलिका—कमण्डलु, नखकतरनी हों, या पिच्छिका आदि हों, इनमें से कोई वस्तु उन स्थानों में नष्ट हुई—किसी की खो गई हो, भूल से रह गई हो, किसी की गिर गई हो या किसी ने रखी हो या किसी अन्य के द्वारा संगृहीत हो—मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से इनमें से बिना दी हुई किसी भी वस्तु का जो ग्रहण है वह चोरी है। उसका सर्वथा ही त्याग करना चाहिए। अन्य भी जो कुछ इसी प्रकार का धन आदि, जो कि विरोध का कारण हो, उसकी भी इच्छा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह सब बिना दिया हुआ धनादि चोरी स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थान में कोई भी वस्तु कैसी भी क्यों न हो यदि वह उसके स्वामी द्वारा दी हुई नहीं है तो उसको

इत्येवमादिधनादिकं विरोधकारणं नेहितव्यं । सकलमेतददत्तं स्तेयस्वरूपमिति ॥२९१॥

चतुर्थव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

अच्चित्तदेवमाणुसतिरिक्खजादं च मेहुणं चदुधा ।
तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चंपि मुणी हि पयदमणो ॥२९२॥

अचित्तं चित्र-लेप-पुस्त-भांड-शैल-यंत्रादिकर्मनिर्वर्तितस्त्रीरूपाणि, भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासदेवस्त्रियः, ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रस्त्रियश्च, वडवागोमहिष्यादितिर्यञ्चश्च, एताभ्यो जातमुत्पन्नं चतुर्धा मैथुनं रागोद्रेकात्कामाभिलाषं त्रिविधेन मनोवचनकायकर्मभिः कृतकारितानुमतैस्तन्न सेवते । नित्यमपि मुनिः प्रयत्नमनाः । हि स्फुटं । स्वाध्यायपरो लोकव्यापाररहितः सर्वाः स्त्रीप्रतिमाः मातृदुहितृभगिनीवत् चिंतयेत् । नैकाकी ताभिः सहैकान्ते तिष्ठेत् । न वर्त्मनि गच्छेत् । न च रहसि मंत्रयेत् । नार्यैकाकी एकस्याः प्रतिक्रमणादिकं कुर्यात् । येन येन जुगुप्सा भवेत् तत्सर्वं त्याज्यमिति ॥२९२॥

पंचमव्रतप्रपंचनार्थमाह—

लेना चोरी है । उस चोरी का त्याग करना यह अचौर्य महाव्रत है ।

चतुर्थव्रत का स्वरूप निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अचेतन, देव, मनुष्य और तिर्यंच इन सम्बन्धी स्त्रियों से होने वाला चार प्रकार का जो मैथुन है, प्रयत्नचित्त वाले मुनि निश्चित रूप से, नित्य ही मनवचनकाय से उसका सेवन नहीं करते हैं ॥२९२॥

आचारवृत्ति—चित्र, लेप, पुस्त, भांड, शैल-यंत्र आदि के बने हुए स्त्री-रूप अचेतन हैं। अर्थात् वस्त्र, कागज, दीवाल आदि पर बने हुए स्त्रियों के चित्र, लेप से निर्मित स्त्रियों की मूर्तियाँ, सोने-पीतल आदि धातु तथा पाषाण आदि से निर्मित मूर्तियाँ या पत्थर पर उकेरे गये स्त्रियों के आकार ये सब अचेतन स्त्रीरूप हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देवों की देवांगनाएँ देवस्त्री हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनकी स्त्रियाँ मनुष्यस्त्री हैं और घोड़ी, गाय, भैंस आदि तिर्यंच तिर्यंचस्त्री हैं। इन चार प्रकार की स्त्रियों से उत्पन्न हुआ जो मैथुन है अर्थात् राग के उद्रेक से होनेवाली जो कामसेवन की अभिलाषा है, प्रयत्नमना मुनि नित्य ही मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से (अर्थात् ३ × ३ = ९ नव कोटि से) निश्चित ही इस मैथुन का सेवन नहीं करते हैं।

तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय में तत्पर हुए मुनि लोक-व्यापार से रहित होते हुए इन सभी स्त्रियों को माता, पुत्री और बहिन के समान समझें। एकाकी मुनि इन स्त्रियों के साथ एकान्त में नहीं रहे, न मार्ग में गमन करे और न एकान्त में इनके साथ किंचित् भी विचार-विमर्श करे। एकाकी हुआ एक आर्यिका के साथ प्रतिक्रमण आदि भी नहीं करे। कहने का सार यही है कि जिस-जिस व्यवहार से निन्दा होवे वह सब व्यवहार छोड़ देना चाहिए। यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

पाँचवें व्रत का स्वरूप कहते हैं—

गामं णगरं रण्णं थूलं सच्चित्त बहु सपडिवक्खं ।
अज्झत्थ बाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहं वज्जे ॥२९३॥

ग्रामं, नगरं, अरण्यं, पत्तनं, मटंवादिकं च । स्थूलं क्षेत्रगृहादिकं । सचित्तं दासीदासगोमहिष्यादिकं । बहुमनेकभेदभिन्नं । सप्रतिपक्षं सूक्ष्मं[1] चित्तकल्पं नेत्रचीनकौशेयद्रव्यमणिमुक्ताफलसुवर्णभाण्डादिकं । अध्यात्म मिथ्यात्व-वेद-राग-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-क्रोध-मान-माया-लोभात्मकं बहिःस्थं क्षेत्रवास्त्वादि दशप्रकारं । मनोवाक्कायकर्मभिः कृतकारितानुमतैः परिग्रहं श्रामण्यायोग्यं वर्जयेत् । सर्वथा मूर्च्छा त्याज्येति नैःसग्यं [नैःसंग्य-] माचरेत् ॥२९३॥

अथ महाव्रतानामन्वर्थव्युत्पत्ति प्रतिपादयन्नाह—

साहंति जं महत्थं आचरिदाणी य जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महव्वयाइं भवे ताइं ॥२९४॥

यस्मान्महार्थं मोक्षं साधयन्ति, यस्माच्च महद्भिस्तीर्थंकरादिभिराचरितानि सेवितानि, यतश्च स्वत एव महान्ति सर्वसावद्यत्यागात् ततस्तानि महाव्रतानि भवन्ति । न पुनः कपालादिग्रहणेनेति ॥२९४॥

गाथार्थ—ग्राम, नगर, अरण्य, स्थूल, सचित्त और बहुत तथा स्थूल आदि से उलटे सूक्ष्म, अचित्त, स्तोक ऐसे अंतरंग और बहिरंग परिग्रह को मन-वचन-काय से छोड़ देवे ॥२९३॥

आचारवृत्ति—ग्राम, नगर, वन, पत्तन, और मटंब आदि स्थूल अर्थात् खेत घर आदि; सचित्त—दासी, दास, गौ, महिषी आदि; बहु—अनेक भेदरूप; इनसे उलटे सूक्ष्म—नेत्र, चीनपट्ट, रेशम, द्रव्य, मणि, मोती, सोना और भांड—बर्तन आदि परिग्रह; अध्यात्म—अन्तरंग परिग्रह, मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चौदह प्रकार का है। बाह्य परिग्रह क्षेत्र वस्तु आदि भेद से दश प्रकार का है। उपर्युक्त ग्राम आदि भेद इन दश में ही सम्मिलित हो जाते हैं। मुनिपने के अयोग्य ऐसे इन चौबीस प्रकार के परिग्रह का मुनि मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदनारूप (३ × ३ = ९ नव कोटि) से त्याग कर देवे। अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है, उस मूर्च्छा का सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार से निःसंग प्रवृत्ति का आचरण करना चाहिए।

अब महाव्रतों की अन्वर्थ व्युत्पत्ति प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—जिस हेतु से ये महान् पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं और जिस हेतु से ये महापुरुषों के द्वारा आचरण में लाये गए हैं और जिस हेतु से ये महान् हैं उसी हेतु से ये महाव्रत कहलाते हैं ॥२९४॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से ये महान् मोक्ष को सिद्ध करते हैं, जिस कारण से तीर्थंकर आदि महापुरुषों के द्वारा सेवित हैं और जिस कारण से ये स्वतः ही महान् हैं क्योंकि ये सर्वसावद्य के त्यागरूप हैं उसी कारण से ये महाव्रत कहलाते हैं। किन्तु कपाल आदि पात्रों को ग्रहण करने से कोई महान् नहीं होते हैं। अर्थात् कपाल आदि का जैनागम में निषेध है वे महाव्रत के साधन नहीं हैं अपितु उपर्युक्त अर्थ ही महाव्रत का अन्वर्थ है।

---

1 क "सूक्ष्मं चित्तवल्पं"।

अथ रात्रिभोजननिवृत्त्यादिनिरूपणोत्तरप्रबन्धः किमर्थं इति पृष्टेऽत आह—

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती[1]।
अट्ठय पवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ ॥२९५॥

तेषामेव महाव्रतानां रक्षणार्थं रात्रिभोजननिवृत्तिः। रात्रौ भोजनं तस्य निवृत्तिः रात्रिभोजननिवृत्तिः। बुभुक्षितोऽपि भोजनकालेऽतिक्रान्ते नैवाहारं चिन्तयति। नाप्युदकादिकं। अष्टौ प्रवचनमातृका-पंच समितयस्तिस्रो गुप्तयः। भावनाश्च सर्वाः पंचविंशतयः महाव्रतानां पालनाय वक्ष्यन्त इति ॥२९५॥

यते रात्रौ भोजनक्रियायां प्रविशतो दोषानाह—

तेसिं पंचण्हं पि य ण्हयाणमावज्जणं च संका वा।
आदविवत्ती अ हवे रादीभत्तप्पसंगेण ॥२९६॥

तेषां पंचानामप्यह्नवानां व्रतानामागमनमासमन्तात्वर्जनं भंगः म्लानता, आशङ्का वा लोकस्य

रात्रिभोजननिवृत्ति आदि निरूपण के लिए जो उत्तरप्रबन्ध है वह किसलिए है? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—उन ही व्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन का त्याग, आठ प्रवचन मातृकाएँ और सभी भावनाएँ हैं ॥२९५॥

आचारवृत्ति—उन्हीं ही पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन-त्याग व्रत है। मुनि क्षुधा से पीड़ित होते हुए भी भोजनकाल निकल जाने पर आहार का विचार नहीं करते हैं। प्रवचन-मातृका आठ हैं—पाँच समिति और तीन गुप्ति। सभी भावनाएँ पच्चीस हैं। महाव्रतों के पालन हेतु इन सबको आगे कहेंगे।

यदि मुनि रात्रि में भोजन के लिए प्रवेश करते हैं तो क्या दोष आते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—रात्रिभोजन के प्रसंग से उन पाँचों व्रतों में भी मलिनता अथवा आशंका और अपने पर विपत्ति भी हो जाती है ॥२९६॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि रात्रि में भोजन के लिए निकलते हैं तो उन पाँचों भी अह्नव—व्रतों में सब तरह से भंग, म्लानता—मलिनता हो जाती है। अथवा लोगों को आशंका हो सकती है कि यह दीक्षित हुए मुनि किसलिए यहाँ रात्रि में प्रवेश करते हैं। क्योंकि ये चोरी के लिए आ रहे हैं या व्यभिचार के लिए आ रहे हैं इत्यादि आशंकाएँ भी लोगों के मन में उठने लगेंगी। गृहस्थों की विपत्ति अथवा स्वयं को भी विपत्तियाँ आ सकती हैं। अर्थात् ठूंठ लग जाने से, पशुओं के मारने से, चोरों के द्वारा मार देने से या कुत्ते के भौंकने से—काट लेने से या कोतवाल द्वारा पकड़ लिए जाने आदि के प्रसंगों से अपने पर संकट भी आ सकता है। इसलिए रात्रिभोजन का त्याग कर देना चाहिए।

---

1 'णियत्ती' इत्यपि पाठः।

किमितिहृत्वायं प्रव्रजितो रात्रौ प्रविष्टो दुरारेकः स्यात्। गृहस्थानामात्मविपत्तिरपि भवेत्। श्वानुक्कुटिह-चोरजारमेषनगररक्षकादिभ्यो रात्रिभक्तप्रसंगेन रात्रावाहारार्थं पर्यटतस्तस्माद्रात्रिभोजनं त्याज्यमिति।

पंचविधमाचारं व्याख्याय समित्यादिद्वारेणाष्टविधं व्याख्यातुकामः प्राह—

पणिधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
एस चरित्ताचारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ॥२९७॥

प्रणिधानं परिणामस्तेन योगः सम्पर्कः प्रणिधानयोगः। युक्तो न्याय्यः शोभनमनोवाक्कायप्रवृत्तः। पंचसमितिषु त्रिषु गुप्तिषु। एष चारित्राचारोऽष्ट विधो भवति ज्ञातव्यः। महाव्रतभेदेन पंचप्रकारः आचारः।

विशेष—मुनियों के लिए रात्रिभोजन त्याग को अन्यत्र आचार्यों ने छठा अणुव्रत नाम दिया है। यथा, मुनियों के जो दैवसिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण हैं वे गौतमस्वामीकृत हैं। उनके विषय में टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य ने ऐसा कहा है कि "श्रीगौतम स्वामी मुनियों को दुःषमकाल में दुष्परिणाम आदि के द्वारा प्रतिदिन उपार्जित कर्मों की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण लक्षण उपाय को कहते हुए उसके आदि में मंगल हेतु इष्ट देवता विशेष को नमस्कार करते हैं—"[1]

इन प्रतिक्रमणों में स्थल-स्थल पर छठे अणुव्रत का उल्लेख है। जैसे कि "आहावरे छट्ठे अणुव्वदे सव्वं भंते। राइभोयणं पच्चक्खामि जावज्जीवं।"[2]

अकलंक देव पाँच व्रतों के वर्णन करनेवाले सूत्र के भाष्य में कहते हैं—

"रात्रिभोजन विरति को यहाँ पर ग्रहण करना चाहिए क्योंकि वह भी छठा अणुव्रत है? उत्तर देते हैं—नहीं, क्योंकि अहिंसाव्रत की भावनाओं में वह अन्तर्भूत हो जाता है।" इत्यादि।

कहने का मतलब यही है कि इस व्रत को छठा अणुव्रत कहा गया है। इसे अणुव्रत कहने का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि भोजन का सर्वथा त्याग न होकर रात्रि में ही है। अतएव 'अणुव्रत' संज्ञा सार्थक है।

पाँच प्रकार के आचार महाव्रत का व्याख्यान करके अब समिति आदि के द्वारा अष्टविध प्रवचनमातृका को कहने के इच्छुक आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच समिति और तीन गुप्तियों में शुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप यह चारित्राचार आठ प्रकार का है ऐसा जानना चाहिए॥२९७॥

आचारवृत्ति—प्रणिधान परिणाम को कहते हैं। उसके साथ योग—संपर्क सो प्रणिधानयोग है। युक्त का अर्थ न्यायरूप है। अर्थात् शोभन मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को प्रणिधान-योग युक्त कहा है। पाँच समिति और तीन गुप्तियों में जो शुभ परिणाम युक्त प्रवृत्ति है सो यह

---

1. श्रीगौतमस्वामी मुनीनां दुःषमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमण-लक्षणमुपायं विदधानः [प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी]

2. पाक्षिकप्रतिक्रमण।

अथवा समितिगुप्तिविषयपरिणामभेदेनाष्टप्रकारो न्याय्य आचार इति ॥२९७॥

अथ युक्त इति विशेषणं किमर्थमुपात्तमित्याशंकायामाह—

पणिधाणंपि य दुविहं पसत्थ तह अप्पसत्थं च।
समिदीसु य गुत्तीसु य पसत्थ सेसमप्पसत्थं तु ॥२९८॥

प्रणिधानमपि द्विप्रकारं। प्रशस्तं शुभं। तथाऽप्रशस्तमशुभमिति। समितिषु गुप्तिषु प्रशस्तं प्रणिधानं। तथा शेषमप्रशस्तमेव। सम्यगयनं जीवपरिहारेण मार्गोद्योते धर्मानुष्ठानाय गमनं प्रयत्नपरस्य चेष्टा सा समितिः। अशुभमनोवाक्कायानां गोपनं स्वाध्यायध्यानपरस्य मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्गुप्तिः। एतासु यत्प्रणिधानं स युक्तोऽष्टप्रकारश्चारित्राचार इति। शेषं पुनर्यदप्रशस्तं प्रणिधानं तद्द्विविधमिन्द्रियनोइन्द्रियभेदेन ॥२९८॥

इन्द्रियप्रणिधानस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इदरे य।
जं रागदोसगमणं पंचविहं होइ पणिधाणं ॥२९९॥

आठ प्रकार का चारित्राचार है। और, महाव्रत के भेद से पाँच प्रकार का आचार अथवा समिति गुप्ति विषयक परिणाम के भेद से आठ प्रकार का यह न्याय रूप आचार है।

भावार्थ—चारित्राचार के पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ऐसे तेरह भेद होते हैं। उन्हें ही यहाँ पर पृथक्-पृथक् कहा है।

यहाँ 'युक्त' यह विशेषण किसलिए ग्रहण किया है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—प्रणिधान के भी दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। समितियों और गुप्तियों में तो प्रशस्त है और शेष प्रणिधान अप्रशस्त है ॥२९८॥

आचारवृत्ति—प्रशस्त—शुभ और अप्रशस्त—अशुभ के भेद से प्रणिधान भी दो प्रकार का है। समिति और गुप्ति में प्रशस्त प्रणिधान है तथा शेष प्रणिधान अप्रशस्त ही है। सम्यक् प्रकार से अयन अर्थात् गमन को या प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। अर्थात् जीवों के परिहारपूर्वक जैनमार्ग के प्रकाश में, प्रयत्न में तत्पर हुए यति का धर्मानुष्ठान के लिए जो गमन है या प्रवृत्ति है वह समिति है। गोपनं गुप्तिः अर्थात् अशुभ मन-वचन-काय को गोपन करना गुप्ति है। स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर यति के जो मन-वचन-काय का संवृत करना या निरुन्धित करना—रोकना है वह गुप्ति है। इन पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में जो प्रणिधान है वह युक्त अर्थात् न्यायरूप है, प्रशस्त है वही आठ प्रकार का चारित्राचार है।

पुनः शेष जो अप्रशस्त प्रणिधान है वह इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के भेद से दो प्रकार का है।

मनोनोइन्द्रियप्रणिधानं। सर्वमेतदिन्द्रियप्रणिधानं नोइन्द्रियप्रणिधानं चाप्रशस्तमयुक्तं वर्जयेत् वर्जनीय-मिति ॥३००॥

समितिगुप्तिविषयः प्रणिधानयोगोऽष्टविध आचारोक्त[1] इति प्रतिपादितं ततः काः समितयो गुप्तयश्चेत्याशंकायामाह—

णिक्खेवणं च गहणं इरियाभासेसणा य समिदीओ।
पदिठावणियं च तहा उच्चारादीणि पंचविहा ॥३०१॥

निक्षेपणं निक्षेपः पुस्तिकाकुण्डिकादिद्रव्यस्थापनं। तेनैव ग्रहणमादानं समीक्ष्य, सैवादान-निक्षेपणसमितिः। धर्मार्थिनो यत्नपरस्य गमनमीर्यासमितिः। सावद्यरहितभाषणं भाषासमितिः कृतकारितानु-मतरहिताहारादानमेषणासमितिः। समितिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। उच्चारादीनां मूत्रपुरीषादीनां प्रासुक-प्रदेशे प्रतिष्ठापनं त्यागः प्रतिष्ठापनासमितिः। इत्येवं पंचविधा समितिरिति ॥३०१॥

तत्र तावदीर्यासमितिस्वरूपप्रपंचनार्थमाह—

कषायों के विषय में जो मन का प्रणिधान अर्थात् व्यापार है वह नोइन्द्रिय-प्रणिधान है तथा जो हास्य आदि नोकषायों में मन का व्यापार है वह भी नोइन्द्रिय-प्रणिधान है।

पूर्वकथित इन्द्रिय-प्रणिधान और यहां पर कथित नोइन्द्रिय-प्रणिधान, ये दोनों ही अप्रशस्त होने से अयुक्त हैं इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि पांचों इन्द्रियों के विषयों में जो राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है और क्रोधादिक विषयों में जो मन की प्रवृत्ति होती है यह सब अशुभ है इसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

समिति और गुप्ति के विषय में जो प्रणिधानयोग—शुभ परिणाम की प्रवृत्ति है वह आठ प्रकार का आचार कहा गया है ऐसा आपने प्रतिपादन किया। पुनः, ये समितियां और गुप्तियां कौन-कौन हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा तथा निक्षेपणग्रहण और मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन ये समितियां पांच प्रकार की हैं ॥३०१॥

आचारवृत्ति—यत्न में तत्पर हुए धर्मार्थी अथवा धर्म की इच्छा रखते हुए मुनि का गमन ईर्यासमिति है। सावद्यरहित वचन बोलना भाषा समिति है। कृत, कारित अनुमोदना से रहित आहार का ग्रहण करना एषणा समिति है। पुस्तक, कमण्डलु आदि का देखकर शोधकर रखना तथा उन्हें ग्रहण करना आदान-निक्षेपण समिति है। मलमूत्र का प्रासुक स्थान में प्रतिष्ठापन—त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है। इस तरह पांच प्रकार की समिति होती है।

अब पहले ईर्या समिति के स्वरूप को विस्तार से कहते हैं—

---

१ क [illegible]

मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहि इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥३०२॥

मग्ग—मार्गः पन्थाः। उज्जोव—उद्योतश्चक्षुरादित्यप्रकाशादि। उवओग—उपयोगो ज्ञानदर्शनविषयो यत्नः। आलंबण—देववन्दनादिनिर्ग्रन्थवन्दनधर्मादिकारणं। सुद्धी—शुद्धयः [illegible] भिः ईर्यतो गच्छतो मुनेः सूत्रानुवीच्या प्रायश्चित्तादिसूत्रानुसारेण प्रवचने ईर्यासमितिर्भणिता गणधरदेवादि-भिर्भणितेति शेषः ॥३०२॥

तावद्गमनं विचारयन्नुत्तरमाहेति—

इरियावहपडिवण्णेणवलोगंतेण होदि गंतव्वं।
पुरदो जुगप्पमाणं सयापमत्तेण संतेण ॥३०३॥

[illegible] प्रयोजनेन वोदिते सवितरि [illegible] ईर्या-पथमार्गं प्रतिपन्नेन [illegible]

गाथार्थ—मार्ग में प्रकाश, उपयोग और अवलम्बन की शुद्धि से गमन करते हुए मुनि के सूत्र के अनुसार आगम में ईर्या समिति कही गयी है ॥३०२॥

आचारवृत्ति—चलने का रास्ता मार्ग है। चक्षु से देखना और सूर्य का प्रकाश होना आदि उद्योत है। ज्ञानदर्शन विषयक प्रयत्न उपयोग है और देववन्दना, निर्ग्रन्थ साधुओं की वन्दना एवं धर्म आदि का निमित्त होना आलम्बन है। इनकी शुद्धियाँ अर्थात् आगम के अनुकूल प्रवृत्तियाँ होना चाहिए।

इन मार्ग शुद्धि, प्रकाश शुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलम्बन शुद्धि के द्वारा जो मुनि प्रायश्चित्तादि सूत्र के अनुसार गमन करते हैं उसे ही प्रवचन में गणधर देव आदि महर्षियों ने ईर्या समिति कहा है।

अब अगली गाथा द्वारा गमन के विषय में विचार करते हैं—

गाथार्थ—ईर्यापथपूर्वक हमेशा प्रमादरहित होते हुए चार हाथ प्रमाण भूमि को सामने देखते हुए चलना चाहिए ॥३०३॥

यद्यपि देवतादिप्रतिरूपं स्थापनया स्थापितं। तथा च देवदत्तादिनाम। न हि तत्र देवतादिस्वरूपं विद्यते। नापि तं (?) देवैर्दत्तोऽसौ। तथापि व्यवहारनयापेक्षया स्थापनासत्यं, नामसत्यं च सत्यमित्युच्यते सद्भिरिति। अर्हत्प्रतिमा-सिद्धप्रतिमादि तथा नागयक्षेन्द्रादिप्रतिमाश्च तत्सर्वं स्थापनासत्यं। तथा देवदत्त इन्द्रदत्तो यज्ञदत्तो विष्णुमित्र इत्येवमादिवचनं नामसत्यमिति। तथा वर्णेनोत्कृष्टतरेति श्वेता बलाका। यद्यपि तस्यान्यानि रक्तादीनि सम्भवन्ति रूपाणि, तथापि श्वेतेन वर्णेनोत्कृष्टतरा बलाका, अन्येषामविवक्षितत्वादिति रूपसत्यं द्रव्यार्थिकनयापेक्षया वाच्यमिति ॥३१०॥

अण्णं अपेक्खसिद्धं पडुच्चसच्चं जहा हवदि दिग्घं।
ववहारेण य सच्चं रज्झदि कूरो जहा लोए ॥३११॥

अन्यद्वस्तुजातमपेक्ष्य किंचिदुच्यमानं प्रतीत्यसत्यं भवति। यथा दीर्घोऽयमित्युच्यते। वितस्तिमात्राद्धस्तमात्रं दीर्घं तथा द्विहस्तमात्रात्पंचहस्तमात्रं। पंचहस्तमात्राद्दशहस्तमात्रं। एवं यावन्मेरुमात्रं। तथैव (व)

आचारवृत्ति—यद्यपि देवता आदि की प्रतिमाएँ स्थापना निक्षेप के द्वारा स्थापित की गई हैं। उसी प्रकार से देवदत्त आदि नाम रखे जाते हैं। उनमें देवता आदि का स्वरूप विद्यमान नहीं है और न ही देवदत्त आदि पुरुष देवों के द्वारा दिये गये हैं। फिर भी, व्यवहार नय की अपेक्षा से सज्जन पुरुषों द्वारा वे स्थापनासत्य और नामसत्य कहे जाते हैं। अर्थात् अर्हन्त प्रतिमा, सिद्ध प्रतिमा आदि तथा नागयक्ष की प्रतिमा और इन्द्र की प्रतिमा आदि जो हैं वे सभी स्थापना-सत्य हैं। तथा देवदत्त, इन्द्रदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र इत्यादि प्रकार के वचन नाम सत्य हैं अर्थात् देवदत्त को देव ने नहीं दिया है, इन्द्रदत्त को इन्द्र ने नहीं दिया है इत्यादि; फिर भी नामकरण से उन्हें उसी नाम से जाना जाता है।

उसी प्रकार से वर्ण से उत्कृष्टतर होने से बगुला को सफेद कहते हैं। यद्यपि उस बगुला में लाल पीला, काला आदि आदि अन्य अनेक रूप सम्भव हैं, फिर भी श्वेत वर्ण इसमें उत्कृष्टतर होने से इसे श्वेत कहते हैं, क्योंकि अन्य वर्ण वहाँ पर अविवक्षित हैं इसलिए यह रूपसत्य द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से वाच्य है।

विशेषार्थ—किसी वस्तु में यह वही है ऐसी स्थापना स्थापनासत्य है, जैसे पाषाण की प्रतिमा में यह महावीर प्रभु हैं। किसी में जाति आदि गुण की अपेक्षा न करके नाम रख देना यह नाम सत्य है; जैसे किसी बालक का नाम आदीश कुमार रखा जाना। किसी वस्तु में अनेक वर्ण होने पर भी उसमें जो प्रधान है, अधिक है उसी की अपेक्षा रखना यह रूपसत्य है जैसे बगुला सफेद होता है। यहाँ तीन प्रकार के सत्य का वर्णन हुआ।

गाथार्थ—अन्य की अपेक्षा करके जो सिद्ध हो वह प्रतीति सत्य है, जैसे यह दीर्घ है। व्यवहार से वचन व्यवहार सत्य है, जैसे भात पकाया जाता है ऐसा कथन लोक में देखा जाता है ॥३११॥

आचारवृत्ति—अन्य वस्तु की अपेक्षा करके जो कुछ कहा जाता है वह प्रतीत्य सत्य है, जैसे किसी ह्रस्व की अपेक्षा करके कहना कि यह दीर्घ है। एक वितस्ति के प्रमाण से एक हाथ दीर्घ है, उसी प्रकार से दो हाथ प्रमाण से पाँच हाथ का प्रमाण बड़ा है और पाँच हाथ मात्र से दस हाथ का प्रमाण बड़ा है, इस प्रकार से मेरुपर्वत तक भी जान लेना चाहिए और व्यवहार

आमंतणि आणवणी जायणिसंपुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा छट्ठी इच्छाणुलोमा य ॥३१५॥
संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा।
णवमी अणक्खरगया असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ॥३१६॥

आमंत्र्यतेऽनयामंत्रणी। गृहीतवाच्यवाचकसंबन्धो व्यापारान्तरं प्रत्यभिमुखी क्रियते यया सामंत्रणी भाषा। यथा हे देवदत्त इत्यादि। आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञापनी। आज्ञां तवाहं ददामीत्येवमादि वचनमाज्ञापनी भाषा। याच्यतेऽनया याचना। यथा याचयाम्यहं त्वां किंचिदिति। पृच्छ्यतेऽनयेति पृच्छना। यथा पृच्छाम्यहं त्वामित्यादि। प्रज्ञाप्यतेऽनयेति प्रज्ञापना। यथा प्रज्ञापयाम्यहं त्वामित्यादि। प्रत्याख्यायतेऽनयेति प्रत्याख्याना यथा प्रत्याख्यानं मम दीयतामित्यादि भाषाभिमिति: सर्वत्र संबन्धः। इच्छया 'लोमानुकूलेच्छा'लोमा सर्वथानुकूला। यथा एवं करोमीत्यादि ॥३१५॥

संशयमव्यक्तं वक्तीति संशयवचनी। संशयार्थप्रकाशनानभिव्यक्तार्था यस्मादनक्षरात्संदेहरूपोऽर्थो न प्रतीयते तद्वचनं संशयवचनी भाषेत्युच्यते। यथा दन्तरहितातिबालातिवृद्धवचनं, महिष्यादीनां च शब्दः।

गाथार्थ—आमन्त्रण करनेवाली, आज्ञा करनेवाली, याचना करनेवाली, प्रश्न करनेवाली, प्रज्ञापन करनेवाली, प्रत्याख्यान करानेवाली छठी भाषा और इच्छा के अनुकूल बोलने वाली भाषा सातवीं है।

उसी प्रकार संशय को कहनेवाली असत्यमृषा भाषा आठवीं है तथा नवमी अनक्षरी भाषा रूप असत्यमृषा भाषा देखी गई है ॥३१५-३१६॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा आमन्त्रण किया जाता है वह आमन्त्रणी भाषा है। जिसने वाच्य-वाचक सम्बन्ध जान लिया है उस व्यक्ति को अन्य कार्य से हटाकर अपनी तरफ उन्मुख करना आमन्त्रणी भाषा है। जैसे, हे देवदत्त! इत्यादि सम्बोधन वचन बोलना। इस शब्द से वह देवदत्त अन्य कार्य को छोड़कर बुलानेवाले की तरफ उन्मुख होता है।

जिसके द्वारा आज्ञा दी जाती है वह आज्ञापनी भाषा है। जैसे, 'मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ।' इत्यादि वचन बोलना।

जिसके द्वारा याचना की जाती है वह याचनी भाषा है। जैसे, 'मैं तुमसे कुछ माँगता हूँ।'

जिसके द्वारा प्रश्न किया जाता है वह पृच्छना है। जैसे, 'मैं आपसे पूछता हूँ' इत्यादि।

जिसके द्वारा प्रज्ञापना की जाये वह प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे, 'मैं आपसे कुछ निवेदन करता हूँ' इत्यादि।

जिसके द्वारा कुछ त्याग किया जाता है वह प्रत्याख्यानी है। जैसे, 'मुझे प्रत्याख्यान दीजिए' इत्यादि।

---

१ क [illegible]। २ क [illegible]।

प्रतीयन्ते तेन न मृषा, अर्थः सन्दिग्धो न प्रतीयते तेन न सत्या। यथा शब्दमात्रं प्रतीयते तेन न मृषा, अक्षरार्थस्य चाप्रतीतेर्न सत्येति। अनेन न्यायेन नवप्रकारा असत्यमृषाभाषा व्याख्यातेति ॥३१६॥

पुनरपि यद्वचनं सत्यमुच्यते तदर्थमाह—

सावज्जजोग्गवयणं वज्जंतोऽवज्जभीरु गुणकंखी।
सावज्जवज्जवयणं णिच्चं भासेज्ज भासंतो ॥३१७॥

यदि मौनं कर्तुं न शक्नोति तत एवं भाषेत—सावद्यं सपापमयोग्यं चकारमकारादिपूर्वं वचः वर्जयेत्। अवद्यभीरुः पापभीरुः। गुणाकांक्षी हिंसादिदोषवर्जनपरः। सावद्यवर्जं वचनं नित्यं सर्वकालं भाषमाणः भाषेत्। अन्वयव्यतिरेकेण वचनमेतत्। नैतस्य पौनरुक्त्यं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहपरत्वादिति ॥३१७॥

अशनसमितिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

अक्षर संदिग्ध प्रतीति में आ रहे हैं इसलिए असत्य भी नहीं है और अर्थ संदिग्ध होने से स्पष्ट प्रतीति में नहीं आता है इसलिए सत्य भी नहीं है। अर्थात् शब्द मात्र तो प्रतीति में आ रहे हैं इसलिए असत्य नहीं है और अक्षरों का अर्थ प्रतीति में नहीं आ रहा है इसलिए सत्य भी नहीं है। इस न्याय से नव प्रकार की असत्यमृषा भाषा का व्याख्यान किया गया है। भाषा-समिति में इन वचनों को बोलना वर्जित नहीं है।

पुनरपि जो वचन सत्य कहे जाते हैं उन्हीं को बताते हैं—

गाथार्थ—पापभीरु और गुणाकांक्षी मुनि सावद्य और अयोग्य वचन को छोड़ता हुआ तथा नित्य ही पाप योग से वर्जित वचन बोलता हुआ वर्तता है ॥३१७॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि मौन नहीं कर सकता है तो इस प्रकार से बोले—पाप सहित वचन और चकार मकार आदि सहित अर्थात् 'पे', 'मू' आदि शब्द अथवा गाली-गलौज आदि अयोग्य शब्द से युक्त वचन नहीं बोले। पापभीरु और गुणों का आकांक्षी अर्थात् हिंसादि दोषों के वर्जन में तत्पर होता हुआ मुनि यदि बोले तो हमेशा ही उपर्युक्त दोष रहित सत्य वचन बोले। यह अन्वय और व्यतिरेक रूप से कहा गया है इसलिए इसमें पुनरुक्त दोष नहीं आता है क्योंकि द्रव्यार्थिकनयापेक्षी और पर्यायार्थिकनयापेक्षी शिष्यों के प्रति अनुग्रह करना ही गुरुओं का कार्य है।

विशेष—पहले जो दस प्रकार के सत्य और नव प्रकार के अनुभय वचन बताये और उनके बोलने का आदेश दिया था, वो अन्वय रूप कथन है अर्थात् विधिरूप कथन है और यहाँ पर सावद्य और अयोग्य वचनों का त्याग कराया गया, यह व्यतिरेक अर्थात् निषेधरूप कथन है। द्रव्यार्थिक नयापेक्षी शिष्य एक प्रकार के कथन से ही दूसरे प्रकार का बोध कर लेते हैं किन्तु पर्यायार्थिक नयापेक्षी शिष्यों को विस्तार से कहना पड़ता है।

अब एषणासमिति का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—

कृत्वा घटिकाद्वयेऽतिक्रान्ते श्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं स्वाध्यायं गृहीत्वा वाचनापृच्छनानुप्रेक्षापरिवर्तनादिकं सिद्धान्तादेर्विधाय घटिकाद्वयमप्राप्ते[1] मध्याह्नादारात् स्वाध्यायं श्रुतभक्तिपूर्वकमुपसंहृत्य वसतितो[1] दूरतो मूत्रपुरीषादीन् कृत्वा पूर्वापरकायविभागमवलोक्य हस्तपादादिप्रक्षालनं विधाय कुण्डिकां पिच्छिकां गृहीत्वा मध्याह्नदेववन्दनां कृत्वा पूर्वोदरपूरकान् भिक्षाहारान् काकादिबलीनन्यानपि लिंगिनो भिक्षावेलायां ज्ञात्वा प्रशान्ते धूममुसलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः। तत्र गच्छन्नातिद्रुतं, न मन्दं, न विलम्बितं गच्छेत्। ईश्वरदरिद्रादिकुलानि न विचिन्तयेत्। न वर्त्मनि जल्पेत्तिष्ठेत्। हास्यादिकान् विवर्जयेत्। नीचकुलेषु न प्रविशेत्। सूतकादिदोषदूषितेषु शुद्धेष्वपि कुलेषु न प्रविशेत्। द्वारपालादिभिर्निषिद्धो न प्रविशेत्। यावन्तं प्रदेशमन्ये भिक्षाचराः प्रविशन्ति तावन्तं प्रदेशं प्रविशेत्। विरोधनिमित्तानि स्थानानि वर्जयेत्। दुष्टखरोष्ट्रमहिषगोहस्तिसर्पादीन् दूरतः परिवर्जयेत्। मत्तोन्मत्तमदावलिप्तान् सुदूरं वर्जयेत्। स्नानविलेपनमण्डनरतिक्रीडाप्रसक्ता योषितो नाव-

---

सूर्योदय होने पर देववन्दना करके दो घड़ी (४८ मिनट) के बीत जाने पर श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके सिद्धान्त आदि ग्रन्थों की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और परिवर्तन आदि करके मध्याह्न काल से दो घड़ी पहले श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर देवे। पुनः वसतिका से दूर जाकर मल-मूत्र आदि विसर्जित करके अपने शरीर के पूर्वापर अर्थात् आगे-पीछे के भाग का अवलोकन—पिच्छिका से परिमार्जन करके हस्तपाद आदि का प्रक्षालन करके मध्याह्नकाल की देववन्दना—सामायिक करे अर्थात् मध्याह्न के पहले दो घड़ी जो शेष रही थी उसमें सामायिक करे। पुनः जब बालक भोजन करके निकलते हैं, काक आदि को बलि (दाने आदि) भोजन डाला जाता है और भिक्षा के लिए अन्य सम्प्रदायवाले साधु भी विचरण कर रहे होते हैं, तथा गृहस्थों के घर में धुआँ और मूसल आदि शब्द शान्त हो चुका होता है अर्थात् भोजन बनाने का कार्य पूर्ण हो चुका होता है, इन सब कारणों से मुनि आहार की वेला जानकर गोचरी के लिए निकले।

उस समय चलते हुए न ही अधिक जल्दी-जल्दी और न अधिक धीरे-धीरे तथा न ही विलम्ब करते हुए चले। धनी और निर्धन आदि के घरों का विचार-भेदभाव न करे। न मार्ग में किसी से बात करे और न ठहरे अर्थात् आहार के लिए निकल कर आहार-ग्रहण कर लौटने तक मौन रहे। मार्ग में हास्य आदि भी न करे, हँसते हुए या अन्य कोई चेष्टा करते हुए न चले। नीच कुलों के घर में प्रवेश न करे और सूतक, पातक आदि दोषों से दूषित शुद्ध कुल वाले घरों में भी नहीं जावे। द्वारपाल आदि के द्वारा रोके जाने पर वहाँ प्रवेश न करे। जितने प्रदेश—स्थान तक अन्य लोग भिक्षा के लिए प्रवेश करते हैं, मुनि भी उतने प्रदेश तक प्रवेश करे। जिन स्थानों से आहारार्थ जाने का निषेध है उन स्थानों को छोड़ देवें। दुष्टजन, गधे, ऊँट, भैंस, बैल, सर्प आदि जीवों से दूर से ही छोड़ देवें अर्थात् उनसे दूर से बचकर निकलें। मत्त अर्थात् शराब [illegible] मदिरा आदि से उन्मत्त या मदोन्मत्त [illegible] को भी बिल्कुल छोड़ देवें। स्नान, विलेपन, मण्डन अर्थात् [illegible] रति-क्रीड़ा में आसक्त हुई स्त्रियों का अवलोकन न करे।

[illegible]

१ क [illegible]

आदाने ग्रहणे। निक्षेपे त्यागे। प्रतिलेख्य सुष्ठु निरीक्ष्य चक्षुषा पश्चात्पिच्छिकया सम्मार्ज्य प्रतिलेखयेत्। द्रव्यं द्रव्यस्थानं च। कवलिका कुण्डिकादि द्रव्यं, यत्र तद्व्यवस्थितं तत्स्थानं। संयमलाभाय भिक्षुरिति। श्रामण्ययोग्यवस्तुनो ग्रहणकाले निक्षेपकाले वा चक्षुषा द्रव्यं द्रव्यस्थानं च प्रतिलेख्य पिच्छिकया सम्मार्जयेदिति ॥३१९॥

येन प्रकारेणादाननिक्षेपणसमितिः शुद्धा भवति तमाह—

सहसाणाभोइयदुप्पमज्जिद अप्पच्चुवेक्खणा दोसा।
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥३२०॥

सहसा शीघ्रं व्यापारान्तरं प्रत्युद्गतमनसा निक्षेपमादानं वा। अनाभोगितमनालोकनं स्वस्थचित्तवृत्त्या ग्रहणमादानं वा अनालोक्य द्रव्यं द्रव्यस्थानं यत्क्रियते तदनाभोगितं। दुःप्रमार्जितं दुष्प्रमार्जितं पिच्छिकादिना दुष्टम् प्रतिलेखनं। अप्रत्युपेक्षणं किंचित् संस्थाप्य पुनः कालान्तरेणालोकनं। एतान् दोषान् परिहरतो भवेदादाननिक्षेपणसमितिरिति। किमुक्तं भवति, स्वस्थवृत्त्या द्रव्यं द्रव्यस्थानं च चक्षुषावलोक्य मृदुपि-

---

आचारवृत्ति—कवलिका—शास्त्र रखने की चौकी आदि तथा कमण्डलु आदि वस्तुएँ द्रव्य हैं। जहाँ पर ये रखी हैं वह द्रव्य स्थान है। मुनि किसी भी वस्तु को उठाने में या रखने में पहले उसको अपनी आँखों से अच्छी तरह देख ले, फिर पिच्छिका से परिमार्जित करे। तभी उस वस्तु को ग्रहण करे या वहाँ पर रखे। इस तरह संयम की उपलब्धि से वह भिक्षु यति कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि श्रमणपने के योग्य ऐसी वस्तु को ग्रहण करते समय अथवा उन्हें रखते समय अपनी आँखों से वस्तुओं और स्थान का अवलोकन करके पुनः पिच्छिका से झाड़-पोंछ कर उन वस्तुओं को ग्रहण करे या रखे।

जिन दोषों के छोड़ने से आदान निक्षेपण समिति शुद्ध होती है उन्हें कहते हैं—

गाथार्थ—सहसा, अनाभोगित, दुष्प्रमार्जित और अप्रत्युपेक्षित दोषों को छोड़ते हुए मुनि के आदान निक्षेपण समिति होती है ॥३२०॥

आचारवृत्ति—अन्य व्यापार के प्रति मन लगा हुआ होने से सहसा किसी वस्तु को उठा लेना या रख देना सहसा दोष है। स्वस्थ चित्त की प्रवृत्ति से अवलोकन न करके कोई वस्तु ग्रहण करना या रखना अथवा कमण्डलु आदि वस्तु और उसके स्थान को बिना देखे ही वस्तु का रखना-उठाना आदि यह अनाभोगित दोष है। पिच्छिका से ठीक-ठीक परिमार्जन न करके, जैसे-तैसे कर देना यह दुष्प्रमार्जित दोष है। पुस्तक कमण्डलु आदि वस्तु कहीं पर रखकर पुनः कई दिन बाद उसका अवलोकन—प्रतिलेखन करना यह अप्रत्युपेक्षण दोष है। इन दोषों का परिहार करते हुए मुनि के आदाननिक्षेपण समिति होती है।

तात्पर्य यह हुआ कि मन की स्वस्थवृत्ति से उपयोग को स्थिर करके पुस्तक आदि वस्तुएँ और उनके रखने-उठाने के स्थान को अपनी आँखों से देखकर पुनः कोमल मयूरपंख की पिच्छिका से उसे झाड़-पोंछकर उस वस्तु को ग्रहण करना या रखना चाहिए। रखी हुई पुस्तक आदि का थोड़े दिनों में ही पुनः अवलोकन सम्मार्जन करना चाहिए।

एताभिः समितिभिः सह विहरन् किंविशिष्टः स्यादित्याह—

एदाहिं सया जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणो[1] दु।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआउले साहू ॥३२६॥

एताभिः समितिभिः सदा—सदा सर्वकालं युक्तो महयां सर्वत्र विहरमाणः साधुर्हिंसादिभिर्न लिप्यते जीवनिकायाकुले लोके इति ॥३२६॥

ननु जीवसमूहमध्ये कथं साधुर्हिंसादिभिर्न लिप्यते ? चेदित्थं न लिप्यते इति दृष्टान्तमाह—

पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पदि साहू काएसु इरियंतो ॥३२७॥

पद्मिनीपत्रं जले वृद्धिगतमपि यथोदकेन न लिप्यते, स्नेहगुणयुक्तं यतः तथा समितिभिः सह विहरन् साधुः पापेन न लिप्यते कायेषु जीवेषु तेषां वा मध्ये विहरन्नपि यत्नपरो यतः इति ॥३२७॥

पुनरपि दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

इन समितियों के साथ विहार करते हुए मुनि के कौन-सी विशेषता प्राप्त होती है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—इन समितियों से युक्त साधु हमेशा ही जीव समूह से भरे हुए भूतल पर विहार करते हुए भी हिंसादि पापों से लिप्त नहीं होते हैं। ॥३२६॥

आचारवृत्ति—इन समितियों से सदाकाल युक्त हुए मुनि जीव-समूह से भरे हुए इस लोक में पृथ्वी पर सर्वत्र विहार करते हुए भी हिंसा आदि पापों से लिप्त नहीं होते हैं।

जीव-समूह के मध्य रहते हुए साधु हिंसादि दोषों से कैसे लिप्त नहीं होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं कि इस प्रकार से यह लिप्त नहीं होता है—

गाथार्थ—जैसे चिकनाई गुण से युक्त कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार से साधु जीवों के मध्य समितियों से चर्या करता हुआ लिप्त नहीं होता है। ॥३२७॥

आचारवृत्ति—जैसे कमलिनी का पत्ता जल में वृद्धिगत होते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह स्नेह गुण से युक्त है अर्थात् उस पत्ते में चिकनाई पाई जाती है। उसी प्रकार से समितियों के साथ विहार करता हुआ साधु पाप से लिप्त नहीं होता है। यद्यपि वह जीवों के समूह में रहता है अथवा जीवों के मध्य विहार करता है तो भी वह यत्नपूर्वक क्रियाएँ करता है अर्थात् सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करता है। यही कारण है कि वह पापों से नहीं बँधता है।

पुनरपि दृष्टांत के द्वारा इसी का पोषण करते हुए कहते हैं—

---

1. क °दोवि।

सरवासेहिं पडंते हिं जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ॥३२८॥

शरवर्षैः पतद्भिः संग्रामे यथा दृढकवचो दृढवर्मा न भिद्यते शरैस्तीक्ष्णनाराचतोमरादिभिः एवं षड्जीवनिकायेषु समितिभिर्हेतुभूताभिः साधुः पापेन न लिप्यते पर्यटन्नपीति ॥३२८॥

यत्नपरस्य गुणमाह—

जत्थेव चरदि बालो परिहारण्हूवि चरदि तत्थेव ।
वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू विमुच्चदि सो ॥३२९॥

यत्रैव चरति भ्रमत्याचरतीति वा बालोऽज्ञानी जीवादिभेदानभिज्ञः [illegible] करोति भ्रमतीति वा तत्रैव लोके बध्यते कर्मणा लिप्यते पुनरसौ बाल अज्ञानः । परिहरमाणो [illegible] विमुच्यते कर्मणा तस्मादेवंगुणा समितयः ॥३२९॥

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो ।
समिदो हु अण्ण ण दियदि खवेदि पोराणयं कम्मं ॥३३०॥

गाथार्थ—पड़ती हुई बाण की वर्षा के द्वारा जैसे मजबूत कवच वाला मनुष्य बाणों से नहीं भिदता उसी प्रकार साधु समितियों से सहित हो जीव-निकायों में चलते हुए भी पाप से लिप्त नहीं होता है ॥३२८॥

आचारवृत्ति—जैसे संग्राम में बाणों की वर्षा होते हुए भी, जिसने मजबूत कवच धारण किया है वह मनुष्य तीक्ष्ण बाण या तोमर आदि शस्त्रों से नहीं भिदता है उसी प्रकार छह जीव-निकायों में पर्यटन करता हुआ भी समितियों के द्वारा प्रवृत्त हुआ साधु पाप से लिप्त नहीं होता है ।

जो प्रयत्न में तत्पर हैं उनके गुणों को बताते हैं—

गाथार्थ—जहाँ पर अज्ञानी विचरण करता है वहीं पर जीवों का परिहार करता हुआ ज्ञानी भी विचरण करता है। किन्तु कर्मबन्धन से वह अज्ञानी तो बँध जाता है और जीवों का परिहार करता हुआ वह मुनि कर्मबन्ध से मुक्त रहता है ॥३२९॥

आचारवृत्ति—जो जीवादि के भेदरूप स्वरूप को जानने वाला नहीं है ऐसा [illegible] अज्ञानी जीव जिस स्थान पर विचरण करता है, भ्रमण करता है या आचरण करता है, [illegible] जीवों का परिहार करने वाला है वह मुनि भी [illegible] में विचरण करता है, अनुष्ठान करता है अथवा भ्रमण करता है किन्तु अज्ञानी जीव तो कर्मों से बँध जाता है और जीवों का परिहार करता हुआ [illegible] मुनि कर्मों से [illegible] मुक्त होता है। इस प्रकार समितियों [illegible] ऐसा समझना ।

अलीकादिभ्यश्चासत्याभिप्रायेभ्यश्च वचसो वा निवृत्तिः मौनं ध्यानाध्ययनचिंतनं च यत्तूष्णीभावोऽसौ वा वाग्गुप्तिर्भवति ॥३३२॥

कायगुप्त्यर्थमाह—

> कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
> हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि एसा ॥३३३॥

कायक्रियानिवृत्तिः शरीरचेष्टाया अप्रवृत्तिः शरीरगुप्तिः कायोत्सर्गो वा कायगुप्तिः। हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिर्भवत्येषा। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि गुप्यन्ते रक्ष्यन्ते याभिस्ता गुप्तयः। अथवा मिथ्यात्वासंयमकषायेभ्यो गोप्यते रक्ष्यते आत्मा याभिस्ता गुप्तय इति ॥३३३॥

दृष्टान्तद्वारेण तासां माहात्म्यमाह—

> खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
> तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीउ साहुस्स ॥३३४॥

यथा क्षेत्रस्य शस्यस्य वृतिः रक्षा नगरस्य वा खातिकाथवा प्राकारो यथा गुप्तिस्तथा पापस्याशुभकर्मणो निरोधः संवृतिस्ता गुप्तयः साधोः संयतस्येति ॥३३४॥

यस्मादेवंगुणा गुप्तयः—

व्यापार को रोककर मौन धारण करना अथवा असत्य वचन नहीं बोलना, यह वचनगुप्ति का लक्षण है।

अब काय गुप्ति का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—काय की क्रिया का अभावरूप कायोत्सर्ग करना काय से सम्बन्धित गुप्ति है। अथवा हिंसादि कार्यों से निवृत्त होना कायगुप्ति होती है ॥३३३॥

आचारवृत्ति—शरीर की चेष्टा की प्रवृत्ति नहीं होना अथवा कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है। अथवा हिंसा आदि से निवृत्ति होना शरीर गुप्ति है। जिनके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गोपित किये जाते हैं, रक्षित किये जाते हैं वे गुप्तियाँ हैं। अथवा जिनके द्वारा मिथ्यात्व असंयम और कषायों से आत्मा गोपित होती है, रक्षित होती है वे गुप्तियाँ हैं।

अब दृष्टान्त के द्वारा इन गुप्तियों का माहात्म्य दिखलाते हैं—

जैसे खेत की बाड़, नगर की खाई अथवा परकोटा होता है उसी प्रकार से पाप का निरोध होने रूप से साधु की ये गुप्तियाँ हैं ॥३३४॥

आचारवृत्ति—जैसे खेत की रक्षा के लिए बाड़ है, और नगर की रक्षा के लिए खाई अथवा परकोटा है उसी प्रकार से जो अशुभ कर्म को रोकना है या संवृत होना है वही संयत की गुप्तियाँ कहलाती हैं।

क्योंकि इन गुणोंवाली गुप्तियाँ हैं—

भवतः पंच। एता भावयन् जीवदयां प्रतिपालयति। प्रथममहाव्रतं परिपूर्णं क्रियते। तस्य साधनत्वेन पंच भावना भवन्तीति ॥३३७॥

द्वितीयस्य विवरणमाह—

कोहभयलोहहासपइण्णा अणुवीचिभासणं चेव।
विदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥३३८॥

क्रोधभयलोभहास्यानां प्रतिज्ञा प्रत्याख्यानं। क्रोधस्य प्रत्याख्यानं भयस्य प्रत्याख्यानं लोभस्य प्रत्याख्यानं हास्यस्य प्रत्याख्यानं। अनुवीचिभाषणं चैव सूत्रानुसारेण भाषणं च द्वितीयस्य सत्यव्रतस्य भावनाः पंचैव भवन्ति। एवैताः भावना भावयतः सत्यव्रतं सम्पूर्णं भवतीति ॥३३८॥

तृतीयव्रतस्य भावनास्वरूपं विवृण्वन्नाह—

जायणसमणुण्णमणा अणण्णभावोवि चत्तपडिसेवी।
साधम्मिओवकरणस्सणुवीचीसेवणं चावि ॥३३९॥

याञ्चा प्रार्थना समनुज्ञापना यस्य सत्कमिदं किंचिद्वस्तु तमनुज्ञाप्य ग्रहणं गृहीतस्य वा अनुज्ञापनं। अनन्यभावोऽनुज्ञातेऽप्यनात्मभावो परवस्तुनः परिगृहीतस्यात्मभावो न कर्तव्यः। त्यक्तं अन्यप्रयोग्यं, अने

और आलोक्य भोजन अर्थात् आगम और सूर्य के प्रकाश में देख-शोधकर भोजन करना अहिंसा-व्रत की ये पाँच भावनाएँ हैं। मुनि इन भावनाओं को भाते हुए जीवदया का पालन करते हैं। अर्थात् उनके प्रथम महाव्रत परिपूर्ण होता है। मुनि इन पाँच भावनाओं को उस व्रत के साधन हेतु भाते।

अब द्वितीय व्रत की भावना का विवरण करते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, भय, लोभ और हास्य का त्याग तथा अनुवीचिभाषण द्वितीय व्रत की ये पाँच ही भावनाएँ होती हैं ॥३३८॥

आचारवृत्ति—क्रोध का त्याग, भय का त्याग, लोभ का त्याग और हास्य का त्याग तथा सूत्र के अनुसार वचन बोलना ये पाँच भावनाएँ सत्य महाव्रत की हैं। अर्थात् इन भावनाओं को भाते हुए सत्यव्रत परिपूर्ण हो जाता है।

विशेषार्थ—ये भावनाएँ श्रीगौतम स्वामी और उमास्वामी ने इसी रूप मानी हैं।

अब तृतीय व्रत की भावना का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—याचना, समनुज्ञापना, अनन्यभाव, त्यक्तप्रतिसेवना और साधर्मिकों के उपकरण का उनके अनुकूल सेवन ये पाँच भावनाएँ तृतीय व्रत की हैं ॥३३९॥

आचारवृत्ति—याञ्चा—प्रार्थना करना अर्थात् अपेक्षित वस्तु के लिए गुरु या सहधर्मी मुनि से विनय पूर्वक माँगना।

समनुज्ञापना—किसी मुनि की कोई भी वस्तु उनकी अनुमति लेकर ग्रहण करना। अथवा कदाचित् बिना अनुमति के ले भी ली हो तो पुनः उनसे निवेदन कर देना।

तस्यानुवीच्यागमानुसारेण सेवनं सधर्मोपकरणस्य सूत्रानुकूलतया सेवनं चापि। एताः पंच भावनास्तृतीयव्रतस्य भवन्तीति। एताभिरस्तेयाख्यं व्रतं सम्पूर्णं भवतीति ॥३३९॥

चतुर्थव्रतस्य भावनास्वरूपं विकल्पयन्नाह—

महिलालोयण पुव्वरदिसरणसंसत्तवसधिविकहाहिं।
पणिदरसेहिं य विरदी य भावणा पंच बह्मम्हि ॥३४०॥

महिलानां योषितामवलोकनं दुष्टपरिणामेन निरीक्षणं महिलालोकनं। पूर्वस्य [स्या] रतेः गृहस्थावस्थायां चेष्टितस्य स्मरणं चिन्तनं पूर्वरतिस्मरणं। संसक्तवसतिः सद्रव्या सरागा वा। विकथा दुष्टकथाः। **पणिदरस**—प्रणीतरसा इष्टाहार[1]समदकराः। विरतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। महिलालोकनाद्विरतिः पूर्वरतिस्मरणाद्विरतिः संसक्तवसतेर्विरतिः विकथाभ्यः स्त्रीचौरराज्यभक्तकथाभ्यो विरतिः समीहितरसेभ्यो विरतिः। एताः पंच भावनाः चतुर्थस्य ब्रह्मव्रतस्य भावना भवन्ति। एताभिश्चतुर्थब्रह्मव्रतं सम्पूर्णं तिष्ठतीति ॥३४०॥

रोकना; आचार शास्त्र के अनुसार शुद्ध आहार लेना; और 'यह मेरा है यह तेरा है' ऐसा सहधर्मियों के साथ विसंवाद नहीं करना।

अब चतुर्थव्रत की भावनाओं का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—स्त्रियों का अवलोकन, पूर्वभोगों का स्मरण तथा संसक्त वसतिका से विरति, एवं विकथा से और प्रणीतरसों से विरति ये ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥३४०॥

आचारवृत्ति—दुष्ट परिणामों से—कुशील भाव से महिलाओं का अवलोकन करना महिलालोकन है। पूर्व में अर्थात् गृहस्थावस्था में जो भोगों का अनुभव किया है उसका स्मरण करना, चिन्तन करना पूर्वरतिस्मरण है। द्रव्य सहित वसतिका या सरागी वसतिका संसक्तवसति हैं। अर्थात् जहाँ स्त्रियों का निवास है या सोना, चाँदी आदि गृहस्थों का धन रखा हुआ है या जहाँ पर रागोत्पादक वस्तुएँ विद्यमान हैं वह स्थान यहाँ संसक्त वसति नाम से कही गयी है। दुष्टकथा अथवा स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राज्यकथा आदि को विकथा कहते हैं। प्रणीतरस—इष्ट आहार अथवा मद को करनेवाला आहार अर्थात् इंद्रियों को उत्तेजित करनेवाला, विकार को जागृत करनेवाला आहार। यह 'विरति' शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। अर्थात् महिलालोकन से विरति, पूर्वरतिस्मरण से विरति, संसक्तवसतिका से विरति, विकथा से विरति और प्रणीतरसों से विरति—ये पाँच भावनाएँ चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की होती हैं अर्थात् इन भावनाओं से चौथा ब्रह्मव्रत परिपूर्ण स्थिर रहता है।

विशेषार्थ—श्री गौतमस्वामी के अनुसार स्त्रीकथा, स्त्रीसंसर्ग, स्त्रियों के हास्य विनोद, स्त्रियों के साथ क्रीड़ा और उनके मुख आदि का रागभाव से अवलोकन—इन सबकी विरति रूप ये पाँच भावनाएँ हैं। श्रीउमास्वामी ने स्त्रियों की कथाओं का रागपूर्वक सुनने का त्याग, उनके मनोहर अंगों के अवलोकन का त्याग, पूर्व के भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग, कामोद्दीपक गरिष्ठ रसों के सेवन का त्याग और स्वशरीर के संस्कार का त्याग—ये पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्यव्रत की मानी हैं।

---

१ क 'रामद'।

पंचमव्रतभावनां विकल्पयन्नाह—

अपरिग्गहस्स मुणिणो सद्दप्फासरसरूवगंधेसु।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा पंच ॥३४१॥

अपरिग्रहस्य मुनेः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु रागद्वेषादीनां परिहारः भावनाः पंच भवन्ति। शब्दादिविषये रागद्वेषादीनामकरणानि यानि तैः सम्पूर्णं पंचमं महाव्रतं स्यादिति ॥३४१॥

किमर्थमेता भावना भावयितव्या यस्मात्—

ण करेदि भावणाभाविदो हु पीलं व दाण सव्वेसिं।
साधू पासुत्ता स[1]मणागवि किं दाणि वेदंतो ॥३४२॥

हु यस्मात् पंचविंशतिभावनाभावितः साधुः प्रसुप्तोऽपि निद्रांगतोऽपि समुदहोऽपि मूर्छांगतोऽपि सर्वेषां व्रतानां मनागपि पीडां विराधनां न करोति किं पुनश्चेतयमानः। स्वप्नेऽपि ता एव भावनाः पश्यति, न व्रतविराधनाः पश्यतीति ॥३४२॥

अब पाँचवें व्रत की भावना को कहते हैं—

गाथार्थ—परिग्रहरहित मुनि के शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध—इनमें राग-द्वेष आदि का त्याग करना—ये पाँच भावनाएँ हैं। ॥३४१॥

आचारवृत्ति—पाँच इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध—ये पाँच प्रकार के विषय हैं। इनमें राग-द्वेष आदि का नहीं करना—ये पाँचों भावनाएँ हैं। इन भावनाओं से पाँचवाँ महाव्रत पूर्ण होता है।

विशेषार्थ—श्री गौतमस्वामी ने कहा है कि सचित्त—दासीदास आदि से विरति, अचित्त—धन-धान्य आदि से विरति, वाह्य—वस्त्र, आभरण आदि से विरति, अभ्यंतर—ज्ञानावरण आदि से विरति और परिग्रह—गृह क्षेत्र आदि से विरति अर्थात् मैं इन पाँचों से विरत होता हूँ।

श्रीउमास्वामी ने कहा है कि इष्ट और अनिष्ट ऐसे पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से राग-द्वेष का छोड़ना ये पाँच भावनाएँ हैं।

किसलिए इन भावनाओं को भाना चाहिए? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—भावना को भानेवाला वह साधु सोता हुआ भी किंचित् मात्र भी सम्पूर्ण व्रतों में विराधना को नहीं करता है। फिर जो इस समय जाग्रत है उसके प्रति तो क्या कहना! ॥३४२॥

आचारवृत्ति—इन पच्चीस भावनाओं को जिसने भाया हुआ है ऐसा साधु यदि निद्रा को अथवा मूर्च्छा को प्राप्त हुआ है तो भी वह अपने सभी व्रतों में किंचित् मात्र भी विराधना नहीं करता है। पुनः जब वह जाग्रत है—सावधानी से प्रवृत्त हो रहा है तब तो कहना ही क्या! अर्थात् स्वप्न में भी वह मुनि इन भावनाओं को ही देखता है, किन्तु व्रतों की विराधना को नहीं करता।

---

१ क समुहदो च कि।

एदाहि भावणाहि दु तम्हा भावेहि अप्पमत्तो त्तं ।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ।।३४३।।

तस्मादेताभिर्भावनाभिः भावयात्मानमप्रमत्तः स त्वं । ततोऽच्छिद्राण्यखण्डानि सम्पूर्णानि भविष्यन्ति हि स्फुटं ते तव व्रतानीति ।।३४३।।

चारित्राचारमुपसंहरस्तप आचारं च सूचयन्नाह—

एसो चरणाचारो पंचविधो वण्णिदो समासेण ।
एत्तो य तवाचारं समासदो वण्णयिस्सामि ।।३४४।।

एष चरणाचारः पंचविधोऽष्टविधश्च वर्णितो मया समासेन इत ऊर्ध्वं तप आचारं समासतो वर्णयिष्यामीति ।।३४४।।

दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो ।
एक्कक्को विय छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ।।३४५।।

द्विप्रकारस्तप आचारस्तपोऽनुष्ठानं । बाह्यो बाह्यजनप्रकटः । अभ्यन्तरोऽभ्यन्तरजनप्रकटः ।

गाथार्थ—इसलिए तुम अप्रमादी होकर इन भावनाओं से आत्मा को भावो । निश्चित रूप से तुम्हारे व्रत छिद्र रहित और अखण्ड परिपूर्ण हो जावेंगे । ।।३४३।।

आचारवृत्ति—इसलिए तुम प्रमाद छोड़कर अप्रमत्त होते हुए इन भावनाओं के द्वारा अपनी आत्मा को भावो । इससे तुम्हारे व्रत निश्चित रूप से छिद्र रहित अर्थात् दोषरहित, अखण्ड—परिपूर्ण हो जावेंगे, ऐसा समझो ।

चारित्राचार का उपसंहार करते हुए और तप-आचार को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं—

भावार्थ—संक्षेप से यह पाँच प्रकार का चारित्राचार मैंने कहा है । इससे आगे संक्षेप से तप आचार को कहूँगा । ।।३४४।।

आचारवृत्ति—यह पाँच महाव्रत रूप पाँच प्रकार का और अष्ट प्रवचनमातृका रूप आठ प्रकार का चारित्राचार मैंने संक्षेप से कहा है, इसके बाद अब मैं तप-आचार को संक्षेप में कहूँगा ।

भावार्थ—चारित्राचार के मुख्यतया पाँच ही भेद हैं जो कि महाव्रतरूप हैं । अतः गाथा में पंचविधः शब्द का उल्लेख है । किन्तु जो आठ प्रवचनमातृका हैं वे तो उन व्रतों की रक्षा के लिए ही विवक्षित हैं । अथवा चारित्राचार के अन्यत्र ग्रन्थों में तेरह भेद भी माने हैं ।

अब तप आचार को कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप-आचार दो प्रकार का जानना चाहिए । उसमें एक-एक भी छह प्रकार का है । उनको मैं क्रम से कहूँगा । ।।३४५।।

आचारवृत्ति—तप के अनुष्ठान का नाम तप-आचार है । उसके दो भेद हैं—बाह्य और

एकैकोऽपि च बाह्याभ्यन्तरश्चैकैकः षोढा षड्प्रकारः यथाक्रमं क्रममनुल्लंघ्य प्ररूपयामि कथयिष्यामीति ॥३४५॥

बाह्यं षड्भेदं नामोद्देशेन निरूपयन्नाह—

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥३४६॥

अनशनं चतुर्विधाहारपरित्यागः। अवमौदर्यमतृप्तिभोजनं। रसानां परित्यागो रसपरित्यागः स्वाभिलषितस्निग्धमधुराम्लकटुकादिरसपरिहारः। वृत्तेः परिसंख्या वृत्तिपरिसंख्या गृहदायकभाजनौदनकालादीनां परिसंख्यानपूर्वको ग्रहः। कायस्य शरीरस्य परितापः कर्मक्षयाय बुद्धिपूर्वकं शोषणं आतापनाभ्रावकाशवक्षमूलादिभिः। विविक्तशयनासनं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितं स्थानसेवनं षष्ठमिति ॥३४६॥

अनशनस्य भेदं स्वरूपं च प्रतिपादयन्नाह—

इत्तिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेयव्वं।
इत्तिरियं साकंखं णिरावकंखं हवे बिदियं ॥३४७॥

आभ्यन्तर। जो बाह्य जनों में प्रकट है वह बाह्य तप है और जो आभ्यन्तर जनों—अपने धार्मिक जनों में प्रकट है उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। ये बाह्य-आभ्यन्तर दोनों ही तप छह-छह प्रकार के हैं। मैं इन सभी का क्रम से वर्णन करूँगा।

बाह्य तप के छहों भेदों के नाम और उद्देश्य का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शयनासन ये छह बाह्य तप हैं ॥३४६॥

आचारवृत्ति—चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अतृप्ति भोजन अर्थात् पेटभर भोजन न करना अवमौदर्य है। रसों का परित्याग करना—अपने लिए इष्ट स्निग्ध, मधुर, अम्ल, कटुक आदि रसों का परिहार करना रसपरित्याग है। वृत्ति—आहार की चर्या में परिसंख्या—गणना अर्थात् नियम करना। गृह का, दातार का, बर्तनों का, भात आदि भोज्य वस्तु का या काल आदि का गणनापूर्वक नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान है अर्थात् आहार को निकलते समय दातारों के घर का या किसी दातार आदि का नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। काय अर्थात् शरीर को परिताप—क्लेश देना, आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल आदि के द्वारा कर्मक्षय के लिए बुद्धिपूर्वक शोषण करना कायक्लेश तप है। स्त्री, पशु और नपुंसक से वर्जित स्थान का सेवन करना विविक्तशयनासन तप है। ऐसे इन छह बाह्य तपों का नाम निर्देशपूर्वक संक्षिप्त लक्षण किया है। आगे प्रत्येक का लक्षण आचार्य स्वयं कर रहे हैं।

अनशन का स्वरूप और उसके भेद बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—काल की मर्यादा सहित और जीवनपर्यन्त के भेद से अनशन तप दो प्रकार जानना चाहिए। काल की मर्यादा सहित साकांक्ष है और दूसरा यावज्जीवन अनशन निराकांक्ष होता है ॥३४७॥

अनशनं पुनरित्तिरिययावज्जीवभेदाभ्यां द्विविधं ज्ञातव्यं इत्तिरियं साकांक्षं कालादिभि: सापेक्षं एतावन्तं कालमहमशनादिकं नानुतिष्ठामीति। निराकांक्षं भवेद् द्वितीयं यावज्जीवं आमरणान्तादपि न सेवनम् ॥३४७॥

साकांक्षानशनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं मासद्धमासखमणाणि।
कणगेगावलिआदी तवोविहाणाणि णाहारे[1] ॥३४८॥

अहोरात्रस्य मध्ये द्वे भक्तवेले तत्रैकस्यां भक्तवेलायां भोजनमेकस्या: परित्याग एकभक्त:। चतसृणां भक्तवेलानां परित्यागे चतुर्थ:। षण्णां भक्तवेलानां परित्यागे षष्ठो द्विदिनपरित्याग:। अष्टानां परित्यागेऽष्टमस्त्रय उपवासा:। दशानां त्यागे दशमश्चत्वार उपवासा:। द्वादशानां परित्यागे द्वादश: पंचोपवासा:। मासार्धं-पंचदशोपवासा: पंचदशदिनान्याहारपरित्याग:। मास—मासोपवासास्त्रिंशदहोरात्रमात्रा अशनत्याग:। क्षमणान्युपवासा:। आवलीशब्द: प्रत्येकमभिसम्बध्यते। कनकावली चैकावली च कनकावल्येकावल्यौ तौ विधी आदिर्येषां तपोविधानानां कनकैकावल्यादीनि। आदिशब्देन मुरजमध्य-विमानपंक्ति-सिंहनिष्क्रीडितादीनां

आचारवृत्ति—इत्तिरिय—इतने काल तक और यावज्जीवं—जीवनपर्यन्त तक के भेद से अनशन तप दो प्रकार का है। उसमें 'इतने काल पर्यन्त मैं अनशन अर्थात् भोजन आदि का अनुष्ठान नहीं करूँगा' ऐसा काल आदि सापेक्ष जो अनशन होता है वह इत्तिरिय—साकांक्ष अनशन तप है। जिसमें मरण पर्यन्त अशन आदि का त्याग कर दिया जाता है वह यावज्जीवन निराकांक्ष नाम का दूसरा तप होता है।

अब साकांक्ष अनशन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—वेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन और महीने भर का उपवास कनकावली, एकावली आदि तपश्चरण के विधान अनशन में कहे गये हैं। ॥३४८॥

आचारवृत्ति—अहोरात्र के मध्य भोजन की दो वेला होती हैं। उनमें से एक भोजन वेला में भोजन करना और एक भोजन वेला में भोजन का त्याग करना यह एकभक्त है। चार भोजन वेलाओं में चार भोजन का त्याग करना चतुर्थ है। अर्थात् धारणा और पारणा के दिन एकाशन करना तथा व्रत के दिन दोनों समय भोजन का त्याग करके उपवास करना—इस तरह चार भोजन का त्याग होने से जो उपवास होता है उसे चतुर्थ कहते हैं। छह भोजन वेलाओं के त्याग में षष्ठ कहा जाता है। अर्थात् धारणा-पारणा के दिन एकाशन तथा दो दिन का पूर्ण उपवास इसे ही षष्ठ-वेला कहते हैं। आठ भोजन वेलाओं में आठ भोजन का त्याग करने से अष्टम अर्थात् तेला कहा जाता है। दश भोजन वेलाओं के त्याग करने पर दशम—चार उपवास होते हैं। बारह भुक्तियों के त्याग से द्वादश—पाँच उपवास हो जाते हैं। पन्द्रह दिन तक आहार का त्याग करने से अर्धमास का उपवास होता है। तीस दिनरात तक भोजन का त्याग करने से एक मास का उपवास होता है। तथा कनकावली, एकावली आदि भी तपो-

---

१ क णाहारो।

ग्रहणं । कनकावल्यादीनां प्रपंचः टीका[1]राधनायां द्रष्टव्यो विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते । अनाहारोऽनशनं षष्ठाष्टमदशमद्वादशैर्मासार्धमासादिभिश्च यानि क्षमणानि कनकैकावल्यादीनि च यानि तपोविधानानि तानि सर्वाण्यनाहारो यावदुत्कृष्टेन षण्मासास्तत्सर्वं साकांक्षमनशनमिति ॥३४८॥

निराकांक्षस्यानशनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

भत्तपइण्णा इंगिणि पाउवगमणाणि जाणि मरणाणि ।
अण्णेवि एवमादी बोधव्वा णिरवकंखाणि ॥३४९॥

भक्तप्रत्याख्यानं द्व्याद्यष्टचत्वारिंशन्निर्यापकैः परिचर्यमाणस्यात्मपरोपकारसव्यपेक्षस्य यावज्जीवमाहारत्यागः । इङ्गिणीमरणं नामात्मोपकारसव्यपेक्षं परोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनमरणं नामात्मपरोपकारनिरपेक्षं । एतानि त्रीणि मरणानि । एवमादीन्यन्यान्यपि प्रत्याख्याता [ना] नि निराकांक्षाणि यानि तानि सर्वाण्यनिराकांक्षमनशनं बोद्धव्यं ज्ञातव्यमिति ॥३५०॥

अवमौदर्यस्वरूपं निरूपयन्नाह—

विधान हैं। यहाँ आदि शब्द से मुरजबन्ध, विमानपंक्ति, सिंहनिष्क्रीड़ित आदि व्रतों को ग्रहण करना चाहिए। इन कनकावली आदि व्रतों का विस्तृत कथन आराधना टीका में देखना चाहिए। विस्तार के भय से उनको यहाँ पर हम नहीं कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि आहार का त्याग करना अनशन है। वेला, तेला, चौला, पांच उपवास, पन्द्रह दिन, एक महीने आदि के उपवास, कनकावली, एकावली आदि व्रतों का आचरण ये सब उपवास उत्कृष्ट से छह मास पर्यन्त तक होते हैं। ये सब साकांक्ष अनशन हैं।

अब निराकांक्ष अनशन का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन जो ये मरण हैं ऐसे और भी जो अनशन हैं वे निराकांक्ष जानना चाहिए ॥३४९॥

आचारवृत्ति—दो से लेकर अड़तालीस पर्यन्त निर्यापकों के द्वारा जिनकी परिचर्या की जाती है, जो अपनी और पर के उपकार की अपेक्षा रखते हैं ऐसे मुनि का जो जीवन पर्यन्त आहार का त्याग है वह भक्त प्रत्याख्यान नाम का समाधिमरण है। जो अपने उपकार की अपेक्षा सहित है और पर के उपकार से निरपेक्ष है वह इंगिनीमरण है। जिस मरण में अपने और पर के उपकार की अपेक्षा नहीं है वह प्रायोपगमन मरण है। ये तीन प्रकार के मरण होते हैं। अर्थात् छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों के मरण का नाम पण्डितमरण है उसके ही ये तीनों भेद हैं। इसी प्रकार से और भी जो अन्य उपवास होते हैं वे सब निराकांक्ष अनशन कहलाते हैं।

अब अवमौदर्य का स्वरूप कहते हैं—

---

१ संस्कृतहरिवंशपुराणे च द्रष्टव्यं ।

वत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादिहिं[1] तत्तो ऊणियगहणं उमोदरियं ॥३५०॥

द्वात्रिंशत्कवलाः पुरुषस्य प्रकृत्याहारो भवति। ततो द्वात्रिंशत्कवलेभ्य एककवलेनोनं द्वाभ्यां त्रिभिः; इत्येवं यावदेककवलः शेषः एकसिक्थो वा। किलशब्द आगमार्थसूचकः आगमे पठितमिति। एककवलादिभिर्नित्यस्याहारस्य ग्रहणं यत् सावमौदर्यवृत्तिः। सहस्रतंदुलमात्रः कवल आगमे पठितः द्वात्रिंशत्कवलाः पुरुषस्य स्वाभाविक आहारस्तेभ्यो यन्न्यूनग्रहणं तदवमोदर्यं तप इति ॥३५१॥

किमर्थमवमोदर्यवृत्तिरनुष्ठीयत इति पृष्टे उत्तरमाह—

धम्मावासयजोगे णाणादीए उवग्गहं कुणदि।
ण य इंदियप्पदोसयरी उम्मोदरितवोवुत्ती ॥३५१॥

धर्मे क्षमादिलक्षणे दशप्रकारे। आवश्यकक्रियासु समतादिषु षट्सु। योगेषु वृक्षमूलादिषु। ज्ञानादिके स्वाध्याये चारित्रे चोपग्रहमुपकारं करोतीत्यवमोदर्यतपोवृत्तिः। न चेन्द्रियप्रद्वेषकरी न चावमोदर्यवृत्त्येन्द्रियाणि प्रद्वेषं गच्छन्ति किन्तु वशे तिष्ठन्तीति। वह्वाशीर्धर्मं नानुतिष्ठति। आवश्यकक्रियाश्च न सम्पूर्णाः

गाथार्थ—पुरुष का निश्चित रूप से स्वभाव से बत्तीस कवल आहार होता है। उस आहार में से एक कवल आदि रूप से कम ग्रहण करना अवमौदर्य तप है ॥३५०॥

आचारवृत्ति—पुरुष का प्राकृतिक आहार बत्तीस कवल प्रमाण होता है। उन बत्तीस ग्रासों में से एक ग्रास कम करना, दो ग्रास कम करना, 'तीन ग्रास कम', इस प्रकार से जब तक एक ग्रास न हो जाय तब तक कम करते जाना अथवा एक सिक्थ—भात का कण मात्र रह जाय तब तक कम करते जाना यह अवमौदर्य तप है। गाथा में आया 'किल' शब्द आगमअर्थ का सूचक है अर्थात् आगम में ऐसा कहा गया है। एक ग्रास आदि से प्रारम्भ करके एक ग्रास कम तक जो आहार का ग्रहण करना है वह अवमौदर्य चर्या है। आगम में एक हजार चावल का एक कवल कहा गया है। अर्थात् बत्तीस ग्रास पुरुष का स्वाभाविक आहार है उससे जो न्यून है वह अवमौदर्य तप है।

किसलिए अवमौदर्य तप का अनुष्ठान किया जाता है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—धर्म, आवश्यक क्रिया और योगों में तथा ज्ञानादिक में उपकार करता है, क्योंकि अवमौदर्य तप की वृत्ति इन्द्रियों से द्वेष करनेवाली नहीं है ॥३५१॥

आचारवृत्ति—उत्तम क्षमा आदि लक्षणवाले दशप्रकार के धर्म में, समता वन्दना आदि छह आवश्यक क्रियाओं में, वृक्षमूल आदि योगों में, ज्ञानादिक—स्वाध्याय और चारित्र में यह अवमौदर्य तप उपकार करता है। इस तपश्चरण से इन्द्रियाँ प्रद्वेष को प्राप्त नहीं होती हैं किन्तु वश में रहती हैं। बहुत भोजन करनेवाला धर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता है। परिपूर्ण आवश्यक क्रियाओं का पालन नहीं कर पाता है। आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल इन तीन काल

---

१ क. °दितत्तो।

पालयति। त्रिकालयोगं च न क्षेमेण समानयति। स्वाध्यायध्यानादिकं च न कर्तुं शक्नोति। तस्येन्द्रियाणि च स्वेच्छाचारीणि भवन्तीति। मिताशिनः पुनर्धर्मादयः स्वेच्छया वर्तन्त इति ॥३५२॥

रसपरित्यागस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तित्तकटुकसायंबिलमधुररसाणं च जं चयणं ॥३५२॥

अथ को रसपरित्याग इति पृष्टेऽत आह—क्षीरदधिसर्पिस्तैलगुडलवणानां घृतपूरलड्डुकादीनां च यत् **परिच्चयणं**—परित्यजनं एकैकशः सर्वेषां वा तिक्तकटुकषायाम्लमधुररसानां च यत्त्यजनं स रसपरित्यागः। एतेषां प्रासुकानामपि तपोवृद्धया त्यजनम् ॥३५२॥

याः पुनर्महाविकृतयस्ताः कथमिति प्रश्नेऽत आह—

चत्तारि महावियडी य होंति णवणीदमज्जमंसमधू।
कंखापसंगदप्पासंजमकारीओ[1] एदाओ ॥३५३॥

सम्बन्धी योगों को भी सुख से नहीं धारण कर सकता है तथा स्वाध्याय और ध्यान करने में भी समर्थ नहीं हो पाता है। उस मुनि की इन्द्रियाँ भी स्वेच्छाचारी हो जाती हैं। किन्तु मितभोजी साधु में धर्म, आवश्यक आदि क्रियाएँ स्वेच्छा से रहती हैं।

भावार्थ—भूख से कम खानेवाले साधु के प्रमाद नहीं होने से ध्यान, स्वाध्याय आदि निर्विघ्न होते हैं किन्तु अधिक भोजन करनेवाले के, प्रमाद से, सभी कार्यों में बाधा पहुँचती है। इसलिए यह तप गुणकारी है।

अब रस-परित्याग का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—दूध, दही, घी, तेल, गुड और लवण इन रसों का जो परित्याग करना है और तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल तथा मधुर इन पाँच प्रकार के रसों का त्याग करना है वह रस-परित्याग है। ॥३५२॥

आचारवृत्ति—रसपरित्याग क्या है ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—दूध, दही, घी, तेल, गुड और नमक तथा घृतपूर्ण पुआ, लड्डू आदि का जो त्याग करना है। इनमें एक-एक का या सभी का छोड़ना; तथा तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे इन रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप है। इस तप में इन प्रासुक वस्तुओं का भी तपश्चरण की वृद्धि से त्याग किया जाता है।

जो महाविकृतियाँ हैं वे कौन सी हैं? ऐसे प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चार महाविकृतियाँ होती हैं। ये अभिलाषा, प्रसंग—व्यभिचार, दर्प और असंयम को करनेवाली हैं। ॥३५३॥

---

१ क °रीदुए°।

याः पुनश्चतस्रो महाविकृतयो महापापहेतवो भवन्तीति नवनीतमद्यमांसमधूनि, कांक्षाप्रसंगदर्पासंयमकारिण्य एताः। नवनीतं कांक्षां—महाविषयाभिलाषं करोति। मद्यं—सुराप्रसंगमगम्यगमनं करोति। मांसं-पिशितं दर्पं करोति। मधु असंयमं हिंसां करोति ॥३५३॥

एताः किंकर्तव्या इति पृष्टेऽत आह—

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण।
ताओ जावज्जीवं णिव्वुड्ढाओ पुरा चेव ॥३५४॥

सर्वज्ञाज्ञाभिकांक्षिणा—सर्वज्ञमतानुपालकेन। अवद्यभीरुणा—पापभीरुणा, तपःकामेन—तपोनुष्ठानपरेण, **समाधिकामे**—न च ता नवनीतमद्यमांसमधूनि विकृतयो **यावज्जीवं**—सर्वकालं **निर्व्यूढाः**—निसृष्टाः त्यक्ताः पुरा चैव पूर्वस्मिन्नेव काले संयमग्रहणात्पूर्वमेव। आज्ञाभिकांक्षिणा नवनीतं सर्वथा त्याज्यं दुष्टकांक्षाकारित्वात्। अवद्यभीरुणा मांसं सर्वथा त्याज्यं दर्पकारित्वात्। ततः तपःकामेन मद्यं सर्वथा त्याज्यं प्रसंगकारित्वात्। समाधिकामेन मधु सर्वथा त्याज्यं, असंयमकारित्वात्। व्यस्तं समस्तं वा योज्यमिति ॥३५४॥

आचारवृत्ति—मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चारों ही महाविकृति पाप की हेतु हैं। नवनीत विषयों की महान् अभिलाषा को उत्पन्न करता है। मद्य, प्रसंग, अगम्य अर्थात् वेश्या या व्यभिचारिणी स्त्री का सहवास कराता है। मांस अभिमान को पैदा करता है और मधु हिंसा में प्रवृत्त कराता है।

इन्हें क्या करना चाहिए? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आज्ञापालन के इच्छुक, पापभीरु, तप और समाधि की इच्छा करनेवाले ने पहले ही इनका जीवन-भर के लिए त्याग कर दिया है ॥३५४॥

आचारवृत्ति—सर्वज्ञदेव की आज्ञा पालन करनेवाले, पापभीरु, तप के अनुष्ठान में तत्पर और समाधि की इच्छा करनेवाले भव्य जीव ने संयम ग्रहण करने के पूर्व में ही इन मक्खन, मद्य, मांस और मधु नामक चारों विकृतियों का जीवन भर के लिए त्याग कर दिया है।

आज्ञापालन करने के इच्छुक को नवनीत का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह दुष्ट अभिलाषा को उत्पन्न करनेवाला है। पापभीरु को मांस का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह दर्प—उत्तेजना का करनेवाला है। तपश्चरण की इच्छा करनेवाले को चाहिए कि वह मद्य को सर्वथा के लिए छोड़ दे, क्योंकि वह अगम्या—वेश्या आदि का सेवन करानेवाला है तथा समाधि की इच्छा करनेवाले को मधु का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह असंयम को करनेवाला है। इनको पृथक्-पृथक् या समूहरूप से भी लगा लेना चाहिए।

भावार्थ—एक-एक गुण के इच्छुक को एक-एक के त्यागने का उपदेश दिया है। वैसे ही एक-एक गुण के इच्छुक को चारों का भी त्याग कर देना चाहिए अथवा चारों गुणों के इच्छुक को चारों वस्तुओं का सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिए।

वृत्तिपरिसंख्यानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

गोयरपमाण दायगभायण णाणाविहाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविहस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥३५५॥

गोचरस्य प्रमाणं गोचरप्रमाणं गृहप्रमाणं, एतेषु गृहेषु प्रविशामि नान्येषु बहुष्विति। दायका दातारो भाजनानि परिवेष्यपात्राणि तेषां यन्नानाविधानं नानाकरणं तस्य ग्रहणं स्वीकरणं—दातृविशेषग्रहणं पात्रविशेषग्रहणं च। यदि वृद्धो मां विधरेत् तदानीं तिष्ठामि नान्यथा। अथवा बालो युवा स्त्री उपानत्करहितो वर्त्मनि स्थितोऽयथा वा विधरेत् तदानीं तिष्ठामीति। कांस्यभाजनेन रूप्यभाजनेन सुवर्णभाजनेन मृन्मयभाजनेन वा ददाति तदा गृहीष्यामीति यदेवमाद्यं। तथाशनस्य विविधस्य नानाप्रकारस्य यद्ग्रहणमवग्रहोपादानं, अद्य मकुष्ठं भोक्ष्ये नान्यत्। अथवाद्य मंडकान् सक्तून् ओदनं वा ग्रहीष्यामीति यदेवमाद्यं[1] ग्रहणं तत्सर्वं वृत्तिपरिसंख्यानमिति ॥३५५॥

कायक्लेशस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—गृहों का प्रमाण, दाता का, वर्तनों का नियम ऐसे अनेक प्रकार का जो नियम ग्रहण करना है तथा नाना प्रकार के भोजन का नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान-व्रत है। ॥३५५॥

आचारवृत्ति—गृहों के प्रमाण को गोचर प्रमाण कहते हैं। जैसे 'आज मैं इन गृहों में आहार हेतु जाऊँगा, और अधिक गृहों में नहीं जाऊँगा' ऐसा नियम करना। दायक अर्थात् दातार और भाजन अर्थात् भोजन रखने के या भोजन परोसने के वर्तन—इनकी जो नाना प्रकार से विधि लेना है वह दायक-भाजन विधि अर्थात् दाता विशेष और पात्र विशेष की विधि ग्रहण करना है। जैसे, 'यदि वृद्ध मनुष्य मुझे पड़गाहेगा तो मैं ठहरूँगा अन्यथा नहीं, अथवा बालक, युवक, महिला, या जूते अथवा खड़ाऊँ आदि से रहित कोई पुरुष मार्ग में खड़ा हुआ मुझे पड़गाहे तो मैं ठहरूँगा अथवा ये अन्य अमुक विधि से मुझे पड़गाहें तो मैं ठहरूँगा' इत्यादि नियम लेकर चर्या के लिए निकलना। ऐसे ही वर्तन सम्बन्धी नियम लेना : जैसे, 'मुझे आज यदि कोई कांसे के बर्तन से, सोने के वर्तन से या मिट्टी के वर्तन से आहार देगा तो मैं ले लूँगा, या इसी प्रकार से अन्य और भी नियम लेना। तथा नाना प्रकार के भोजन सम्बन्धी जो नियम लेना है वह सब वृत्तिपरिसंख्यान है। जैसे, 'आज मैं मोठ ही खाऊँगा अन्य कुछ नहीं', "अथवा आज मंडे, सत्तू या भात ही ग्रहण करूँगा।" इत्यादि रूप से जो भी नियम लिये जाते हैं वे सब वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाते हैं।

भावार्थ—इन्द्रिय और मन के निग्रह के लिए नाना प्रकार के तपश्चरणों का अनुष्ठान किया जाता है। और इस वृत्तिपरिसंख्यान के नियम से भी इच्छाओं का निरोध होकर भूख-प्यास को सहन करने का अभ्यास होता है।

कायक्लेश तप का स्वरूप बतलाते हैं—

---

१ क 'माद्यप्र'।

ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं ।
अणुवीचोपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो ॥३५६॥

स्थानं—कायोत्सर्ग । शयनं—एकपार्श्वमृतकदण्डादिशयनं । आसनं—उत्कुटिका-पर्यंक-वीरासन-मकरमुखाद्यासनं । स्थानशयनासनैर्विविधैश्चावग्रहैर्धर्मोपकारहेतुभिरभिप्रायैर्बहुभिरनुवीचीपरितापः सूत्रानुसारेण कायपरितापो वृक्षमूलाभ्रावकाशातापनादिरेप कायक्लेशो भवति ॥३५६॥

विविक्तशयनासनस्वरूपमाह—

तेरिक्खिय माणुस्सिय सविगारियदेवि गेहि संसत्ते ।
वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे ॥३५७॥

गाथार्थ—खड़े होना—कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहण करना, इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना—यह कायक्लेश नाम का तप है ॥३५६॥

आचारवृत्ति—स्थान—कायोत्सर्ग करना । शयन—एक पसवाड़े से या मृतकासन से या दण्डे के समान लम्बे पड़कर सोना । आसन—उत्कुटिकासन, पर्यंकासन, वीरासन, मकरमुखासन आदि तरह-तरह के आसन लगाकर बैठना । इन कायोत्सर्ग, शयन और आसनों द्वारा तथा अनेक प्रकार के धर्मोपकार हेतु नियमों के द्वारा सूत्र के अनुसार काय को ताप देना अर्थात् शरीर को कष्ट देना; वृक्षमूल अभ्रावकाश और आतापन आदि नाना प्रकार के योग धारण करना यह सब कायक्लेश तप है ।

भावार्थ—इस तश्चरण द्वारा शरीर में कष्ट-सहिष्णुता आ जाने से, घोर उपसर्ग या परीषहों के आ जाने पर भी साधु अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते हैं । इसलिए यह तप भी बहुत ही आवश्यक है ।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद् यथावलं दुःखैरात्मानं भावयेद् मुनिः ॥१०२॥

(समाधिशतक)

—सुखी जीवन में किया गया तत्त्वज्ञान का अभ्यास दुःख के आ जाने पर क्षीण हो जाता है, इसलिए मुनि अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के द्वारा अपनी आत्मा की भावना करे अर्थात् कायक्लेश आदि के द्वारा दुःखों को वुलाकर अपनी आत्मा का चिन्तवन करते हुए अभ्यास दृढ़ करे ।

विवक्तशयनासन तप का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अप्रमादी मुनि सोने, बैठने और ठहरने में तिर्यंचिनी, मनुष्य-स्त्री, विकार-सहित देवियाँ और गृहस्थों से सहित मकानों को छोड़ देते हैं । ॥३५७॥

तिर्यंचो—गोमहिष्यादयः। मानुष्यः— स्त्रियो वेश्याः स्वेच्छाचारिण्यादयः। सविकारिण्यो—देव्यो भवनवानव्यन्तरादियोषितः। गेहिनो गृहस्थाः। एतैः संसक्तान्—सहितान्, निलयानावसान् वर्जयन्ति—परिहरन्त्यप्रमत्ता यत्नपराः सन्तः शयनासनस्थानेषु कर्त्तव्येषु एवमनुतिष्ठतो विविक्तशयनासनं नाम तप इति ॥३५७॥

वाह्यं तप उपसंहरन्नाह—

सो णाम वाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते ॥३५८॥

तन्नाम वाह्यं तपो येन मनोदुष्कृतं-चित्तसंक्लेशो नोत्तिष्ठति नोत्पद्यते। येन च श्रद्धा शोभनानुरागो जायत उत्पद्यते येन च योगा मूलगुणा न हीयन्ते ॥३५८॥

एसो दु वाहिरतवो बाहिरजणपायडो परम घोरो।
अब्भंतरजणणादं वोच्छं अब्भंतरं वि तवं ॥३५९॥

तद्वाह्यं तपः षड्विधं वाह्यजनानां मिथ्यादृष्टिजनानामपि प्रकटं प्रख्यातं परमघोरं सुष्ठु दुष्करं प्रतिपादितं। अभ्यन्तरजनज्ञातं आगमप्रविष्टजनैर्ज्ञातं वक्ष्ये कथयिष्याम्यभ्यन्तरमपि षड्विधं तपः ॥३५९॥

आचारवृत्ति—अप्रमत्त अर्थात् यत्न में तत्पर होते हुए सावधान मुनि सोना, वैठना और ठहरना इन प्रसंगों में अर्थात् अपने ठहरने के प्रसंग में—जहाँ गाय, भैंस आदि तिर्यंच हैं; वेश्या, स्वेच्छाचारिणी आदि महिलायें हैं; भवनवासिनी, व्यंतरवासिनी आदि विकारी वेषभूषावाली देवियाँ हैं अथवा गृहस्थजन हैं। ऐसे इन लोगों से सहित गृहों को, वसतिकाओं को छोड़ देते हैं। इस तरह इन तिर्यंच आदि से रहित स्थानों में रहनेवाले मुनि के यह विविक्त शयनासन नाम का तप होता है।

अव वाह्य तपों का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—वाह्य तप वही है जिससे मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता है, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिससे योगहीन नहीं होते हैं। ॥३५८॥

आचारवृत्ति—वाह्य तप वही है कि जिससे मन में संक्लेश नहीं उत्पन्न होता है, जिससे श्रद्धा—शुभ अनुराग उत्पन्न होता है और जिससे योग अर्थात् मूलगुण हानि को प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् वाह्य तप का अनुष्ठान वही अच्छा माना जाता है कि जिसके करने से मन में संक्लेश न उत्पन्न हो जावे या शुभ परिणामों का विघात न हो जावे अथवा मूलगुणों की हानि न हो जावे।

गाथार्थ—यह वाह्य तप वाह्य (जैन मत से वहिर्भूत) जनों में प्रगट है, परम घोर है, सो कहा गया है। अव मैं अभ्यन्तर—जैनदृष्टि लोगों में प्रसिद्ध ऐसे अभ्यन्तर तप को कहूँगा ॥३५९॥

आचारवृत्ति—यह छह प्रकार के वाह्य तप का, जो मिथ्यादृष्टिजनों में भी प्रख्यात है और अत्यन्त दुष्कर है, मैंने प्रतिपादन किया है। अव आगम में प्रवेश करने वाले ऐसे सम्यग्दृष्टिजनों के द्वारा जाने गये छह भेद वाले अभ्यन्तर तप को भी मैं कहूँगा।

के ते षट्प्रकारा इत्याशंकायामाह—

पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो ॥३६०॥

प्रायश्चित्तं—पूर्वापराधशोधनं। विनयअनुद्धतवृत्तिः। वैयावृत्यं स्वशक्त्योपकारः। तथैव स्वाध्यायः सिद्धान्ताद्यध्ययनं। ध्यानं चैकाग्रचिंतानिरोधः।व्युत्सर्गः। अभ्यन्तरतप एतदिति ॥३६०॥

प्रायश्चित्तस्वरूपं निरूपयन्नाह—

पायच्छित्तं त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविहं तु ॥३६१॥

प्रायश्चित्तमपराधं प्राप्तः सन् येन तपसा पूर्वकृतात्पापात् विशुद्धयते हु—स्फुटं पूर्व व्रतैः सम्पूर्णो भवति तत्तपस्तेन कारणेन दशप्रकारं प्रायश्चित्तमिति ॥३६१॥

के ते दशप्रकारा इत्याशंकायामाह—

आलोयणपडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं गिय परिहारो चेव सद्दहणा ॥३६२॥

अभ्यन्तर तप के वे छह प्रकार कौन से हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये अभ्यन्तर तप हैं ॥३६०॥

आचारवृत्ति—पूर्व के किये हुए अपराधों का शोधन करना प्रायश्चित है। उद्धतपन-रहित वृत्ति का होना अर्थात् नम्र वृत्ति का होना विनय है। अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्य है। सिद्धांत आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय है। एक विषय पर चिन्ता का निरोध करना ध्यान है और उपधि का त्याग करना व्युत्सर्ग है। ये छह अभ्यन्तर तप हैं।

अब प्रायश्चित्त का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिसके द्वारा पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त तप है। इस कारण से वह प्रायश्चित्त दश प्रकार का कहा गया है ॥३६१॥

आचारवृत्ति—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पूर्वसंचित पापों से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त है। जिससे स्पष्टतया पूर्व के व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है वह तप भी प्रायश्चित्त कहलाता है। वह प्रायश्चित्त दश प्रकार का है।

वे दश प्रकार कौन से हैं ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश भेद हैं ॥३६२॥

आलोचना—आचार्याय देवाय वा चारित्राचारपूर्वकमुत्पन्नापराधनिवेदनं। प्रतिक्रमणं—रात्रिभोजनत्यागव्रतसहितपंचमहाव्रतोच्चारणं संभावनं दिवसप्रतिक्रमणं पाक्षिकं वा। उभयं—आलोचनप्रतिक्रमणे। विवेको—द्विप्रकारो गणविवेकः स्थानविवेको वा। तथा व्युत्सर्गः—कायोत्सर्गः। तपोऽनशनादिकं। छेदो—दीक्षायाः पक्षमासादिभिर्हानिः। मूलं—पुनरद्य प्रभृति व्रतारोपणं। अपि च परिहारो द्विप्रकारो गणप्रतिबद्धोऽप्रतिबद्धो वा। यत्र प्रश्रवणादिकं कुर्वन्ति मुनयस्तत्र तिष्ठन्ति पिच्छिकामग्रतः कृत्वा यतीनां वन्दनां करोति तस्य यतयो न कुर्वन्ति, एवं या गणे क्रिया गणप्रतिबद्धः परिहारः। यत्र देशे धर्मो न ज्ञायते तत्र गत्वा मौनेन तपश्चरणानुष्ठानकरणमगणप्रतिबद्धः परिहारः। तथा श्रद्धानं तत्त्वरुचौ परिणामः क्रोधादिपरित्यागो वा। एतद्दशप्रकारं प्रायश्चित्तं दोषानुरूपं दातव्यमिति। कश्चिद्दोषः आलोचनमात्रेण निराक्रियते। कश्चित्प्रतिक्रमणेन कश्चिदालोचनप्रतिक्रमणाभ्यां कश्चिद्विवेकेन कश्चित्कायोत्सर्गेण कश्चित्तपसा कश्चिच्छेदेन कश्चिन्मूलेन कश्चित्परिहारेण कश्चिच्छ्रद्धानेनेति ॥३६२॥

प्रायश्चित्तस्य नामानि प्राह—

पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंच्छणमुछिवण छिदणं त्ति पायच्छित्तस्स णामाइं ॥३६३॥

आचारवृत्ति—आचार्य अथवा जिनदेव के समक्ष अपने में उत्पन्न हुए दोषों का चारित्राचारपूर्वक निवेदन करना आलोचना है। रात्रिभोजनत्याग व्रत सहित पाँच महाव्रतों का उच्चारण करना, सम्यक् प्रकार से उनको भाना अथवा दिवस और पाक्षिक सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण हैं। आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को करना तदुभय है। विवेक के दो भेद हैं—गण विवेक और स्थानविवेक। कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग कहते हैं। अनशन आदि तप हैं। पक्ष-मास आदि से दीक्षा की हानि कर देना छेद है। आज से लेकर पुनः व्रतों का आरोपण करना अर्थात् फिर से दीक्षा देना मूल है। परिहार प्रायश्चित्त के भी दो भेद हैं— गणप्रतिबद्ध और गण अप्रतिबद्ध। जहाँ मुनिगण मूत्रादि विसर्जन करते हैं, इस प्रायश्चित्त वाला पिच्छिका को आगे करके वहाँ पर रहता है, वह यतियों की वंदना करता है किन्तु अन्य मुनि उसको वन्दना नहीं करते हैं। इस प्रकार से जो गण में क्रिया होती है वह गणप्रतिबद्ध-परिहार प्रायश्चित्त है। जिस देश में धर्म नहीं जाना जाता है वहाँ जाकर मौन से तपश्चरण का अनुष्ठान करते हैं उनके अगण-प्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित होता है। तत्त्वरुचि में जो परिणाम होता है अथवा क्रोधादि का त्याग रूप जो परिणाम है वह श्रद्धान प्रायश्चित्त है।

यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त दोषों के अनुरूप देना चाहिए। कुछ दोष आलोचनामात्र से निराकृत हो जाते हैं, कुछ दोष प्रतिक्रमण से दूर किये जाते हैं तो कुछेक दोष आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं, कई दोष विवेक प्रायश्चित्त से, कई कायोत्सर्ग से, कई दोष तप से, कई दोष छेद से, कई मूल प्रायश्चित्त से, कई परिहार से एवं कई दोष श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त से दूर किये जाते हैं।

विशेष— आजकल 'परिहार' नाम के प्रायश्चित्त को देने की आज्ञा नहीं रही।

प्रायश्चित के पर्यायवाची नामों को कहते हैं—

गाथार्थ—पुराने कर्मों का क्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुंछन, उत्क्षेपण और छेदन ये सब प्रायश्चित्त के नाम हैं ॥३६३॥

पुराणस्य कर्मणः क्षपणं विनाशः, क्षेपणं, निर्जरणं, शोधनं, धावनं, पुच्छणं, निराकरणं, उत्क्षेपणं, छेदनं द्वैधीकरणमिति प्रायश्चित्तस्यैतान्यष्टौ नामानि ज्ञातव्यानि भवन्तीति ॥३६३॥

विनयस्य स्वरूपमाह—

दंसणणाणेविणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ ॥३६४॥

दर्शने विनयो ज्ञाने विनयश्चारित्रे विनयस्तपसि विनयः औपचारिको विनयः पंचविधः खलु विनयः पंचमीगतिनायकः प्रधानः भणितः प्रतिपादित इति ॥३६४॥

दर्शनविनयं प्रतिपादयन्नाह—

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुणा ।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण ॥३६५॥

उपगूहनस्थिरीकरणवात्सल्यप्रभावनाः पूर्वोक्ताः । तथा भक्त्यादयो गुणाः पंचपरमेष्ठिभक्त्यानुरागस्तेषामेव पूजा तेषामेव गुणानुवर्णनं, नाशनमवर्णवादस्यासादनापरिहारो भक्त्यादयो गुणाः । शंकाकांक्षा-

---

आचारवृत्ति—पुराने कर्मों का क्षपण—क्षय करना अर्थात् विनाश करना, क्षेपण—दूर करना, निर्जरण—निर्जरा करना, शोधन—शोधन करना, धावन—धोना, पुंछन—पोछना अर्थात् निराकरण करना, उत्क्षेपण—फेंकना, छेदन—दो टुकड़े करना इस प्रकार ये प्रायश्चित्त के ये आठ नाम जानने चाहिए ।

अब विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तपोविनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय पंचम गति को प्राप्त करने वाला नायक कहा गया है ॥३६४॥

आचारवृत्ति—दर्शन में विनय, ज्ञान में विनय, चारित्र में विनय, तप में विनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय निश्चित रूप से पाँचवीं गति अर्थात् मोक्षगति में ले जाने वाला प्रधान कहा गया है, ऐसा समझना । अर्थात् विनय मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है ।

दर्शन विनय का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पूर्व में कहे गये उपगूहन आदि तथा भक्ति आदि गुणों को धारण करना और शंकादि दोष का वर्जन करना यह संक्षेप से दर्शन विनय है ॥३६५॥

आचारवृत्ति—उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये पूर्व में कहे गये हैं । तथा पंच परमेष्ठियों में अनुराग करना, उन्हीं की पूजा करना, उन्हीं के गुणों का वर्णन करना, उनके प्रति लगाये गये अवर्णवाद अर्थात् असत्य आरोप का विनाश करना, और उनकी आसादना अर्थात् अवहेलना का परिहार करना—ये भक्ति आदि गुण कहलाते हैं । शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और अन्य दृष्टि मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा, इनका त्याग करना यह संक्षेप

विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसानां वर्जनं परिहारो दर्शनविनयः समासेनेति ॥३६५॥

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे ।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो ॥३६६॥

येऽर्थपर्याया जीवाजीवादयः सूक्ष्मस्थूलभेदेनोपदिष्टाः स्फुटं जिनवरैः श्रुतज्ञाने द्वादशांगेषु चतुर्दशपूर्वेषु, तान् पदार्थांस्तथैव तेन प्रकारेण याथात्म्येन रोचयति नरो भव्यजीवो येन परिणामेन स एष दर्शनविनयो ज्ञातव्य इति ॥३६६॥

ज्ञानविनयं प्रतिपादयन्नाह—

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजणअत्थतदुभयं विणओ णाणम्हि अट्ठविहो ॥३६७॥

द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां कालशुद्ध्या पठनं व्याख्यानं परिवर्तनं वा । तथा हस्तपादौ प्रक्षाल्य पर्यंकेऽवस्थितस्याध्ययनं । अवग्रहविशेषेण पठनं । बहुमानं यत्पठति यस्माच्छृणोति तयोः पूजागुणस्तवनं । तथैवा-

---

से दर्शन विनय है।

भावार्थ—शंकादि चार दोषों का त्याग, उपगूहन आदि चार अंग जो विधिरूप हैं उनका पालन करना तथा पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि करना, यही सब दर्शन की विशुद्धि को करनेवाला दर्शनविनय है।

गाथार्थ—जिनेन्द्र देव ने आगम में निश्चित रूप से जिन द्रव्य और पर्यायों का उपदेश किया है, उनका जो मनुष्य वैसा ही श्रद्धान करता है वह दर्शन विनयवाला होता है ॥३६६॥

आचारवृत्ति—सूक्ष्म और बादर के भेद से जिन जीव अजीव आदि पदार्थों का जिनेन्द्र देव ने द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व रूप श्रुतज्ञान में स्पष्टरूप से उपदेश दिया है, जो भव्य जीव उन पदार्थों का उसी प्रकार से जैसे का तैसा विश्वास करता है, तथा जिस परिणाम से श्रद्धान करता है वह परिणाम ही दर्शनविनय है।

ज्ञानविनय का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—काल, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय—विनय करना, यह ज्ञानसंबंधी विनय आठ प्रकार का है ॥३६७॥

आचारवृत्ति—द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन—फेरना कालविनय है।

उन्हीं ग्रन्थों का (या अन्य ग्रन्थों का) हाथ पैर धोकर पर्यंकासन से बैठकर अध्ययन करना विनयशुद्धि नाम का ज्ञानविनय है। नियम विशेष लेकर पढ़ना उपधान है। जो ग्रन्थ पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं उस पुस्तक और उन गुरु इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुमान है। उसी प्रकार से जिस ग्रन्थ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते हैं उनका नाम कीर्तित करना अर्थात् उस ग्रन्थ या उन गुरु के नाम को नहीं छिपाना यह अनिह्नव है। शब्दों को शुद्ध पढ़ना व्यंजनशुद्ध विनय है। अर्थ शुद्ध करना अर्थशुद्ध विनय है

-निह्नवो यत्पठति यस्मात्पठति तयोः कीर्तनं । व्यञ्जनशुद्धं, अर्थशुद्धं व्यञ्जनार्थोभयशुद्धं च यत्पठनं । अनेन न्यायेनाष्टप्रकारो ज्ञाने विनय इति ॥३६७॥

तथा—

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ॥३६८॥

ज्ञानं शिक्षते विद्योपादानं करोति । ज्ञानं गुणयति परिवर्तनं करोति । ज्ञानं परस्मै उपदिशति प्रतिपादयति । ज्ञानेन करोति न्यायमनुष्ठानं । य एवं करोति ज्ञानविनीतो भवत्येष इति । अथ दर्शनाचारदर्शनविनययोः को भेदस्तथा ज्ञानाचारज्ञानविनययोः कश्चन भेद इत्याशंकायामाह—शंकादिपरिणामपरिहारे यत्नः उपगूहनादिपरिणामानुष्ठाने च यत्नो दर्शनविनयः । दर्शनाचारः पुनः शंकाद्यभावेन तत्त्वश्रद्धानविषयो यत्न इति । तथा कालशुद्ध्यादिविषयेऽनुष्ठाने यत्नः कालादिविनयः, तथा द्रव्यक्षेत्रभावादिविषयश्च यत्नः । ज्ञानाचारः पुनः कालशुद्ध्यादिषु सत्सु श्रुतं पठनयत्नं । ज्ञानविनयः श्रुतोपकरणेषु च यत्नः श्रुतविनयः । तथापनयति तपसा तमोऽज्ञानं उपनयति च मोक्षमार्गे आत्मानं तपोविनयः नियमितमतिः सोऽपि तपोविनय इति ज्ञातव्य इति ॥३६८॥

और इन दोनों को शुद्ध रखना व्यंजनार्थ उभयशुद्ध विनय है। इस न्याय से ज्ञान का विनय आठ प्रकार से करना चाहिए ।

उसी ज्ञान की विशेषता को कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान शिक्षित करता है, ज्ञान गुणी बनाता है, ज्ञान पर को उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय किया जाता है । इस प्रकार यह जो करता है वह ज्ञान से विनयी होता है ॥३६८॥

आचारवृत्ति—ज्ञान विद्या को प्राप्त कराता है । ज्ञान अवगुण को गुणरूप से परिवर्तित करता है । ज्ञान पर को उपदेश का प्रतिपादन करता है । ज्ञान से न्याय—सत्प्रवृत्ति करता है जो ऐसा करता है वह ज्ञानविनीत होता है ।

प्रश्न—दर्शनाचार और दर्शनविनय में क्या अन्तर है ? उसी प्रकार ज्ञानाचार और ज्ञानविनय में क्या अन्तर है ?

उत्तर—शंकादि परिणामों के परिहार में प्रयत्न करना और उपगूहन आदि गुणों के अनुष्ठान में प्रयत्न करना दर्शनविनय है। पुनः शंकादि के अभावपूर्वक तत्त्वों के श्रद्धान में यत्न करना दर्शनाचार है । उसी प्रकार कालशुद्धि आदि विषय अनुष्ठान में प्रयत्न करना काल आदि विनय हैं तथा द्रव्य क्षेत्र और भाव आदि के विषय में प्रयत्न करना यह सब ज्ञानाचार है। काल शुद्धि आदि के होने पर श्रुत के पढ़ने का प्रयत्न करना ज्ञान विनय है और श्रुत के उपकरणों में अर्थात् ग्रन्थ, उपाध्याय आदि में प्रयत्न करना श्रुतविनय है ।

उसी प्रकार से जो तप से अज्ञान तम को दूर करता है और आत्मा को मोक्ष मार्ग के समीप करता है वह तपोविनय है और नियमितमति होना है वह भी तप का विनय है ऐसा जानना चाहिए ।

चारित्रविनयस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

इंदियकसायपणिहाणंपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होई णायव्वो ॥३६९॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि कषायाः क्रोधादयः तेषामिन्द्रियकषायाणां प्रणिधानं प्रसरहानिरिन्द्रियकषायप्रणिधानं इन्द्रियप्रसरनिवारणं कषायप्रसरनिवारणं । अथवेन्द्रियकषायाणां अपरिणामस्तद्गतव्यापारनिरोधनं । अपि च गुप्तयो मनोवचनकायशुभप्रवृत्तयः । समितय ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोच्चारप्रस्रवणप्रतिष्ठापनाः । एष चारित्रविनयः समासतः संक्षेपतो भवति ज्ञातव्यः । अत्रापि समितिगुप्तय आचारः । तद्रक्षणोपाये प्रयत्नश्चारित्रविनय इति ॥३६९॥

तपोविनयस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

उत्तरगुणउज्जोगो सम्मं अहियासणा य सद्धा य ।
आवासयाणमुचिदाणं अपरिहाणीयणुस्सेहो ॥३७०॥

आतापनाद्युत्तरगुणेषूद्योग उत्साहः । सम्यगध्यासनं तत्कृतश्रमस्य निराकुलतया सहनं । तद्गतश्रद्धा—तानुत्तरगुणान् कुर्वतः शोभनपरिणामः । आवश्यकानां समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानकायोत्स-

---

चारित्र विनय का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रिय और कषायों का निग्रह, गुप्तियाँ और समितियाँ संक्षेप से यह चारित्र विनय जानना चाहिए। ॥३६९॥

आचारवृत्ति—चक्षु आदि इन्द्रियाँ और क्रोधादि कषायों का प्रणिधान—प्रसार की हानि का होना अर्थात् इन्द्रिय के प्रसार का निवारण करना और कषायों के प्रसार का निवारण करना। अथवा इन्द्रिय और कषायों का परिणाम अर्थात् उनमें होने वाले व्यापार का निरोध करना—यह इन्द्रिय कषाय प्रणिधान है। मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति गुप्तियाँ हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उच्चार प्रस्रवण प्रतिष्ठापना ये पाँच समितियाँ हैं। यह सब चारित्र विनय संक्षेप से कहा गया है। यहाँ पर भी समिति और गुप्तियाँ चारित्राचार हैं और उनकी रक्षा के उपाय में जो प्रयत्न है वह चारित्र विनय है।

भावार्थ—इन्द्रियों का निरोध और कषायों का निग्रह होना तथा समिति गुप्ति की रक्षा में प्रयत्न करना यह सब चारित्रविनय है।

अब तपो विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—उत्तर गुणों में उत्साह, उनका अच्छी तरह अभ्यास, श्रद्धा, उचित आवश्यकों में हानि या वृद्धि न करना तपोविनय है। ॥३७०॥

आचारवृत्ति—आतापन आदि उत्तर गुणों में उद्यम—उत्साह रखना, उनके करने में जो श्रम होता है उसको निराकुलता से सहन करना, उन उत्तर गुणों को करने वाले के प्रति श्रद्धा—शुभ भाव रखना। समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। ये उचित हैं, कर्मक्षय के लिए निमित्त हैं। ये परिमित हैं, इनकी हानि और वृद्धि

र्गाणामुचितानां कर्मक्षयनिमित्तानां परिमितानामपरिहाणिरनुत्सेधः न हानिः कर्तव्या नापि वृद्धिः। षडेव भावाश्चत्वारः पंच वा न कर्तव्याः। तथा सप्ताष्टौ न कर्तव्याः। या यस्यावश्यकस्य वेला तस्यामेवासौ कर्तव्यो नान्यस्यां वेलायां हानिं वृद्धिं प्राप्नुयात्। तथा यस्यावश्यकस्य यावन्तः पठिताः कायोत्सर्गास्तावन्त एव कर्तव्या न तेषां हानिर्वृद्धिर्वा कार्या इति ॥३७०॥

भत्ती तवोधियम्हि[1] य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचारित्तसाहुस्स ॥३७१॥

भक्तिः स्तुतिपरिणामः सेवा वा। तपसाधिकस्तपोऽधिकः तस्मिंस्तपोधिके। आत्मनोऽधिकतपसि तपसि च द्वादशविधतपोऽनुष्ठाने च भक्तिरनुरागः। शेषाणामनुत्कृष्टतपसामहेलना अपरिभवः। एष तपसि विनयः सर्वसंयतेषु प्रणामवृत्तिर्यथोक्तचारित्रस्य साधोर्भवति ज्ञातव्य इति ॥३७१॥

पंचमौपचारिकविनयं प्रपंचयन्नाह—

नहीं करना अर्थात् ये आवश्यक छह ही हैं, इन्हें चार वा पाँच नहीं करना तथा सात या आठ भी नहीं करना। जिस आवश्यक की जो वेला है उसी वेला में वह आवश्यक करना चाहिए, अन्य वेला में नहीं। अन्यथा हानि वृद्धि हो जावेगी। तथा, जिस आवश्यक के जितने कायोत्सर्ग बताये गये हैं उतने ही करना चाहिए, उनकी हानि या वृद्धि नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—उत्तर गुणों के धारण करने में उत्साह रखना, उनका अभ्यास करना और उनके करनेवालों में आदर भाव रखना तथा आवश्यक क्रियाओं को आगम की कथित विधि से उन्हीं उन्हीं के काल में कायोत्सर्ग की गणना से करना यह सब तपोविनय है। जैसे दैवसिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति में १०८ उच्छ्वास पूर्वक ३६ कायोत्सर्ग, रात्रिक प्रतिक्रमण में ५४ उच्छ्वास पूर्वक १८ कायोत्सर्ग, देववंदना में चैत्य पंचगुरु भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग इत्यादि कहे गये हैं सो उतने प्रमाण से विधिवत् करना।

गाथार्थ—तपोधिक साधु में और तप में भक्ति रखना तथा और दूसरे मुनियों की अवहेलना नहीं करना, आगम में कथित चारित्र वाले साधु का यह तपोविनय है। ॥३७१॥

आचारवृत्ति—जो तपश्चर्या में अपने से अधिक हैं वे तपोधिक होते हैं। उनमें तथा बारह प्रकार के तपश्चरण के अनुष्ठान में भक्ति अर्थात् अनुराग रखना। स्तुति के परिणाम को अथवा सेवा को भक्ति कहते हैं सो इनकी भक्ति करना। शेष जो मुनि अनुत्कृष्ट तप वाले हैं अर्थात् अधिक तपश्चरण नहीं करते हैं उनका तिरस्कार—अपमान नहीं करना। सभी संयतों में प्रणाम की वृत्ति होना—यह सब तपोविनय है जो कि आगमानुकूल चारित्रधारी साधु के होता है।

पाँचवें औपचारिक विनय का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

---

१ क 'म्हि अ'।

काइयवाइयमाणसिओ त्ति अ तिविहो दु पंचमो विणओ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो य ॥३७२॥

काये भवः कायिकः। वाचि भवो वाचिकः। मनसि भवो मानसिकः।त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तु पंचमो विनयः। स्वर्गमोक्षादीन् विशेषेण नयतीति विनयः। कायाश्रयो वागाश्रयो मानसाश्रयश्चेति। स पुनः सर्वोऽपि कायिको वाचिको मानसिकश्च द्विविधो द्विप्रकारः प्रत्यक्षश्चैव परोक्षश्च। गुरोः प्रत्यक्षश्चक्षुरादिविषयः। चक्षुरादिविषयादतिक्रान्तः परोक्ष इति ॥३७२॥

कायिकविनयस्वरूपं दर्शयन्नाह—

अब्भुट्ठाणं किदिअम्मं णवणं अंजलीय मुंडाणं।
पच्चूगच्छणमेत्ते पछिदस्सणुसाहणं चेव ॥३७३॥

अभ्युत्थानमादरेणासनादुत्थानं। क्रियाकर्म सिद्धभक्तिश्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं कायोत्सर्गादिकरणं। नमनं शिरसा प्रणामः। अञ्जलिना करकुंडलेनाञ्जलिकरणं वा मुण्डानामृषीणां। अथवा मुण्डा सामान्य-

---

गाथार्थ—कायिक, वाचिक और मानसिक इस प्रकार पाँचवाँ औपचारिक विनय तीन भेद रूप है। पुनः वह तीन भेद रूप विनय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष की अपेक्षा से दो प्रकार का है। ॥३७२॥

आचारवृत्ति—काय से होनेवाला कायिक है, वचन से होने वाला वाचिक और मन से होने वाला मानसिक विनय है। जो स्वर्ग मोक्षादि में विशेष रूप से ले जाता है वह विनय है। इस तरह औपचारिक नामक पाँचवाँ विनय तीन प्रकार का है। अर्थात् काय के आश्रित, वचन के आश्रित और मन के आश्रित से यह विनय तीन भेद रूप है। वह तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार है अर्थात् प्रत्यक्ष विनय के भी तीन भेद हैं और परोक्ष के भी तीन भेद हैं। जब गुरु प्रत्यक्ष में हैं, चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर हैं तब उनका विनय प्रत्यक्षविनय है तथा जब गुरु चक्षु आदि से परे दूर हैं तब उनकी जो विनय की जाती है वह परोक्षविनय है।

कायिक विनय का स्वरूप दिखलाते हैं—

गाथार्थ—केशलोच से मुण्डित हुए अतः जो मुण्डित कहलाते हैं ऐसे मुनियों के लिए उठकर खड़े होना, भक्तिपाठ पूर्वक वन्दना करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, आते हुए के सामने जाना और प्रस्थान करते हुए के पीछे-पीछे चलना ॥३७३॥

आचारवृत्ति—मुण्ड अर्थात् ऋषियों को सामने देखकर आदरपूर्वक आसन से उठकर खड़े हो जाना, क्रियाकर्म—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करके वन्दना करना, अंजलि जोड़कर शिर झुकाकर नमस्कार करना नमन है। यहाँ मुण्ड का अर्थ ऋषि है अथवा 'मुण्ड' का अर्थ सामान्य वन्दना है अर्थात् भक्तिपाठ के बिना नमस्कार करना मुण्ड-वन्दना है। जो साधु सामने आ रहे हैं उनके सम्मुख जाना, प्रस्थान करने वाले के पीछे-पीछे चलना। तात्पर्य यह है कि साधुओं का आदर करना चाहिए। उनके प्रति भक्तिपाठ

वन्दना। पच्चूगच्छणमेत्ते—आगच्छतः प्रतिगमनमभिमुखयानं। प्रस्थितस्य प्रयाणके व्यवस्थितस्यानुसाधनं चानुव्रजनं च साधूनामादरः कार्यः। तथा तेषामेव क्रियाकर्म कर्तव्यम्। तथा तेपामेव कृताञ्जलिपुटेन नमनं कर्तव्यं। तथा साधोरागतः प्रत्यभिमुखगमनं कर्तव्यं तथा तस्यैव प्रस्थितस्यानुव्रजनं कर्तव्यमिति ॥३७३॥ तथा—

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं।
आसणदाणं उवगरणदाण ओगासदाणं च ॥३७४॥

देवगुरुभ्यः पुरतो नीचं स्थानं वामपार्श्वे स्थानं। नीचं च गमनं गुरोर्वामपार्श्वे पृष्ठतो वा गन्तव्यं। नीचं च न्यग्भूतं चासनं पीठादिवर्जनं। गुरोरासनस्य पीठादिकस्य दानं निवेदनं। उपकरणस्य पुस्तिकाकुंडिकापिच्छिकादिकस्य प्रासुकस्यान्विष्य दानं निवेदनं। अथवा नीचं स्थानं करचरणसंकुचितवृत्तिर्गुरोः सधर्मणोऽन्यस्य वा व्याधितस्येति ॥३७४॥ तथा—

पडिरूवकायसंफासणदा य पडिरूपकालकिरिया य।
पेसणकरणं संथरकरणं उवकरण पडिलिहणं ॥३७५॥

प्रतिरूपं शरीरवलयोग्यं कायस्य शरीरस्य संस्पर्शनं मर्दनमभ्यंगनं वा। **प्रतिरूपकालक्रिया** चोष्ण-

---

करते हुए कृति कर्म करना चाहिए तथा उन्हें अंजलि जोड़कर नमस्कार करना चाहिए। साधुओं के आते समय सन्मुख जाकर स्वागत करना चाहिए और उनके प्रस्थान करने पर कुछ दूर पहुँचाने के लिए उनके पीछे-पीछे जाना चाहिए।

गाथार्थ—गुरुओं से नीचे खड़े होना, नीचे अर्थात् पीछे चलना, नीचे बैठना, नीचे स्थान में सोना, गुरु को आसन देना, उपकरण देना और ठहरने के लिए स्थान देना—यह सब कायिक विनय है ॥३७४॥

आचारवृत्ति—देव और गुरु के सामने नीचे खड़े होना (विनय से एक तरफ खड़े होना), गुरु के साथ चलते समय उनके बायें चलना या उनके पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ पाटे आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि देना, उनके लिए आसन देकर उन्हें विराजने के लिए निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका आदि उपकरण देना, वसतिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुक स्थान अन्वेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिए निवेदन करना। अथवा 'नीच स्थान' का अर्थ यह है कि गुरु, सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रसित मुनि के प्रति हाथ-पैर संकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनम्रता रखना।

उसी प्रकार से—

गाथार्थ—गुरु के अनुरूप उनके अंग का मर्दनादि करना, उनके अनुरूप और काल के अनुरूप क्रिया करना, आदेश पालन करना, उनके संस्तर लगाना तथा उपकरणों का प्रतिलेखन करना ॥३७५॥

आचारवृत्ति—गुरु के शरीर वल के योग्य शरीर का मर्दन करना अथवा उनके शरीर में तैल मालिश करना, उष्ण काल में शीत क्रिया, शीतकाल में उष्णक्रिया करना, और वर्षाकाल

काले शीतक्रिया शीतकाले उष्णक्रिया वर्षाकाले तद्योग्यक्रिया। प्रेष्यकरणं—आदेशकरणं। संस्तरकरणं चट्टिकादिप्रस्तरणं। उपकरणानां पुस्तिकाकुण्डिकादीनां प्रतिलेखनं सम्यग्निरूपणम् ॥३७५॥

इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण।
एसो काइयविणओ जहारिहं साहुवग्गस्स ॥३७६॥

इत्येवमादिरुपकारो गुरोरन्यस्य वा साधुवर्गस्य यः शरीरेण क्रियते यथायोग्यं स एष कायिकं विनयः कायाश्रितत्वादिति ॥३७६॥

वाचिकविनयस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

पूयावयणं हिदभासणं मिदभासणं च मधुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥३७७॥

पूजावचनं बहुवचनोच्चारणं यूयं भट्टारका इत्येवमादि। हितस्य पथ्यस्य भाषणं इहलोकपरलोकधर्मकारणं वचनं। मितस्य परिमितस्य भाषणं चाल्पाक्षरबह्वर्थं। मधुरं च मनोहरं श्रुतिसुखदं। सूत्रानुवीचिवचनमागमदृष्टया भाषणं यथा पापं न भवति। अनिष्ठुरं दग्धमृतप्रलीनेत्यादिशब्दै रहितं। अकर्कशं वचनं वर्जयित्वा वाच्यमिति ॥३७७॥

में उस ऋतु के योग्य क्रिया करना। अर्थात् गुरु की सेवा आदि ऋतु के अनुकूल और उनकी प्रकृति के अनुकूल करना। उनके आदेश का पालन करना; उनके लिए संस्तर अर्थात् चटाई घास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक कमण्डलु आदि उपकरणों को ठीक तरह से पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

गाथार्थ—साधु वर्ग का इसी प्रकार से और भी जो उपकार यथायोग्य अपने शरीर के द्वारा किया जाता है यह सब कायिक विनय है ॥३७६॥

आचारवृत्ति—इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शरीर के द्वारा योग्यता के अनुसार किया जाता है वह सब कायिक विनय है; क्योंकि वह काय के आश्रित है।

वाचिक विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पूजा के वचन, हित वचन, मितवचन और मधुर वचन, सूत्रों के अनुकूल वचन, अनिष्ठुर और कर्कशता रहित वचन बोलना वाचिक विनय है ॥३७७॥

आचारवृत्ति—'आप भट्टारक!' इत्यादि प्रकार बहुवचन का उच्चारण करना पूजा वचन हैं। हित—पथ्य वचन बोलना अर्थात् इस लोक और परलोक के लिए धर्म के कारणभूत वचन, हितवचन हैं। मित—परिमित बोलना जिसमें अल्प अक्षर हों किन्तु अर्थ बहुत हो मित वचन हैं। मधुर—मनोहर अर्थात् कानों को सुखदायी वचन मधुर वचन हैं। आगम के अनुकूल बोलना कि जिस प्रकार से पाप न हो सूत्रानुवीचि वचन हैं। तुम जलो मरो, प्रलय को प्राप्त हो जाओ इत्यादि शब्दों से रहित वचन अनिष्ठुर वचन हैं और कठोरता रहित वचन अकर्कश वचन हैं। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के वचन बोलना ही वाचिक विनय है।

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो ॥३७८॥

उपशान्तवचनं क्रोधमानादिरहितं। अगृहस्थवचनं गृहस्थानां मकारवकारादि यद्वचनं तेन रहितं बन्धनत्रासनताडनादिवचनरहितं। अकिरियं असिमसिकृष्यादिक्रिया (दि) रहितं अथवा सक्रियमिति पाठः। सक्रियं क्रियायुक्तमन्यच्चिन्तान्यदोषयोरिति न वाच्यं, तदुच्यते यन्निष्पाद्यते। अहीलं—अपरिभववचनं। इत्येवमादिवचनं यत्र स एष वाचिको विनयो यथायोग्यं भवति कर्तव्य इति ॥३७८॥

मानसिकविनयस्वरूपमाह—

पापविसोत्तिग्रपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणग्रो ॥३७९॥

पापविश्रुतिपरिणामवर्जनं पापं हिंसादिकं विश्रुतिः सम्यग्विराधना तयोः परिणामस्तस्य वर्जनं परिहारः। प्रिये धर्मोपकारे हिते च सम्यग्ज्ञानादिके च परिणामो ज्ञातव्यः। संक्षेपेण स एष मानसिकश्चित्तोद्भवो विनय इति ॥३७९॥

इय एसो पच्चक्खो विणग्रो पारोक्खिओवि जं गुरुणो।
विरहम्मिवि वट्टिज्जदि आणाणिद्देसचरियाए ॥३८०॥

गाथार्थ—कषायरहित वचन, गृहस्थी सम्बन्ध से रहित वचन, क्रिया रहित और अवहेलना रहित वचन बोलना—यह वाचिक विनय है जिसे यथायोग्य करना चाहिए ॥३७८॥

आचारवृत्ति—क्रोध, मान, आदि से रहित वचन उपशान्त वचन हैं। गृहस्थों के जो मकार-वकार आदि रूप वचन हैं उनसे रहित वचन, तथा बन्धन, त्रासन, ताडन आदि से रहित वचन अगृहस्थ वचन हैं। असि, मषि, कृषि आदि क्रियाओं से रहित वचन अक्रियवचन हैं। अथवा 'सक्रियं' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि क्रियायुक्त वचन बोलना किन्तु अन्य की चिन्ता और अन्य के दोष रूप वचन नहीं बोलना चाहिए। जैसा करना वैसा ही बोलना चाहिए। किसी का तिरस्कार करने वाले वचन नहीं बोलना अहीलन वचन हैं। और भी ऐसे ही वचन जहाँ होते हैं वह सब वाचिक विनय है जो कि यथायोग्य करना चाहिए।

मानसिक विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पापविश्रुत के परिणाम का त्याग करना, और प्रिय तथा हित में परिणाम करना संक्षेप से यह मानसिक विनय है ॥३७९॥

आचारवृत्ति—हिंसादि को पाप कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना को विश्रुति कहते हैं। इन पाप और विराधना विषयक परिणामों का त्याग करना। धर्म और उपकार को प्रिय कहते हैं तथा सम्यग्ज्ञानादि के लिए हित संज्ञा है। इन प्रिय और हित में परिणाम को लगाना। संक्षेप से यह चित्त से उत्पन्न होनेवाला मानसिक विनय कहलाता है।

गाथार्थ—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है। तथा जो गुरु के न होने पर भी उनकी आज्ञा, निर्देश और चर्या में रहता है उसके परोक्ष सम्बन्धी विनय होता है ॥३८०॥

इत्येष प्रत्यक्षविनयः कायिकादिः, गुर्वादिषु सत्सु वर्तते यतः, पारोक्षिकोऽपि विनयो यद्गुरोविरहेऽपि गुर्वादिषु परोक्षीभूतेषु यद्वर्तते। आज्ञानिर्देशेन चर्यया वार्हद्भट्टारकोपदिष्टेषु जीवादिपदार्थेषु श्रद्धानं कर्तव्यं तथा तैर्या चर्योद्दिष्टा व्रतसमित्यादिका तया च वर्तनं परोक्षो विनयः। तेषां प्रत्यक्षतो यः क्रियते स प्रत्यक्षमिति ॥३८०॥

पुनरपि त्रिविधं विनयमन्येन प्रकारेणाह—

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहा समासदो भणिओ ।
सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए ॥३८१॥

अथौपचारिको विनय उपकारे धर्मादिकपरचित्तानुग्रहे भव औपचारिकः खलु स्फुटं त्रिविधस्त्रिप्रकारः कायिकवाचिकमानसिकभेदेन समासतः संक्षेपतो भणितः कथितः। सप्तविधश्चतुर्विधो द्विविधो बोद्धव्यः। आनुपूर्व्यानुक्रमेण कायिकः सप्तप्रकारो वाचिकश्चतुर्विधः मानसिको द्विविध इति ॥३८१॥

कायिकविनयं सप्तप्रकारमाह—

आचारवृत्ति—यह सब ऊपर कहा गया कायिक आदि विनय प्रत्यक्ष विनय है, क्योंकि यह गुरु के रहते हुए उनके पास में किया जाता है। और, गुरुओं के विरह में- उनके परोक्ष रहने पर अर्थात् अपने से दूर हैं उस समय भी जो उनका विनय किया जाता है वह परोक्ष विनय है। वह उनकी आज्ञा और निर्देश के अनुसार चर्या करने से होता है। अथवा अर्हन्त भट्टारक द्वारा उपदिष्ट जीवादि पदार्थों में श्रद्धान करना तथा उनके द्वारा जो भी व्रत समिति आदि चर्याएँ कही गई हैं, उनरूप प्रवृत्ति करना यह सब परोक्ष विनय है। अर्थात् उनके प्रत्यक्ष में किया गया विनय प्रत्यक्ष विनय तथा परोक्ष में किया गया नमस्कार, आज्ञा पालन आदि विनय परोक्ष विनय है।

पुनः इन्हीं तीन प्रकार की विनय को अन्य रूप से कहते हैं—

गाथार्थ—यह औपचारिक संक्षेप से कायिक, वाचिक और मानसिक ऐसा तीन प्रकार कहा गया है। वह क्रम से सातभेद, चार भेद और दो भेदरूप जानना चाहिए ॥३८१॥

आचारवृत्ति—जो उपचार अर्थात् धर्मादि के द्वारा पर के मन पर अनुग्रह करनेवाला होता है वह औपचारिक विनय कहलाता है। यह औपचारिक विनय प्रकट रूप से कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों की अपेक्षा संक्षेप में तीन प्रकार का कहा गया है। उसमें क्रम से सात, चार और दो भेद माने गये हैं अर्थात् कायिक विनय सात प्रकार का है, वाचिक विनय चार प्रकार का है और मानसिक विनय दो प्रकार का है।

कायिक विनय के सात प्रकार को कहते हैं—

अब्भुट्ठाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च ।
किदियम्मं पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं ॥३८२॥*

अभ्युत्थानम् आदरेणोत्थानं । **सन्नतिः** शिरसा प्रणामः । **आसनदानं** पीठाद्युपनयनं । **अनुप्रदानं** च पुस्तकपिच्छिकाद्युपकरणदानं । **क्रियाकर्म** श्रुतभक्त्यादिपूर्वककायोत्सर्गः **प्रतिरूपं** यथायोग्यं, अथवा शरीरप्रतिरूपं कालप्रतिरूपं भावप्रतिरूपं च क्रियाकर्म शीतोष्णमूत्रपुरीषाद्यपनयनं । **आसनपरित्यागो** गुरोः पुरत उच्चस्थाने न स्थातव्यं । **अनुव्रजनं** प्रस्थितेन सह किंचिद्गमनमिति । अभ्युत्थानमेकः सन्नतिर्द्वितीय आसनदानं तृतीयः अनुप्रदानं चतुर्थः प्रतिरूपक्रियाकर्म पंचमः आसनत्यागः षष्ठोऽनुव्रजनं सप्तमः प्रकारः कायिकविनयस्येति ॥३८२॥

वाचिकमानसिकविनयभेदानाह—

गाथार्थ—गुरुओं को आते हुए देखकर उठकर खड़े होना, उन्हें नमस्कार करना, आसन देना, उपकरणादि देना, भक्ति पाठ आदि पढ़कर वन्दना करना, या उनके अनुकूल क्रिया करना, आसन को छोड़ देना और जाते समय उनके पीछे जाना ये सात भेदरूप कायिकविनय है ॥३८२॥

आचारवृत्ति—अभ्युत्थान—गुरुओं को सामने आते हुए देखकर आदर से उठकर खड़े हो जाना । सन्नति—शिर से प्रणाम करना । आसनदान—पीठ, काष्ठासन, पाटा आदि देना । अनुप्रदान—पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण देना । प्रतिरूप क्रियाकर्म यथायोग्य—श्रुत भक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्ग करके वन्दना करना, अथवा गुरुओं के शरीर के प्रकृति के अनुरूप, काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा शुश्रूषा आदि क्रियाएँ करना; जैसे कि शीतकाल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि । आसनत्याग—गुरु के सामने उच्चस्थान पर नहीं बैठना । अनुव्रजन—उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना । इसप्रकार से (१) अभ्युत्थान, (२) सन्नति, (३) आसनदान, (४) अनुप्रदान, (५) प्रतिरूपक्रियाकर्म, (६) आसनत्याग और (७) अनुव्रजन—ये सात प्रकार कायिकविनय के होते हैं ।

वाचिक और मानसिक विनय के भेदों को कहते हैं—

---

*फलटन से प्रकाशित में ये गाथाएँ इसके पहले हैं । ये गाथाएँ मूल में नहीं हैं—

उपचार विनय के दो भेदों का वर्णन—

अहवोवचारिओ खलु विणओ दुविहो समासदो होदि ।
पडिरूवकालकिरियाणासादणसीलदा चेव ॥

पडिरूवो काइगवाचिगमाणसिगो दु बोधव्वो ।
सत्त चदुव्विह दुविहो जहाकमं होदि भेदेण ॥

अर्थात् धर्मात्मा के चित्त पर अनुग्रह करने वाला औपचारिक विनय संक्षेप से दो प्रकार का है । प्रतिरूपकाल क्रिया विनय—गुरुओं के अनुरूप काल आदि को देखकर क्रिया अर्थात् भक्ति सेवा आदि करना । अनासादनशीलता विनय—आचार्यों आदि की निन्दा नहीं करने का स्वभाव होना, ऐसे दो भेद हैं । प्रतिरूप विनय कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार का है । कायिकविनय सात प्रकार का, वाचिक चार प्रकार का और मानसिक विनय दो प्रकार का है ।

हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभासणं च बोधव्वं ।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव ॥३८३॥*

हितभाषणं मितभाषणं परिमितभाषणमनुवीचिभाषणं च । हितं धर्मसंयुक्तं । मितमल्पाक्षरं वह्वर्थं । परिमितं कारणसहितं । अनुवीचीभाषणमागमाविरुद्धवचनं चेति चतुर्विधो वचनविनयो ज्ञातव्यः । तथाऽकुशलमनसो रोधः पापादानकारकचित्तनिरोधः । कुशलमनसो धर्मप्रवृत्तचित्तस्य प्रवर्तकश्चेति द्विविधो मनोविनय इति ॥३८३॥

स एवं द्विविधो विनयः साधुवर्गेण कस्य कर्तव्य इत्याशंकायामाह—

रादिणिए उणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥३८४॥

रादिणिए—रात्र्यधिके दीक्षागुरौ श्रुतगुरौ तपोधिके च । उणरादिणिएसु य—ऊनरात्रिकेषु च तपसा कनिष्ठेषु गुणकनिष्ठेषु वयसा कनिष्ठेषु च साधुषु । अज्जासु—आर्यिकासु । गिहिवग्गे—गृहिवर्गे

गाथार्थ—हितवचन, मितवचन, परिमितवचन और सूत्रानुसार वचन, इन्हें वाचिक विनय जानना चाहिए। अशुभ मन को रोकना और शुभ मन की प्रवृत्ति करना ये दो मानसिक विनय हैं ॥३८३॥

आचारवृत्ति—हित भाषण—धर्मसंयुक्त वचन बोलना, मित भाषण—जिसमें अक्षर अल्प हों अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना, परिमित भाषण—कारण सहित वचन बोलना अर्थात् बिना प्रयोजन के नहीं बोलना, अनुवीचिभाषण—आगम से अविरुद्ध वचन बोलना, इस प्रकार से वचन विनय चार प्रकार का है। पाप आस्रव करनेवाले अशुभ मन का रोकना अर्थात् मन में अशुभ विचार नहीं लाना तथा धर्म में चित्त को लगाना ये दो प्रकार का मनोविनय है।

यह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दोनों प्रकार का विनय साधुओं को किनके प्रति करना चाहिए? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक रात्रि भी अधिक गुरु में, दीक्षा में एक रात्रि न्यून भी मुनि में, आर्यिकाओं में और गृहस्थों में अप्रमादी मुनि को यथा योग्य यह विनय करना चाहिए ॥३८४॥

आचारवृत्ति—जो दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं वे रात्र्यधिक गुरु हैं। यहाँ रात्र्यधिक शब्द से दीक्षा गुरु, श्रुतगुरु और तप में अपने से बड़े गुरुओं को लिया है। जो दीक्षा में एक रात्रि भी छोटे हैं वे ऊनरात्रिक कहलाते हैं। यहाँ पर ऊनरात्रिक से जो तप में कनिष्ठ—लघु हैं, गुणों में लघु हैं और आयु में लघु हैं उन साधुओं को लिया है। इस प्रकार से दीक्षा आदि बड़े गुरुओं

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति में कुछ अन्तर है—

हिदमिदमद्दवअणुवीचिभासणो वाचिगो हवे विणओ ।
असुहमणसण्णिरोहो सुहमणसंकप्पगो तदिओ ॥

अर्थात् हितभाषण, मितभाषण, मृदुभाषण और आगम के अनुकूल भाषण यह वाचिक विनय है। अशुभमन का निरोध करना और शुभ में मन लगाना ये दो मानसिक विनय के भेद हैं।

श्रावकलोके च । **विनयो यथार्हो** यथायोग्यः कर्तव्यः । **अप्रमत्तेन** प्रमादरहितेन । साधूनां यो योग्यः आर्यिकाणां यो योग्यः, श्रावकाणां यो योग्यः, अन्येपामपि यो योग्यः स तथा कर्तव्यः, केन ? साधुवर्गेणाप्रमत्तेनात्मतपोऽनुरूपेण प्रासुकद्रव्यादिभिः स्वशक्त्या चेति ।

किमर्थं विनयः क्रियते इत्याशंकायामाह—

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ।।३८५।।

विनयेन विप्रहीणस्य विनयरहितस्य भवति शिक्षा श्रुताध्ययनं **निरर्थिका** विफला सर्वा सकला विनयः पुनः शिक्षा या विद्याध्ययनस्य फलं, विनयफलं सर्वकल्याणान्यभ्युदयनिःश्रेयससुखानि । अथवा स्वर्गावतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणादीनि कल्याणादीनीति ।।३८५।।

विनयस्तवमाह—

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य ।।३८६।।

में, अपने से छोटे मुनियों में, आर्यिकाओं में और श्रावक वर्गों में प्रमादरहित मुनि को यथायोग्य विनय करना चाहिए । अर्थात् साधुओं के जो योग्य हो, आर्यिकाओं के जो योग्य हो, श्रावकों के जो योग्य हो और अन्यों के भी जो योग्य हो वैसा ही करना चाहिए । किसको ? प्रमादरहित हुए साधु को अपने तप अर्थात् अपने व्रतों के, अपने पद के अनुरूप ही प्रासुक द्रव्यादि के द्वारा अपनी शक्ति से उन सबका विनय करना चाहिए ।

विशेष—यहाँ पर जो मुनियों द्वारा आर्यिकाओं की और गृहस्थों की विनय का उपदेश है सो नमस्कार नहीं समझना, प्रत्युत् यथायोग्य शब्द से ऐसा समझना कि मुनिगण आर्यिकाओं का भी यथायोग्य आदर करें, श्रावकों का भी यथायोग्य आदर करें, क्योंकि 'यथायोग्य' पद उनके अनुरूप अर्थात् पदस्थ के अनुकूल विनय का वाचक है । उससे आदर, सन्मान और बहुमान ही अर्थ सुघटित है ।

विनय किसलिए किया जाता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—विनय से हीन हुए मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है । विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सर्व कल्याण है ।।३८५।।

आचारवृत्ति—विनय से रहित साधु का सम्पूर्ण श्रुत का अध्ययन निरर्थक है । विद्या-अध्ययन का फल विनय है और अभ्युदय तथा निःश्रेयसरूप सर्वकल्याण को प्राप्त कर लेना विनय का फल है । अथवा स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलज्ञानोत्पत्ति और परिनिर्वाण ये पाँचकल्याणक आदि कल्याणों की प्राप्ति का होना भी विनय का फल है ।

अब विनय की स्तुति करते हैं—

गाथार्थ—विनय मोक्ष का द्वार है । विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है । विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसंघ आराधित होता है ।।३८६।।

विनयो मोक्षस्य द्वारं प्रवेशकः। विनयात्संयमः। विनयात्तपः। विनयाच्च ज्ञानं। भवतीति सम्बन्धः। विनयेन चाराध्यते आचार्यः सर्वसंघश्चापि ॥३८६॥

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्जंजा।
अज्जवमद्दवलाहवभत्तीपल्हादकरणं च ॥३८७॥

आचारस्य गुणा जीदप्रायश्चित्तस्य कल्पप्रायश्चित्तस्य गुणास्तद्गतानुष्ठानानि तेषां दीपनं प्रकटनं। आत्मशुद्धिश्चात्मकर्मनिर्मुक्तिः। निर्द्वन्द्वः कलहाद्यभावः। ऋजोर्भाव आर्जवं स्वस्थता, मृदो भावो मार्दवं मायामानयोर्निरासः। लघोर्भावो लाघवं निःसंगता लोभनिरासः। भक्तिर्गुरुसेवा। प्रह्लादकरणं च सर्वदा सुखोत्पादनं। यो विनयं करोति तेनाचरजीदकल्पविषया ये गुणास्ते दीपिता उद्योतिता भवंति। आर्जव-मार्दवलाघवभक्तिप्रह्लादकरणानि च भवंति विनयकर्तुरिति ॥३८७॥

कित्ती मित्ती माणस्स भंजण गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥३८८॥

कीर्तिः सर्वव्यापी प्रतापः ख्यातिश्च। मैत्री सर्वैः सह मित्रभावः। मानस्य गर्वस्य भंजनमामर्दनं। गुरुजने च बहुमानं पूजाविधानं। तीर्थंकराणामाज्ञा पालिता भवति। गुणानुमोदश्च कृतो भवति। एते विनय-

---

आचारवृत्ति—विनय मोक्ष का द्वार है अर्थात् मोक्ष में प्रवेश करानेवाला है। विनय से संयम होता है, विनय से तप होता है और विनय से ज्ञान होता है। विनय से आचार्य और सर्वसंघ आराधित किये जाते हैं अर्थात् अपने ऊपर अनुग्रह करनेवाले हो जाते हैं।

गाथार्थ—*विनय से आचार, जीत, कल्प आदि गुणों का उद्योतन होता है तथा आत्म-शुद्धि, निर्द्वद्वता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आह्लादगुण प्रकट होते हैं ॥३८७॥*

आचारवृत्ति—विनय से आचार के गुण, जीदप्रायश्चित्त और कल्पप्रायश्चित्त के गुण तथा उनमें कहे हुए का अनुष्ठान, इन गुणों का दीपन अर्थात् प्रकटन होता है। विनय से आत्म-शुद्धि अर्थात् आत्मा की कर्मों से निर्मुक्ति होती है, निर्द्वंद्व—कलह आदि का अभाव हो जाता है। आर्जव—स्वस्थता आती है, मृदु का भाव मार्दव अर्थात् माया और मान का निरसन हो जाता है, लघु का भाव लाघव—निःसंगपना होता है अर्थात् लोभ का अभाव हो जाने से भारीपन का अभाव हो जाता है। भक्ति—गुरु के प्रति भक्ति होने से गुरु सेवा भी होती है और विनय से प्रह्लादकरण—सभी में सुख का उत्पन्न करना आ जाता है। तात्पर्य यह है कि जो विनय करता है उसके उस विनय के द्वारा आचार जीद और कल्पविषयक जो गुण हैं वे उद्योतित होते हैं। आजर्व, मार्दव, लाघव, भक्ति और आह्लादकरण ये गुण विनय करनेवाले में प्रकट हो जाते हैं।

गाथार्थ—*कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन, गुरुजनों में बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं ॥३८८॥*

आचारवृत्ति—विनय से सर्वव्यापी प्रताप और ख्याति रूप कीर्ति होती है। सभी के साथ मित्रता होती है, गर्व का मर्दन होता है, गुरुजनों में बहुमान अर्थात् पूजा या आदर मिलता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और गुणों की अनुमोदना की जाती है। ये सब विनय

गुणा भवन्तीति। विनयस्य कर्ता कीर्तिं लभते। तथा मैत्रीं लभते। तथात्मनो मानं निरस्यति। गुरुजनेभ्यो वहुमानं लभते। तीर्थकराणामाज्ञां च पालयति। गुणानुरागं च करोतीति ॥३८८॥

वैयावृत्त्यस्वरूपं निरूपयन्नाह—

आइरियादिसु पंचसु सबालवुड्ढाउलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए ॥३८९॥

आचार्योपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरेषु पंचसु। वाला नवकप्रव्रजिताः। वृद्धा वयोवृद्धास्तपोवृद्धा गुणवृद्धास्तैराकुलो गच्छस्तथैव वालवृद्धाकुले गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने। वैयावृत्यमुक्तं यथोक्तं कर्तव्यं सर्वशक्त्या सर्वसामर्थ्येन उपकरणाहारभैषजपुस्तकादिभिरुपग्रहः कर्तव्य इति ॥३८९॥

पुनरपि विशेषार्थं श्लोकेनाह—

गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले।
साहुगण कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥३९०॥

गुणैरधिको गुणाधिकस्तस्मिन् गुणाधिके। उपाध्याये श्रुतगुरौ। तपस्विनि कायक्लेशपरे। शिक्षके

के गुण हैं। तात्पर्य यह है कि विनय करने वाला मुनि कीर्ति को प्राप्त होता है, सबसे मैत्री भाव को प्राप्त हो जाता है, अपने मान का अभाव करता है, गुरुजनों से बहुमान पाता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करता है और गुणों में अनुराग करता है।

अब वैयावृत्य का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—आचार्य आदिपाँचों में, बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में वैयावृत्य को कहा गया है सो सर्वशक्ति से करनी चाहिए ॥३८९॥

आचारवृत्ति—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर ये पाँच हैं। नव-दीक्षित को वाल कहते हैं। वृद्ध से वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और गुणों से वृद्ध लिये गये हैं। सात पुरुष की परम्परा को अर्थात् सात पीढ़ी को गच्छ कहते हैं। इन आचार्य आदि पाँच प्रकार के साधुओं की तथा बाल, वृद्ध से व्याप्त ऐसे संघ की आगम में कथित प्रकार से सर्वशक्ति से वैयावृत्य करना चाहिए। अर्थात् अपनी सर्वसामर्थ्य से उपकरण, आहार, औषधि, पुस्तक आदि से इनका उपकार करना चाहिए।

भावार्थ—तप और त्याग में आचार्यों ने शक्ति के अनुसार करना कहा है किन्तु वैयावृत्ति में सर्वशक्ति से करने का विधान है। इससे वैयावृत्ति के विशेष महत्त्व को सूचित किया गया है।

पुनरपि विशेष अर्थ के लिए आगे के श्लोक (गाथा) द्वारा कहते हैं—

गाथार्थ—गुणों से अधिक, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, साधुगण, कुल, संघ और मनोज्ञतासहित मुनियों पर आपत्ति के प्रसंग में वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३९०॥

आचारवृत्ति—गुणाधिक—अपनी अपेक्षा जो गुणों में बड़े हैं, उपाध्याय—श्रुतगुरु, तपस्वी कायक्लेश में तत्पर, शिक्षक—शास्त्र के शिक्षण में तत्पर, दुर्बल—दुःशील अर्थात् दुष्टपरिणाम-

शास्त्रशिक्षणतत्परे दुःशीले वा दुर्बले व्याध्याक्रान्ते वा। साधुगणे ऋषियतिमुन्यनगारेषु। कुले [1]शुक्रकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने। संघे चातुर्वर्ण्ये श्रवणसंघे। समनोज्ञे सुखासीने सर्वोपद्रवरहिते। आपदि चोपद्रवे संजाते वैयावृत्यं कर्तव्यमिति ॥३६०॥

कैः कृत्वा वैयावृत्यं कर्तव्यमित्याह—

सेज्जोग्गासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणा[2]हि उवग्गहिदे।
आहारोसहवायण विकिंचणं वंदणादीहिं[3] ॥३६१॥

शय्यावकाशो वसतिकावकाशदानं निषद्याऽऽसनादिकं। उपधिः कुण्डिकादि। प्रतिलेखनं पिच्छिकादिः। इत्येतैरुपग्रह उपकारः। अथवैतैरुपगृहीते स्वीकृते। तथाहारौषधवाचनाव्याख्यानविकिंचनमूत्रपुरीषादिव्युत्सर्गवन्दनादिभिः। आहारेण भिक्षाचर्यया। औषधेन शुंठिपिप्पल्यादिकेन। शास्त्रव्याख्यानेन। च्युतमलनिर्हरणेन। वन्दनया च। शय्यावकाशेन निषद्ययोपधिना प्रतिलेखनेन च पूर्वोक्तानामुपकारः कर्तव्यः। एतैस्ते प्रतिगृहीता आत्मीकृता भवन्तीति ॥३६१॥

केषु स्थानेषूपकारः क्रियतेऽत आह—

वाले अथवा व्याधि से पीड़ित, साधुगण—ऋषि, यति, मुनि और अनगार, कुल—गुरुकुल-परम्परा, संघ—चतुर्विध श्रमण संघ, समनोज्ञ—सुख से आसीन या सर्वोपद्रव से रहित ऐसे साधुओं पर आपत्ति या उपद्रव के आने पर वैयावृत्ति करना चाहिए।

विशेष—यहाँ पर कुल का अर्थ गुरुकुल-परम्परा से है। तीन पीढ़ी की मुनिपरम्परा को कुल तथा सात पीढ़ी की मुनिपरम्परा को गच्छ कहते हैं। 'मूलाचार-प्रदीप' (अध्याय ७ गाथा ६८-६९) के अनुसार, जिस मुनि-संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणाधीश ये पाँच हों उस संघ की कुल संज्ञा है।

क्या करके वैयावृत्ति करना चाहिए? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वसति, स्थान, आसन तथा उपकरण इनका प्रतिलेखन द्वारा उपकार करना; आहार, औषधि आदि से; मलादि दूर करने से और उनकी वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३६१॥

आचारवृत्ति—शय्यावकाश—मुनियों को वसतिका का दान देना, निषद्या—मुनियों को आसन आदि देना, उपधि—कमण्डलु आदि उपकरण देना, प्रतिलेखन—पिच्छिका आदि देना, इन कार्यों से मुनियों का उपकार करना चाहिए, अथवा इनके द्वारा उपकार करके उन्हें स्वीकार करना। आहारचर्या द्वारा, सोंठ पिप्पल आदि औषधि द्वारा, शास्त्र-व्याख्यान द्वारा, कदाचित् मल-मूत्र आदि च्युत होने पर उसे दूर करने द्वारा, और वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वसतिका-दान, आसनदान, उपकरण-दान प्रतिलेखन आदि के द्वारा पूर्वोक्त साधुओं का उपकार करना चाहिए। इन उपकारों से वे अपने किये जाते हैं।

किन स्थानों में उपकार करना? सो ही बताते हैं—

---

१ क कुले गुरुकुले। 'कुले—शुक्रकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने' इति पाठान्तरम्। २ क °णा उवग्गहिदो। ३ क °दीणं।

अद्धाणतेणसावदरायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं वुत्तं संगहसारक्खणोवेदं ॥३९२॥

अध्वनि श्रान्तस्य। **स्तेनैश्चौरै**रुपद्रुतस्य। **श्वापदैः** सिंहव्याघ्रादिभिः परिभूतस्य। **राजभिः** खंचितस्य। **नदीरोधेन** पीडितस्य। **अशिवेन** मारिरोगादिव्यथितस्य। **ओमे**—दुर्भिक्षपीडितस्य। **वैयावृत्यमुक्तं संग्रहसारक्षणोपेतं**। तेषामागतानां संग्रहः कर्तव्यः। संगृहीतस्य रक्षणं कर्तव्यं। अथचैवं सम्बन्धः कर्तव्यः। एतेषु प्रदेशेषु संग्रहोपेतं सारक्षणोपेतं च वैयावृत्यं कर्तव्यमिति। अथवा रोधशब्दाः प्रत्येक मभिसम्बध्यते। पथिरोधश्चौररोधः श्वापदरोधः राजरोधो नदीरोध एतेषु रोधेषु तथा अशिवे दुर्भिक्षे च वैयावृत्यं कर्तव्यमिति ॥३९४॥

स्वाध्यायस्वरूपमाह—

परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ ॥३९३॥

परिवर्तनं पठितस्य ग्रन्थस्यानुवेदनं। **वाचना** शास्त्रस्य व्याख्यानं। **पृच्छना** शास्त्रश्रवणं। **अनुप्रेक्षा** द्वादशानुप्रेक्षाऽनित्यत्वादि। **धर्मकथा** त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितानि। स्तुतिर्मुनिदेववन्दना मंगल इत्येवं संयुक्तः

गाथार्थ—मार्ग, चोर, हिंस्रजन्तु, राजा, नदी का रोध और मारी के प्रसंग में, दुर्भिक्ष में, सारक्षण से सहित वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३९२॥

आचारवृत्ति—मार्ग में चलने से जो थक गये हैं, जिन पर चोरों ने उपद्रव किया है, सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से जिनको कष्ट हुआ है, राजा ने जिनको पीड़ा दी है, नदी की रुकावट से जिनको बाधा हुई है, अशिव अर्थात् मारी-रोग आदि से जो पीड़ित हैं, दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं ऐसे साधु यदि अपने संघ में आये हैं तो उनका संग्रह करना चाहिए। जिनका संग्रह किया है उनकी रक्षा करनी चाहिए। इसका ऐसा सम्बन्ध करना कि इन स्थानों में संग्रह से सहित और उनकी रक्षा से सहित वैयावृत्य करना चाहिए। अथवा रोध शब्द को प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे मार्ग में जिन्हें रोका गया हो, चोरों ने रोक लिया है, हिंस्र जन्तुओं ने रोक लिया हो, राजा ने रुकावट डाली हो, नदी से रुकावट हुई हो ऐसे रोध के प्रसंग में, तथा दुःख में दुर्भिक्ष में वैयावृत्ति करना चाहिए।

स्वाध्याय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति-मंगल संयुक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए ॥३९३॥

आचारवृत्ति—पढ़े हुए ग्रन्थ को पुनः पुनः पढ़ना या रटना परिवर्तन है। शास्त्र का व्याख्यान करना वाचना है। शास्त्र का श्रवण करना पृच्छना है। अनित्यत्व आदि बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। त्रेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र पढ़ना धर्मकथा है। स्तुति—मुनि वन्दना, देव-वन्दना और मंगल इनसे संयुक्त स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि (१) परिवर्तन, (२) वाचना, (३) पृच्छना, (४) अनुप्रेक्षा

पंचप्रकारो भवति स्वाध्यायः। परिवर्तनमेको वाचना द्वितीयः पृच्छना तृतीयोऽनुप्रेक्षा चतुर्थो धर्मकथास्तुतिमंगलानि समुदितानि पंचमः प्रकारः। एवं पंचविधः स्वाध्यायः सम्यग्युक्तोऽनुष्ठेय इति ॥३९३॥

ध्यानस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ॥३९४॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानेन सहितं। एते द्वे ध्याने अप्रशस्ते नरकतिर्यग्गतिप्रापके। धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चैते द्वे प्रशस्ते देवगतिमुक्तिगतिप्रापके। इत्येवंविधानि ज्ञातव्यानि। एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति ॥३९५॥

आर्तध्यानस्य भेदानाह—

अमणुण्णजोगइट्ठविओगपरीसहणिदाणकरणेसु।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण ॥३९५॥

अमनोज्ञेन ज्वरशूलशत्रुरोगादिना योगः सम्पर्कः। इष्टस्य पुत्रदुहितृमातृपितृबन्धुशिष्यादिकस्य वियोगोऽभावः। परीषहाः क्षुत्तृट्छीतोष्णादयः। निदानकरणं इहलोकपरलोकभोगविषयोऽभिलाषः। इत्येतेषु प्रदेशेष्वार्तमनःसंक्लेशः कषायसहितं ध्यानं भणितं समासेन संक्षेपतः। कदा ममानेनामनोज्ञेन वियोगो भविष्य-

---

और (५) समूहरूप धर्मकथा स्तुतिमंगल—इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करना चाहिए।

ध्यान का स्वरूप वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—आर्त और रौद्र सहित दो ध्यान अप्रशस्त हैं। धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान हैं ऐसा जानना चाहिए ॥३९४॥

आचारवृत्ति—आर्तध्यान और रौद्र ध्यान ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं। ये नरकगति और तिर्यंचगति को प्राप्त करानेवाले हैं। धर्म ध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त हैं। ये देवगति और मुक्ति को प्राप्त करानेवाले हैं, ऐसा समझना। एकाग्रचिन्तानिरोध—एक विषय पर चिन्तन का रोक लेना यह ध्यान का लक्षण है।

आर्तध्यान के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—अनिष्ट का योग, इष्ट का वियोग, परीषह और निदानकरण इनमें कषाय सहित जो ध्यान है वह संक्षेप से आर्तध्यान कहा गया है ॥३९५॥

आचारवृत्ति—अमनोज्ञयोग—ज्वर, शूल, शत्रु, रोग आदि का सम्पर्क होना, इष्ट-वियोग—पुत्र, पुत्री, माता, पिता, बन्धु, शिष्य आदि का वियोग होना, परिषह—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि बाधाओं का होना; निदान—इस लोक या परलोक में भोग-विषयों की अभिलाषा करना। इन स्थानों में जो आर्त अर्थात् मन का संक्लेश होता है वह कषाय सहित ध्यान आर्तध्यान कहलाता है। इनका वर्णन यहाँ संक्षेप से किया गया है। जैसे—कब मेरा इस अनिष्ट से वियोग होगा इस प्रकार से चिन्तन करना पहला आर्तध्यान है। इष्टजनों के साथ यदि मेरा

तीत्येवं चिन्तनमार्तध्यानं प्रथमं। इष्टैः सह सर्वदा यदि मम संयोगो भवति वियोगो न कदाचिदपि स्याद्येवं चिन्तनमार्तध्यानं द्वितीयं। क्षुत्तृटछीतोष्णादिभिरहं व्यथितः कदैतेषां ममाभावः स्यात्। कथं मयौदनादयो लभ्या येन मम क्षुधादयो न स्युः। कदा मम वेलायाः प्राप्तिः स्याद्येनाहं भुंजे पिबामि वा। हाकारं पूत्कारं जलसेकं च कुर्वतोऽपि न तेन मम प्रतीकार इति चिन्तनमार्तध्यानं तृतीयमिति। इहलोके यदि मम पुत्राः स्युः परलोके यद्यहं देवो भवामि स्त्रीवस्त्रादिकं मम स्यादित्येवं चिन्तनं चतुर्थमार्तध्यानमिति ॥३९५॥

रौद्रध्यानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण ॥३९६॥

स्तैन्यं परद्रव्यापहरणाभिप्रायः। मृषाऽनृते तत्परता। सारक्षणं यदि मदीयं द्रव्यं चोरयति तमहं निहन्मि, एवमायुधव्यग्रहस्तमारणाभिप्रायः। स्तैन्यमृषावादसारक्षणेषु। तथा चैव षड्विधारम्भे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकविराधने च्छेदनभेदनबन्धनवधताडनदहनेषूद्यमः रौद्रं कषायसहितं ध्यानं भणितं। समासेन संक्षेपेण। परद्रव्यहरणे तत्परता प्रथमं रौद्रं। परपीडाकरे मृषावादे यत्नः द्वितीयं रौद्रं। द्रव्यपशुपुत्रादिरक्षण-

---

संयोग होता है तो कदाचित् भी वियोग न होवे ऐसा चिन्तन होना दूसरा आर्तध्यान है। क्षुधा, तृषा, आदि के द्वारा मैं पीड़ित हो रहा हूँ, मुझसे कब इनका अभाव होवे? मुझे कैसे भात—भोजन आदि प्राप्त होवे कि जिससे मुझे क्षुधा आदि बाधाएँ न होवें? कब मेरे आहार की बेला आवे कि जिससे मैं भोजन करूँ अथवा पानी पिऊँ? हाहाकार या पूत्कार और जल-सिञ्चन आदि करते हुए भी उन बाधाओं से मेरा प्रतीकार नहीं हो रहा है अर्थात् घबराने से, हाय-हाय करने से, पानी छिड़कने से भी प्यास आदि बाधाएँ दूर नहीं हो रही हैं इत्यादि प्रकार से चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्तध्यान है। इस लोक में यदि मेरे पुत्र हो जावें, परलोक में यदि मैं देव हो जाऊँ तो ये स्त्री, वस्त्र आदि मुझे प्राप्त हो जावें इत्यादि चिन्तन करना चौथा आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—चोरी, असत्य, परिग्रहसंरक्षण और छह प्रकार की जीव हिंसा के आरम्भ में कषाय सहित होना रौद्रध्यान है, ऐसा संक्षेप से कहा है ॥३९६॥

आचारवृत्ति—स्तैन्य—परद्रव्य के हरण का अभिप्राय होना, मृषा—असत्य बोलने में तत्पर होना, सारक्षण—यदि मेरा द्रव्य कोई चुरायेगा तो मैं उसे मार डालूँगा इस प्रकार से आयुध को हाथ में लेकर मारने का अभिप्राय करना, षड्विधारम्भ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की विराधना करने में, इनका छेदन-भेदन करने में, इनको बाँधने में, इनका बध करने में, इनका ताड़न करने में और इन्हें जला देने में उद्यम का होना अर्थात् इन जीवों को पीड़ा देने में उद्यत होना—कषाय सहित ऐसा ध्यान रौद्र कहलाता है। यहाँ पर इसका संक्षेप से कथन किया गया है।

तात्पर्य यह है कि परद्रव्य के हरण करने में तत्पर होना प्रथम रौद्रध्यान है। पर को पीड़ा देनेवाले असत्य वचन के बोलने में यत्न करना दूसरा रौद्रध्यान है। द्रव्य अर्थात् धन, पशु,

विषये चौरदायादिमारणोद्यमे यत्नस्तृतीयं रौद्रं। तथा षड्विधे जीवमारणारम्भे कृताभिप्रायश्चतुर्थं रौद्रमिति ॥३९७॥ ततः—

अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभए सुग्गदीयपच्चूहे।
धम्मे वा सुक्के वा होहि समण्णागदमदीओ ॥३९७॥

यत एवंभूते आर्तरौद्रे। किंविशिष्टे, महाभये महासंसारभीतिदायिनि (नी) सुगतिप्रत्यूहे—देवगतिमोक्षगतिप्रतिकूले। अपहृत्य निराकृत्य। धर्मध्याने शुक्लध्याने वा भव सम्यग्विधानेन गतमतिः। धर्मध्याने शुक्लध्याने च सादरो सुष्ठु विशुद्धं मनो विधेहि समाहितमतिर्भवेति ॥३९७॥

धर्मध्यानभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च ॥३९८॥

एकाग्रेण पंचेन्द्रियव्यापारपरित्यागेन कायिकवाचिकव्यापारविरहेण च। मनो मानसव्यापारं।

पुत्रादि के रक्षण के विषय में, चोर, दायाद अर्थात् भागीदार आदि के मारने में प्रयत्न करना यह तीसरा रौद्रध्यान है और छह प्रकार के जीवों के मारने के आरम्भ में अभिप्राय रखना यह चौथा रौद्रध्यान है।

विशेष—इन्हीं ध्यानों के हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी ऐसे नाम भी अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं। जिसका अर्थ है हिंसा में आनन्द मानना, झूठ में आनन्द मानना, चोरी में आनन्द मानना और परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानना। यह ध्यान रुद्र अर्थात् क्रूर परिणामों से होता है। इसमें कषायों की तीव्रता रहती है अतः इसे रौद्रध्यान कहते हैं।

इसके बाद—क्या करना? सो कहते हैं—

गाथार्थ—सुगति के रोधक महाभयरूप इन आर्त, रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान में अथवा शुक्लध्यान से एकाग्रबुद्धि करो ॥३९७॥

आचारवृत्ति—महासंसार भय को देनेवाले और देवगति तथा मोक्षगति के प्रतिकूल ऐसे इन आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान शुक्लध्यान में अच्छी तरह अपनी मति लगाओ। अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान में आदर सहित होकर अच्छी तरह अपने विशुद्ध मन को लगाओ, उन्हीं में एकाग्रबुद्धि को करो।

धर्मध्यान के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—एकाग्रता पूर्वक मनको रोककर उस धर्म का ध्यान करो जिसके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद हैं ॥३९८॥

आचारवृत्ति—पंचेन्द्रिय विषयों के व्यापार का त्याग करके और कायिक वाचिक व्यापार से भी रहित होकर, एकाग्रता से मानस-व्यापार को रोककर अर्थात् मनको अपने वश करके, चार प्रकार के धर्मध्यान का चिन्तवन करो। वे चार भेद कौन हैं? ऐसी आशंका होने

निरुध्यात्मवशं कृत्वा। धर्मं चतुर्विधं चतुर्भेदं। ध्याय चिन्तय। के ते चत्वारो विकल्पा इत्याशंकायामाह—आज्ञाविचयोऽपायविचयो विपाकविचयः संस्थानविचयश्चेति ॥३९८॥

तत्राज्ञाविचयं विवृण्वन्नाह—

पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥३९९॥

पंचास्तिकायाः जीवास्तिकायोऽजीवास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायो वियदास्तिकाय इति तेषां प्रदेशबन्धोऽस्तीति कृत्वा काया इत्युच्यन्ते। षड्जीवनिकायश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः। कालद्रव्यमन्यत्। अस्य प्रदेशबन्धाभावादस्तिकायत्वं नास्ति। एतानाज्ञाग्राह्यान् भावान् पदार्थान्। आज्ञाविचयेनाज्ञास्वरूपेण। विचिनोति विवेचयति ध्यायतीति यावत्। एते पदार्थाः सर्वज्ञनाथेन वीतरागेण प्रत्यक्षेण दृष्टा न कदाचिद् व्यभिचरन्तीत्यास्तिक्यबुद्ध्या तेषां पृथक्पृथग्विवेचनेनाज्ञाविचयः। यद्यप्यात्मनः प्रत्यक्षबलेन हेतुबलेन

पर कहते हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद धर्मध्यान के हैं।

भावार्थ—यहाँ एकाग्रचिन्तानिरोध लक्षणवाला ध्यान कहा गया है। पंचेन्द्रियों के विषय का छोड़ना और काय की तथा वचन की क्रिया नहीं करना 'एकाग्र' है, तथा मन का व्यापार रोकना चिन्तानिरोध है। इस प्रकार से ध्यान के लक्षण में इन्द्रियों के विषय से हटकर तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से छूटकर जब मन अपने किसी ध्येय विषय में टिक जाता है, रुक जाता है, स्थिर हो जाता है उसी को ध्यान यह संज्ञा आती है।

गाथार्थ—उसमें से पहले आज्ञाविचय का वर्णन करते हैं—पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय और कालद्रव्य ये आज्ञा से ग्राह्य पदार्थ हैं। इनको आज्ञा के विचार से चिन्तवन करना है ॥३९९॥

आचारवृत्ति—जीवास्तिकाय, अजीवास्तिकाय, (पुद्गलास्तिकाय) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय हैं। इन पाँचों में प्रदेश का बन्ध अर्थात् समूह विद्यमान है अतः इन्हें काय कहते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये षट्जीवनिकाय हैं। और अन्य—छठा कालद्रव्य है। इसमें प्रदेशबन्ध का अभाव होने से यह अस्तिकाय नहीं है। अर्थात् काल एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी कहलाता है इसलिए यह 'अस्ति' तो है किन्तु काय नहीं है। ये सभी पदार्थ जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से ग्रहण करने योग्य होने से आज्ञाग्राह्य हैं। आज्ञाविचय से अर्थात् आज्ञारूप से इनका विवेचन करना—ध्यान करना आज्ञाविचय है।

तात्पर्य यह कि वीतराग सर्वज्ञदेव ने इन पदार्थों को प्रत्यक्ष से देखा है। ये कदाचित् भी व्यभिचरित नहीं होते हैं अर्थात् ये अन्यथा नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार से आस्तिक्य बुद्धि के द्वारा उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करना, चिन्तवन करना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। यद्यपि ये पदार्थ स्वयं को प्रत्यक्ष से या तर्क के द्वारा स्पष्ट नहीं हैं फिर भी सर्वज्ञ की आज्ञा के

वा न स्पष्टा तथापि सर्वज्ञाज्ञानिर्देशेन गृह्णाति नान्यथावादिनो जिना यत इति ॥३९९॥

अपायविचयं विवृण्वन्नाह—

कल्लाणपावगाओ पाए विचिणादि जिणमदमुविच्च।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहे य ॥४००॥

कल्याणप्रापकान् पंचकल्याणानि यैः प्राप्यन्ते तान् प्राप्यान् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। विचिनोति ध्यायति। जिनमतमुपेत्य जैनागममाश्रित्य। विचिनोति वा ध्यायति वा। अपायान् कर्मापगमान् स्थितिखण्डाननुभागखण्डानुत्कर्षापकर्षभेदान्। जीवानां सुखानि जीवप्रदेशसंतर्पणानि। असुखानि दुःखानि चात्मनस्तु विचिनोति भावयतीति। एतैः कर्तव्यैर्जीवा दूरतो भवन्ति शासनात्, एतैस्तु शासनमुपढौकन्ते, एतैः परिणामैः संसारे भ्रमन्ति जीवाः, एतैश्च संसाराद्विमुञ्चन्तीति चिन्तनमपायचिन्तनं नाम द्वितीयं धर्मध्यानमिति ॥४००॥

विपाकविचयस्वरूपमाह—

एआणेयभवगयं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं।
उदओदीरणसंकमबंधं मोक्खं च विचिणादि ॥४०१॥

नेर्देश से वह उनको ग्रहण करता है; क्योंकि 'नान्यथावादिनो जिनाः' जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी हीं हैं।

अपायविचय का वर्णन करते हैं।

गाथार्थ—जिनमत का आश्रय लेकर कल्याण को प्राप्त करानेवाले उपायों का चिन्तन करना अथवा जीवों के शुभ और अशुभ का चिन्तन करना अपायविचय है ॥४००॥

आचारवृत्ति—जिनके द्वारा पंचकल्याणक प्राप्त किये जाते हैं वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्राप्य हैं अर्थात् उपायभूत हैं। जैनागम का आश्रय लेकर इनका ध्यान करना उपायविचय धर्म ध्यान है; क्योंकि इसमें पंचकल्याणक आदि कल्याणकों के प्राप्त करानेवाले उपायों का चिन्तन किया जाता है। इसी प्रकार अपाय अर्थात् स्थिति खंडन, अनुभागखंडन, उत्कर्षण और अपकर्षण रूप से कर्मों का अपाय—अपगम—अभाव का चिन्तवन करना यह अपायविचय धर्मध्यान है। जीव के प्रदेशों को संतर्पित करनेवाला सुख है और आत्मा के प्रदेशों में पीड़ा उत्पन्न करनेवाला दुःख है। इस तरह से जीवों के सुख और दुःख का चिन्तवन करना। अर्थात् जीव इन कार्यों के द्वारा जिनशासन से दूर हो जाते हैं और इन शुभ कार्यों के द्वारा जिनशासन के निकट आते हैं, उसे प्राप्त कर लेते हैं। या इन परिणामों से संसार में भ्रमण करते हैं और इन परिणामों से संसार से छूट जाते हैं। इस प्रकार से चिन्तवन करना यह अपायविचय नाम का दूसरा धर्मध्यान है।

भावार्थ—कल्याण के लिए उपायभूत रत्नत्रय का चिन्तवन करना उपायविचय तथा कर्मों के अपाय—अभाव का चिन्तवन करना अपायविचय है।

अब विपाकविचय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जीवों के एक और अनेक भव में होनेवाले पुण्य-पाप कर्म के फल को तथा

एकभवगतमनेकभवगतं च जीवानां पुण्यकर्मफलं पापकर्मफलं च विचिनोति। उदयं स्थितिक्षयेण गलनं विचिनोति ये कर्मस्कन्धा उत्कर्षापकर्षादिप्रयोगेण स्थितिक्षयं प्राप्यात्मनः फलं ददते तेषां कर्मस्कन्धाना-मुदय इति संज्ञा तं ध्यायति। तथा चोदीरणमपक्वपाचनं। ये कर्मस्कन्धाः सत्सु स्थित्यनुभागेषु अवस्थिताः सन्त आकृष्याकाले फलदाः क्रियन्ते तेषां कर्मस्कन्धानामुदीरणमिति संज्ञा तद् ध्यायति। संक्रमणं परप्रकृति-स्वरूपेण गमनं विचिनोति। तथा बन्धं जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसंश्लेषं ध्यायति। मोक्षं जीवकर्मप्रदेशविश्लेषमनन्त-ज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं विचिनोतीति सम्बन्धः। तथा शुभ प्रकृतीनां गुडखण्डशर्करामृतस्वरूपेणानुभागचिन्तनम् अशुभप्रकृतीनां निम्बकांजीरविषहालाहलस्वरूपेणानुभागचिन्तनम् तथा घातिकर्मणां लतादार्वस्थिशिलास-मानानुचिंतनं। नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिप्रापककर्मफलचिन्तनं इत्येवमादिचिन्तनं विपाकविचयधर्म्यध्यानं नामेति ॥४०१॥

संस्थानविचयस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

उड्ढमहतिरियलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेक्खाओ य विचिणादि ॥४०२॥

कर्मों के उदय, उदीरणा, वन्ध और मोक्ष को जो ध्याता है उसके विपाकविचय धर्मध्यान होता है ॥४०१॥

आचारवृत्ति—मुनि विपाकविचय धर्म्यध्यान में जीवों के एक भव में होनेवाले या अनेक भव में होनेवाले पुण्यकर्म के और पापकर्म के फल का चिन्तन करते हैं। कर्मों के उदय का विचार करते हैं। स्थिति के क्षय से गलन होना उदय है अर्थात् जो कर्मस्कन्ध उत्कर्षण या अपकर्षण आदि प्रयोग द्वारा स्थिति क्षय को प्राप्त करके आत्मा को फल देते हैं उन कर्मस्कन्धों की उदय यह संज्ञा है। वे जीवों के कर्मोदय का विचार करते हैं। अपक्वपाचन को उदीरणा कहते हैं अर्थात् जो कर्मस्कन्ध स्थिति और अनुभाग के अवशेष रहते हुए विद्यमान हैं उनको खींच करके जो अकाल में ही उन्हें फल देनेवाला कर लेना है सो उदीरणा है अर्थात् प्रयोग के बल से अकाल में ही कर्मों को उदयावली में ले आना उदीरणा है। इसका ध्यान करते हैं। किसी प्रकृति का पर-प्रकृतिरूप से होना संक्रमण है। जीव के और कर्म के प्रदेशों का परस्पर में संबंध होना बन्ध है। जीव और कर्म के प्रदेशों का पृथक्करण होकर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य स्वरूप को प्राप्त हो जाना मोक्ष है। इस संक्रमण का, बंध और मोक्ष का चिन्तवन करते हैं।

उसी प्रकार से शुभ प्रकृतियों के गुड, खांड, और शर्करा अमृत रूप अनुभाग का चिन्तवन करना तथा अशुभ प्रकृतियों का नीम, कांजीर, विष और हालाहलरूप अनुभाग का विचार करना तथा घातिकर्मों का लता, दारू, हड्डी और शिला के समान अनुभाग है ऐसा सोचना नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति को प्राप्त करानेवाले ऐसे कर्मों के फल का चिन्तन करना इत्यादि प्रकार से जो भी कर्मसम्बन्धी चिन्तन करना है। यह सब विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान है। ।

संस्थानविचय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—भेदसहित और आकार सहित ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्लोक का ध्यान करते हैं और इसी से सम्बन्धित द्वादश अनुप्रेक्षा का भी विचार करते हैं ॥४०२॥

ऊर्ध्वलोकं सपर्ययं सभेदं ससंस्थानं त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तदीर्घायतमृदंगसंस्थानं पटलेन्द्रकश्रेणीवद्धप्रकीर्णक-विमानभेदभिन्नं विचिनोति ध्यायति। तथाधोलोकं सपर्ययं ससंस्थानं वेत्रासनाद्याकृतिं त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तदीर्घा-यतादिसंस्थानभेदभिन्नं सप्तपृथिवीन्द्रकश्रेणिविश्रेणिवद्धप्रकीर्णकप्रस्तरस्वरूपेण स्थितं शीतोष्णनारकसंहितं महा-वेदनारूपं च विचिनोति। तथा तिर्यग्लोकं सपर्ययं सभेदं ससंस्थानं झल्लर्याकारं मेरुकुलपर्वतादि ग्रामनगरपत्तन-भेदभिन्नं पूर्वविदेहापरविदेहभरतैरावतभोगभूमिद्वीपसमुद्रवननदीवेदिकायतनकूटादिभेदभिन्नं दीर्घह्रस्ववृत्ताय-तत्र्यस्रचतुरस्रसंस्थानसहितं विचिनोति ध्यायतीति सम्बन्धः। अत्रैवानुगता अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षा विचि-नोति ॥४०२॥

कास्ता अनुप्रेक्षा इति नामानीति दर्शयन्नाह—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण संसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं वोधिं च चिंतिज्जो ॥४०३॥

अध्रुवमनित्यता। अशरणमनाश्रयः। एकत्वमेकोऽहं। अन्यत्वं शरीरादन्योऽहं। संसारश्चतुर्गति-संक्रमणं। लोक ऊर्ध्वाधोमध्यवेत्रासनझल्लरीमृदंगरूपश्चतुर्दशरज्ज्वायतः। अशुचित्वं। आस्रवः कर्मास्रवः।

आचारवृत्ति—ऊर्ध्वलोक पर्याय सहित अर्थात् भेदों सहित तथा आकार सहित—त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, दीर्घ, आयत और मृदंग के आकारवाला है। इसमें पटलों में इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक विमानों से अनेक भेद हैं। इसका मुनि ध्यान करते हैं। अधोलोक भी भेद सहित और वेत्रासन आदि आकार सहित है। त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, दीर्घ आदि आकार इसमें भी घटित होते हैं। इसमें सात पृथिवियाँ हैं। इन्द्रक, श्रेणी, विश्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक प्रस्तार हैं। कुछ नरकविल शीत हैं और कुछ उष्ण हैं। ये महावेदनारूप हैं इत्यादि का ध्यान करना। उसी प्रकार से तिर्यग्लोक भी नाना भेदों सहित और अनेक आकृतिवाला है, झल्लरी के समान है, मेरु पर्वत, कुलपर्वत आदि तथा ग्राम नगर पत्तन आदि से भेद सहित है। पूर्वविदेह, अपरविदेह, भरत, ऐरावत, भोगभूमि, द्वीप, समुद्र, वन, नदी, वेदिका, आयतन और कूटादि से युक्त है। दीर्घ, ह्रस्व, गोल, आयत, त्रिकोण, चतुष्कोण आकारों से सहित है। मुनि इसका भी ध्यान करते हैं। अर्थात् मुनि तीनों लोक सम्बन्धी जो कुछ आकार आदि का चिन्तवन करते हैं वह सब संस्थानविचय धर्मध्यान है। और इन्हीं के अन्तर्गत द्वादश अनुप्रेक्षाओं का भी चिन्तवन करते हैं।

उन अनुप्रेक्षाओं के नाम वताते हैं—

गाथार्थ—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, और वोधि इनका चिन्तवन करना चाहिए ॥४०३॥

आचारवृत्ति—अध्रुव—सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। अशरण—कोई आश्रयभूत नहीं है। एकत्व—मैं अकेला हूँ। अन्यत्व—मैं शरीर से भिन्न हूँ। संसार—चतुर्गति में संसरण करना—भ्रमण करना ही संसार है। लोक—यह ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोक की अपेक्षा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के आकार का है और चौदह राजू ऊँचा है। अशुचि—शरीर अत्यन्त अपवित्र है। आस्रव—कर्मों का आना आस्रव है। संवर—महाव्रत आदि से आते हुए कर्म रुक

संवरो महाव्रतादिकं । निर्जरा कर्मसातनं । धर्मोऽपि दशप्रकारः क्षमादिलक्षणः । बोधिं च सम्यक्त्वसहिता भावना एता द्वादशानुप्रेक्षाश्चिन्तय । तत् एतच्चतुर्विधं धर्मध्यानं नामेति ॥४०३॥

शुक्लध्यानस्य स्वरूपं भेदांश्च विवेचयन्नाह—

उवसंतो दु पुहुत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं ।
खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कवीचारं ॥४०४॥

उपशान्तकषायस्तु पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं । द्रव्याण्यनेकभेदभिन्नानि त्रिभिर्योगैर्यतो ध्यायति ततः पृथक्त्वमित्युच्यते । वितर्कः श्रुतं यस्माद्वितर्केण श्रुतेन सह वर्तते यस्माच्च नवदशचतुर्दशपूर्वधरैरारभ्यते तस्मात्सवितर्कं तत् । विचारोऽर्थव्यंजनयोगः (ग) संक्रमणः । एकमर्थं त्यक्त्वार्थान्तरं ध्यायति मनसा संचिंत्य वचसा प्रवर्तते कायेन प्रवर्तते एवं परंपरेण संक्रमो योगानां द्रव्याणां व्यंजनानां च स्थूलपर्यायाणामर्थानां सूक्ष्मपर्यायाणां वचनगोचरातीतानां संक्रमः सवीचारं ध्यानमिति ।अस्य त्रिप्रकारस्य ध्यानस्योपशान्तकषायः स्वामी।

जाते हैं। निर्जरा—कर्मों का झड़ना निर्जरा है। धर्म—उत्तम क्षमा आदि लक्षणरूप धर्म दशप्रकार का है। बोधि—सम्यक्त्व सहित भावना ही बोधि है। इस प्रकार से इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करना चाहिए।

शुक्ल ध्यान का स्वरूप और उसके भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—उपशान्तकषाय मुनि पृथक्त्व वितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं। क्षीणकषाय मुनि एकत्व वितर्क अवीचार नामक ध्यान करते हैं ॥४०४॥

आचारवृत्ति—उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को ध्याते हैं। जीवादि द्रव्य अनेक भेदों से सहित हैं, मुनि इनको मन, वचन और काय इन तीनों योगों के द्वारा ध्याते हैं। इसलिए इस ध्यान का पृथक्त्व यह सार्थक नाम है। श्रुत को वितर्क कहते हैं। वितर्क—श्रुत के साथ रहता है अर्थात् नवपूर्वधारी, दशपूर्वधारी या चतुर्दश पूर्वधरों के द्वारा प्रारम्भ किया जाता है इसलिए वह वितर्क कहलाता है। अर्थ, व्यंजन और योगों के संक्रमण का नाम वीचार है अर्थात् जो एक अर्थ-पदार्थ को छोड़कर भिन्न अर्थ का ध्यान करता है, मन से चिन्तवन करके वचन से करता है, पुनः काययोग से ध्याता है। इस तरह परम्परा से योगों का संक्रमण होता है। अर्थात् द्रव्यों का संक्रमण होता है और व्यंजन अर्थात् पर्यायों का संक्रमण होता है। पर्यायों में स्थूल पर्यायें व्यंजन पर्याय हैं और जो वचन के अगोचर सूक्ष्म पर्याय हैं वे अर्थ पर्यायें कहलाती हैं। इनका संक्रमण इस ध्यान में होता है इसलिए यह ध्यान वीचार सहित है। अतः इसका सार्थक नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार है। इस ध्यान में तीन प्रकार हो जाते हैं अर्थात् पृथक्त्व—नाना भेदरूप द्रव्य, वितर्क—श्रुत और वीचार—अर्थ व्यंजन, योग का संक्रमण इन तीनों की अपेक्षा से यह ध्यान तीन प्रकार रूप है। इस ध्यान के स्वामी उपशान्तकषायी महामुनि हैं।

क्षीणकषायगुणस्थान वाले मुनि एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान को ध्याते हैं। वे एक द्रव्य को अथवा एक अर्थपर्याय को या एक व्यंजन पर्याय को किसी एक योग के द्वारा ध्याते हैं, अतः यह ध्यान एकत्व कहलाता है। इसमें वितर्क-श्रुत पूर्वकथित ही है अर्थात् नव, दश या

तथा क्षीणकषायो ध्यायत्येकत्वं वितर्कमवीचारं। एकं द्रव्यमेकार्थपर्यायमेकं व्यंजनपर्यायं च योगनैकेन ध्यायति तद्ध्यानमेकत्वं, वितर्कः श्रुतं पूर्वोक्तमेव, अवीचारं अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिरहितं। अस्य त्रिप्रकारस्यैकत्व-वितर्कवीचारभेदभिन्नस्य क्षीणकषायः स्वामी ॥४०४॥

तृतीयचतुर्थशुक्लध्यानस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सुहुमकिरियं सजोगी झायदि झाणं च तदियसुक्कंतु।
जं केवली अजोगी झायदि झाणं समुच्छिण्णं ॥४०५॥

सूक्ष्मक्रियामवितर्कमवीचारं श्रुतावष्टम्भरहितमर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिवियुक्तं सूक्ष्मकायक्रियाव्यव-स्थितं तृतीयं शुक्लं सयोगी ध्यायति ध्यानमिति। यत्केवल्ययोगी ध्यायति ध्यानं तत्समुच्छिन्नमवितर्कमवि-

---

चतुर्दश पूर्वों के वेत्ता मुनि ही ध्याते हैं। अर्थ, व्यंजन और योगों की संक्रांति से रहित होने से यह ध्यान अवीचार है। इसमें भी एकत्व, वितर्क और अवीचार ये तीन प्रकार होते हैं। इस तीन प्रकाररूप एकत्व, वितर्क, अवीचार ध्यान को करनेवाले क्षीणकषाय महामुनि ही इसके स्वामी हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर उपशान्तकषायवाले के प्रथम शुक्लध्यान और क्षीणकषाय-वाले के द्वितीय शुक्लध्यान माना है। अमृतचन्द्रसूरि ने भी 'तत्त्वार्थसार' में कहा है—

'द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत्त्रिभिः।
शांतमोहस्ततो ह्येतत्पृथक्त्वमिति कीर्तितम् ॥४७॥
द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥४८॥

अभिप्राय यही है कि उपशान्तमोह मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं और क्षीणमोह मुनि एकत्ववितर्कवीचार को ध्याते हैं।

तृतीय और चतुर्थ शुक्लध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान सयोगी ध्याते हैं। जो अयोगी केवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न ध्यान है ॥४०५॥

आचारवृत्ति—जो सूक्ष्मकाय क्रिया में व्यवस्थित है अर्थात् जिनमें काययोग की क्रिया भी सूक्ष्म हो चुकी है वह सूक्ष्मक्रिया ध्यान है। यह अवितर्क और अविचार है अर्थात् श्रुत के अवलम्बन से रहित है, अतः अवितर्क है और इसमें अर्थ, व्यंजन तथा योगों का संक्रमण नहीं है अतः यह अविचार है। ऐसे इस सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान को सयोग केवली ध्याते हैं।

जिस ध्यान को अयोग केवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न है। वह अवितर्क, अविचार, अनिवृत्तिनिरुद्ध योग, अनुत्तर, शुक्ल और अविचल है, मणिशिखा के समान है। अर्थात् इस समुच्छिन्न ध्यान में श्रुत का अवलम्बन नहीं है अतः अवितर्क है। अर्थ व्यंजन योग की संक्रांति भी नहीं है अतः अविचार है। सम्पूर्ण योगों का—काययोग का भी निरोध हो जाने से यह

न्तारमनिवृत्तिनिरुद्धयोगमपश्चिमं शुक्लमविचलं मणिशिखावत्। तस्य चतुर्थध्यानस्यायोगी स्वामी यद्यप्यत्र मानसो व्यापारो नास्ति तथाप्युपचारक्रिया ध्यानमित्युपचर्यते। पूर्वप्रवृत्तिमपेक्ष्य घृतघटवत् पुंवेदवद्वेति ॥४०५॥

व्युत्सर्गनिरूपणायाह—

दुविहो य विउस्सग्गो अब्भंतर बाहिरो मुणेयव्वो।
अब्भंतर कोहादी बाहिर खेत्तादियं दव्वं ॥४०६॥

द्विविधो द्विप्रकारो व्युत्सर्गः परिग्रहपरित्यागोऽभ्यन्तरबाहिरो अभ्यन्तरो बाह्यश्च ज्ञातव्यः। क्रोधादीनां व्युत्सर्गोऽभ्यन्तरः। क्षेत्रादिद्रव्यस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति ॥४०६॥

अभ्यन्तरस्य व्युत्सर्गं भेदप्रतिपादनार्थमाह—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा ॥४०७॥

अनिवृत्तिनिरोध योग है। सभी ध्यानों में अन्तिम है इससे उत्कृष्ट अब और कोई ध्यान नहीं रहा है अतः यह अनुत्तर है। परिपूर्णतया स्वच्छ उज्ज्वल होने से शुक्लध्यान इसका नाम है। यह मणि के दीपक की शिखा के समान होने से पूर्णतया अविचल है। इस चतुर्थ ध्यान के स्वामी चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली हैं।

यद्यपि इन तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मन का व्यापार नहीं है तो भी उपचार क्रिया से ध्यान का उपचार किया गया है। यह ध्यान का कथन पूर्व में होनेवाले ध्यान की प्रवृत्ति की अपेक्षा करके कहा गया है, जैसे कि पहले घड़े में घी रखा था पुनः उस घड़े से घी निकाल देने के बाद भी उसे घी का घड़ा कह देते हैं अथवा पुरुषवेद का उदय नवमें गुणस्थान में समाप्त हो गया है फिर भी पूर्व की अपेक्षा पुरुष वेद से मोक्ष की प्राप्ति कह देते हैं।

भावार्थ—इन सयोगी और अयोग केवली के मन का व्यापार न होने से इनमें 'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानं' यह ध्यान का लक्षण नहीं पाया जाता है। फिर भी कर्मों का नाश होना यह ध्यान का कार्य देखा जाता है अतएव वहाँ पर उपचार से ध्यान माना जाता है।

अब अन्तिम व्युत्सर्ग तप का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से व्युत्सर्ग दो प्रकार जानना चाहिए। क्रोधआदि अभ्यन्तर हैं और क्षेत्र आदि द्रव्य बाह्य हैं ॥४०६॥

आचारवृत्ति—परिग्रह का परित्याग करना व्युत्सर्ग तप है। वह दो प्रकार का है—अभ्यन्तर और बाह्य। क्रोधादि अभ्यन्तर परिग्रह हैं, इनका परित्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। क्षेत्र आदि बाह्य द्रव्य का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग हैं।

अभ्यन्तर व्युत्सर्ग का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य आदि छह दोष और चार कषायें ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं ॥४०७॥

मिथ्यात्वं। स्त्रीपुंनपुंसकवेदास्त्रयः। रागा हास्यादयः षट् दोषा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः चत्वारस्तथा कषाया क्रोधमानमायालोभाः। एते चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः। एतेषां परित्यागोऽभ्यन्तरो व्युत्सर्ग इति ॥४०७॥

बाह्यव्युत्सर्गभेद प्रतिपादनार्थमाह—

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति ॥४०८॥

क्षेत्रं सस्यादिनिष्पत्तिस्थानं। वास्तु गृहप्रासादादिकं। धनगतं सुवर्णरूप्यद्रव्यादि। धान्यगतं शालियवगोधूमादिकं द्विपदा दासीदासादयः। चतुष्पदगतं गोमहिष्याजादिगतं। यानं शयनमासनं। कुप्यं कार्पासादिकं। भाण्डं हिंगुमरीचादिकं। एवं बाह्यपरिग्रहो दशप्रकारस्तस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति ॥४०८॥

द्वादशविधस्यापि तपसः स्वाध्यायोऽधिक इत्याह—

बारसविधह्मिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥४०९॥*

द्वादशविधस्यापि तपसः सबाह्याभ्यन्तरे कुशलदृष्टे सर्वज्ञगणधरादिप्रतिपादिते नाप्यस्ति नापि च

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं। इनका परित्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

बाह्य व्युत्सर्ग भेद का प्रतिपादन करते हैं--

गाथार्थ—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन-आसन, कुप्य और भांड ये दश परिग्रह होते हैं ॥४०८॥

आचारवृत्ति—धान्य आदि की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र—खेत कहते हैं। घर, महल आदि वास्तु हैं। सोना, चाँदी आदि द्रव्य धन हैं। शालि, जौ, गेहूं आदि धान्य हैं। दासी, दास आदि द्विपद हैं। गाय, भैंस, बकरी आदि चतुष्पद हैं। वाहन आदि यान हैं। पलंग, सिंहासन आदि शयन-आसन हैं। कपास आदि कुप्य कहलाते हैं और हींग, मिर्च आदि को भांड कहते हैं। ये बाह्य परिग्रह दश प्रकार के हैं, इनका त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है।

बारह प्रकार के तप में भी स्वाध्याय सबसे श्रेष्ठ है ऐसा निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—कुशल महापुरुष के द्वारा देखे गये अभ्यन्तर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के भी तप में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न है और न ही होगा ॥४०९॥

आचारवृत्ति—सर्वज्ञ देव और गणधर आदि के द्वारा प्रतिपादित इन बाह्य और

---

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा बदली हुई है—

कोहो माणो माया लोहो रागो तहेव दोसो य।
मिच्छत्तवेदरतिअरदि हाससोगभयदुगुंछा य ॥

भविष्यति स्वाध्यायसमानं तपःकर्म । द्वादशविधेऽपि तपसि मध्ये स्वाध्यायसमानं तपोनुष्ठानं न भवति न भविष्यति ॥४०६॥

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥४१०॥*

स्वाध्यायं कुर्वन् पंचेन्द्रियसंवृतः त्रिगुप्तश्चेन्द्रियव्यापाररहितो मनोवाक्कायगुप्तश्च, भवत्येकाग्रमनाः शास्त्रार्थतन्निष्ठो विनयेन समाहितो विनययुक्तो भिक्षुः साधुः । स्वाध्यायस्य माहात्म्यं दर्शितमाभ्यां गाथाभ्यामिति ॥४१०॥

तपोविधानक्रममाह—

सिद्धिप्पासादवदंसयस्स करणं चदुव्विहं होदि ।
दव्वे खेत्ते काले भावे वि य आणुपुव्वीए ॥४११॥

तस्य द्वादशविधस्यापि तपसः किंविशिष्टस्य, सिद्धिप्रासादावतंसकस्य मोक्षगृहकर्णपूरस्य मण्डनस्याथवा सिद्धिप्रासादप्रवेशकस्य करणमनुष्ठानं चतुर्विधं भवति । द्रव्यमाहारशरीरादिकं । क्षेत्रमनूपमरुजांगलादिकं स्निग्धरूक्षवातपित्तश्लेष्मप्रकोपकं । कालः शीतोष्णवर्षादिरूपः । भावः (व) परिणामश्चित्तसंक्लेशः ।

अभ्यन्तर रूप बारह प्रकार के तपों में भी स्वाध्याय के समान न कोई अन्य तप है ही और न ही होगा । अर्थात् बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय तप सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

गाथार्थ—विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रिय से संवृत्त और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्रमनवाला हो जाता है ॥४१०॥

आचारवृत्ति—जो मुनि विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करते हैं वे उस समय स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रियों के विषय व्यापार से रहित हो जाते हैं और मन-वचन-कायरूप तीन गुप्ति से सहित हो जाते हैं । तथा शास्त्र पढ़ने और उसके अर्थ के चिन्तन में तल्लीन होने से एकाग्रचित्त हो जाते हैं । इन दो गाथाओं के द्वारा स्वाध्याय का माहात्म्य दिखलाया है ।

तप के विधान का क्रम बतलाते हैं—

गाथार्थ—मोक्षमहल के भूषणरूप तप के करण चार प्रकार के हैं जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप क्रम से हैं ॥४११॥

आचारवृत्ति—यह जो बारह प्रकार तप है वह सिद्धिप्रासाद का भूषण है, मोक्षमहल का कर्णफूल है अर्थात् मोक्षमहल का मंडनरूप है । अथवा मोक्षमहल में प्रवेश करने का साधन है । ऐसा यह तपश्चरण का अनुष्ठान चार प्रकार का है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों का आश्रय लेकर यह तप होता है । आहार और शरीर आदि को द्रव्य कहते हैं । अनूप—जहाँ पानी बहुत पाया जाता है, मरु—जहाँ पानी बहुत कम है, जांगल—जलरहित प्रदेश, ये स्थान स्निग्ध रूक्ष हैं एवं वात, पित्त या कफ को बढ़ानेवाले हैं । ये सब क्षेत्र कहलाते हैं । शीत, ऊष्ण, वर्षा आदि रूप काल होता है, और चित्त के संक्लेश आदि रूप परिणाम को

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में नहीं है ।

द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य तपः कुर्यात्। यथा वातपित्तश्लेष्मविकारो न भवति। आनुपूर्व्यानुक्रमेण क्रमं त्यक्त्वा यदि तपः करोति चित्तसंक्लेशो भवति संक्लेशाच्च कर्मबन्धः स्यादिति ॥४११॥

तपोऽधिकारमुपसंहरन् वीर्याचारं च सूचयन्नाह—

अब्भंतरसोहणओ एसो अब्भंतरो तओ भणिओ।
एत्तो विरियाचारं समासओ वण्णइस्सामि ॥४१२॥

अभ्यन्तरशोधनकमेतदभ्यन्तरतपो भणितं भावशोधनार्थंतत्तपः तथा बाह्यमप्युक्तं। इत ऊर्ध्वं वीर्याचारं वर्णयिष्यामि संक्षेपत इति ॥४१२॥

भाव कहते हैं। अपनी प्रकृति आदि के अनुकूल इन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर तपश्चरण करना चाहिए। जिस प्रकार से वात, पित्त या कफ का विकार उत्पन्न न हो, अनुक्रम से ऐसा ही तप करना चाहिए। यदि मुनि क्रम का उलंघन करके तप करते हैं तो चित्त में संक्लेश हो जाता है और चित्त में संक्लेश के होने से कर्म का बन्ध होता है।

भावार्थ—जिस आहार आदि द्रव्य से वात आदि विकार उत्पन्न न हो, वैसा आहार आदि लेकर पुनः उपवास आदि करना चाहिए। किसी देश में वात प्रकोप हो जाता है, किसी देश में पित्त का या किसी देश में कफ का प्रकोप बढ़ जाता है ऐसे क्षेत्र को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल देखकर ही तपश्चरण करना चाहिए। जैसे, जो उष्ण प्रदेश हैं वहाँ पर उपवास अधिक होने से पित्त का प्रकोप हो सकता है। ऐसे ही शीत काल, ऊष्णकाल, और वर्षा काल में भी अपने स्वास्थ्य को संभालते हुए तपश्चरण करना चाहिए। सभी ऋतुओं में समान उपवास आदि से वात,पित्त आदि विकार बढ़ सकते हैं। तथा जिस प्रकार से परिणामों में संक्लेश न हो इतना ही तप करना चाहिए। इस तरह सारी बातें ध्यान में रखते हुए तपश्चरण करने से कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की सिद्धि होती है। अन्यथा, परिणामों में क्लेश हो जाने से कर्म बन्ध जाता है। यहाँ इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रारम्भ में उपवास, कायक्लेश आदि को करने में परिणामों में कुछ क्लेश हो सकता है। किन्तु अभ्यास के समय उससे घबराना नहीं चाहिए। धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ाते रहने से बड़े-बड़े उपवास और कायक्लेश आदि सहज होने लगते हैं।

अब तप आचार के अधिकार का उपसंहार करते हुए और वीर्याचार को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—अन्तरंग को शुद्ध करनेवाला यह अन्तरंग तप कहा गया है। इसके बाद संक्षेप से वीर्याचार का वर्णन करूँगा ॥४१२॥

आचारवृत्ति—भावों को शुद्ध करने के लिए यह अभ्यन्तर तप कहा गया है और इसकी सिद्धि के लिए बाह्य तप को भी कहा है। अब इसके बाद मैं वीर्याचार को थोड़े रूप में कहूँगा।

अणुगूहियबलविरिओ परक्कमदि जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारोत्ति णादव्वो ॥४१३॥*

अनुगूहितवलवीर्यं अनिगूहितमसंवृतमपह्नुतं बलमाहारौषधादिकृतसामर्थ्यं, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितं संहननापेक्षं स्थामशरीरावयवकरणचरणजंघोरुकटिस्कन्धादिघनघटितबन्धापेक्षं । अनिगूहिते बलवीर्ये येनासावनिगूहितबलवीर्यः । पराक्रमते चेष्टते समुत्सहते यो यथोक्तं तपश्चारित्रं त्रिविधानुमतिरहितं सप्तदशप्रकारसंयमविधानं प्राणसंयमं तथेन्द्रियसंयमं चैतद्यथोक्तं । अनिगूहितबलवीर्यो यः कुरुते युनक्ति चात्मानं यथास्थानं यथाशरीरावयवावष्टंभं यः स वीर्याचार इति ज्ञातव्यो भेदात् । अथवा तस्य वीर्याचारो ज्ञातव्यः इति ॥४१३॥

त्रिविधानुमतिपरिहारो यथोक्तमित्युक्तस्तथा सप्तदशप्रकारं प्राणसंयमनमिन्द्रियसंयमनं च यथोक्तमित्युक्तं । तत्र का त्रिविधानुमतिः कश्च सप्तदशप्रकारः प्राणसंयमः को वेन्द्रियसंयम इति पृष्टे उत्तरमाह—

पडिसेवा पडिसुणणं संवासो चेव अणुमदी तिविहा ।
उद्दिट्ठं जदि भुंजदि भोगदि य होदि पडिसेवा ॥४१४॥

गाथार्थ—अपने बल वीर्य को न छिपाकर जो मुनि यथोक्त तप में यथास्थान अपनी आत्मा को लगाता है उसे वीर्याचार जानना चाहिए ॥४१३॥

आचारवृत्ति—आहार तथा औषधि आदि से होनेवाली सामर्थ्य को बल कहते हैं। जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और संहनन की अपेक्षा रखता है तथा स्वस्थ शरीर के अवयव—हाथ, पैर, जंघा, घुटने, कमर, कंधे आदि को मजबूत बन्धन की भी अपेक्षा से सहित है वह वीर्य है। जो मुनि अपने बल और वीर्य को छिपाते नहीं हैं, वे ही उपर्युक्त तपश्चरण में उत्साह करते हैं। तीन प्रकार की अनुमति से रहित, आगम में कथित सत्रह प्रकार के संयम—प्राणी संयम तथा इन्द्रिय संयम को पालते हैं। तात्पर्य यह है कि जो साधु अपने बल वीर्य को नहीं छिपाते हैं, वे अपने शरीर अवयव के अवलम्बन से यथायोग्य आगमोक्त चारित्र में अपनी आत्मा को लगाते हैं वही उनका वीर्याचार कहलाता है।

जो आपने तीन प्रकार की अनुमति का परिहार कहा है, तथा सत्रह प्रकार का संयम प्राण संयम और इन्द्रिय संयम कहा है उनमें से तीन प्रकार की अनुमति क्या है? तथा सत्रह प्रकार का प्राणसंयम क्या है? अथवा इन्द्रिय संयम क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण, और संवास इस प्रकार अनुमति तीन प्रकार की है। यदि उद्दिष्ट भोजन और उपकरण आदि सेवन करता है तो उसके प्रतिसेवा होती है ॥४१४॥

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

बलवीरियसत्तिपरक्कमधिदिबलमिदि पंचधा उत्तं ।
तेसिं तु जहाजोग्गं आचरणं वीरियाचारो ॥

अर्थात् बल, वीर्य, शक्ति, पराक्रम और धृतिवल ये पांच प्रकार कहे गये हैं। इनके आश्रय से जो यथायोग्य आचरण किया जाता है उसे वीर्याचार कहते हैं।

प्रतिसेवा प्रतिश्रवणं संवासश्चैवानुमतिस्त्रिविधा। अथ किं प्रतिसेवाया लक्षणं? आह—उद्दिष्टं दात्रा पात्रमुद्दिश्य पात्राभिप्रायेणाहारादिकमुपकरणादिकं चोपनीतं तदानीतमाहारादिकं यदि भुंक्तेऽनुभवति। उपकरणादिकं च प्रासुकमानीतं दृष्ट्वा भोगयति सेवते यदि तदा तस्य पात्रस्य प्रतिसेवानामानुमतिभेदः स्यात् ॥४१४॥ तथा—

> उद्दिट्ठं जदि विचरदि पुव्वं पच्छा व होदि पडिसुणणा।
> सावज्जसंकिलिट्ठो ममत्तिभावो दु संवासो ॥४१५॥

पूर्वमेवोपदिष्टं यावत्तद्वस्तु न गृह्णाति साधुस्तावदेव पूर्वं प्रतिपादयति दाता, भवतो निमित्तं मया संस्कृतमाहारादिकं प्रासुकमुपकरणं वा तद्भवान् गृह्णातु। एवं पूर्वमेव श्रुत्वा यदि विचरति गृह्णाति। अथवा दत्वाहारादिकमुपकरणं पश्चान्निवेदयति युष्मन्निमित्तं मया संस्कृतं तद्भवद्भिर्गृहीतं अद्य मे संतोषः संजातः इति श्रुत्वा तूष्णींभावेन सन्तोषेण वा तिष्ठति तदा तस्य प्रतिश्रवणनामानुमतिभेदो द्वितीयः स्यादिति। तथा सावद्यसंक्लिष्टो योऽयं ममत्वभावः स संवासः। गृहस्थैः सह संवसति ममेदमिति भावं च करोत्याहाराद्युपकरणनिमित्तं सर्वदा संक्लिष्टः सन् संवासनामानुमतिभेदस्तृतीयः एवं त्रिप्रकारामनुमतिं कुर्वता यथोक्तं नाचरितं

आचारवृत्ति—प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण और संवास ये तीन प्रकार की अनुमति हैं। प्रतिसेवा का क्या लक्षण है? दाता यदि पात्र का उद्देश्य करके अर्थात् पात्र के अभिप्राय से जो आहार आदि और उपकरण आदि बनाता है या लाता है और पात्र यदि उस आहार आदि को ग्रहण करता है। तथा लाये गये उपकरण आदि को प्रासुक समझकर यदि सेवन करता है तब उस पात्र के प्रतिसेवा नाम का अनुमति दोष होता है। तथा—

गाथार्थ—पूर्व में कथित उद्दिष्ट को ग्रहण कर अथवा बाद में कथित को सुनकर यदि मुनि संतोष ग्रहण करता है तो प्रतिश्रवण दोष आता है। इसी प्रकार सावद्य से संक्लिष्ट, ममत्व भाव संवास दोष है ॥४१५॥

आचारवृत्ति—पूर्व में उपदिष्ट वस्तु जब तक साधु ग्रहण नहीं करता है उसके पहले ही आकर यदि दाता कह देता है कि आपके निमित्त मैंने यह प्रासुक आहार आदि अथवा उपकरण आदि बनाये हैं, इनको आप ग्रहण कीजिये और साधु पूर्व में ही ऐसा सुनकर यदि उस आहार को अथवा उपकरण आदि को ग्रहण कर लेता है अथवा यदि दाता आहार या उपकरण आदि देकर के पश्चात् निवेदन करता है कि आपके निमित्त मैंने यह बनवाया था आपने उसे ग्रहण कर लिया इसलिए आज मुझे बहुत ही संतोष हो गया, ऐसा सुनकर यदि मुनि मौन से या संतोष से रह जाते हैं तब उनके प्रतिश्रवण नाम का दूसरा अनुमति दोष होता है।

उसी प्रकार से जो यह सावद्य से संक्लिष्ट ममत्व भाव है वह संवास कहलाता है। जो मुनि गृहस्थों के साथ संवास करता है और आहार तथा उपकरण आदि के निमित्त हमेशा संक्लिष्ट होता हुआ 'यह मेरा है' ऐसा भाव करता है उसके संवास नाम का तीसरा अनुमति दोष होता है।

इस प्रकार की अनुमति को करते हुए आगमोक्त चारित्र का जिन्होंने आचरण नहीं किया है और जिन्होंने अपने बल-वीर्य को छिपा रखा है उन मुनि ने वीर्याचार का अनुष्ठान

बलवीर्यं चावगूहितं तेन वीर्याचारो नानुष्ठितः स्यात्तस्मात् सानुमतिस्त्रिप्रकारापि त्याज्या वीर्याचारमनुष्ठलेति ॥४१५॥

सप्तदशप्रकारसंयमं प्रतिपादयन्नाह—

पुढविदगतेउवाऊवणप्फदीसंजमो य बोधव्वो ।
विगतिगचदुपंचेंदिय अजीवकायेसु संजमणं ॥४१६॥

पृथव्युदकतेजोवायुवनस्पतिकायिकानां संयमनं रक्षणं संयमो ज्ञातव्यः । तथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणां संयमनं रक्षणं संयमः । अजीवकायानां शुष्कतृणादीनामच्छेदनं । कायभेदेन पंचप्रकारः संयमस्त्रसभेदेन चतुर्विधोऽजीवरक्षणेन चैकविध इति दशप्रकारः संयमः ॥४१६॥ तथा—

अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेखुअवहट्टु संजमो चेव ।
मणवयणकायसंजम सत्तरसविहो दु णादव्वो ॥४१७॥

अप्रतिलेखश्चक्षुषा पिच्छिकया वा द्रव्यस्य द्रव्यस्थानस्याप्रतिलेखनमदर्शनं तस्य संयमनं दर्शनं प्रतिलेखनं वा प्रतिलेखसंयमः । दुःप्रतिलेखो दुष्ठुप्रमार्जनं जीवघातमर्दनादिकारकं तस्य संयमनं यत्नेन प्रति-

---

नहीं किया है ऐसा समझना । इसलिए वीर्याचार का अनुष्ठान करनेवाले आचार्यों को इन तीनों प्रकार की अनुमति का त्याग कर देना चाहिए ।

सत्रह प्रकार के संयम का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इनका संयम जानना चाहिए और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा अजीव कायों का संयम करना चाहिए ॥४१६॥

आचारवृत्ति—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति इन पाँच प्रकार के स्थावर कायिक जीवों का संयमन अर्थात् रक्षण करना; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय इन चार प्रकार के त्रसकायिक जीवों का रक्षण करना तथा सूखे तृण आदि अजीव कायों का छेदन करना—इस प्रकार से पाँच स्थावरकाय, चार त्रसकाय और एक अजीव काय इनके रक्षण से यह दश प्रकार का संयम होता है । तथा—

गाथार्थ—अप्रतिलेख, दुष्प्रतिलेख, उपेक्षा और अपहरण इनमें संयम करना तथा मन-वचन-काय का संयम ऐसे सत्रह प्रकार का संयम जानना चाहिए ॥४१७॥

आचारवृत्ति—चक्षु के द्वारा अथवा पिच्छिका से द्रव्य का और द्रव्य स्थान का प्रतिलेखन नहीं करना अप्रतिलेख है । तथा शास्त्र आदि वस्तु को चक्षु से देखकर, उनका और उनके स्थानों का पिच्छी के द्वारा प्रतिलेखन करना प्रतिलेख संयम कहलाता है । इन शास्त्रादि द्रव्य का और उनके स्थानों का ठीक से प्रमार्जन नहीं करना अर्थात् जीव घात या मर्दन आदि करनेवाला प्रमार्जन करना दुष्प्रतिलेख है । किन्तु उसका संयम करना, ठीक से प्रमार्जन करना, यत्नपूर्वक प्रमाद के बिना प्रतिलेखन करना दुष्प्रतिलेख का संयम हो जाता है । उपकरण आदि को किसी जगह स्थापित करके पुनः कालान्तर में भी उन्हें नहीं देखना अथवा

लेखनं जीवप्रमादमंतरेण दुष्प्रतिलेखसंयमः। उपेक्षोपेक्षणं—उपकरणादिकं व्यवस्थाप्य पुनः कालान्तरेणाप्य-दर्शनं जीवसम्मूर्छनादिकं दृष्ट्वा उपेक्षणं तस्या उपेक्षायाः संयमनं दिनं प्रति निरीक्षणमुपेक्षासंयमः। अपहृद्ट—अपहरणमपनयनं [1]पंचेन्द्रियद्वीन्द्रियादीनामपनयनमुपकरणेभ्योऽन्यत्र संक्षेपणमुपवर्तनं तस्य संयम (मः) निराकरणं उदरकृम्यादिकस्य वा निराकरणमपहरणं संयमः। एवं चतुर्विधः संयमः। तथा मनसः संयमनं वचनस्य संयमनं कायस्य संयमनं मनोवचनकायसंयमस्त्रिप्रकारः। एवं पूर्वान् दशभेदानिमांश्च सप्तभेदान् गृहीत्वा, सप्तदशप्रकारः संयमः प्राणसंयमः। अस्य रक्षणेन यथोक्तमाचरितं भवति ॥४१०॥

तथेन्द्रियसंयमं प्रतिपादयन्नाह—

पंचरसपंचवण्णा दो गंधे[2] अट्ठ फास सत्त सरा।
मणसा चोद्दसजीवा इन्दियपाणा य संजमो णेओ ॥४१८॥*

पंच रसास्तिक्तकषायाम्लकटुकमधुरा रसनेन्द्रियविषयाः। पंचवर्णाः कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लाश्चक्षु-

---

उनमें संमूर्च्छन आदि जीवों को देखकर उपेक्षा कर देना यह सब उपेक्षा नाम का असंयम है। किन्तु इस उपेक्षा का संयम करके प्रतिदिन उन वस्तुओं का निरीक्षण करना, पिच्छिका से उनका परिमार्जन करना उपेक्षा संयम है। अपहरण करना अर्थात् उपकरणों से द्वीन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि जीवों को दूर करना, उन्हें निकालकर अन्यत्र क्षेपण करना अर्थात् उनकी रक्षा का ध्यान नहीं रखकर, उन्हें कहीं भी डाल देना यह अपहरण नाम का असंयम है। किन्तु ऐसा न करके उन्हें सुरक्षित स्थान पर डालना यह संयम है। अथवा उदर के कृमि आदि का निराकरण करना अपहरण संयम है। इस तरह यह चार प्रकार का संयम हो जाता है।

तथा—मन को संयमित करना, वचन को संयमित करना और काय को संयमित करना यह तीन प्रकार का संयम है।

इस तरह पूर्व के दश भेदों को और इन सात भेदों को मिलाने से सत्रह प्रकार का प्राण संयम हो जाता है। इनके रक्षण से आगमोक्त आचरण होता है।

भावार्थ—अप्रतिलेख संयम, दुष्प्रतिलेख संयम, उपेक्षा संयम, अपहरण संयम, मनः-संयम, वचन संयम और काय संयम ये सात संयम हैं।

अब इन्द्रिय संयम का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर, और मन का विषय तथा चौदह जीव समास ये इन्द्रिय संयम और प्राण संयम हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥४१८॥

आचारवृत्ति—तिक्त, कषाय, अम्ल, कटुक और मधुर ये पाँच रस हैं, चूंकि ये रसना इन्द्रिय के विषय हैं। कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल ये पाँच वर्ण हैं ये चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध हैं ये घ्राणेन्द्रिय के विषय हैं। स्निग्ध, रूक्ष, कर्कश, मृदु, शीत,

---

1 क एकेन्द्रिय'। 2 क द 'गंधा

*निम्नलिखित चार गाथाएँ फलटन से प्रकाशित संस्करण में अधिक हैं—

मियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

रिन्द्रियविषयाः। द्वौ गंधौ सुगंधदुर्गंधौ घ्राणेंद्रियविषयौ। अष्टौ स्पर्शाः स्निग्धरूक्षकर्कशमृदुशीतोष्णलघुगुरुकाः स्पर्शनेन्द्रियविषयाः। सप्तस्वराः षड्गर्षभगान्धारमध्यमपंचमधैवतनिषादाः श्रोत्रेन्द्रियविषयाः। एतेषां मनसा सहाष्टाविंशतिभेदभिन्नानां संयमनमात्मविषयनिरोधनं संयमः। मनसो नोइंद्रियस्य संयमः। तथा चतुर्दशजीवसमासानां रक्षणं प्राणसंयमः। एवमिन्द्रियसंयमः प्राणसंयमश्च ज्ञातव्यो यथोक्तमनुष्ठेय इति ॥४१८॥

पंचाचारमुपसंहरन्नाह—

दंसणणाणचरित्ते तव विरियाचारणिग्गहसमत्थो।
अत्ताणं जो समणो गच्छदि सिद्धिं धुवकिलेसो ॥४१९॥

उष्ण, लघु और गुरु ये आठ स्पर्श हैं; ये स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं। षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर हैं; ये कर्णेन्द्रिय के विषय हैं। और मन, इस तरह पाँच इन्द्रियों के ये अट्ठाईस विषय होते हैं। इनका संयमन करना अर्थात् अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों का रोकना यह इन्द्रियसंयम है।

तथा चौदह प्रकार के जीवसमासों का रक्षण करना प्राण संयम है। इस तरह—इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम को जानना चाहिए तथा आगम के अनुरूप उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

अब पंचाचार का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जो श्रमण अपनी आत्मा को दर्शन ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों से निग्रह करने में समर्थ है वह क्लेश रहित होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥४१९॥

—जीव मरे या न मरे, अयत्नाचारी के निश्चित ही हिंसा होती है तथा समिति से युक्त सावधान मुनि के हिंसामात्र से बन्ध नहीं होता है।

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकालं हिंसा सांतत्तिया त्ति मता ॥

—जिस साधु की सोना, बैठना, चलना, भोजन करना इत्यादि कार्यों में होने वाली प्रवृत्ति यदि प्रमाद सहित है तो उस साधु को हिंसा का पाप सतत लगेगा।

अयदाचारो समणो छसु वि कायेसु बंधगोत्ति मदो।
चरदि यदं यदि णिच्चं कमलं व जलं णिरुवलेओ ॥

—प्रमाद युक्त मुनि षड्काय जीवों का वध करने वाला होने से नित्य बंधक है और जो मुनि यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह जल में रहकर भी जल से निर्लेप कमल की तरह कर्मलेप से रहित होता है।

असिअसणिपरूसवणवहवग्घगहकिण्णसप्पसरिसस्स।
मा देहि ठाणवासं दुग्गदिमग्गं च रोचिस्स ॥

—तलवार, बिजली, तीव्र वनाग्नि, व्याघ्र, ग्रह, काला सर्प इत्यादि के समान जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह दुर्गति मार्ग को ही प्रिय समझता है। उसे हे साधो! स्थान और निवास नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह तलवार आदि के समान आत्मा को नष्ट करने वाला है।

एवं दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याचारैरात्मानं निग्रहयितुं नियंत्रयितुं यः समर्थः श्रवणः साधुः स गच्छति सिद्धिं धुतक्लशो विधूताष्टकर्मा। एवं पंचाचारो व्याख्यातः ॥४१९॥

इति वसुनन्दिविरचितायामाचारवृत्तौ पंचाचारविवर्णनं नाम
पंचमः प्रस्तावः समाप्तः ॥५॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार के द्वारा जो साधु अपनी आत्मा को नियंत्रित करने के लिए समर्थ है वह अष्टकर्मों को नष्ट करके सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह पांच आचारों का व्याख्यान किया गया है।

इस प्रकार श्री वट्टकेर आचार्य कृत मूलाचार की
श्री वसुनंदि आचार्य कृत आचारवृत्ति नामक टीका में पंचाचार का
वर्णन करने वाला पाँचवाँ प्रस्ताव समाप्त हुआ।

६. अथ पिण्डशुद्धि-अधिकारः

पिंडशुद्धयाख्यं षष्ठमाचारं विधातुकामस्तावन्नमस्कारमाह—

तिरदणपुरुगुणसहिदे अरहंते विदिदसयलसब्भावे।
पणमिय सिरिसा वोच्छं समासदो पिण्डसुद्धी दु ॥४२०॥

त्रिरत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तानि च तानि **पुरुगुणाश्च** ते महागुणाश्च ते त्रिरत्नपुरुगुणाः। अथवा **त्रिरत्नानि** सम्यक्त्वादीनि **पुरुगुणा** अनन्तसुखादयस्तैः सहितास्तान्। **अरहंते** अर्हतः सर्वज्ञान् विदितसकलसद्भावान् विदितो विज्ञातः सकलः समस्तः सद्भावः स्वरूपं यैस्तान् परिज्ञातसर्वपदार्थस्वरूपान् प्रणम्य शिरसा, वक्ष्ये समासतः पिण्डशुद्धिमाहारशुद्धिमिति ॥४२०॥

यथाप्रतिज्ञं निर्वहन्नाह—

उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिण्डसुद्धी दु ॥४२१॥

उद्गच्छत्युत्पद्यते यैरभिप्रायैर्दातृपात्रगतैराहारादिस्ते उद्गमोत्पादनदोषाः आहारार्थानुष्ठानविशेषाः।

पिंडशुद्धि नामक छठे आचार को कहने के इच्छुक आचार्य सबसे प्रथम नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—तीन रत्नरूपी श्रेष्ठ गुणों से सहित सकल पदार्थों के सद्भाव को जानने वाले अर्हन्त परमेष्ठी को शिर झुकाकर नमस्कार करके संक्षेप से पिंडशुद्धि को कहूँगा। ॥४२०॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन रत्न हैं और ये ही पुरुगुण अर्थात् महागुण कहलाते हैं। अथवा सम्यक्त्व आदि तीन रत्न हैं, और अनन्त सुख आदि पुरु—महान् गुण हैं। जो इन तीन रत्न और पुरुगुण से सहित हैं, जिन्होंने समस्त पदार्थों के सद्भाव—स्वरूप को जान लिया है, ऐसे अर्हन्त परमेष्ठी को शिर झुकाकर प्रणाम करके मैं संक्षेप से पिंड-शुद्धि—आहार शुद्धि अधिकार को कहूँगा।

अपनी की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इस तरह पिंडशुद्धि आठ प्रकार की है ॥४२१॥

आचारवृत्ति—दाता में होनेवाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उद्गच्छति—

अश्यते भुज्यते येभ्यः पारिवेषकेभ्यस्तेषामशुद्धयोऽशनदोषाः। संयोज्यते संयोजनमात्रं वा संयोजनदोषः। प्रमाणातिरेकः प्रमाणदोषः। अङ्गारमिवाङ्गारदोषः। धूम इव धूमदोषः। कारणनिमित्तं कारणदोषः। एवं एतैरष्टभिर्दोषैः रहिताष्टप्रकारा पिण्डशुद्धिरिति संग्रहसूत्रमेतत् ॥४२१॥

उद्गमदोषाणां नामनिर्देशायाह—

आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्झेय पूदिमिस्से य।
ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे य कीदे य ॥४२२॥
पामिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिण्ण[1] मालआरोहे।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे ॥४२३॥

गृहस्थाश्रितं पंचसूनासमेतं तावत्सामान्यभूतमष्टविधपिण्डशुद्धि बाह्यं महादोषरूपमधःकर्म कथ्यते। **आधाकम्म**—अधःकर्म निकृष्टव्यापारः षड्जीवनिकायवधकरः। उद्दिश्यते इत्युद्देशः उद्देशे भव औद्देशिकः। ***अज्झोवज्झेय*** *अध्यधिसंयतं दृष्ट्वा पाकारम्भः।* पूदि—पूतिरप्रासुकप्रासुकमिश्रणं सहेतुकं।

उत्पन्न होता है—वह उद्गम दोष है और पात्र में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उत्पन्न होता है या कराया जाता है वह उत्पादन दोष है। जिन पारिवेशक—परोसने वालों से भोजन किया जाता है उनकी अशुद्धियाँ अशनदोष कहलाती हैं। जो मिलाया जाता है अथवा किसी वस्तु का मिलाना मात्र ही संयोजना दोष है। प्रमाण का उल्लंघन करना प्रमाणदोष है। जो अंगारों के समान है वह अंगार दोष है, जो धूम के समान है वह धूमदोष है और जो कारण—निमित्त से होता है वह कारणदोष है। इस प्रकार इन आठ दोषों से रहित आठ प्रकार की पिंडशुद्धि होती है। इस तरह यह संग्रहसूत्र है। अर्थात् इस गाथा में संपूर्ण शुद्धियों का संग्रह हो जाता है।

उद्गम दोषों के नाम निर्देश हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—अधःकर्म महादोष है। औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्रावर्तित, प्रादुष्कार, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्तक, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोह, अच्छेद्य और अनिसृष्ट ये सोलह उद्गम दोष हैं ॥४२२-२३॥

आचारवृत्ति—अधःकर्म नाम का एक दोष इन सभी दोषों से पृथक् ही है। जो यह सामान्य रूप आठ प्रकार की पिंडशुद्धि कही गई है, इनसे बाह्य महादोषरूप अधःकर्म कहा गया है, जो कि पाँच सूना से सहित है और गृहस्थ के आश्रित है अर्थात् गृहस्थों के द्वारा ही करने योग्य है। यह अधःकर्म छह जीवनिकायों का वध करनेवाला होने से निकृष्ट व्यापार रूप है।

जो उद्देश करके—निमित्त करके किया जाता है अथवा जो उद्देश से हुआ है वह औद्देशिक दोष है। संयत को आते देखकर भोजन पकाना प्रारम्भ करना अर्थात् संयत को देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना अध्यधि दोष है। अप्रासुक और प्रासुक

---

1. क °मुब्भिण्णमालमारोहे।

मिस्सेय—मिश्रश्चासंयतमिश्रणं। **ठविदे**—स्थापितं स्वगृहेऽन्यगृहे वा। **बलिनिवेद्यं** देवार्चना वा। **पाहुडियं**—प्रावर्तितं कालस्य हानिवृद्धिरूपं। **पादुक्कारेय**—प्राविष्करणं मण्डपादेः प्रकाशनं। **कीदेय**—क्रीतं वाणिज्यरूपमिति ॥४२२॥ तथा—

पामिच्छे—प्रामृष्यं सूक्ष्मर्णमुद्धारकं। **परियट्टे**—परिवर्तकं दत्वा ग्रहणं। **अभिहड**—अभिघटो देशान्तरादागतः। **उब्भिण्णं**—उद्भिन्नं बन्धनापनयनं। **मालारोहे**—मालारोहणं गृहोर्ध्वमाक्रमणं। **अच्छिज्जे**—अच्छेद्यं त्रासहेतुः। **अणिसट्ठे**—अनीशार्थेऽप्रधानदाता। उद्गमदोषाः षोडशेमे ज्ञातव्याः ॥४२३॥

गृहस्थाश्रितस्याधःकर्मणः स्वरूपं विवृण्वन्नाह—

छज्जीवणिकायाणं विराहणोद्दावणादिणिप्पण्णं।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥४२४॥

षड्जीवनिकायानां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकानां विराधनं दुःखोत्पादनं। **उद्दावणं**—

वस्तु का सहेतुक मिश्रण करना यह पूतिदोष है। असंयतों से मिश्रण करके—साथ में भोजन कराना मिश्रदोष है। भोजन पकाने वाले पात्र से निकालकर अपने घर में अथवा अन्य के घर में रख देना स्थापित दोष है। नैवेद्य या देवार्चना के भोजन को आहार में देना बलिदोष है। काल की हानि या वृद्धि करके आहार देना प्रावर्तित दोष है। मंडप आदि का प्रकाशन करना प्रादुष्करण दोष है। खरीदकर लाकर देना क्रीत दोष है।

सूक्ष्म ऋण—कर्जा लेकर अथवा उधार लाकर आहार देना प्रामृष्य दोष है। कोई वस्तु बदले में लाकर आहार में देना परिवर्तक दोष है। अन्य देश से लाया हुआ भोजन देना अभिघट दोष है। सीढ़ी से—निसैनी से गृह के ऊपरी भाग में चढ़कर लाकर कुछ देना मालारोहण दोष है। त्रासहेतु—डर से आहार देना अच्छेद्य दोष है। अनीशार्थ—अप्रधान दाता के द्वारा दिये हुए भोजन को लेना अनीशार्थ दोष है। ये सोलह उद्गम दोष जानने चाहिए।

भावार्थ—ये उद्गम आदि सोलह दोष श्रावक के निमित्त से साधु को लगते हैं। जैसे श्रावक ने उनके उद्देश्य से आहार बनाया या उनको आते देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला दिया इत्यादि यह सब कार्य यदि श्रावक करता है और मुनि वह आहार जानने के बाद भी, ले लेते हैं तो उनके ये औद्देशिक, अध्यधि आदि दोष हो जाते हैं। इसमें प्रारम्भ में जो अधःकर्म दोष बतलाया है वह इन सभी—छयालीस दोषों से से अलग एक महादोष माना गया है। इन सभी दोषों के लक्षण स्वयं ग्रन्थकार आगे गाथाओं द्वारा कहते हैं।

गृहस्थ के आश्रित होनेवाले अधःकर्म का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—छह जीव-निकायों की विराधना और मारण आदि से बनाया हुआ अपने निमित्त स्व या पर से किया गया जो आहार है वह अधःकर्म दोष से दूषित है ऐसा जानना चाहिए ॥४२४॥

आचारवृत्ति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की विराधना से—उनको दुःख उत्पन्न करके या उनका उद्दावन—मारण करके, घात करके

उद्द्रवनं मारणं। विराधनोद्द्रवनाभ्यां निष्पन्नं संजातं विराधनोद्द्रवननिष्पन्नं यदाहारादिकं वस्तु तदधःकर्म ज्ञातव्यं। स्वकृतं परकृतानुमतं कारितमात्मनः संप्राप्तः। आत्मनः समुपस्थितं। विराधनोद्द्रवने अधःकर्मणी पापक्रिये ताभ्यां यन्निष्पन्नं तदप्यधःकर्मेत्युच्यते। कार्ये कारणोपचारात्। स्वेनात्मना कृतं परेण कारितं वा परेण वा कृतं, आत्मनानुमतं। विराधनोद्द्रवननिष्पन्नमात्मने संप्राप्तं यद्वैयावृत्यादिविरहितं तदधःकर्म दूरतः संयतेन परिहरणीयं गार्हस्थ्यमेतत्। वैयावृत्यादिविमुक्तमात्मभोजननिमित्तं पचनं षड्जीवनिकायवधकरं न कर्तव्यं न कारयितव्यमिति। एतत् षट्चत्वारिंशद्दोषबहिर्भूतं सर्वप्राणिसामान्यजातं गृहस्थानुष्ठेयं सर्वथा मुनिना वर्जनीयं। यद्येतत् कुर्यात्[1] श्रवणो गृहस्थः स्यात्। किमर्थमेतदुच्यत इति चेन्नैष दोषः, अन्येषु पाखण्डि-

---

जो आहार आदि उत्पन्न हुआ है; जो स्वयं अपने द्वारा बनाया गया है या पर से कराया गया है अथवा पर के द्वारा करने में अनुमोदना दी गयी है ऐसा जो अपने लिए भोजन बना हुआ है वह अधःकर्म कहलाता है। विराधना और उद्द्रावन ये अधःकर्म हैं, क्योंकि ये पापक्रिया रूप हैं। इनसे निष्पन्न हुआ भोजन भी अधःकर्म कहा जाता है। यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया गया है। जीवों को दुःख देकर या घात करके जो भोजन अपने लिए बनता है जिसमें अन्य साधुओं की वैयावृत्य आदि कारण नहीं हैं ऐसा अधःकर्म संयतों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए क्योंकि यह गृहस्थों का कार्य है। अर्थात् वैयावृत्य आदि से रहित, अपने भोजन के निमित्त षट्जीव निकाय का वध करनेवाला ऐसा पकाने का कार्य न स्वयं करना चाहिए और न अन्य से ही कराना चाहिए। यह छयालीस दोषों से बहिर्भूत दोष सभी प्राणियों में सामान्यरूप से पाया जाता है और गृहस्थों के द्वारा किया जाता है इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यदि कोई श्रमण इस दोष को करेगा तो वह गृहस्थ ही जैसा हो जावेगा।

प्रश्न—तो पुनः यह दोष किसलिए कहा गया है?

उत्तर—ऐसा कहना कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्य पाखंडी साधुओं में ये आरम्भकार्य देखे जाते हैं। जैसे उन लोगों के वह आरम्भ अनुष्ठेय—करने योग्य है, इसके विपरीत जैन साधुओं में उसका करना अयोग्य है। इसीलिए इसके करनेवाले गृहस्थ होते हैं। और फिर साधु तो अनगार हैं और निःसंग हैं इसलिए उन्हें अधःकर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। इस बात को बतलाने के लिए ही यह अधःकर्म दोष कहा गया है।

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि जब यह षट्जीवनिकायों को बाधा देकर या घात करके आरम्भ द्वारा भोजन स्वतः बनाया जाता है अथवा अन्य किसी से कराया जाता है उसे आपने अधःकर्म कहा तो कोई भी दिगम्बर मुनि या आर्यिकाएँ यह दोष करेंगे ही नहीं और यदि करेंगे तो वे गृहस्थ ही हो जायेंगे। पुनः साधु के लिए यह दोष कहा ही क्यों है? उसका उत्तर आचार्य ने दिया है कि अन्य पाखण्डी साधु नाना तरह के आरम्भ करते हैं। उनकी देखादेखी अगर कोई दिगम्बर साधु भी ऐसा करने लग जावें तो वे इस दोष के भागी हो जावेंगे। और ऐसा निषेध करने से ही तो नहीं करते हैं ऐसा समझना।

दूसरी बात यह है कि यदि साधु अन्य साधुओं की वैयावृत्ति आदि के निमित्त औषधि

---

१ क कुर्यान्न

स्वध्यासकर्मणो दर्शनाद्यथा[2] तेषां तदनुष्ठेयं तथा साधूनां तदनुष्ठानमयोग्यं तेन गृहस्थाः। साधवः पुनरनागार निसंगा यतो अतो नानुष्ठेयमधःकर्मेति ज्ञापनार्थमेतदिति ॥४२४॥

उद्गमदोषाणां स्वरूपं प्रतिपादयन् विस्तरसूत्राण्याह—

देवदपासंडट्ठं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं।
कदमण्णसमुद्देसं चादुव्विहं वा समासेण ॥४२५॥

अधःकर्मणः [पश्चात्] औद्देशिकं सूक्ष्मदोषमपि परिहर्तुकामः प्राह—देवता नागयक्षादयः, पाषण्डा जैनदर्शनबहिर्भूतानुष्ठाना लिंगिनः कृपणका दीनजनाः। देवतार्थं पाखण्डार्थं कृपणार्थं चोद्दिश्य यत्कृतमन्नं तन्निमित्तं निष्पन्नं भोजनं तदौद्देशिकं अथवा चतुर्विधं सम्यगौद्देशिकं समासेन जानीहि वक्ष्यमाणेन न्यायेन ॥४२५॥

या आहार बनाने के लिए कदाचित् श्रावक से कह भी देता है अर्थात् आहार बनवाता भी है तो भी वह अधःकर्म दोष का भागी नहीं होता है। क्योंकि यहाँ पर वैयावृत्ति से अतिरिक्त यदि मुनि स्वयं के आहार हेतु आरम्भ करता या कराता तो अधःकर्म है ऐसा स्पष्ट किया है। 'भगवती आराधना' में समाधि में स्थित साधुओं की परिचर्या में अड़तालीस साधुओं की व्यवस्था बतलाई गयी है। इनमें चार मुनि क्षपक के लिए उद्गमादि दोष रहित भोजन के लिए, तथा चार मुनि उद्गमादि दोष रहित पान के लिए नियुक्त होते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जब तक क्षपक का शरीर आहार-ग्रहण के योग्य है, पान-ग्रहण के योग्य है किन्तु अतीव कृश हो चुका है, तब तक उनके भोजन-पान की व्यवस्था भिक्षा में सहायक ये चार-चार मुनि करते हैं। वह उनकी वैयावृत्य है और वैयावृत्य में श्रावक के यहाँ ऐसी व्यवस्था कराने में भाग लेने वाले साधु वैयावृत्य कारक होने से दोष के भागी नहीं है। हाँ, यदि वे अपने लिए कृत-कारित-अनुमोदना से कोई व्यवस्था श्रावक के माध्यम से बनावें तो वह अधःकर्म दोष का भागी है कि सर्वथा त्याज्य है। विशेष जिज्ञासु 'भगवती आराधना' (गाथा ६५ से ९२) का अवलोकन करें।

अब उद्गम दोषों के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए विस्तार से कहते हैं—

गाथार्थ—देवता के और पाखण्डी के लिए या दोनों के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है वह औद्देशिक है अथवा संक्षेप से चार प्रकार का समुद्देश होता है ॥४२५॥

आचारवृत्ति—अब अधःकर्म के पश्चात् औद्देशिक दोष को कहते हैं। यद्यपि यह सूक्ष्मदोष है तो भी इसके परिहार करने की इच्छा से आचार्य कहते हैं— नागयक्ष आदि को देवता कहते हैं। जैन दर्शन से बहिर्भूत अनुष्ठान करनेवाले जो अन्य भेषधारी लिंगी हैं वे पाखण्डी कहलाते हैं। दीनजनों को—दुःखी अंधे-लंगड़े आदि को कृपण कहते हैं। इन देवताओं के लिए, पाखण्डियों के लिए, और कृपणों को उद्देश्य करके अर्थात् इनके निमित्त से बनाया गया जो भोजन है वह औद्देशिक है। अथवा आगे कहे गये न्याय से संक्षेप से समीचीन औद्देशिक चार प्रकार का होता है।

---

२. क यथास्तैस्तदनु°।

तमेव चतुर्विधं प्रतिपादयन्नाह—

जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ॥४२६॥

यावान् कश्चिदागच्छति तस्मै सर्वस्मै दास्यामीत्युद्दिश्य यत्कृतमन्नं स यावानुद्देश इत्युच्यते। ये केचन पाखण्डिन आगच्छन्ति भोजनाय तेभ्यः सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं स पाखण्डिन इति च भवेत्समुद्देशः। ये केचन श्रवणा आजीवकतापसरक्तपटपरिव्राजकाश्छात्रा वागच्छन्ति भोजनाय तेभ्यः सर्वेभ्योऽहमाहारं दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं स श्रवण इति कृत्वादेशो भवेत्। ये केचन निर्ग्रन्थाः साधव आगच्छन्ति तेभ्यः सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं निर्ग्रन्था इति च भवेत्समादेशः। सामान्यमुद्दिश्य पाषण्डानुद्दिश्य श्रवणानुद्दिश्य निर्ग्रन्थानुद्दिश्य यत्कृतमन्नं तच्चतुर्विधमौद्देशिकं भवेदन्नमिति। उद्देशेन निर्वर्तितमौद्देशिकमिति ॥४२६॥

अध्यधिदोषस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

उन्हीं चार भेदों को प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—हर किसी को उद्देश्य करके बनाया गया अन्न उद्देश है, पाखण्डियों को निमित्त करके समुद्देश है, श्रमण को निमित्त करके आदेश और निर्ग्रन्थ को निमित्त कर समादेश होता है ॥४२६॥

आचारवृत्ति—जो कोई भी आयेगा उन सभी को मैं दे दूंगा ऐसा उद्देश्य करके बनाया गया जो अन्न है वह उद्देश कहलाता है। जो भी पाखण्डी लोग आयेंगे उन सभी को मैं भोजन कराऊँगा ऐसा उद्देश्य करके बनाया गया भोजन समुद्देश कहलाता है। जो कोई श्रवण अर्थात् आजीवक तापसी, रक्तपट-बौद्ध साधु परिव्राजक या छात्र जन आयेंगे उन सभी को मैं आहार देऊँगा इस प्रकार से श्रमण के निमित्त बनाया हुआ अन्न आदेश कहलाता है। जो कोई भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु आयेंगे उन सभी को मैं देऊँगा ऐसा मुनियों को उद्देश्य कर बनाया गया आहार समादेश कहलाता है। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य को उद्देश्य करके, पाखण्डियों को उद्देश्य करके, श्रवणों को निमित्त करके और निर्ग्रन्थों को निमित्त करके बनाया गया जो भोजन है वह चार प्रकार का औद्देशिक अन्न है। चूंकि उद्देश से बनाया गया है इसलिए यह औद्देशिक कहलाता है।

भावार्थ—ऐसे औद्देशिक अन्न को जानकर भी जो मुनि ले लेते हैं वे इस दोष से दूषित होते हैं। यदि वे मुनि कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय इन तीनों से गुणित (३ × ३ = ९) नव कोटि से रहित रहते हैं तो उन्हें यह दोष नहीं लगता है। श्रावक अतिथिसंविभाग व्रत का पालन करते हुए सामान्यतया शुद्ध भोजन बनाता है और मुनियों को पड़गाहन करके आहार देता है। तथा साधु भी अपने आहार हेतु कृत-कारित आदि नवभेदों को न करते हुए आहार लेते हैं वही निर्दोष आहार है।

अध्यधि दोष का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

जलतंदुलपक्खेवो दाणट्ठं संजदाण [1]सयपयणे ।
अज्झोवज्झं णेयं अहवा पागं तु जाव रोहो वा ॥४२७॥

जलतंदुलानां प्रक्षेपः दानार्थं, संयतं[2] दृष्ट्वा स्वकीयपचने संयतानां दानार्थं स्वस्य निमित्तं यज्जलं पिठरे निक्षिप्तं तंदुलाश्च स्वस्य निमित्तं ये स्थापितास्तस्मिन् जलेऽन्यस्य जलस्य प्रक्षेपः तेषु च तंदुलेष्वन्येषां तंदुलानां प्रक्षेपणं यदेवंविधं तदध्यधि दोषरूपं ज्ञेयं । अथवा पाको यावता कालेन निष्पद्यते तस्य कालस्य रोधस्तावन्तं कालमासीन उदीक्षत एतदध्यधि दोषजातमिति ॥४२७॥

पूतिदोषस्वरूपं निगदन्नाह—

अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तं ।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ॥४२८॥

प्रासुकमप्यप्रासुकेन सचित्तादिना मिश्रं यदाहारादिकं स पूतिदोषः । प्रासुकद्रव्यं तु पूतिकर्म यत्तदपि पूतिकर्म, पंचप्रकारं **चुल्ली** रन्धनी । **उक्खलि** उदूखलः । **दव्वी**—दर्वी । **भायण**—भाजनं । **गन्धत्ति**—गन्ध-

---

गाथार्थ—मुनियों के दान के लिए अपने पकते हुए भोजन में जल या चावल का और मिला देना यह अध्यधि दोष है। अथवा भोजन बनने तक रोक लेना यह भी अध्यधि दोष है ॥४२७॥

आचारवृत्ति—अपने निमित्त बटलोई आदि पात्र में जो जल चढ़ाया है या अपने निमित्त जो चावल चूल्हे पर चढ़ाये हैं, संयतों को आते हुए देखकर उनके दान के लिए उस जल में और अधिक जल डाल देना या चावल में और अधिक चावल मिला देना यह अध्यधि नाम का दोष है। अथवा जब तक भोजन तैयार होता है तब तक उन्हें रोक लेना, तब तक वे मुनि बैठे हुए प्रतीक्षा करते रहें अर्थात् किसी हेतु से उन्हें रोके रखना यह भी अध्यधि दोष है।

पूतिदोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अप्रासुक द्रव्य से मिश्र हुआ प्रासुकद्रव्य भी पूतिकर्म दोष से दूषित हो जाता है। यह चूल्हा, ओखली, कलछी या चम्मच, बर्तन और गन्ध के निमित्त ये पाँच प्रकार का है ॥४२८॥

आचारवृत्ति—प्रासुक भी आहार आदि यदि अप्रासुक-सचित्त आदि से मिश्रित हैं तो वे पूतिदोष से दूषित हो जाते हैं। इस पूतिकर्म के पाँच प्रकार हैं। चूल्हा, ओखली, कलछी, बर्तन और गन्ध। इस नये चूल्हे या सिगड़ी आदि में भात आदि बनाकर पहले मुनियों को दूँगा पश्चात् अन्य किसी को दूँगा इस प्रकार प्रासुक भी भात आदि द्रव्य पूतिकर्म अप्रासुक रूप भाव से बनाया हुआ होने से पूति कहलाता है। ऐसे ही, इस नयी ओखली में कोई चीज चूर्ण करके जब तक मुनियों को नहीं दूँगा तब तक अन्य किसी को नहीं दूँगा और न मैं ही अपने प्रयोग में लूँगा इस प्रकार से बनाई हुई वह प्रासुक भी वस्तु अप्रासुक हो जाती है। इसी तरह इस कलछी या चम्मच से जब तक यतिओं को नहीं दे दूँगा तब तक अपने या अन्य के प्रयोग में नहीं

---

1 क संपयणे । 2 क संयतान् ।

इति। अनेन प्रकारेण रन्धन्युदूखलदर्वीभाजनगन्धभेदेन पंचविधं। रन्धनीं कृत्वैव महानस्यां रन्धन्यामोदनादिकं निष्पाद्य साधुभ्यस्तावद्दास्यामि पश्चादन्येभ्य इति प्रासुकमपि द्रव्यं पूतिकर्मणा निष्पन्नमिति पूतीत्युच्यते। तथोदूखलं कृत्वैवमस्मिन्नुदूखले चूर्णयित्वा यावदृषिभ्यो न दास्यामि तावदात्मनोऽन्येभ्यश्च न ददामीति निष्पन्नं प्रासुकमपि तत् तथाऽनया दर्व्या यावद्यतिभ्यो न दास्यामि तावदात्मनोऽन्येषां न तद्योग्यमेतदपि पूति। तथा भाजनमप्येतद्यावदृषिभ्यो न ददामि तावदात्मनोऽन्येषां च न तद्योग्यमिति पूति। तथायं गन्धो यावदृषिभ्यो न दीयते भोजनपूर्वकस्तावदात्मनोऽन्येषां च न कल्पते इत्येवं हेतुना निष्पन्नमोदनादिकं पूतिकर्म। तत्पंचप्रकारं दोषजातं प्रथममारम्भकरणादिनि ॥४२८॥

मिश्रदोषस्वरूपं निरूपयन्नाह—

पासंडेहि य सद्धं सागारेहिं य जदण्णमुद्दिसियं।
दादुमिदि संजदाणं सिद्धं मिस्सं वियाणाहि ॥४२९॥

प्रासुकं सिद्धं निष्पन्नमपि यदन्नमोदनादिकं पाषण्डैः सार्धं सागारैः सह गृहस्थैश्च सह संयतेभ्यो दातुमुद्दिष्टं तं मिश्रदोषं विजानीहि। स्पर्शनादिनानादरादिदोषदर्शनादिति ॥४२९॥

स्थापितदोषस्वरूपमाह—

पागादु भायणाओ अण्णह्मि य भायणह्मि पक्खविय।
सघरे व परघरे वा णिहिदं ठविदं वियाणाहि ॥४३०॥

लूंगा यह भी पूति है। तथा वर्तनों में भी इस नये वर्तन से जब तक ऋषियों को न दूंगा तब तक अपने या अन्यों के लिए नहीं लूंगा। इसी तरह कोई सुगन्धित वस्तु है उस विषय में भी ऐसा सोचना कि जब तक यह सुगन्ध वस्तु मुनियों को आहार में नहीं दे दूंगा तब तक अपने या अन्य के प्रयोग में नहीं लूंगा। इन पाँच हेतुओं से बने हुए भात आदि भोज्य पदार्थ पूतिकर्म कहलाते हैं। यदि मुनि ऐसे भोजन को ग्रहण कर लेते हैं तो उन्हें पूतिदोष लगता है। क्योंकि इन पाँचों प्रकारों में प्रथम आरम्भ दोष किया जाता है अतः दोष है।

मिश्र दोष का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—पाखण्डियों और गृहस्थों के साथ संयत मुनियों को जो सिद्ध हुआ अन्न दिया जाता है उसे मिश्र जानो ॥४२९॥

आचारवृत्ति—जो ओदन आदि अन्न प्रासुक भी बना हुआ है किन्तु यदि दाता पाखण्डी साधुओं के साथ या गृहस्थों के साथ मुनियों को देता है तो उसे मिश्र दोष जानो। ऐसा इसलिए कि उनके साथ आहार देने से उनका स्पर्श आदि हो जाने से आहार अशुद्ध हो जावेगा तथा संयमी मुनियों को और उनको साथ देने से उनका अनादर भी होगा इत्यादि दोष होने से ही यह दोष माना गया है।

स्थापित दोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पकानेवाले वर्तन से अन्य वर्तन में निकालकर, अपने घर में या अन्य के घर में रखना यह स्थापित दोष है ऐसा जानो ॥४३०॥

पाकाद्भाजनात् पाकनिमित्तं यद्भाजनं यस्मिन् भाजने पाको व्यवस्थितस्तस्माद्भाजनात् पिठरा-दोदनादिकमन्यस्मिन् भाजने पात्र्यादौ प्रक्षिप्य व्यवस्थाप्य स्वगृहे परगृहे वानीत्वा निहितं स्थापितं यत् स्थापित-मिति दोषं जानीहि। सभयेन दात्रा दीयमानत्वाद्विरोधादिदोषदर्शनाद्वेति ॥४३०॥

बलिदोषस्वरूपं निरूपयन्नाह—

जक्खयणागादीणं बलिसेसं[1] स बलित्ति पण्णत्तं।
संजदआगमणट्ठं बलियकम्मं वा बलिं जाणे ॥४३१॥

यक्षनागादीनां निमित्तं यो बलिस्तस्य बलि (लेः) शेषः स बलिशेषो बलिरिति प्रज्ञप्तः। सर्वत्र कारणे कार्योपचारात्। संयतानामागमनार्थं वा बलिकर्म तं बलिं विजानीहि। संयतान् धृत्वार्चनादिकमुदक-

---

आचारवृत्ति—जिस वर्तन में भात आदि आहार बनाया है उस वर्तन से अन्य वर्तन में रखकर अपने घर में (रसोईघर से अन्यत्र) अथवा पर के घर में ले जाकर रख देना यह स्थापित दोष है। अर्थात् जो दाता उसे उठाकर देगा वह उस रखनेवाले से डरते हुए देगा अथवा कदाचित् जिसने अन्यत्र रखा था वह विरोध भी कर सकता है इत्यादि दोष होने से ही यह दोष माना गया है।

बलि दोष का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—यक्ष, नाग आदि के लिए नैवद्य में जो शेष बचा वह वलि कहा गया है। अथवा संयतों के आने के लिए बलिकर्म करना बलिदोष जानो ॥४३१॥

आचारवृत्ति—यक्ष, मणिभद्र आदि अथवा नाग आदि देवों के निमित्त जो नैवेद्य बनाया है उसे बलि संज्ञा है। उसमें से कुछ शेष बचे हुए को भी बलि कहते हैं। यहाँ सर्वत्र कारण में कार्य का उपचार किया गया है। ऐसा शेष बचा नैवेद्य यदि मुनि को आहार में दे देवें तो वह बलिदोष है। अथवा संयतों के आने के लिए बलिकर्म करना अर्थात् 'यदि आज मेरे घर में मुनि आहार को आ जावेंगे तो मैं यक्ष को अमुक नैवेद्य चढ़ाऊँगा' इत्यादि रूप से संकल्प करना वलिकर्म है। ऐसा करके आहार देने से भी बलिनाम का दोष होता है।

संयतों का पड़गाहन करके अर्चन आदि करना, जल-क्षेपण करना, पत्रिकादि का खण्डन करना आदि, तथा यक्षादि की पूजा से बचा हुआ नैवेद्य आहार में देना यह सब वलिदोष है क्योंकि इसमें सावद्य दोष देखा जाता है।

भावार्थ—यहाँ पर संयतों को पड़गाहन करके अर्चन आदि करना, जल-क्षेपण करना आदि दोष बतलाया है तथा संयत का पड़गाहन कर नवधा-भक्ति में उच्चासन देना, तत्पश्चात् प्रलाक्षन करना; जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य से पूजन करना आदि भी आवश्यक है। सो यहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिए कि संयतों के आने के वाद तत्काल सावद्य कार्य जैसे फूल तोड़ना, दीप जलाना आदि नहीं करना चाहिए। पहले से ही सव अष्टद्रव्य सामग्री तैयार रखनी चाहिए। क्योंकि पड़गाहन के वाद, उच्चासन पर विठाकर,

---

१ क °सं तं ब°। २ क बलिः कृतस्त°।

क्षेपणं पत्रिकादिखण्डनं यत् यक्षादिवलिशेषश्च यस्तं वलिदोषं विजानीहि सावद्य दोषदर्शनादिति ॥४३१॥

प्राभृतदोषस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

पाहुडिहं पुण दुविहं वादर सुहुमं च दुविहमेक्केक्कं।
ओकस्सणमुक्कस्सण महकालोवट्टणावड्ढी ॥४३२॥

पहुडियं—प्रावर्तितं। पुण—पुनः। दुविहं—द्विविधं। वादरं—स्थूलं। सुहुमं—सूक्ष्मं। पुनरप्येकैकं द्विविधं। ओक्कस्सणं—अपकर्षणं। उक्कस्सणं—उत्कर्षणं। अथवा कालस्य हानिर्वृद्धिर्वा। अपकर्षणं कालहानिः। उत्कर्षणं कालवृद्धिरिति। स्थूलं प्राभृतं कालहानिवृद्धिभ्यां द्विप्रकारं तथा सूक्ष्मप्राभृतं तदपि द्विप्रकारं कालवृद्धिहानिभ्यामिति ॥४३२॥

वादरं च द्विविधं सूक्ष्मं च द्विविधं निरूपयन्नाह—

दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय वादरं दुविहं।
पुव्वपरमज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च ॥४३३॥

परावृत्यशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, दिवसं परावृत्य, पक्षं परावृत्य, मासं परावृत्य, वर्षं परावृत्य यद्दानं दीयते तद्वादरं प्राभृतं द्विविधं भवति। शुक्लाष्टम्यां वा दास्यामीति स्थितं[1] उत्कृष्टा-(उत्कर्ष्या) ष्टम्यां

पाद-प्रक्षालन करके पुनः अष्टद्रव्य से अर्चना करना नवधाभक्ति है। वर्तमान में भी यही विधि अपनायी जाती है।

प्राभृत दोष का स्वरूप वतलाते हैं—

गाथार्थ—प्राभृत के दो भेद हैं वादर और सूक्ष्म। एक-एक के भी दो-दो भेद हैं—अपकर्षण और उत्कर्षण अथवा काल की हानि और वृद्धि करना ॥४३२॥

आचारवृत्ति—प्राभृत दोष के वादर और सूक्ष्म दो भेद हैं। उनमें भी वादर प्राभृत के काल की हानि और वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार हैं और सूक्ष्म के भी काल की हानि और वृद्धि से भी दो प्रकार हो जाते हैं।

दो प्रकार के वादर और दो प्रकार के सूक्ष्म दोषों का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—दिवस, पक्ष, महिना और वर्ष का परावर्तन करके आहार देने से वादर दोष दो प्रकार है। इसी प्रकार पूर्व, अपर तथा मध्य की वेला का परावर्तन करके देने से सूक्ष्म दोष दो प्रकार का होता है ॥४३३॥

आचारवृत्ति—'परावर्तन करके' यह शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित करना चाहिए। अर्थात् दिवस का परावर्तन करके, पक्ष का परावर्तन करके, मास का परावर्तन करके और वर्ष का परावर्तन करके जो आहार दान दिया जाता है वह वादर प्राभृत हानि और वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का हो जाता है। जैसे शुक्ल अष्टमी में देना था किन्तु उसको अपकर्षण करके—घटा करके शुक्लापंचमी के दिन जो दान दिया जाता है अथवा शुक्ला पंचमी को दूंगा

---

1 क तमपकृष्य उत्कृष्टाष्टम्यां।

ददात्येतद्दिवसं परावृत्य जातं प्राभृतं तथा चैत्रशुक्लपक्षे देयं यत्तच्चैत्रांधकारपक्षे ददाति । अन्धकारपक्षे वा देयं शुक्लपक्षे ददाति पक्षपरावृत्तिजातं प्राभृतं । तथा चैत्रमासे देयं फाल्गुने ददाति फाल्गुने देयं वा चैत्रे ददाति तन्मासपरिवृत्तिजातं प्राभृतं । तथा परुत्तने वर्षे देयं यत्तदधुनातने वर्षे ददाति । अधुनातने वर्षे यदिष्टं परुत्तने ददाति तद्वर्षपरावृत्तिजातं प्राभृतं । तथा सूक्ष्मं च प्रावर्तितं द्विविधं पूर्वाह्णवेलायामपराह्णवेलायां मध्याह्न-वेलायामिति । अपराह्णवेलायां दातव्यमिति स्थितं प्रकरणं मंगलं संयतागमनादिकारणेनापकृष्य पूर्वाह्णवे-लायां ददाति पूर्वाह्णवेलायां दातव्यमित्युत्कृष्यापराह्णवेलायां ददाति तथा मध्याह्ने दातव्यमिति स्थित पूर्वाह्णेऽपराह्णे वा ददाति एवं प्रावर्तितदोषं कालहानिवृद्धिपरिवृत्त्या वादरसूक्ष्मभेदभिन्नं जानीहि क्लेशवहुवि[1]-घातारंभदोषदर्शनादिति ॥४३३॥

प्रादुष्कारदोषमाह—

पादुक्कारो दुविहो संकमण पयासणा य बोधव्वो ।
भायणभोयणदीणं[2] मंडवविरलादियं कमसो ॥४३४॥

प्रादुष्कारो द्विविधो बोधव्यो ज्ञातव्यः । भाजनभोजनादीनां संक्रमणमेकः । तथा भाजनभोजनादीनां

ऐसा संकल्प किया था पुनः उसका उत्कर्षण करके—वढ़ा करके शुक्ला अष्टमी को देना आदि सो यह दिवस का परिवर्तन हुआ । वैसे ही चैत्र के शुक्ल पक्ष में देना था किन्तु चैत्र के कृष्णपक्ष में जो देता है अथवा कृष्ण पक्ष में देने योग्य को शुक्ल पक्ष में देता है सो यह पक्ष परिवर्तन दोष है । तथा चैत्र मास में देना था सो फाल्गुन में दे देता है अथवा जो फाल्गुन में देना था उसे चैत्र में देता है सो यह मास परिवर्तन नाम का दोष है । तथा गतवर्ष में देना था सो वर्तमान वर्ष में देता है और वर्तमान वर्ष में जो देना इष्ट था सो पूर्व के वर्ष में दे दिया जाना सो यह वर्ष परिवर्तन नाम का दोष है ।

उसी प्रकार से सूक्ष्मप्राभृत भी दो प्रकार का है । अपराह्न वेला में देने योग्य ऐसा कोई मंगल प्रकरण था किन्तु संयत के आगमन आदि के कारण से उस काल का अपकर्षण करके पूर्वाह्न वेला में आहार दे देना, वैसे ही मध्याह्न में देना था किन्तु पूर्वाह्न अथवा अपराह्न में दे देना सो यह सूक्ष्मप्राभृत दोष काल की हानि-वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का हो जाता है ।

इसे प्रावर्तित दोष भी कहते हैं । चूँकि इसमें काल की हानि और वृद्धि से परिवर्तन किया जाता है । इस तरह आहार देने में दातार को क्लेश, बहुविघात और वहुत आरम्भ आदि दोष देखे जाते हैं अतः यह दोष है ।

प्रादुष्कार दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—संक्रमण और प्रकाशन ऐसे प्रादुष्कार दो प्रकार का जानना चाहिए, जो कि भाजन, भोजन आदि का और मण्डप का उद्योतन करना आदि है ॥४३४॥

आचारवृत्ति—प्रादुष्कार के दो भेद जानना चाहिए । बर्तन और भोजन आदि का संक्रमण करना यह एक भेद है, तथा बर्तन व भोजन आदि का प्रकाशन करना यह दूसरा भेद है । किसी भी वर्तन या भोजन आदि को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना यह तो

---

१ क °विधाता° । २ क °णमादी मं ।

प्रकाशनं द्वितीयः। संक्रमणमन्यस्मात्प्रदेशादन्यत्र नयनं प्रकाशनं भाजनादीनां भस्मादिनोदकादिना वा निर्मार्जनं भाजनादेर्वा विस्तरणमिति। अथवा मण्डपस्य विरलनमुद्योतनं मण्डपादिविरलनं। आदिशब्देन कुड्यादिकस्य ज्वलनं प्रदीपद्योतनमिति संक्रमः सर्वः प्रादुष्कारो दोषोऽयं। ईर्यापथदोषदर्शनादिति ॥४३४॥

क्रीततरदोषमाह[1]—

कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सगपरं दुविहं।
सच्चित्तादी दव्वं विज्जामंतादि भावं च ॥४३५॥

क्रीततरं पुनर्द्विविधं द्रव्यं भावश्च। द्रव्यमपि द्विविधं स्वपरभेदेन स्वद्रव्यं परद्रव्यं स्वभावः परभावश्च। सचित्तादिकं गोमहिष्यादिकं द्रव्यं। विद्यामंत्रादिकं च भावः। संयते भिक्षायां प्रविष्टे स्वकीयं परकीयं वा सचित्तादिद्रव्यं दत्त्वाहारं प्रगृह्य ददाति तथा स्वमंत्रं वा स्वविद्यां परविद्यां वा दत्त्वाहारं[2] प्रगृह्य ददाति यत् स क्रीतदोषः कारुण्यदोषदर्शनादिति। प्रज्ञप्त्यादिर्विद्या। चेटकादिर्मंत्र इति ॥४३५॥

ऋणदोषस्वरूपमाह—

संक्रमण कहलाता है, तथा बर्तनों को भस्म आदि से मांजना या जल आदि से धोना अथवा बर्तन आदि का विस्तरण करना—उन्हें फैलाकर रख देना यह प्रकाशन कहलाता है। अथवा मण्डप का उद्योतन करना अर्थात् मण्डप वगैरह खोल देना आदि शब्द से दीवाल वगैरह को उज्ज्वल करना अर्थात् लीप-पोत कर साफ करना, दीपक जलाना, यह सब प्रादुष्कार नाम का दोष है क्योंकि इन सभी कार्यों में ईर्यापथ दोष देखा जाता है अर्थात् इन सब कार्य हेतु उस समय चलने-फिरने से ईर्यापथ शुद्धि नहीं रह सकती है।

क्रीततर दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—क्रीततर दोष दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। वह द्रव्य भाव भी स्व और पर की अपेक्षा से दो-दो प्रकार का है। उसमें सचित्त आदि वस्तु द्रव्य हैं और विद्या-मन्त्र आदि भाव हैं ॥४३५॥

आचारवृत्ति—द्रव्य और भाव की अपेक्षा क्रीततर दोष दो प्रकार का है। स्वद्रव्य-परद्रव्य और स्वभाव तथा परभाव इस तरह द्रव्य और भाव के भी दो-दो भेद हो जाते हैं। गाय, भैंस आदि सचित्त वस्तुएँ द्रव्य हैं। विद्या, मन्त्र आदि भाव हैं। अर्थात् संयत मुनि आहार के लिए प्रवेश कर चुके हैं, उस समय अपने अथवा पराये सचित्त—गाय, भैंस आदि किसी को देकर और उससे आहार लाकर साधु को दे देना। उसी प्रकार से स्वमन्त्र या परमन्त्र को अथवा स्व-विद्या या पर-विद्या को किसी को देकर उसके बदले आहार लाकर दे देना यह क्रीत दोष है; क्योंकि इस कार्य में करुणाभाव आदि दोष देखे जाते हैं।

विद्या और मन्त्र में क्या अन्तर है? प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ हैं तथा चेटक आदि मन्त्र हैं।

ऋण दोष का स्वरूप कहते हैं—

---

१ क 'दोषस्वरूपमाह'। २ क 'हारादिकं प्रगृह्य।

डहरियरिणं तु भणियं पामिच्छं ओदणादिअण्णदरं ।
तं पुण दुविहं भणिदं सवड्ढियमवड्ढियं चावि ॥४३६॥

डहरियरिणं तु—लघुऋणं स्तोकर्णं भणितं । **पामिच्छं**—प्रामृष्यं ओदनादिकं भक्तं मण्डकादिमन्यतरत् । तत्पुनर्द्विविधं सवृद्धिकमवृद्धिकं चापि । भिक्षौ चर्यायां प्रविष्टे दातान्यदीयं गृहं गत्वा भक्त्या भक्तादिकं याचते वृद्धिं समिष्य वृद्धयाविना वा साधुहेतोः । तवौदनादिकं वृद्धिसहितमन्यथा दास्यामि मम भक्तं पानं खाद्यं मण्डकाश्च प्रयच्छ । एवं भणित्वा मण्डकादीन् गृहीत्वा संयतेभ्यो ददाति तदृणसहितं प्रामृष्यं दोष जानीहि । दातुः क्लेशायासकरणादिदर्शनादिति ॥४३६॥

परावर्तदोषमाह—

बीहीकूरादीहिं य सालीकूरादियं तु जं गहिदं ।
दातुमिति संजदाणं परियट्टं होदि णायव्वं ॥४३७॥

संयतेभ्यो दातुं व्रीहिकूरादिभिर्यच्छालिकूरादिकं संगृहीतं तत्परिवर्तं भवति ज्ञातव्यं । मदीयं

गाथार्थ—भात आदि कोई वस्तु कर्जरूप में दूसरे के यहाँ से लाकर देना लघुऋण कहलाता है । इसके दो भेद हैं—ब्याज सहित और ब्याज रहित ॥४३६॥

आचारवृत्ति—लघु ऋण अर्थात् स्तोक ऋण । ओदन आदि भोजन तथा मण्डक—रोटी आदि अन्य वस्तुओं को प्रामृष्य कहते हैं । इस ऋण दोष के वृद्धिसहित और वृद्धिरहित की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं । जब मुनि आहार के लिए आते हैं उस समय दाता श्रावक अन्य किसी के घर जाकर भक्ति से उससे भात आदि माँगता है और कहता है कि मैं आपको इससे अधिक भोजन दे दूँगा या इतना ही भोजन वापस दे दूँगा । अर्थात् इस समय मेरे घर पर साधु आये हुए हैं तुम मुझे भात, रोटी, पानक आदि चीजें दे दो, पुनः मैं तुम्हें इससे अधिक दे दूँगा या इतना ही लाकर दे दूँगा, ऐसा कहकर पुनः उसके यहाँ से लाकर यदि श्रावक मुनि को आहार देता है तो वह ऋण सहित प्रामृष्य दोष कहलाता है । इसमें दाता को क्लेश और परिश्रम आदि करना पड़ता है अतः यह दोष है ।

भावार्थ—यदि दाता किसी से कुछ खाद्य पदार्थ उधार लाकर मुनियों को आहार देता है तो यह ऋण दोष है । उसमें भी उधार लाये हुए को पीछे ब्याज समेत देना या बिना ब्याज के उतना ही देना ऐसे दो भेद हो जाते हैं ।

परावर्त दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—संयतों को देने के लिए व्रीहि के भात आदि से शालि के भात आदि को ग्रहण करना इसे परिवर्त दोष जानना चाहिए ॥४३७॥

आचारवृत्ति—संयत मुनियों को देने के लिए जो व्रीहि जाति के धान के भात को देकर उससे शालिजाति के धान के भात आदि को लाना यह परिवर्त दोष है । जैसे, मेरे व्रीहि धान के भात को आप ले लो और मुझे शालि धान का भात दे दो, मैं साधुओं को दूँगा ।

व्रीहिभक्तं गृहीत्वा मम शाल्योदनं प्रयच्छ साधुभ्योऽहं दास्यामीति मण्डकान्वा दत्वा व्रीहिभक्तादिकं गृह्णाति साधुनिमित्तं यत्तत्परिवर्तनं नाम दोषं जानीहि। दातुः क्लेशकारणादिति ॥४३७॥

अभिघटदोषस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

देसत्ति य सव्वत्ति य दुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि।
आचिण्णमणाचिण्णं देसाविहडं हवे दुविहं ॥४३८॥

देश इति सर्व इति द्विविधं पुनरभिघटं विजानीहि। एकदेशादागतमोदनादिकं देशाभिघटं। सर्वस्मादागतमोदनादिकं सर्वाभिघटं। देशाभिघटं पुनर्द्विविधं। आचिन्नानाचिन्नभेदात्। आचिन्नं योग्यं। अनाचिन्नमयोग्यमिति ॥४३८॥

आचिन्नानाचिन्नस्वरूपमाह—

उज्जु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं ॥४३९॥

ऋजुवृत्या पंक्तिस्वरूपेण यानि त्रीणि सप्त गृहाणि वा व्यवस्थितानि। तेभ्यस्त्रिभ्यः सप्तभ्यो वा गृहेभ्यो यद्यागतमोदनादिकं आचिन्नं ग्रहणयोग्यं दोषाभावात्। परतस्त्रिभ्यः सप्तगृहेभ्य ऊर्ध्वं यद्यागतमोदना-

---

अथवा इसी प्रकार से मण्डक—रोटी को देकर साधु के हेतु जो शालि का भात आदि लाता है, यह परिवर्त दोष है। इसमें दाता को क्लेश होता है।

अभिघट दोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—देश और सर्व की अपेक्षा से अभिघट के दो भेद होते हैं ऐसा जानो। उसमें देशाभिघट आचिन्न और अनाचिन्न दो प्रकार का होता है ॥४३८॥

आचारवृत्ति—देशाभिघट और सर्वाभिघट ऐसे अभिघट के दो भेद होते हैं। एक देश से आये हुए भात आदि देशाभिघट हैं और सब तरफ़ से आये हुए भात आदि सर्वाभिघट हैं। देशाभिघट के भी दो भेद हैं—आचिन्न और अनाचिन्न। योग्य वस्तु आचिन्न है और अयोग्य को अनाचिन्न कहते हैं।

आचिन्न और अनाचिन्न का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—सरल पंक्ति से तीन या सात घर से यदि आयी हुई वस्तु है तो वह आचिन्न है। उन घरों से अतिरिक्त या सरल पंक्ति से विपरीत जो आयी हुई वस्तु है वह अनाचिन्न है ॥४३९॥

आचारवृत्ति—सरल वृत्त से—पंक्तिरूप से जो तीन घर हैं अथवा सात घर हैं, उनसे आया हुआ भात आदि आचिन्न है—ग्रहण करने योग्य है उसमें दोष नहीं है। किन्तु इन से भिन्न तीन या सात घरों से अतिरिक्त घरों से आया हुआ भात आदि भोजन अनाचिन्न है—ग्रहण के अयोग्य है।

उससे विपरीत—सरल पंक्ति से अतिरिक्त, सात घरों से आया हुआ भोजन भी

दिकमनाचिन्नं ग्रहणायोग्यं तद्विपरीतं वा ऋजुवृत्त्या विपरीतेभ्यः सप्तभ्यो यद्यागतं तदप्यनाचिन्नमादातुम-योग्यं । यत्र तत्र स्थितेभ्यो सप्तभ्यो गृहेभ्योप्यागतं न ग्राह्यं दोपदर्शनादिति ।।४३६।।

सर्वाभिघटभेदं प्रतिपादयन्नाह—

सव्वाभिहडं चदुधा सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
पुव्वपरपाडणयडं पढमं सेसंपि णादव्वं ।।४४०।।

सर्वाभिघटं चतुर्विधं जानीहि । स्वग्रामपरग्रामस्वदेशपरदेशभेदात् । स्वग्रामादागतं परग्रामादागतं स्वदेशादागतं परदेशादागतमोदनादिकं यत् तच्चतुर्विधं सर्वाभिघटं । यस्मिन् ग्रामे आस्यते स स्वग्राम इत्युच्यते । तस्माद्येभ्यः स परग्राम इत्युच्यते । एवं स्वदेशः परदेशोऽपि ज्ञातव्यः । ननु स्वग्रामात्कथमागच्छती-त्येतस्यामाशंकायामाह—पूर्वपाटकात् परस्मिन् पाटके नयनं परपाटकाद्वाऽ[1]परस्मिन् नयनमोदनादिकस्य यत्तत्स्वग्रामाभिघटं प्रथमं जानीहि। तथाशेषमपि जानीहि परग्रामात्स्वग्राम आनयनं स्वदेशात् स्वग्राम आनयनं परदेशात्स्वग्रामे स्वदेशे वानयनमिति सर्वाभिघटदोषं चतुर्विधं जानीहि। प्रचुरेर्यापथदर्शनात् ।।३४०।।

अनाचिन्न है—ग्रहण करने के लिए अयोग्य है अर्थात् यत्र-तत्र स्थित घरों से आया हुआ भोजन ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि उनमें दोष देखा जाता है ।

भावार्थ—विना पंक्ति के घरों से लाया गया भोजन मुनि के लिए अभिघट दोषयुक्त है क्योंकि जहाँ कहीं से आने में ईर्यापथ शुद्धि नहीं रहती है।

सर्वाभिघट दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—स्वग्राम और परग्राम, स्वदेश और परदेश की अपेक्षा से सर्वाभिघट चार प्रकार का है । पूर्व और अपर मोहल्ले से वस्तु का लाना प्रथम अभिघट है ऐसे ही शेष भी जानना चाहिए ।।४४०।।

आचारवृत्ति—स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश और परदेश की अपेक्षा से सर्वाभिघट के चार भेद हो जाते हैं। अर्थात् स्वग्राम से लाया गया भात आदि ऐसे ही परग्राम से लाया गया, स्वदेश से लाया गया या परदेश से लाया गया अन्न आदि अभिघट दोष से सहित है। जिस ग्राम में मुनि ठहरे हुए हैं वह स्वग्राम है, उससे भिन्न को परग्राम समझना । ऐसे ही स्वदेश और परदेश को भी समझ लेना चाहिए ।

स्वग्राम से कैसे आता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

पूर्वपाटक अर्थात् एक गली से या मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले में भात आदि को ले जाकर मुनि को देना या दूसरे से अन्य किसी मोहल्ले में ले जाकर देना यह स्वग्राम से आगत अभिघट दोष है। ऐसे ही परग्राम से लाकर स्वग्राम में देना, स्वदेश से स्वग्राम में लाकर देना, परदेश से लाकर स्वग्राम में देना अथवा स्वदेश में देना। इस प्रकार से सर्वाभिघट दोष को चार प्रकार का जानो। इसमें प्रचुर मात्रा में ईर्यापथ दोष देखा जाता है । अर्थात् दूर से लेकर आनेवाले

---

१ क °द्वापूर्वस्मिन्।

उद्भिन्नदोषमाह—

पिहिदं लंछिदयं वा ओसहघिदसक्करादि जं दव्वं।
उब्भिण्णिऊण देयं उब्भिण्णं होदि णादव्वं ॥४४१॥

पिहितं पिधानादिकेनावृतं कर्दमजंतुना वा संवृतं। लांछितं मुद्रितं नामबिंबादिना च यदौषधं घृतशर्करादिकं गुडखंडलड्डुकादिकं द्रव्यमुद्भिद्योघाट्य देयं स उद्भिन्नदोषो भवति ज्ञातव्यः पिपीलिकादिप्रवेशदर्शनादिति ॥४४१॥

मालारोहणं दोषं निरूपयन्नाह—

णिस्सेणीकट्ठादिहि णिहिदं पूयादियं तु घेत्तूणं।
मालारोहं किच्चा देयं मालारोहणं णाम ॥४४२॥

निःश्रेण्या काष्ठादिभिर्हेतुभूतैर्मालारोहणं कृत्वा मालं द्वितीयगृहभूमिमारुह्य गृहोर्ध्वभागं चारुह्य निहितं स्थापितमपूपादिकं मंडकलड्डुकशर्करादिकं गृहीत्वा यद्देयं स मालारोहो नाम दोषः। दातुरपायदर्शनादिति ॥४४२॥

अच्छेद्यदोषस्वरूपमाह—

श्रावक ईर्यापथ शुद्धि का पालन नहीं कर पायेंगे।

उद्भिन्न दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—ढके हुए या मुद्रा से बन्द हुए जो औषधि, घी, शक्कर आदि हैं उन्हें खोल कर देना सो उद्भिन्न दोष होता है ऐसा जानना ॥४४१॥

आचारवृत्ति—जो ढक्कन आदि से ढकी हुई है अथवा जिस पर लाख या चपड़ी लगी हुई है, जो नाम या बिंब आदि से मुद्रित है अर्थात् जिसपर शील-मुहर लगी हुई है ऐसी जो कोई भी वस्तु, औषधि, घी, शक्कर या गुड़, खांड, लड्डुक आदि चीजें हैं उन्हें उसी समय खोलकर देना सो उद्भिन्न दोष है; क्योंकि उनमें चींटी आदि का प्रवेश हो सकता है। अर्थात् कदाचित् ऐसी वस्तुओं में चिवटी वगैरह प्रवेश कर गई हों तो उस समय उन्हें बाधा पहुँचेगी।

मालारोहण दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—नसैनी, काठ आदि के द्वारा चढ़कर रखी हुई पुआ आदि वस्तु को लाकर देना सो मालारोहण दोष है ॥४४२॥

आचारवृत्ति—नसैनी (काठ आदि की सीढ़ी) से माल अर्थात् घर के दूसरे भाग पर—ऊपरी भाग पर चढ़कर वहाँ पर रखे हुए पुआ, मंडक, लड्डू, शक्कर आदि लाकर जो उस समय देना है, सो वह मालारोहण दोष है। इसमें दाता के गिरने का भय देखा जाता है।

अच्छेद्य दोष को कहते हैं—

रायाचोरादीहिं य संजदभिक्खासमं तु दठ्ठुण।
बीहेदूण णिजुज्जं अच्छिज्जं होदि णादव्वं ॥४४३॥

संयतानां भिक्षाश्रमं दृष्ट्वा राजा चौरादय एवमाहुः कुटुम्बिकान् यदि संयतानामागतानां भिक्षादानं न कुरु (र्व) ते तदानीं युष्माकं द्रव्यमपहरामो ग्रामाद्वा निर्वासयाम इति। एवं राज्ञा चौरादिभिर्वा कुटुम्बिकान् भावयित्वा नियुक्तं नियोजितं यद्दानं नाम तदाच्छेद्यं नाम दोषो भवति ज्ञातव्यः। कुटुम्बिनां भयकरणादिति ॥४४३॥

अनीशार्थदोपस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सरमह णिस्सरं चदुवियप्पं।
पढमिस्सर सारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ॥४४४॥

अनीशार्थोऽप्रधानहेतुः। स पुनर्द्विविध ईश्वरो वानीश्वरश्च। अथवाऽ धनेश्वर इति पाठः। अनीशोऽप्रधानोऽर्थः कारणं यस्यौदनादिकस्य तदौदनादिकमनीशार्थं तद्ग्रहणे यो दोषः सोऽप्यनीशार्थः कारणे कार्योपचारादिति। स चानीशार्थो द्विविधः ईश्वरानीश्वरभेदेन। द्विविधोऽपि चतुर्विधः। प्रथम ईश्वरो दानस्य सारक्षः सहारक्षैर्वर्तते इति सारक्षः यद्यपि दातुमिच्छति तथापि दातुं न लभतेऽन्ये विघातं कुर्वन्ति तत्तस्य ददतः

गाथार्थ—संयत को भिक्षा के लिए देखकर और राजा या चोर आदि से डरकर जो उन्हें आहार देना है वह आछेद्य दोष है ॥४४३॥

आचारवृत्ति—संयतों को भिक्षा के लिए आते देखकर राजा या चोर आदि कुटुम्बियों को ऐसा कहे कि यदि आप आए हुए संयतों को आहार दान नहीं दोगे तो मैं तुम्हारा द्रव्य अपहरण कर लूंगा या तुम्हें ग्राम से बाहर निकाल दूंगा। इस प्रकार से राजा या चोर आदि के द्वारा कुटुम्ब को डराकर जो आहार देने में लगाया जाता है, उस समय उन दातारों के द्वारा दिया गया दान आछेद्य दोष वाला होता है; क्योंकि वह कुटुम्बियों को भय का करने वाला है।

अनीशार्थ दोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अनीशार्थ दोष दो प्रकार का है—ईश्वर और अनीश्वर। ईश्वर भी सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक इन चार भेदरूप है ॥४४४॥

आचारवृत्ति—जो अप्रधान हेतु है वह अनीशार्थ कहलाता है। उसके दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। अथवा धनेश्वर ऐसा भी पाठ है। अनीश—अप्रधान, अर्थ—कारण है जिस ओदनादिक भोज्य पदार्थ का वह भोजन अनीशार्थ है। उस भोजन के ग्रहण में जो दोष है वह भी अनीशार्थ है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया है। और वह अनीशार्थ दोष ईश्वर और अनीश्वर के भेद से दो प्रकार का है। इन दोनों भेद के भी चार भेद हैं—

प्रथम अनीशार्थ ईश्वर दोष को कहते हैं—इसका नाम सारक्ष ईश्वर दोष भी है। जो आरक्षों के साथ रहे वह सारक्ष है, वह यद्यपि दान देना चाहता है फिर भी नहीं दे पाता है, अन्य लोग विघात कर देते हैं। वह ईश्वर—स्वामी देता है और अन्य अमात्य पुरोहित आदि

स ईश्वरो ददाति अन्ये चामात्यपुरोहितादयो विघातं कुर्वन्ति, एवं यदि तदान्नं गृह्णते प्रथम ईश्वरो नामैकभेदोऽनीशार्थो दोष इति। तथानीश्वरोऽप्रधानहेतुर्यस्य दानस्य तद्दानमनीशार्थं दोषोऽप्यनीशार्थः इत्युच्यते कार्ये कारणोपचारात्। स चानीशार्थस्त्रिप्रकारो व्यक्तोऽव्यक्तः संघाटकः। दानादिकस्यानीश्वरः स्वामी न भवति किन्तु व्यक्तः प्रेक्षापूर्वकारी तेन दीयमानं यदि गृह्णाति तदा व्यक्तोऽनीश्वरो नामानीशार्थो दोष इति। तथा दानस्यानीश्वरस्तथा (दा) व्यक्तोऽप्रेक्षापूर्वकारी भवति तेन दीयमानं यदि गृह्णाति तदाव्यक्तानीश्वरो नामानीशार्थ इति। तथा संघाटकेन व्यक्ताव्यक्तानीश्वरेण दीयमानं यदि गृह्णाति तदाव्यक्ताव्यक्तसंघाटानीश्वरो नामानीशार्थो दोषाऽपायदर्शनादिति। अथवैवं ग्राह्यं, ईश्वरेण प्रभुणा व्यक्तेनाव्यक्तेन वा यत्सारक्षं यत्प्रतिषिद्धं तद्दानं यदि साधु गृह्णाति तदा व्यक्ताव्यक्तेश्वरो नामानीशार्थो दोषः। तथानीश्वरेण प्रभुणा व्यक्तेनाव्यक्तेन वा यत्प्रतिषिद्धं सारक्ष्यं दानं तद्यदि गृह्णाति साधुस्तदा व्यक्ताव्यक्तानीश्वरो नामानीशार्थो दोषः। तथा संघाटकः समवाय एको ददात्यपरो निषेधयति दानं तत्तथाभूतं यदि गृह्णाति साधुस्तदा संघाटको नामानी-

---

विघ्न करते हैं। यदि ऐसा दान मुनि ग्रहण करते हैं तो उनके यह अनीशार्थ ईश्वर का प्रथम भेद रूप दोष होता है।

तथा जिस दान का अप्रधान पुरुष हेतु होता है वह दान अनीशार्थ है और दोष भी अनीशार्थ है। यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया जाता है। यह अनीशार्थ तीन प्रकार का है—व्यक्त, अव्यक्त और संघटक। अनीश्वर दानादि का स्वामी नहीं होता है, किन्तु व्यक्त—प्रेक्षापूर्वकारी अर्थात् बुद्धि से—विवेक से कार्य करने वाले को व्यक्त अनीश्वर कहते हैं। उसके द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते हैं तो उनके व्यक्त अनीश्वर नाम का अनीशार्थ दोष होता है।

अनीश्वर दान का स्वामी नहीं होता है, किन्तु वही यदि अव्यक्त अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला होने से अप्रेक्षापूर्वकारी है, उसके द्वारा दिया गया दान यदि मुनि लेते हैं तो उन्हें अव्यक्त अनीश्वर अनीशार्थ नाम का दोष होता है।

तथा संघाटक अर्थात व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते हैं तो उनके 'व्यक्ताव्यक्त संघाटक अनीश्वर' नाम का अनीशार्थ दोष होता है; क्योंकि इसमें अपाय देखा जाता है। अथवा इस दोष को इस तरह भी ग्रहण करना चाहिए कि ईश्वर अर्थात् स्वामी जो दान देने वाला है, व्यक्त हो या अव्यक्त, उसके द्वारा जिसका निषेध कर दिया गया है वह दान यदि साधु ग्रहण करेंगे तो उन्हें 'व्यक्त-अव्यक्त ईश्वर' नामक अनीशार्थ दोष होता है। तथा जो अनीश्वर-अप्रधान स्वामी दानपति है वह व्यक्त-बुद्धिमान हो या अव्यक्त-अबुद्धिमान, उसके द्वारा दिये गये सारक्ष्य दान को यदि मुनि ग्रहण करते हैं तो उन्हें व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर नाम का अनीशार्थ दोष होता है। तथा कोई एक पुरुष दान देता है और अन्य निषेध करता है यदि ऐसे दान को मुनि ग्रहण कर लेते हैं तो उन्हें संघाटक नाम का अनीशार्थ दोष होता है।

ईश्वर व्यक्ताव्यक्त और संघाटक के भेद से दो प्रकार का है और अनीश्वर भी व्यक्ताव्यक्त तथा संघाटक के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ पर गाथा में 'च' शब्द समुच्चयार्थक है जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर दो प्रकार का है और अनीश्वर भी दो प्रकार का है।

शार्थो दोष इति । ईश्वरो व्यक्ताव्यक्तसंघाटभेदेन द्विविधः । अनीश्वरो व्यक्ताव्यक्तसंघाटभेदेन द्विविध इति । अत्र चशब्दः समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । ईश्वरो द्विविधः । अनीश्चरो द्विविधः । प्रथम ईश्वरेण व्यक्ताव्यक्तसंघाटकेन वा सारक्षोऽनीशार्थः । द्वितीयोऽनीश्चरेण व्यक्ताव्यक्तसंघाटकेन वा संरक्ष्योऽनीशार्थ इति अथवा व्यक्तेनाव्यक्तेन चेश्वरेण सारक्ष्यं प्रथम ईश्वरानीशार्थो द्विविधः । तथा व्यक्तेनाव्यक्तेन चानीश्वरेण सारक्ष्यं, द्वितीयोऽनीश्वरोऽ नीशार्थो द्विविध इति । तथा संघाटकेन च सारक्ष्यं पृथग्भूतोऽयं दोषोऽनीशार्थो द्रष्टव्यः सर्वत्र विरोधदर्शनादिति । अथवा निसृष्टो मुक्तो न निसृष्टो ऽनिसृष्टो निवारितः स च द्विविधः ईश्वरोऽनीश्वरश्च । ईश्वरेण निसृष्टोऽनीश्वरेणऽनिसृष्टः ईश्वरश्चतुर्भेदोऽनीश्वर इति । प्रथमः ईश्वरः सारक्षो व्यक्तोऽव्यक्तः संघाटकः । तथानीश्वरोऽपि सारक्षो व्यक्तोऽव्यक्तः संघाटकः । मन्त्रादियुक्तः सारक्षः बालो व्यक्तः द्वयोः स्वामित्व संघाटकः । एवमनीश्वरोऽपि द्रष्टव्यः इति । एतैरनिसृष्टं निषिद्धं दत्तं वा दानं यदि गृह्यते तदा निसृष्टो नाम दोषो भवति विरोधदर्शनादिति ॥४४४॥

उत्पादनदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

प्रथम—ईश्वर दान देता है और व्यक्त, अव्यक्त या संघाटक उसका निषेध करते हैं। वह ईश्वर सारक्ष अनीशार्थ है। दूसरा—अनीश्वर अर्थात् अप्रधान दाता दान देता है और व्यक्त या संघाटक उसका निषेध करते हैं तो वह दान अनीश्वर सारक्ष अनीशार्थ है।

अथवा व्यक्त और अव्यक्त ईश्वर के द्वारा निषिद्ध प्रथम ईश्वर अनीशार्थ दो प्रकार का है। तथा व्यक्त और अव्यक्त अनीश्वर के द्वारा निषिद्ध दूसरा अनीश्वर अनीशार्थ दोष दो प्रकार का है।

तथा संघाटक के द्वारा निषिद्ध अनीशार्थ एक पृथक् दोष है ऐसा जानना, क्योंकि सर्वत्र विरोध देखा जाता है।

अथवा निसृष्ट—मुक्त अर्थात् जो त्याग किया गया है वह निसृष्ट है, जो निसृष्ट नहीं है वह अनिसृष्ट—निवारित किया गया है। यह भी ईश्वर और अनीश्वर के भेद से दो प्रकार का है। ईश्वर के द्वारा निसृष्ट, अनिसृष्ट तथा अनीश्वर के द्वारा निसृष्ट, अनिसृष्ट ऐसे चार भेद हो जाते हैं।

प्रथम ईश्वर इन सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक से चार प्रकार का है। तथा अनीश्वर भी सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक से चार प्रकार का है। मंत्रादियुक्त स्वामी को सारक्ष कहते है, वालक-अज्ञानी स्वामी को अव्यक्त कहते हैं, प्रेक्षापूर्वकारी—बुद्धिमान स्वामी व्यक्त है और अव्यक्त रूप पुरुष संघाटक है। ऐसे ही अनीश्वर में भी समझना चाहिए।

इनके द्वारा अनिसृष्ट निषिद्ध दान यदि साधु लेते हैं तो उन्हें निसृष्ट दोष होता है, क्योंकि विरोध देखा जाता है।

अब उत्पादन दोषों को कहते हैं—

धादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवग्गे य तेगिंछे ।
कोधी माणी मायी लोही य हवंति दस एदे ॥४४५॥

धादी—धात्री माता । दूद—दूतो लेखधारकः । णिमित्ते—निमित्तं ज्योतिषं । आजीवे—आजीवनमाजीविका । वणिवग्गेय—वनीपकवचनं दातुरनुकूलवचनं । तेगिंछे—चिकित्सा वैद्यशास्त्रं । कोधी—क्रोधी । माणी—मानी । माई—मायी । लोही—लोभी । हवंति दस एदे—भवन्ति दशैते उत्पादनदोषाः । ॥४४५॥ तथा—

पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य ।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ॥४४६॥

स स्तुतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । पूर्वं संस्तुः तित्पश्चात् संस्तुतिः । पूर्वसंस्तुतिः दानग्रहणात्प्राग्दातुः संस्तवः, दानं गृहीत्वा पश्चाद् दातुः संस्तवनं । विज्जा—विद्याकाशगामिनीरूपपरिवर्तिनी शस्त्रस्तम्भिन्यादिका । मंते य—मंत्रश्च सर्पवृश्चिकविषापहरणाक्षराणि । चुण्णजोगेय—चूर्णयोगश्च गात्रभूषणादिनिमित्तं द्रव्यधूलिः । उप्पादणा य दोसो—उत्पादनायोत्पादननिमित्तं दोष उत्पादनदोषः । स प्रत्येकमभिसम्बध्यते । सोलसमो—षोडशानां पूरण षोडशः । मूलकम्मेय—मूलकर्मावशानां वशीकरणं । धात्रीकर्मणा सहचरितो दोषोऽपि धात्रीत्युच्यते ॥४४६॥

तं धात्रीदोषं विवृण्वन्नाह—

गाथार्थ—धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी ये दस दोष हैं ॥४४५॥

आचारवृत्ति—धात्री अर्थात् माता के समान बालक का लालन आदि करके आहार ग्रहण करना, दूत—लेखधारक अर्थात् समाचार को पहुँचाने वाला, निमित्त—ज्योतिष, आजीवन—आजीविका, वनीपक—दाता के अनुकूल वचन, चिकित्सा—वैद्यशास्त्र, क्रोधी—क्रोध युक्त, मानी, मायी और लोभी अर्थात् इन-इन कार्यों को करके दाता से आहार ग्रहण करना ये दस उत्पादन दोष हुए । तथा—

गाथार्थ—पूर्व स्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मन्त्र, चूर्णयोग और मूलकर्म ये सब सोलह उत्पादन दोष हैं ॥४४६॥

आचारवृत्ति—दान ग्रहण के पहले दाता की स्तुति करना सो पूर्वसंस्तुति है । दान ग्रहण करने के बाद दाता की स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति है । आकाशगामिनी, रूप परिवर्तिनी, शस्त्रस्तंभिनी आदि विद्याएँ हैं । सर्प, बिच्छू आदि के विष दूर करनेवाले अक्षर मन्त्र कहलाते हैं । शरीर को भूषित करने आदि के लिए निमित्तभूत धूलि आदि वस्तुचूर्ण हैं । और, जो वश नहीं हैं उन्हें वशीकरण करना मूल कर्म है । ये सोलह उत्पादन दोष हैं । अर्थात् धात्री कर्म से सहचरित दोष भी धात्री नाम से कहा जाता है । इसी प्रकार सभी में समझना ।

धात्री दोष को कहते हैं—

मज्जणमंडणधादी खेल्लावणखीरअंबधादी य ।
पंचविधधादिकम्मेणुप्पादो धादिदोसो दु ॥४४७॥

धापयति दधातीति वा धात्री । **मार्जनधात्री**—वालं स्नपयति या सा मार्जनधात्री । मण्डयति विभूषयति तिलकादिभिर्या सा मण्डनधात्री मण्डननिमित्तं माता । वालं क्रीडयति रमयति क्रीडनधात्री क्रीडानिमित्तं माता । क्षीरं स्तन्यं धारयति दधाति या सा क्षीरधात्री स्तनपायिनी । अम्बधात्री जननी, स्वापयति या साप्यम्बधात्री । एतासां पंचविधानां [1]धात्रीणां क्रियया कर्मणा य आहारादिरुत्पद्यते स धात्रीनामोत्पादनदोषः । वालं स्नापयानेन प्रकारेण बालः स्नाप्यते येन सुखी नीरोगी च भवतीयेत्वं मार्जननिमित्तं वा कर्म गृहस्थायोपदिशति, तेन च कर्मणा गृहस्थो दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य धात्रीनामोत्पादनदोषः । तथा वालं स्वयं मण्डयति मण्डननिमित्तं वा कर्मोपदिशति यस्मै दात्रे स तेन भक्तः सन् दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य मण्डनधात्रीनामोत्पादनदोषः । तथा वालं स्वयं क्रीडयति क्रीडानिमित्तं च क्रियामुपदिशति यस्मै दात्रे स दाता दानाय प्रववंते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य क्रीडनधात्री नामोत्पादनदोषः । तथा येन क्षीरं भवति येन च विधानेन बालाय क्षीरं दीयते तदुपदिशति यस्मै दात्रे स भक्तः सन् दाता

गाथार्थ—मार्जनधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडनधात्री, क्षीरधात्री और अम्बधात्री इन पाँच प्रकार के धात्री कर्म द्वारा उत्पन्न कराया गया आहार धात्री दोष है ॥४४७॥

आचारवृत्ति—जो दूध पिलाती है अथवा पालन-पोषण करती है वह धात्री कहलाती है । जो वालक को स्नान कराती है वह मार्जनधात्री है । जो तिलक आदि लगाकर बालक को भूषित करती है वह मण्डन के निमित्त माता है अतः उसे मण्डनधात्री कहते हैं । जो वालक को क्रीडा कराती है, रमाती है वह क्रीडन निमित्त माता है अतः उसे क्रीडनधात्री कहते हैं । जो दूध पिलाती है वह स्तनपायिनी क्षीरधात्री है । जननी—जन्म देनेवाली को अम्बधात्री कहते हैं अथवा जो सुलाती है वह भी अम्वधात्री कहलाती है । जो साधु इन पाँच प्रकार की धात्री की क्रिया करके आहार आदि उत्पन्न कराते हैं उनको धात्री नाम का उत्पादन दोष लगता है । अर्थात् वालक को इस प्रकार से नहलाओ, ऐसे स्नान कराने से यह बालक सुखी और निरोग रहेगा, इत्यादि प्रकार से वालकों के नहलाने सम्बन्धी कार्य को जो गृहस्थ के लिए वताते हैं और उस कार्य से गृहस्थ दान के लिए प्रवृत्ति करता है, पुनः साधु यदि उस आहार को ले लेता है तब उसके यह मार्जनधात्री नामक उत्पादन दोष होता है ।

उसी प्रकार से जो बालक को स्वयं विभूषित करता है अथवा विभूषित करने के तरीके गृहस्थ को बतलाता है पुनः वह दाता मुनि का भक्त होकर यदि उन्हें आहार देता है और मुनि यदि ले लेता है तो उनके यह मण्डनधात्री नाम का उत्पादन दोष होता है । उसी प्रकार से जो स्वयं बालक को क्रीडा कराता है या क्रीड़ा निमित्त जिसके उपदेश देता है वह दाता यदि दान के लिए प्रवृत्त होता है और मुनि उससे आहार ले लेता है तव उन मुनि के क्रीडनधात्री नामक उत्पादन दोष होता है । जिस प्रकार से स्तन में दूध होता है और जिस विधान से वालक को दूध पिलाया जाता है उस प्रकार का उपदेश जिसको दिया जाय, वह

---

१ क [1]धात्रीकर्मणा क्रियया च ।

दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति तदा तस्य क्षीरधात्रीनामोत्पादनदोषः। तथा स्वयं स्वापयति स्वापनिमित्तं विधानं चोपदिशति यस्मै दात्रे स दाता दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति तदा तस्याम्बधात्रीनामोत्पादन-दोषः। कथमयं दोष इति चेत् स्वाध्यायविनाशमार्गदूषणादिदर्शनादिति ॥४४७॥

दूतनामोत्पादनदोषं विवृण्वन्नाह—

जलथलआयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे।
संबंधिवयणणयणं दूदीदोसो हवदि एसो ॥४४८॥

स्वग्रामात्परग्रामं गच्छति जले नावा तथा स्वदेशात्परदेशं गच्छति जले नावा तत्र तस्य गच्छतः कश्चिद् गृहस्थ एवमाह—भट्टारक ! मदीयं संदेशं गृहीत्वा गच्छ स साधुस्तत्सम्बन्धिनो वचनं नीत्वा निवेदयति यस्मै प्रहितं स परग्रामस्थः परदेशस्थश्च तद्वचनं श्रुत्वा तुष्टः सन् दानादिकं ददाति तद्दानादिकं यदि साधु-र्गृह्णाति तदा तस्य दूतकर्मणोत्पादनदोषः। तथा स्थले गच्छत आकाशे च गच्छतः साधोर्यत्सम्बन्धिवचननयनं स्वग्रामात्परग्रामे स्वदेशात्परदेशे, यस्मिन् ग्रामे तिष्ठति स स्वग्राम इत्युच्यते, तथा यस्मिन् देशे तिष्ठति बहूनि

गृहस्थ भक्त होकर आहार दान देवे और यदि मुनि वह आहार ले लेवे तब उनके क्षीरधात्री नामक उत्पादन दोष होता है। ऐसे ही बालक को स्वयं जो सुलाता है अथवा सुलाने के प्रकार का उपदेश देता है और वह दाता उससे प्रभावित होकर मुनि को आहार देता है, यदि मुनि उससे आहार ग्रहण कर लेते हैं तब उनके अम्बधात्री नाम का उत्पादन दोष होता है।

प्रश्न—यह दोष क्यों है ?

उत्तर—इससे साधु के स्वाध्याय का विनाश होता है और मार्ग अर्थात् मुनिमार्ग में दूषण आदि लगते हैं। अतः यह दोष है।

दूत नामक उत्पादन दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—स्व से पर ग्राम में या स्वदेश से परदेश में जल, स्थल या आकाश से जाते समय किसी के सम्बन्धी के वचनों को ले जाना यह दूत दोष होता है ॥४४८॥

आचारवृत्ति—नाव के द्वारा जल को पार करके स्वग्राम से या परग्राम को जाते हों या जल, नदी आदि को पार करने में नाव से बैठकर स्वदेश से परदेश को जाते हों उस समय यदि कोई ग्रहस्थ ऐसा कहे कि हे भट्टारक ! मेरा सन्देश लेते जाइए और तब वे साधु भी उसके सन्देश को ले जाकर जिसको कहें वह श्रावक परग्राम का हो या परदेश में मुनि के वचन को सुनकर उन पर सन्तुष्ट होकर उन्हें दान आदि देता है और यदि मुनि वह आहार ले लेते हैं तो उनके दूतकर्म नाम का उत्पादन दोष होता है।

इसी तरह साधु स्थल से जाते हों या आकाश मार्ग से जा रहे हों, यदि गृहस्थ के सन्देश वचन को ले जाकर अन्य ग्राम या देश में किसी गृहस्थ को कहते हैं और वह गृहस्थ सन्देश को सुनकर प्रसन्न होकर यदि मुनि को दान देता है तथा वे ले लेते हैं तो दूत कर्म दोष होता है।

जिस ग्राम में साधु रहते हैं वह उस समय उनका स्वग्राम है और जिस देश में बहुत

दिनानि स स्वदेश इत्युच्यते। इत्येवं जलगतं स्थलगतमाकाशगतं च तद्दूतेन नीयते इति तद्दूतमित्युच्यते। यदेतत्सम्बन्धिनो वचनस्य नयनं स एष दूतदोषो भवति। दूतकर्म शासनदोषायेति दोषदर्शनादिति ॥४४८॥

निमित्तस्वरूपमाह—

वंजणमंगं च सरं छिण्णं भूमं च अंतरिक्खं च।
लक्खण सुविणं च तहा अट्ठविहं होइ णेमित्तं ॥४४९॥

व्यञ्जनं मशकतिलकादिकं। अङ्गं च शरीरावयवः। स्वरः शब्दः। छिन्नः छेदः, खड्गादिप्रहारो वस्त्रादिच्छेदो वा। भूमि भूमिविभागः। अन्तरिक्षमादित्यगृहाद्युदयास्तमनं। लक्षणं नन्दिकावर्तपद्मचक्रादिकं। स्वप्नश्च सुप्तस्य हस्तिविमानमहिषारोहणादिदर्शनं च तथाष्टप्रकारं भवति निमित्तं। व्यञ्जनं दृष्ट्वा यच्छुभाशुभं ज्ञायते पुरुषस्य तद्व्यञ्जननिमित्तमित्युच्यते। तथाङ्गं शिरोग्रीवादिकं दृष्ट्वा पुरुषस्य यच्छुभाशुभं ज्ञायते तदङ्गनिमित्तमिति। तथा यं स्वरं शब्दविशेषं श्रुत्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तत्स्वरनिमि-

---

दिन रहते हैं वह स्वदेश कहलाता है। जल से पार होते समय, स्थल से जाते समय या आकाश मार्ग से गमन करते समय जो दूत के द्वारा समाचार ले जाया जाता है वह दूतकर्म है उस सम्बन्धी वचन को लेजाने वाले साधु को भी दूत नाम का दोष होता है। क्योंकि यह दूतकर्म जिन शासन में दोष का कारण है अतः दोष रूप है।

निमित्त का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—व्यंजन, अंग, स्वर, छिन्न, भूमि, अंतरिक्ष और स्वप्न इस तरह निमित्त आठ प्रकार का होता है ॥४४९॥

आचारवृत्ति—मशक तिलक आदि व्यंजन हैं। शरीर के अवयव अंग हैं। शब्द को स्वर कहते हैं। छन्द का नाम छिन्न है। खड्ग आदि का प्र[illegible] अथवा वस्त्रादि का छिन्न होना—कट-फट जाना यह सब छिन्न है। भूमिविभाग को भू[illegible] सूर्य, ग्रह आदि के उदय-अस्त सम्बन्धी ज्ञान को अंतरिक्ष कहते हैं, नन्दिका वर्त, [illegible] लक्षण हैं। सोते में हाथी, विमान, भैंस पर आरोहण आदि देखना स्वप्न है। इस तर[illegible] [illegible]मित्त ज्ञान आठ प्रकार का होता है। उसका स्पष्टीकरण—

किसी पुरुष के व्यंजन-मसा तिल आदि को देखकर जो शुभ या अशुभ जाना जाता है वह व्यंजन निमित्त है। किसी पुरुष के सिर, ग्रीवा आदि अवयव देखकर जो उसका शुभ या अशुभ जाना जाता है वह अंग निमित्त है। किसी पुरुष या अन्य प्राणी के शब्द विशेष को सुनकर जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह स्वर निमित्त है। किसी प्रहार या छेद को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह छिन्न निमित्त है। किसी भूमिविभाग को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह भौमनिमित्त है। आकाश में होने वाले ग्रह युद्ध, ग्रहों का अस्तमन, ग्रहों का निर्घात आदि देखकर जो प्रजा का शुभ या अशुभ जाना जाता है वह अंतरिक्ष निमित्त है। जिस लक्षण को देखकर पुरुष या अन्य का शुभ-अशुभ जाना जाता है वह लक्षणनिमित्त है। जिस स्वप्न को देखकर पुरुष या अन्य किसी का

त्तमिति। यं प्रहारं छेदं वा दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तच्छिन्ननिमित्तं नाम। तथा यं भूमिविभागं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तद्भौमनिमित्तं नाम। यदन्तरिक्षस्य व्यवस्थितं ग्रहयुद्धं ग्रहास्तमनं ग्रहविर्घातादिकं समीक्ष्य प्रजायाः शुभाशुभं विबुध्यते तदन्तरिक्षं नाम। यत्लक्षणं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तल्लक्षणनिमित्तं नाम। यं स्वप्नं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं परिच्छिद्यते तत्स्वप्ननिमित्तं नाम। तथा चशब्देन भूमिगर्जनदिग्दाहादिकं परिगृह्यते। एतेन निमित्तेन भिक्षामुत्पाद्य यदि भुंक्ते तदा यस्य निमित्तनामोत्पादनदोषः। रसास्वादनदैन्यादिदोषदर्शनादिति ॥४४९॥

आजीवं दोषं निरूपयन्नाह—

जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं।
तेहिं पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ॥४५०॥

जातिर्मातृसन्ततिः। कुलं पितृसन्ततिः। मातृशुद्धिः। पितृशुद्धिर्वा। शिल्पकर्म लेपचित्रपुस्तकादिकर्म हस्तविज्ञानं। तपःकर्म तपोऽनुष्ठानं। ईश्वरत्वं च। आजीव्यतेऽनेनाजीवः। आत्मनो जातिं कुलं च निर्दिश्य शिल्पकर्म तपःकर्मेश्वरत्वं च निर्दिश्याजीवनं करोति यतोऽत आजीववचनान्येतानि तेभ्यो जातिकथनादिभ्यः पुनरुत्पाद आहारस्य योऽयं स आजीवदोषो भवत्येषः वीर्यगूहनदीनत्वादिदोषदर्शनादिति ॥४५०॥

शुभ या अशुभ जाना जाता है वह स्वप्न निमित्त है। तथा च शब्द से भूमि, गर्जना, दिग्दाह आदि को भी ग्रहण करना चाहिए अर्थात् इनके निमित्त से भी जो जनता का शुभ-अशुभ जाना जाता है वह सब इनमें ही शामिल हो जाता है।

इन निमित्तों के द्वारा जो भिक्षा को उत्पन्न कराकर आहार लेते हैं अर्थात् निमित्त ज्ञान के द्वारा श्रावकों को शुभ-अशुभ बतलाकर पुनः बदले में उनसे दिया हुआ आहार जो मुनि ग्रहण करते हैं उनके यह निमित्त नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमें रसों का आस्वादन अर्थात् गृद्धता और दीनता आदि दोष आते हैं।

आजीव दोष का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जाति, कुल, शिल्प, तप और ईश्वरता ये आजीव हैं। इनसे पुनः (आहार का) उत्पन्न करना यह आजीव दोष है ॥४५०॥

आचारवृत्ति—माता की संतति जाति है। पिता की संतति कुल है। अर्थात् माता के पक्ष की शुद्धि अथवा पिता के पक्ष की शुद्धि को ही यहाँ जाति या कुल कहा है। लेप, चित्र, पुस्तक आदि कर्म या हस्त विज्ञान शिल्पकर्म हैं। तप का अनुष्ठान तपकर्म है। और ईश्वरता, इनके द्वारा जो आजीविका की जाती है वह 'आजीव' कहलाती है।

कोई साधु अपनी जाति और कुल का निर्देश करके, या शिल्पकर्म या तपश्चरण अथवा ईश्वरत्व को बतलाकर यदि आजीविका करता है अर्थात् जाति आदि के कथन द्वारा अपनी विशेषता बतलाकर पुनः उस दाता के द्वारा दिये गये आहार को जो ग्रहण करता है उसके यह आजीव नाम का दोष होता है; क्योंकि उसमें अपने वीर्य का छिपाना, दीनता आदि करना ऐसे दोष आते हैं।

वनी[1]कवचनं निरूपयन्नाह—

साणकिविणतिधिमांहणपासंडियसवणकागदाणादो ।
पुण्णं णवेति पुठ्ठे पुण्णेत्ति य वणीवयं वयणं ॥४५१॥

शुनां, कृपणादीनां कुष्ट[1]व्याध्याद्यार्तादीनां अतिथीनां मध्याह्नकालागतानां भिक्षुकाणां, ब्राह्मणानां मांसादिभक्षिणां पाखंडिनां दीक्षोपजीविनां, श्रवणानामाजीवकानां छात्राणां वा काकादीनां च यद्दानादिकं दीयते तेन पुण्यं भवति किं वा न भवतीत्येवं पृष्टे दानपतिना, 'भवति पुण्यमिति' यद्येवं ब्रूयात्तद्वनीपकं वचनं दानपत्युनुकूलवचनं प्रतिपाद्य यदि भुञ्जीत तस्य वनीपकनामोत्पादनदोषः दीनत्वादिदोषदर्शनादिति ॥४५१॥

चिकित्सां प्रतिपादयन्नाह—

कोमारतणुतिगिंछारसायणविसभूदखारतंतं च ।
सालंकियं च सल्लं तिगिंछदोसो दु अट्ठविहो ॥४५२॥

कौमारं वालवैद्यं मासिकसावंत्सरिकादिग्रहत्रासनहेतुः शास्त्रं तनुचिकित्साज्वरादिनिराकरणं कण्ठोदरशोधनकारणं च, रसायनं वलिपलितादिनिराकरणं वहुकालजीवित्वं च, विषं स्थावरजंगमं सकृत्रिम-भेदभिन्नं । तस्य विषस्य चिकित्सा विषापहारः भूत (तः) पिशाचादि तस्य चिकित्सा भूतापनयनशास्त्रं ।

वनीपक वचन का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—कुत्ता, कृपण, अतिथि, ब्राह्मण, पाखण्डी, श्रमण और कौवा इनको दान आदि करने से पुण्य है या नहीं । ऐसा पूछने पर पुण्य है ऐसा बोलना वनीपक वचन है ॥४५१॥

आचारवृत्ति—कुत्ते, कृपण आदि—कुष्ठ व्याधि आदि से पीड़ित जन, अतिथि—मध्याह्न काल में आगत भिक्षुकजन, ब्राह्मण—मांसादि भक्षण की प्रवृत्तिवाले ब्राह्मण, पाखण्डी—दीक्षा से उपजीविका करनेवाले, श्रमण—आजीवक नाम के साधु अथवा छात्र और कौवे आदि इनको जो दान दिया जाता है,उससे पुण्य होता है या नहीं ? ऐसा दानपति के द्वारा पूछने पर, 'पुण्य होता है' यदि इस प्रकार से मुनि दाता के अनुकूल वचन बोल देते हैं, पुनः दाता प्रसन्न होकर उन्हें आहार देता है और वे ग्रहण कर लेते हैं तो उनके यह वनीपक नाम का उत्पादन दोष होता है । इसमें भी दीनता आदि दोष दिखाई देते हैं ।

चिकित्सा दोष का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कौमार, तनुचिकित्सा, रसायन, विष, भूत, क्षारतन्त्र, शालाकिक और शल्य ये आठ प्रकार का चिकित्सा दोष है ॥४५२॥

आचारवृत्ति—कौमार—वाल वैद्य शास्त्र अर्थात् मासिक, सांवत्सरिक आदि पीड़ा देने वाले ग्रहों के निराकरण के लिए उपायभूत शास्त्र । तनुचिकित्सा—ज्वर आदि को दूर करनेवाले, और कण्ठ, उदर के शोधन करनेवाले शास्त्र । रसायन—शरीर की सिकुड़न वृद्धावस्था आदि को दूर करनेवाली और बहुत काल तक ज़ीवन दान देनेवाली औषधि । विष—स्थावरविष और जंगम विष तथा कृत्रिम विष और अकृत्रिमविष, इन

---

१ क "कव्यद्या"

क्षारतंत्रं क्षारद्रव्यं दुष्टव्रणादिशोधनकरं। शलाकया निर्वृत्तं शालाकिकं अक्षिपटलाद्युद्घाटनं। शल्यं भूमिशल्यं शरीरशल्यं च तोमरादिकं शरीरशल्यं अस्थ्यादिकं भूमिशल्यं तस्यापनयनकारकं शास्त्रं शल्यमित्युच्यते। तथा विषापनयनशास्त्रं विषमिति। भूतापनयननिमित्तं शास्त्रं भूतमिति, कार्ये कारणोपचारादिति। अथवा चिकित्साशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते काकाक्षितारकवदिति। एवमष्टप्रकारेण चिकित्साशास्त्रेणोपकारं कृत्वाहारादिकं गृह्णाति तदानीं तस्याष्टप्रकारश्चिकित्सादोषो भवत्येव सावद्यादिदोषदर्शनादिति ॥४५२॥

क्रोधमानमायालोभदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

कोधेण य माणेण य मायालोभेण चावि उप्पादो।
उप्पादणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वो ॥४५३॥

[1]क्रोधमानमायालोभेन च योऽयं भिक्षाया उत्पादः स उत्पादनदोषश्चतुष्प्रकारस्तैर्ज्ञातव्य इति। क्रोधं कृत्वा भिक्षामुत्पादयति आत्मनो यदि तदा क्रोधो नामोत्पादनदोषः तथा मानं गर्वं कृत्वा यद्यात्मनो भिक्षादिकमुत्पादयति तदा मानदोषः। मायां कुटिलभावं कृत्वा यद्यात्मनो भिक्षादिकमुत्पादयति मायानामो-

---

विषों से होनेवाली बाधा की चिकित्सा करना अर्थात् विष को दूर करना। भूत—भूत-पिशाच आदि की चिकित्सा करना अर्थात् भूत आदि को निकालने का शास्त्र। क्षारतन्त्र—सड़े हुए घाव आदि का शोधन करने वाली चिकित्सा। शालाकिक—शलाका से होने वाली चिकित्सा शालाकिक है अर्थात् नेत्र के ऊपर आए हुए पटल—मोतियाबिन्दु आदि को दूर करके नेत्र को खोलनेवाली चिकित्सा शालाकिक कहलाती है। शल्य—भूमि-शल्य और शरीर-शल्य ऐसे दो भेद हैं, तोमर आदि को शरीरशल्य कहते हैं और हड्डी आदि को भूमिशल्य कहते हैं, इन शल्यों को दूर करनेवाले शास्त्र भी शल्य नाम से कहे जाते हैं।

यहाँ पर इन आठ चिकित्सा विषयक शास्त्रों को लिया गया है जैसे, विष को दूर करनेवाले शास्त्र 'विष' नाम से कहे गये हैं। और भूत को दूर करनेवाले शास्त्र 'भूत' नाम से कहे गये हैं। चूँकि कारण में कार्य का उपचार किया गया है। अथवा काकाक्षितारक न्याय के समान चिकित्सा शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। इन आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्र के द्वारा जो मुनि गृहस्थ का उपकार करके उनसे यदि आहार आदि लेते हैं तो उनके यह आठ प्रकार का चिकित्सा नाम का दोष होता है; क्योंकि इसमें सावद्य आदि दोष देखे जाते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ दोषों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से भी आहार उत्पन्न कराना—यह चार प्रकार का उत्पादन दोष होता है ॥४५३॥

आचारवृत्ति—क्रोध को करके अपने लिए यदि भिक्षा उत्पन्न कराते हैं तो क्रोध नाम का उत्पादन दोष होता है। उसी प्रकार से गर्व को करके अपने लिए आहार उत्पन्न कराते हैं तो मान दोष होता है। कुटिल भाव करके यदि अपने लिए आहार उत्पन्न कराते हैं तो माया

---

१ क क्रोधेन मानेन मायया लोभेन च।

त्पादनदोप:। तथा लोभं कांक्षां प्रदर्श्य भिक्षां यद्यात्मन उत्पादयति तदा लोभोत्पादनदोषो भावदोषादिदर्शनादिति ।।४५३।।

पुनरपि तान् दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

कोधो य हत्थिकप्पे माणो [1]वेणायडम्मि णयरम्मि ।
माया वाणारसिए लोहो पुण रासियाणम्मि ।।४५४।।

हस्तिकल्पपत्तने कश्चित्साधुः क्रोधेन भिक्षामुत्पादितवान् । तथा वेन्नातटनगरे कश्चित्संयतो मानेन भिक्षामुत्पादितवान् । तथा वाराणस्यां कश्चित्साधुः मायां कृत्वा भिक्षामुत्पादितवान् । तथान्यः संयतो लोभं प्रदर्श्य राशियाने भिक्षामुत्पादितवानिति । तेन क्रोधो हस्तिकल्पे, मानो वेन्नातटनगरे माया वाराणस्यां लोभो राशियाने इत्युच्यते । अत्र कथा उत्प्रेक्ष्य वाच्या इति ।।४५४।।

पूर्वसंस्तुतिदोषमाह—

दायगपुरदो कित्ती तं दाणवदी जसोधरो वेत्ति ।
पुव्वीसंथुदि दोसो विस्सरिदे बोधणं चावि ।।४५५।।

ददातीति दायको दानपतिः तस्य पुरतः कीर्ति ख्यातिं ब्रूते । कथं, त्वं दानपतिर्यशोधरः त्वदीया

दोष होता है और यदि लोभ-कांक्षा को दिखाकर भिक्षा उत्पन्न कराते हैं तो लोभ नाम का उत्पादन दोष होता है। इन चारों दोषों में भावों का दोष आदि देखा जाता है। अर्थात् परिणाम दूषित होने से ये दोष माने गये हैं।

पुनरपि इनको दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं—

गाथार्थ—हस्तिकल्प में क्रोध, वेन्नतट नगर में मान, वाराणसी में माया और राशियान में लोभ के—इस प्रकार इन चारों के दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं ।।४५४।।

आचारवृत्ति—हस्तिकल्प नाम के पत्तन में किसी साधु ने क्रोध करके आहार का उत्पादन कराकर ग्रहण किया। वेन्नतट नगर में किसी संयत ने मान करके आहार को वनवाकर ग्रहण किया। वनारस में किसी साधु ने माया करके आहार को उत्पन्न कराया तथा राशियान देश में अन्य किसी संयत ने लोभ दिखाकर आहार उत्पन्न कराकर लिया। इसलिए हस्तिकल्प में क्रोध इत्यादि ये चार दृष्टान्त कहे गये हैं। यहाँ पर इन कथाओं को मानकर कहना चाहिए।

पूर्व-संस्तुति दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—तुम दानपति हो अथवा यशस्वी हो, इस तरह दाता के सामने उसकी प्रशंसा करना और उसके दान देना भूल जाने पर उसे याद दिलाना पूर्व-संस्तुति नाम का दोष है ।।४५५।।

आचारवृत्ति—जो दान देता है, वह दायक कहलाता है, उसके समक्ष उसकी ख्याति करना। कैसे? तुम दानपति हो, यश को धारण करनेवाले हो, लोक में तुम्हारी कीर्ति फैली

---

1 क विणाय

कीर्तिविश्रुता लोके। यद्दातुरग्रतो दानग्रहणात्प्रागेव ब्रूते तस्य पूर्वसंस्तुतिदोषो नाम जायते। विस्मृतस्य च दानसम्बोधनं त्वं पूर्वं महादानपतिरिदानीं किमिति कृत्वा विस्मृत इति सम्बोधनं करोति यस्तस्यापि पूर्वसंस्तुतिदोषो भवतीति। यां कीर्तिं ब्रूते, यच्च स्मरणं करोति तत्सर्वं पूर्वसंस्तुतिदोषो नग्नाचार्यकर्तव्यदोषदर्शनादिति ॥४५५॥

पश्चात्संस्तुतिदोषमाह—

पच्छा संथुविदोसो दाणं गहिदूण तं पुणो किंत्ति।
विक्खादो दाणवदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंति ॥४५६॥

पश्चात्संस्तुतिदोषो दानमाहारादिकं गृहीत्वा ततः पुनः पश्चादेवं कीर्तिं ब्रूते विख्यातस्त्वं दानपतिस्त्वं, तव यशोविश्रुतमिति ब्रूते यस्तस्य पश्चात् संस्तुतिदोषः, कार्पण्यादिदोषदर्शनादिति ॥४५६॥

विद्यानामोत्पादनदोषमाह—

विज्जा साधितसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो ॥४५७॥

विद्या नाम साधितसिद्धा साधिता सती सिद्धा भवति तस्या विद्याया आशाप्रदानकरणेन तुभ्यमहं विद्यामिमां दास्यामि तस्याश्च माहात्म्येन यो जीवति तस्य विद्योत्पादनो नाम दोषः आहाराद्याकांक्षाया

हुई है। इस तरह आहार ग्रहण के पहले ही यदि मुनि दाता के सामने बोलते हैं तो उनके पूर्व-संस्तुति नाम का दोष होता है। यदि वह भूल गया है तो उसको याद दिलाना कि तुम पहले महादानपति थे इस समय किस कारण से भूल गये हो। इस तरह यदि कहते हैं तो भी उन मुनि के पूर्व-संस्तुति नाम का दोष होता है। यह नग्नाचार्य-स्तुतिपाठक भाटों का कार्य है। इस तरह स्तुति-प्रशंसा करना यह मुनियों का कार्य नहीं है अतः यह दोष है।

पश्चात्-संस्तुति दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—दान को लेकर पुनः कीर्ति को कहते हैं। तुम दानपति विख्यात हो, तुम्हारा यश प्रसिद्ध है यह पश्चात्संस्तुति दोष है ।।४५६।।

आचारवृत्ति—आहार आदि दान ग्रहण करने के पश्चात् जो इसतरह कीर्ति को कहते हैं कि 'तुम दानपति हो, तुम विख्यात हो, तुम्हारा यश प्रसिद्ध हो रहा है' यह पश्चात्संस्तुति दोष है, चूँकि इसमें कृपणता आदि दोष देखे जाते हैं।

विद्या नामक उत्पादन-दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधितसिद्ध है वह विद्या है। उसकी आशा प्रदान करने या उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना विद्या दोष है ॥४५७॥

आचारवृत्ति—जो साधित करने पर सिद्ध होती हैं उन्हें विद्या कहते हैं। उन विद्याओं की आशा देना अर्थात् 'मैं तुम्हें इस विद्या को दूँगा', अथवा उस विद्या के माहात्म्य से जो अपना जीवन चलाते हैं उनके विद्या नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमें आहार आदि की

दर्शनादिति ॥४५७॥

मंत्रोत्पादनदोषमाह—

सिद्धे पढिदे मंते तस्य य आसापदाणकरणेण।
तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु ॥४५८॥

सिद्धे पठिते मंत्रे पठितमात्रेण यो मंत्रः सिद्धिमुपयाति स पठितसिद्धो मंत्रस्तस्य मंत्रस्याशाप्रदानकरणेन तवेमं मंत्रं दास्यामीत्याशाकरणयुक्त्या तस्य माहात्म्येन च यो जीवत्याहारादिकं च गृह्णाति तस्य मंत्रोत्पादनदोषः। लोकप्रतारणजिह्वागृद्ध्यादिदोषदर्शनादिति ॥४५८॥

अथवा विद्योत्पादनदोषो मंत्रोत्पादनदोषश्चैवं ग्राह्यः इत्याशंक्याह—

आहारदायगाणं विज्जामंतेहिं देवदाणं तु।
आहूय साधिदव्वा विज्जामंतो हवे दोसो ॥४५९॥

आहारदात्री भोजनदानशीला देवता व्यंतरादिदेवान् विद्यया मंत्रेण चाहूयानीय साधितव्यास्तासां साधनं क्रियते यद्दानार्थं स विद्यादोषो मंत्रदोषश्च भवति। अथवाऽऽहारदायकानां निमित्तं विद्यया मंत्रेण वाहूय देवतानां साधितव्यं साधनं क्रियते तत् स विद्यामंत्रदोषः। अस्य च पूर्वयोर्विद्यामंत्रदोषयोर्मध्ये निपातः इति कृत्वा नायं पृथग्दोषः पठितस्तयोरन्तर्भावादिति ॥४५९॥

आकांक्षा देखी जाती है।

मन्त्र नामक उत्पादन दोष कहते हैं—

गाथार्थ—जो पढ़ते ही सिद्ध हो वह मन्त्र है। उस मन्त्र के लिए आशा देने से और उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना सो मंत्रदोष है ॥४५८॥

आचारवृत्ति—जो मंत्र पढ़ने मात्र से सिद्ध हो जाता है वह पठितसिद्ध मन्त्र है। उस मन्त्र की आशा प्रदान करना अर्थात् 'तुम्हें मैं यह मन्त्र दूंगा' ऐसी आशा प्रदान करने की युक्ति से और उस मन्त्र के माहात्म्य से जो जीते हैं, आहार उत्पन्न कराकर लेते हैं उनके मन्त्र नाम का उत्पादन दोष होता है; क्योंकि इसमें लोकप्रतारणा, जिह्वा की गृद्धता आदि दोष देखे जाते हैं।

अथवा विद्या-उत्पादन दोष और मन्त्र-उत्पादन दोष का ऐसा अर्थ करना—

गाथार्थ—आहार दायक देवताओं को विद्या मन्त्र से बुलाकर सिद्ध करना विद्यामन्त्र दोष होता है ॥४५९॥

आचारवृत्ति—आहार देने वाली देवियाँ हुआ करती हैं, ऐसे आहार-दायक व्यंतर देवों को विद्या या मन्त्र के द्वारा बुलाकर उनको आहार के लिए सिद्ध करना, सो यह विद्यादोष और मंत्रदोष है। अथवा आहार दाताओं के लिए विद्या या मंत्रसे देवताओं को बुलाकर उनको सिद्ध करना सो यह विद्यामंत्र दोष है। इस दोष का पूर्व के विद्यादोष और मन्त्रदोष में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः यह पृथक् दोष नहीं है।

चूर्णदोषमाह—

णेत्तस्संजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं।
चुण्णं तेणुप्पादो चुण्णयदोसो हवदि एसो ॥४६०॥

नेत्रयोरञ्जनं चूर्णं चक्षुषोर्निर्मलीकरणनिमित्तमञ्जनं द्रव्यरजः। तथा भूषणनिमित्तं चूर्णं येन चूर्णेन तिलकपत्र[1]स्थल्यादयः क्रियन्ते तद्भूषणद्रव्यरजः। गात्रस्य शरीरस्य शोभाकरं च चूर्णं येन चूर्णेन शरीरस्य शोभाकरं दीप्त्यादयो भवन्ति तच्छरीरशोभानिमित्तं चूर्णमिति। तेन चूर्णेन योयमुत्पादो भोजनस्य क्रियते स चूर्णोत्पादनामदोषो भवत्येष जीविकादिक्रियया जीवनादिति ॥४६०॥

मूलकर्मदोषं प्रतिपादयन्नाह—

अवसाणं वसियरणं संजोजयणं च विप्पजुत्ताणं।
भणिदं तु मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा ॥४६१॥

अवशानां वशीकरणं यद्विप्रयुक्तानां च संयोजनं यत्क्रियते तद्भणितं मूलकर्म। अनेन मूलकर्मणोत्पादो यो भक्तादिकस्य स मूलकर्मदोषः सुष्ठु लज्जाद्याभोगस्य करणादिति। एते उत्पादनदोषास्तथोद्गमदोषाश्च सर्वं एते परित्याज्या अधःकर्मांशदर्शनात्। एतेष्वधःकर्मांशस्य सद्भावोऽस्ति यतः। तथान्ये च दोषाः

चूर्ण दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—नेत्रों के लिए अंजनचूर्ण और शरीर को भूषित करनेवाले भूषणचूर्ण ये चूर्ण हैं। इन चूर्णों से आहार उत्पन्न कराना सो यह चूर्ण दोष होता है ॥४६०॥

आचारवृत्ति—चक्षु को निर्मल करने के लिए जो अंजन या सुरमा आदि होता है वह अंजनचूर्ण है, जिस चूर्ण से तिलक या पत्रवल्ली आदि की जाती है वह भूषणचूर्ण है, शरीर शोभित करनेवाला चूर्ण अर्थात् जिस चूर्ण से शरीर में दीप्ति आदि होती है वह शरीर शोभा निमित्त चूर्ण है। इन चूर्णों के द्वारा जो भोजन बनवाते हैं वह चूर्ण नामक उत्पादन दोष है। इससे जीविका आदि करने से यह दोष माना जाता है।

मूलकर्म दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—अवशों का वशीकरण करना और वियुक्त हुए जनों का संयोग कराना यह मूलकर्म कहा गया है। इस प्रकार ये सोलह उत्पादन दोष हैं ॥४६१॥

आचारवृत्ति—जो वश में नहीं है उनका वशीकरण करना और जिनका आपस में वियोग हो रहा है उनका संयोग करा देना यह मूलकर्म दोष है। इस मूलकर्म के द्वारा आहार उत्पन्न कराकर जो मुनि लेते हैं उनके मूलकर्म नाम का दोष होता है। यह स्पष्टतया लज्जा आदि का कारण है।

ये सोलह उत्पादन दोष कहे गये हैं तथा सोलह ही उद्गम दोष भी कहे गये हैं। ये सभी दोष त्याग करने योग्य हैं, क्योंकि इनमें अधःकर्म का अंश देखा जाता है अर्थात् इन दोषों

---

1 क पत्रावल्यादयः।

जुगुप्सादयो दर्शनदूषणादयः सम्भवन्ति येभ्यस्तेऽपि परित्याज्या इति ॥४६१॥

अशनदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

संकिदमक्खिदणिक्खिदपिहिदं [1]संववहरणदायगुम्मिस्से ।
अपरिणदलित्तछोडिद एषणदोसाइं[2] दस एदे ॥४६२॥

शंकयोत्पन्नः शंकितः, किमयमाहारोऽधःकर्मणा निष्पन्न उत नेति शंकां कृत्वा भुंक्ते यस्तस्य शंकितनामाशनदोषः । तथा म्रक्षितस्तैलाद्यभ्यक्तस्तेन भाजनादिना दीयमानमाहारं यदि गृह्णाति म्रक्षितदोषो भवति । तथा निक्षिप्तः स्थापितः, सचित्तादिषु परिनिक्षिप्तमाहारं यदि गृह्णाति साधुस्तदा तस्य निक्षिप्तदोषः । तथा पिहितश्छादितः अप्रासुकेन प्रासुकेन च महता यदवष्टब्धमाहारादिकं तदावरणमुत्क्षिप्य दीयमानं यदि गृह्णाति तदा तस्य पिहितनामाशनदोषः । तथा संव्यवहरणं दानार्थं संव्यवहारं कृत्वा यदि ददाति तद्दानं यदि साधुर्गृह्णाति तदा तस्य संव्यवहरणनामाशनदोषः । तथा दायकः परिवेषकः, तेनाशुद्धेन दीयमानमाहारं यदि गृह्णाति साधुस्तदा तस्य दायकनामाशनदोषः । तथोन्मिश्रोऽप्रासुकेन द्रव्येण पृथिव्यादिसच्चितेन मिश्र उन्मिश्र इत्युच्यते तं यद्यादत्ते उन्मिश्रनामाशनदोषः । यथाऽपरिणतोऽविध्वस्तोऽग्न्यादिकेनापक्वस्तमाहारं

में अधःकर्म के अंश का सद्भाव है अतएव त्याज्य हैं । तथा सम्यग्दर्शन आदि में दूषण उत्पन्न करनेवाले हैं। अन्य भी जुगुप्सा आदि दोष इन्हीं के निमित्त से संभव हैं उनका भी त्याग कर देना चाहिए ।

अब अशन दोषों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छोटित ये दश अशन दोष हैं ॥४६२॥

आचारवृत्ति—शंका से उत्पन्न हुआ आहार शंकित है। 'क्या यह आहार अधःकर्म से बना हुआ है ?' ऐसी शंका करके जो आहार ग्रहण करते हैं उनके शंकित नाम का अशन दोष है। तेल आदि से चिकने ऐसे बर्तन आदि के द्वारा दिया गया आहार यदि ग्रहण करते हैं तो उनके म्रक्षित दोष होता है। स्थापित को निक्षिप्त कहते हैं। सचित्त आदि पर रखा हुआ आहार यदि साधु ग्रहण करते हैं तो उन्हें निक्षिप्त दोष लगता है। ढके हुए को पिहित कहते हैं। अप्रासुक अथवा प्रासुक ऐसी किसी बड़े वजनदार ढक्कन आदि से ढके हुए आहार आदि को, उसपर का आवरण खोलकर दिया जाये और जिसे मुनि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके पिहित नाम का अशन दोष होता है। तथा दान के लिए यदि संव्यवहार करके वस्त्र या पात्रादि को जल्दी से खींच करके जो दान दिया जाता है और यदि साधु उसे लेते हैं तो उनके संव्यवहरण नाम का अशन दोष होता है।

परोसने वाले को दायक कहते हैं। अशुद्ध दायक के द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते हैं तो उनके दायक नाम का दोष होता है। अप्रासुक द्रव्य से अर्थात् पृथ्वी आदि सचित्त वस्तु से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र है। उसे जो मुनि ग्रहण करते हैं उन्हें उन्मिश्र दोष लगता

---

१ क आहारण । २ क दोसा दु ।

पानादिकं वा यद्यद्दत्तेऽपरिणतनामाशनदोषः। तथा लिप्तोऽप्रासुकवर्णादिसंसक्तस्तेन भाजनादिना दीयमानमाहारादिकं यदि गृह्णाति तदा तस्य लिप्तनामाशनदोषः। तथा छोडिदं परित्यजनं भुंजानस्यास्थिरपाणिपात्रेणाहारस्य परिशतनं गलनं परित्यजनं यत्क्रियते तत्परित्यजननामाशनदोषः। एतेऽशनदोषा दशैव भवंति ज्ञातव्या इति ॥४६२॥

शंकितदोषं विवृण्वन्नाह—

असणं च पाणयं वा खादीयमध सादियं च अज्झप्पे।
कप्पियमकप्पियत्ति य संदिद्धं संकियं जाणे ॥४६३॥

अशनं भक्तादिकं, पानकं दधिक्षीरादिकं खाद्यं लड्डुकाशोकवर्त्यादिकं, अथ स्वाद्यं एलाकस्तूरीलवंगकक्कोलादिकं। वाशब्दैरत्र स्वगतभेदा ग्राह्याः। अध्यात्मे आगमे चेतसि वा कल्पितं योग्यमकल्पितमयोग्यमिति सन्दिग्धं संशयस्थं शंकितं जानीहि, आगमे किमेतन्मम कल्प्यमुत नेति यद्येवं संदिग्धमाहारं भुंक्ते तदा शंकितनामाशनदोषं जानीहि। अथवाध्यात्मे चेतसि किमधःकर्मसहितमुत नेति सन्दिग्धमाहारं[1] यदि गृह्णीयाच्छंकितं जानीहि ॥४६३॥

है। जो परिणत नहीं हुआ है, जिसका रूप रस आदि नहीं बदला है ऐसे आहार या पान आदि जो कि अग्नि आदि के द्वारा अपक्व हैं उनको जो मुनि ग्रहण करते हैं उनके अपरिणत नाम का दोष होता है। अप्रासुक वर्ण आदि से संसक्त वस्तु लिप्त है। उस गेरु आदि से लिप्त हुए वर्तन आदि से दिया गया आहार आदि मुनि लेते हैं तो उनके लिप्त नाम का अशन दोष होता है। तथा छोटित—गिराने को परित्यजन कहते हैं। आहार करते हुए साधु के यदि अस्थिर—छिद्र सहित पाणि पात्र से आहार या पीने की चीजें गिरती रहती हैं तो मुनि के परित्यजन नाम का अशन दोष होता है। ये दश अशन दोष होते हैं। इनका विस्तार से वर्णन आगे गाथाओं द्वारा करते हैं।

शंकित दोष का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार भेद रूप आहार हैं। आगम में या मन में ऐसा संदेह करना कि यह योग्य है या अयोग्य? सो शंकित दोष है ॥४६३॥

आचारवृत्ति—भात आदि भोजन अशन कहलाते हैं। दही, दूध आदि पदार्थ पानक हैं। लड्डू आदि वस्तुएँ खाद्य हैं। इलायची, कस्तूरी, लवंग, कक्कोल आदि वस्तुएँ स्वाद्य हैं। 'वा' शब्द से इनमें स्वगत भेद ग्रहण करना चाहिए।

अध्यात्म में अर्थात् आगम में इन्हें मेरे योग्य कहा है या अयोग्य? इस प्रकार से संदेह करते हुए उस संदिग्ध आहार को ग्रहण करना शंकित दोष है। अथवा अध्यात्म अर्थात् चित्त में ऐसा विचार करना कि यह भोजन अधःकर्म से सहित है या नहीं ऐसा संदेह रखते हुए उस आहार को ग्रहण कर लेना सो शंकित दोष है।

---

१ क 'हारं भुंक्ते तदा शंकितं नामाशनदोषं जानीहि।

द्वितीयं म्रक्षितदोषमाह—

ससिणिद्धेण य देयं हत्थेण य भायणेण दव्वीए ।
एसो मक्खिददोसो परिहरदव्वो सदा मुणिणा ॥४६४॥

सस्निग्धेन हस्तेन भाजनेन दर्व्या कटच्छुकेन च यद्देयं भक्तादिकं यदि गृह्यते तदा म्रक्षितदोषो भवति। तस्मादेष म्रक्षितदोषः परिहर्तव्यो मुनिना सम्मूर्च्छनादिसूक्ष्मदोषदर्शनादिति ॥४६४॥

तृतीयं निक्षिप्तदोषमाह—

सच्चित्त पुढविम्राऊ तेऊहरिदं च वीयतसजीवा ।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयं ॥४६५॥

सचित्तपृथिव्यां सचित्ताप्सु सचित्ततेजसि हरितकायेषु बीजकायेषु त्रसजीवेषु तेषूपरि यत्स्थापितमाहारादिकं तन्निक्षिप्तं भवति षड्भेदं। अथवा सह चित्तेनाप्रासुकेन वर्तते इति सचित्तं। सचित्तं च पृथिवीकायाश्चाप्कायाश्च तेजःकायाश्च हरितकायाश्च वीजकायाश्च त्रसजीवाश्च तेषामुपरि यन्निक्षिप्तं सचित्तं तत् षड्भेदं भवति ज्ञातव्यं ॥४६५॥

द्वितीय म्रक्षित दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—चिकनाई युक्त हाथ से या वर्तन से या कलछी-चम्मच से दिया गया भोजन म्रक्षित दोष है। मुनि को हमेशा इसका परिहार करना चाहिए ॥४६४॥

आचारवृत्ति—घी, तेल आदि के चिकने हाथ से या चिकने हुए वर्तन से या कलछी चम्मच से दिया गया जो भोजन आदिक है उसे यदि मुनि ग्रहण करते हैं तो उनके म्रक्षित दोष होता है। सो यह दोष मुनि को छोड़ देना चाहिए क्योंकि इसमें समूर्च्छन आदि सूक्ष्म जीवों की विराधना का दोष देखा जाता है अर्थात् छोटे-मोटे मच्छर आदि जन्तु चिकने हाथ आदि में चिपककर मर सकते हैं अतः यह दोष है।

निक्षिप्त दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति तथा बीज और त्रस जीव—उनके ऊपर जो आहार रखा हुआ है वह छह भेद रूप निक्षिप्त होता है ॥४६५॥

आचारवृत्ति—सचित्त पृथ्वी, सचित्त जल, सचित्त अग्नि, हरित काय वनस्पति, बीज काय और त्रस जीव इन पर रखा हुआ जो आहार आदि है वह छह भेद रूप निक्षिप्त कहलाता है। अथवा चित्तकर सहित अप्रासुक वस्तु को सचित्त कहते हैं। ऐसे पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, हरितकाय, बीजकाय और त्रसकाय जीव होते हैं। उन पर रखी हुई वस्तु सचित्त हो जाती है। इन जीवकायों की अपेक्षा से वह छह भेद रूप हो जाती है। ऐसे आहार को लेना निक्षिप्त दोष है।

भावार्थ—अंकुर शक्ति के योग्य गेहूँ आदि धान्य को वीज कहते हैं। ये बीज जीवों की उत्पत्ति के लिए योग्य हैं, योनिभूत हैं इसलिए सचित्त हैं, यद्यपि वर्तमान में इनमें जीव

पिहितदोषमाह—

सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अचित्तगुरुगपिहिदं चा।
तं छंडिय जं देयं पिहिदं तं होदि बोधव्वो ॥४६६॥

सचित्तेन पिहितमप्रासुकेन पिहितं। अथवाऽचित्तगुरुकपिहितं वा प्रासुकेण (न) गुरुकेण यद्वावृतं तत्त्यक्त्वा यद्देयमाहारादिकं यदि गृह्यते पिहितं नाम दोषं भवति बोद्धव्यं ज्ञातव्यमिति ॥४६६॥

संव्यवहारदोषमाह—

संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेल भायणादीणं।
असमिक्खय जं देयं [1]संववहरणो हवदि दोसो ॥४६७॥

संव्यवहरणं संझटिति व्यवहारं कृत्वा, प्रदातुमिति चेलभाजनादीनां संभ्रमेणाहरणं वा कृत्वा, प्रकर्षेण दाननिमित्तं[2] वसुभाजनादीनां झटिति संव्यवहरणं कृत्वाऽसमीक्ष्य यद्देयं पानभोजनादिकं तद्यदि संगृह्यते संव्यवहरणं दोषो भवत्येष इति ॥४६७॥

दायकदोषमाह—

सूदी सुंडी रोगी मदयणपुंसय पिसायणग्गो य।
उच्चारपडिदवंतरुहिरवेसी समणी अंगमक्खीया ॥४६८॥

पिहित दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो सचित्त वस्तु से ढका हुआ है अथवा जो अचित्त भारी वस्तु से ढका हुआ है उसे हटाकर जो भोजन देना है वह पिहित है, ऐसा जानना चाहिए ॥४६६॥

आचारवृत्ति—अप्रासुक वस्तु से ढका हुआ या प्रासुक किन्तु वजनदार से ढका हुआ है, उसे खोलकर जो आहार आदि दिया जाता है और यदि मुनि उसे लेते हैं तो उन्हें वह पिहित नाम का दोष होता है।

संव्यवहार दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—यदि देने के लिए बर्तन आदि को खींचकर विना देखे दे देवे तो संव्यवहरण दोष होता है ॥४६७॥

आचारवृत्ति—दान के निमित्त वस्त्र या बर्तन आदि को जल्दी से खींचकर विना देखे जो भोजन आदि मुनि को दिया जाता है और यदि वे वह भोजन-पान आदि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके लिए वह संव्यवहरण दोष होता है।

दायक दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—धाय, मद्यपायी, रोगी, मृतक के सूतक सहित, नपुंसक, पिशाचग्रस्त, नग्न, मलमूत्र करके आये हुए, मूर्छित, वमन करके आये हुए, रुधिर सहित, वेश्या, श्रमणिका, तैल मालिश करनेवाली, अतिबाला, अतिवृद्धा, खाती हुई, गर्भिणी, अंधी, किसी के आड़ में खड़ी

---

१ क साहरणो सो ह॰। २ क ॰त्तं भा॰।

अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिया।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था ॥४६९॥

सूतिः या बालं प्रसाधयति। सुंडी—मद्यपानलम्पटः। रोगी व्याधिग्रस्तः। मदय—मृतकं श्मशाने परिक्षिप्यागतो यः स मृतक इत्युच्यते। मृतकसूतकेन यो जुष्टः सोऽपि मृतक इत्युच्यते। णउंसय—न स्त्री न पुमान् नपुंसकमिति जानीहि। पिशाचो वाताद्युपहतः। नग्नः पटाद्यावरणरहितो गृहस्थः। उच्चारं मूत्रादीन् कृत्वा य आगतः स उच्चार इत्युच्यते। पतितो मूर्च्छागतः। वान्तश्छर्दिं कृत्वा य आगतः। रुधिरं रुधिरसहितः। वेश्या दासी। श्रमणिकाऽऽर्यिका। अथवा पंचश्रमणिका रक्तपटिकादयः। अंगम्रक्षिका अंगाभ्यंगनकारिणी ॥४६८॥ तथा—

अतिबाला अतिमुग्धा, अतिवृद्धा अतीवजराग्रस्ता। ग्रासयन्ती भक्षयन्ती उच्छिष्टा। गर्भिणी गुरुभारा पंचमासिका। अंधलिका चक्षूरहिता। अन्तरिता कुड्यादिभिर्व्यवहिता। आसीनोपविष्टा। उच्चस्था उन्नतप्रदेशस्थिता। नीचस्था निम्नप्रदेशस्थिता। एवं पुरुषो वा वनिता च यदि ददाति तदा न ग्राह्यं भोजनादिकमिति ॥४६९॥ तथा—

फूयण पज्जलणं वा सारण पच्छादणं च [1]विज्झवणं।
किच्चा तहग्गिकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ॥४७०॥

हुई, बैठी हुई, ऊँचे पर खड़ी हुई या नीचे स्थान पर खड़ी हुई आहार देवें तो दायक दोष है ॥४६८-४६९॥

आचारवृत्ति—जो बालक को सजाती है वह सूति या धाय कहलाती है। शौंडी—मद्यपान लंपट। रोगी—व्याधिग्रस्त। श्मशान में मृतक को छोड़कर आया हुआ भी मृतक कहलाता है और जो मृतक के सूतक-पातक से युक्त है वह भी मृतक कहलाता है। जो न स्त्री है न पुरुष वह नपुंसक है। वात आदि से पीड़ित को पिशाच कहा है। वस्त्र आदि आवरण से रहित गृहस्थ नग्न कहलाते हैं। मल-मूत्रादि करके आये हुए जन को भी उच्चार शब्द से कहा गया है। वमन करके आए हुए को वान्ति कहा गया है। मूर्च्छा की बीमारीवाला या मूर्च्छित हुआ पतित कहलाता है। जिसके रुधिर निकल रहा है उसको रुधिर शब्द से कहा है। वेश्या—दासी, श्रमणिका—आर्यिका, रक्तपट वगैरह धारण करने वाली साध्वियाँ, अंगम्रक्षिका अर्थात् तैलादि मालिश करने वाली। तथा—

अतिबाला, अतिमूढ़ा, अतिवृद्धा—अत्यधिक जरा से जर्जरित, भोजन करती हुई, गर्भिणी—पंच महीने के गर्भ वाली (अर्थात् पाँच महीने के पहले तक आहार दे सकती है।), अंधलिका—जिसे नेत्र से दिखता नहीं है, अन्तरिका—जो दीवाल आदि की आड़ में खड़ी है, निषण्णा—जो बैठी हुई है, उच्चस्था—जो ऊँचे प्रदेश पर स्थित है और नीचस्था—जो नीचे प्रदेश पर स्थित है, ऐसी स्त्री (या कुछ विशेषण सहित पुरुष) यदि आहार देते हैं तो मुनि उसे नहीं ले। तथा—

गाथार्थ—फूंकना, जलाना, सारण करना, ढकना, बुझाना, तथा लकड़ी आदि को हटाना, या पीटना इत्यादि अग्नि का कार्य करके,

---

लेवणमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खिविय।
एवंविहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ॥४७१॥

फूयणं—संधुक्षणं मुखवातेनान्येन वा अग्निना काष्ठादीनां प्रज्वालनं प्रद्योतनं वा सारणं काष्ठादीनामुत्कर्षणं, प्रच्छादनं भस्मादिना विध्यापनं जलादिना कृत्वा तथान्यदपि अग्निकार्यं, निर्वातं निर्वाणं काष्ठादिपरित्यागः, घट्टनं चापि कुड्यादिनावरणं ॥४७०॥ तथा—

लेपनं गोमयकर्दमादिना कुड्यादेर्मार्जनं स्नानादिकं कर्म कृत्वेति सम्बंधः। पिवन्तं दारकं च स्तनमाददानं बालं निक्षिप्य त्यक्त्वा, अन्यांश्चैवंविधादिकान् कृत्वा पुनर्दानं यदि दत्ते दायकदोषा भवन्तीति ॥४७१॥

उन्मिश्रदोषमाह—

पुढवी आऊ य तहा हरिदा बीया तसा य सज्जीवा।
[1]पंचेहिं तेहिं मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ॥४७२॥

पृथिवी मृत्तिका, आपश्चाप्रासुकः, तथा हरितकाया पत्रपुष्पफलादयः। बीयाणि—बीजानि यवगोधूमादयः। त्रसाश्च सजीवा निर्जीवाः पुनर्मलमध्ये भविष्यन्ति दोषा इति। तैः पंचभिर्मिश्र आहारो

गाथार्थ—लीपना, धोना करके तथा दूध पीते हुए बालक को छोड़कर इत्यादि कार्य करके आकर यदि दान देते हैं तो दायक दोष होता है ॥४७०-७१॥

आचारवृत्ति—फूत्करण—मुख की हवा से या अन्य किसी से अग्नि को फूंकना, प्रज्वालन—काठ आदि को जलाना अथवा प्रद्योतित करना, सारण—काठ आदि का उत्कर्षण करना अर्थात् अग्नि में लकड़ियों को डालना, प्रच्छादन—भस्म आदि से ढक देना, विध्यापन—जल आदि से अग्नि को बुझा देना, निर्वात—अग्नि से लकड़ी आदि को हटा देना, घट्टन—किसी चीज से अग्नि को दबा देना आदि अग्नि सम्बन्धी कार्य करते हुए आकर जो आहार देवे तो दायक दोष है।

लेपन—गोबर मिट्टी आदि से लीपना, मार्जन—स्नान आदि कार्य करना तथा स्तनपान करते हुए बालक को छोड़कर आना, इसी प्रकार से और भी कार्य करके आकर जो पुनः दान देता है और मुनि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके दायक दोष होता है।

उन्मिश्र दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज और सजीव त्रस इन पाँचों से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र होता है ॥४७२॥

आचारवृत्ति—मिट्टी, अप्रासुक जल तथा पत्ते फूल आदि हरितकाय, जौ, गेहूं आदि बीज और सजीव त्रस, इन पाँच से मिश्रित हुआ आहार उन्मिश्र दोष रूप होता है। इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। चूंकि यह महादोष है, इस दोष में सजीव त्रसों को लिया गया

---

१ क पंचहि य तें।

भवत्युन्मिश्रः सर्वथा वर्जनीयो महादोष इति कृत्वेति ।।४७२।।

अपरिणतदोषमाह—

तिलतंडुलउसिणोदयं चणोदयं तुसोदयं अविद्धत्थं ।
अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जो ।।४७३।।*

तिलोदकं तिलप्रक्षालनं । तंदुलोदकं तंदुलप्रक्षालनं । उष्णोदकं तप्तं भूत्वा शीतं च चणोदकं चणप्रक्षालनं । तुषोदकं तुषप्रक्षालनं । अविध्वस्तमपरिणतं आत्मीयवर्णगन्धरसापरित्यक्तं । अन्यदपि तथाविधमपरिणतं हरीतकीचूर्णादिना अविध्वस्तं । नैवं गृह्णीयात् नैव ग्राह्यमिति । एतानि परिणतानि ग्राह्याणीति ।।४७३।।

लिप्तदोषं विवृण्वन्नाह—

गेरुय हरिदालेण व सेडीय मणोसिलामपिट्ठेण ।
सपबालो[1]दणलेवे ण व देयं करभायणे लित्तं ।।४७४।।

गैरिकया रक्तद्रवेण, हरितालेन सेढिकया पटिकया पांडुमृत्तिकया, मनःशिलया आमपिष्टेन वा

है । निर्जीव अर्थात् मरे हुए त्रसों के आजाने का हेतुभूत कारण आहार मलदोष के अन्तर्गत आ जायेगा ।

अपरिणत दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—तिलोदक, तण्डुलोदक, उष्ण जल, चने का धोवन, तुषधोवन, विपरणित नहीं हुए और भी जो वैसे हैं, परिणत नहीं हुए हैं, उन्हें ग्रहण नहीं करे ।।४७३।।

आचारवृत्ति—तिलोदक—तिल का धोवन, तण्डुलोदक—चावल का धोवन, उष्णोदक—गरम होकर ठण्डा हुआ जल, चणोदक—चने का धोवन, तुषोदक—तुष का धोवन; अविध्वस्त—अपने वर्ण, गंध, रस, को नहीं छोड़ा है ऐसा जल; अन्य भी उसी प्रकार से हरड़ आदि के चूर्ण से प्रासुक नहीं किये हैं अथवा जल में हरड़ आदि का चूर्ण इतना थोड़ा डाला है कि वह जल अपने रूप गंध और रस से परिणत नहीं हुआ है; ऐसे जल आदि को नहीं लेना चाहिए। यदि ये परिणत हो गये हैं तो ग्रहण करने योग्य हैं ।

लिप्त दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—गेरु, हरिताल, सेलखड़ी, मनःशिला, गीला आटा, कोंपल आदि सहित जल इन से लिप्त हुए हाथ या वर्तन से आहार देना सो लिप्त दोष है ।।४७४।।

आचारवृत्ति—गेरु, हरिताल, सेटिका—सफेद मिट्टी या खड़िया, मनशिल अथवा

---

१ क °लदगोल्लेणव° ।

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार की इस गा. में अन्तर है—

तिलचाउणउसणोदय चणोदय तुसोदयं अविद्धत्थं ।
अण्णं पि य असणादी अपरिणदं णेव गेण्हेज्जो ।।

तंदुलादिचूर्णेन सप्रवालेन अपक्वशाकेन अप्रासुकोदकेन वा आर्द्रेणैव हस्तेन भाजनेन वा यद्देयं तल्लिप्तं नाम दोषं विजानीहि ॥४७४॥

परित्यजनदोषमाह—

बहु परिसाडणमुज्झिअ आहारो परिगलंत दिज्जंतं।
छंडिय भुंजणमहवा [1]छंडियदोसो हवे णेओ ॥४७५॥

वहुपरिसातनमुज्झित्वा वहुप्रसातनं कृत्वा भोज्यं स्तोकं त्याज्यं वहुपाग्रहारेण[2] सोऽपि वहुपरिसातनमित्युच्यते। आहारं परिगलंतं दीयमानं तक्रघृतोदकादिभिः परिस्रवंतं छिद्रहस्तैश्च वहुपरिसातनं च कृत्वाहारं यदि गृह्णाति त्यक्त्वा चैकमाहारमपरं भुंक्ते यस्तस्य त्यक्तदोषो भवति। एते अशनदोषाः दश परिहरणीयाः। सावद्यकारणाज्जीवदयाहेतोर्लोकजुगुप्सा ततश्चेति ॥४७५॥

संयोजनाप्रमाणदोषानाह—

संजोयणा य दोसो जो संजोएदि भत्तपाणं तु।
अदिमत्तो आहारो पमाणदोसो हवदि एसो ॥४७६॥

संयोजनं च दोषो भवति। यः संयोजयति भक्तं पानं तु। शीतं भक्तं पानेनोष्णेन संयोजयति।

चावल आदि का आटा, सप्रवाल—अपक्वशाक, अथवा अप्रासुक जल इन वस्तुओं से लिप्त हुए हाथ से या वर्तन से जो आहार दिया जाता है वह लिप्त नाम के दोष से सहित है ऐसा जानो।

परित्यजन दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—वहुत-सा गिराकर, या गिरते हुए दिया गया भोजन ग्रहण कर और भोजन करते समय गिराकर जो आहार करना है वह व्यक्त दोष है ऐसा जानना चाहिए ॥४७५॥

आचारवृत्ति—वहुत-सा भोजन गिराकर आहार लेना अर्थात् भोजन की वस्तुएँ थोड़ी हाथ में रखना, वहुत-सी गिरा देना सो भी परिसातन कहलाता है। घी, छाछ, जल आदि वस्तु देते समय हाथ से वहुत गिर रही हों या अपने छिद्र सहित अंजली पुट से इन वस्तुओं को वहुत गिराते हुए आहार लेना, तथा एक कोई वस्तु हाथ से गिराकर अन्य कोई इष्ट वस्तु खा लेना इत्यादि प्रकार से मुनि के व्यक्त दोष होता है।

ये दश अशन दोष कहे गये हैं जो कि त्याग करने योग्य हैं। ये सावद्य को करने वाले हैं। इनसे जीवदया नहीं पलती है और लोक में निन्दा भी होती है अतः ये त्याज्य हैं।

संयोजना और प्रमाण दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो भोजन और पान को मिला देता है सो संयोजना दोष है। अतिमात्र आहार लेना सो यह प्रमाण दोष होता है ॥४७६॥

आचारवृत्ति—ठण्डा भोजन उष्ण जल से मिला देना, या ठण्डे जल आदि पदार्थ उष्ण भात आदि से मिला देना। अन्य भी परस्पर विरुद्ध वस्तुओं को मिला देना संयोजना दोष है।

---

१ क छोड़िय। २ क हारे सो।

शीतं वा पानं उष्णेन भक्तादिना संयोजयति। अन्यदपि विरुद्धं परस्परं यत्तद्यदि संयोजयति तस्य संयोजननाम दोषो [1]भवति। अतिमात्र आहारः—अशनस्य सव्यंजनस्य द्वयभागं तृतीयभागमुदकस्योदरस्य[2] यः पूरयति, चतुर्थभागं चावशेषयति यस्तस्य प्रमाणभूत आहारो भवति, अस्मादन्यथा यः कुर्यात्तस्यातिमात्रो नामाहारदोषो भवति। प्रमाणातिरिक्ते आहारे गृहीते स्वाध्यायो न प्रवर्तते, षडावश्यकक्रियाः कर्तुं न शक्यंते, ज्वरादयश्च संतापयन्ति, निद्रालस्यादयश्च दोषा जायंते इति ॥४७६॥

अंगारधूमदोषानाह—

तं होदि [3]सयंगालं जं आहारेदि[4] मुच्छिदो संतो।
तं पुण होदि सधूमं जं आहारेदि णिंदिदो ॥४७७॥

यदि मूर्छितः सन् गृद्धयाद्यायु मुक्तः आहारत्यभ्यवहरति भुंक्ते तदा तस्य पूर्वोक्तोऽङ्गारादिदोषो भवति, सुष्ठु गृद्धिदर्शनादिति। तत्पुनर्भवति स पूर्वोक्तो धूमो नाम दोषः, यस्मादाहरति निंदन्जुगुप्समानो विरूपकमेतदनिष्टं मम, एवं कृत्वा यदि भुंक्ते तदानीं धूमो नाम दोषो भवत्येव, अन्तःसंक्लेशदर्शनादिति।

कारणमाह—

छहिं कारणेहिं असणं आहारंतो वि आयरदि धम्मं।
छहिं चेव कारणेहिं दु णिज्जुहंतो वि आचरदि ॥४७८॥

व्यंजन आदि भोजन से उदर के दो भाग पूर्ण करना और जल से उदर का तीसरा भाग पूर्ण करना तथा उदर का चतुर्थ भाग खाली रखना सो प्रमाणभूत आहार कहलाता है। इससे भिन्न जो अधिक आहार ग्रहण करते हैं उनके प्रमाण या अतिमात्र नाम का आहार दोष होता है। प्रमाण से अधिक आहार लेने पर स्वाध्याय नहीं होता है, षट्-आवश्यक क्रियाएँ करना भी शक्य नहीं रहता है। ज्वर आदि रोग भी उत्पन्न होकर संतापित करते हैं तथा निद्रा और आलस्य आदि दोष भी होते हैं। अतः प्रमाणभूत आहार लेना चाहिए।

अंगार और धूम दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो गृद्धि युक्त आहार लेता है वह अंगार दोष सहित है। जो निन्दा करते हुए आहार लेता है उसके धूम दोष होता है ॥४७७॥

आचारवृत्ति—जो मूर्छित होता हुआ अर्थात् आहार में गृद्धता रखता हुआ आहार लेता है उसके अंगार नाम का दोष होता है, क्योंकि उसमें अतीव गृद्धि देखी जाती है।

जो निन्दा करते हुए अर्थात् यह भोजन विरूपक है, मेरे लिए अनिष्ट है, ऐसा करके भोजन करता है उसके धूम नाम का दोष होता है क्योंकि अंतरंग में संक्लेश देखा जाता है।

कारण को कहते हैं—

गाथार्थ—छह कारणों से भोजन ग्रहण करते हुए भी धर्म का आचरण करते हैं और छह कारणों से ही छोड़ते हुए भी धर्म का आचरण करते हैं ॥४७८॥

---

१ क 'त्येव। २ क 'उदकस्यानेन विधनोदरं यः। ३ क सङ्गालं। ४ क 'रेवि मुं'।

षड्भिः कारणैः प्रयोजनैस्तु निरवशेषमशनमाहारं भोज्यखाद्यलेह्यपेयात्मकमभ्यवहरन्नपि भुंजानो-ऽप्याचरति चेष्टयति अनुष्ठानं करोति धर्म चारित्रं। तथैव षड्भिः कारणैः प्रयोजनैस्तु निरवशेषं [1]जुगुप्सन्नपि परित्यजन्नप्याचरति प्रतिपालयति धर्ममिति संबंधः। निष्कारणं यदि भुंक्ते भोज्यादिकं तदा दोषः, कारणैः पुनर्भुंजानोऽपि धर्ममाचरति साधुरिति सम्बन्धः। तथापरैः प्रयोजनैः परित्यजन्नपि भोज्यादिकं धर्ममेवाचरति नाशनपरित्यागे दोषः सकारणत्वात्परित्यागस्येति ।।४७८।।

कानि तानि कारणानि यैर्भुंक्तेऽशनमित्याशंकायामाह—

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए ।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ।।४७६।।

वेदना क्षुद्वेदनामुपशमयामीति भुंक्ते। वैयावृत्त्यमात्मनोऽन्येषां च करोमीति वैयावृत्त्यार्थं भुंक्ते। क्रियार्थं षडावश्यकक्रिया मम भोजनमन्तरेण न प्रवर्तते इति ता प्रतिपालयामीति भुंक्ते। संयमार्थं त्रयोदश-विधं संयमं पालयामीति भुंक्ते, अथवाहारमन्तरेणेन्द्रियाणि मम विकलानि भवन्ति तथा सति जीवदयां कर्तुं न शक्नोमीति प्राणसंयमार्थं इन्द्रियसंयमार्थं च भुंक्ते, तथा प्राणचिन्तया भुंक्ते, प्राणा दशप्रकारास्तिष्ठन्ति (न)

आचारवृत्ति—मुनि छह कारणों से प्रयोजनों—से भोज्य, खाद्य, लेह्य, पेय इन चार प्रकार के आहार को ग्रहण करते हुए भी धर्म अर्थात् चारित्र का अनुष्ठान करते हैं। तथा छह प्रयोजनों से ही आहार का त्याग करते हुए भी धर्म का पालन करते हैं। यदि मुनि निष्कारण ही आहार ग्रहण करते हैं तो दोष है। प्रयोजनों से भोजन करते हुए भी धर्म का आचरण करते हैं ऐसा अभिप्राय है। उसी प्रकार से अन्य प्रयोजनों से ही भोजन का त्याग करते हुए धर्म का ही पालन करते हैं अतः भोजन के परित्याग में दोष नहीं है, क्योंकि वह त्याग कारण सहित होता है।

वे कौन से कारण हैं जिनसे आहार करते हैं ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वेदना शमन हेतु, वैयावृत्ति के लिए, क्रियाओं के लिए, संयम के लिए, तथा प्राणों की चिन्ता और धर्म की चिन्ता के लिए, इन कारणों से आहार करे ।।४७६।।

आचारवृत्ति—'मैं क्षुधा-वेदना का उपशम करूँ' इसलिए मुनि आहार करते हैं। 'मैं अपनी और अन्य साधुओं की वैयावृत्ति करूँ' इसलिए आहार करते हैं। 'मेरी छह आवश्यक क्रियाएँ भोजन के बिना नहीं हो सकती हैं, मैं उन क्रियाओं को करूँ', इसलिए आहार करते हैं। 'तेरह प्रकार का संयम मैं पालन करूँ' इसलिए भोजन करते हैं। अथवा 'आहार के बिना मेरी इन्द्रियाँ शिथिल या विकल हो जावेंगी तो मैं जीवदया पालन करने में समर्थ नहीं होऊँगा' इस तरह से प्राण संयम और इन्द्रिय संयम के पालन करने हेतु आहार करते हैं। तथा 'मेरे ये दश विध प्राण आहार के बिना नहीं रह सकते हैं', विशेष रूप से आहार के बिना आयु प्राण नहीं

---

१ क उज्झन्नपि।

ममाहारमन्तरेण विशेषेणायुर्न तिष्ठतीत्येवं प्राणार्थं भुंक्ते। तथा धर्मचिन्तया भुंक्ते धर्मो दशप्रकारः उत्तमक्षमादिलक्षणो मम वशे न तिष्ठति भोजनमंतरेण, क्षमां मार्दवमार्जवं चेत्यादिकं कर्तुं न शक्नोत्ययं जीवोऽशनमन्तरेणेति भुंक्ते। [1]नातिमात्र धर्मसंयमयोः पुनरैक्यं क्षमादिभेददर्शनादिति। एभिः षड्भिः कारणैराहारं कुर्याद्यतिरिति सम्बन्धः ॥४७९॥

अथ यैः कारणैस्त्यजत्याहारं कानि तानीत्याशंकायामाह—

आदंके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वोच्छेदो ॥४८०॥

आतंके आकस्मिकोत्थितव्याधौ मारणान्तिकपीडायां सहितायां वाह्यजातीयामाहारव्युच्छेदः परित्यागः। तथोपसर्गे दीक्षाविनाशहेतौ देवमानुषतिर्यग्चेतनकृते समुपस्थिते भोजनपरित्यागः। तितिक्षणायां ब्रह्मचर्यगुप्तेः सुष्ठु निर्मलीकरणे सप्तमधातुक्षयायाहारव्युच्छेदः। तथा प्राणिदयाहेतौ यद्याहारं गृह्णामि बहुप्राणिनां घातो भवति तस्माद्यद्याहारं न गृह्णामीति जीवदयानिमित्तमाहारव्युच्छेदः। तथा तपोहेतौ द्वादशविधे

रह सकता है, अतः प्राणों के लिए मुनि आहार करते हैं। भोजन के बिना उत्तम क्षमा आदि रूप दस प्रकार का धर्म मेरे वश में नहीं रह सकेगा। अशन के बिना यह जीव क्षमा, मार्दव आदि धर्म करने में समर्थ नहीं हो सकता है, इसलिए वे आहार करते हैं।

धर्म और संयम में एकान्त से ऐक्य नहीं है, क्योंकि क्षमादि भेद देखे जाते हैं। इन छह कारणों से यति आहार करते हैं यह अभिप्राय है।

जिन कारणों से आहार छोड़ते हैं वे कौन से हैं? सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—आतंक होने पर, उपसर्ग के आने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु, प्राणि दया के लिए, तप के लिए और संन्यास के लिए आहार त्याग होता है ॥४८०॥

आचारवृत्ति—आतंक—आकस्मिक कोई व्याधि उत्पन्न हो गयी जो कि मारणान्तिक पीड़ा कारक है, ऐसे प्रसंग में आहार का त्याग कर दिया जाता है। उपसर्ग—देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत उपसर्ग के उपस्थित होने पर भोजन का त्याग होता है। ब्रह्मचर्य, गुप्ति की रक्षा के लिए अर्थात् अच्छी तरह ब्रह्मचर्य को निर्मल करने हेतु, सप्तम धातु अर्थात् वीर्य का क्षय करने के लिए आहार का त्याग होता है। 'यदि मैं आहार ग्रहण करता हूँ तो बहुत से प्राणियों का घात होता है इसलिए आहार ग्रहण नहीं करूँगा', इस तरह जीव दया के निमित्त आहार का त्याग करते हैं। 'बारह प्रकार के तपों में अनशन एक तप है उसे मैं करूँगा' ऐसे तप के लिए भी आहार छोड़ देते हैं। तथा 'संन्यास काल में अर्थात् वृद्धावस्था मेरी मुनि-अवस्था में हानि करनेवाली है, मैं दुस्साध्य रोग से युक्त हूँ, मेरी इन्द्रियाँ विकल हो गयी हैं, या मेरे स्वाध्याय की हानि हो रही है, मेरे जीने के लिए अब कोई उपाय नहीं है', इस प्रकार के प्रसंगों में शरीर का परित्याग करना होता है। इसी का नाम संन्यासमरण है। उस संन्यास

---

१ क नात्र धर्म'।

तपस्यनशनं नाम तपस्तदद्य करोमीति तपो निमित्तमाहारव्युच्छेदः। तथा शरीरपरिहारे संन्यासकाले जरा मम श्रामण्यहानिकरी, रोगेण च दुःसाध्यतमेन जुष्टः, करणविकलत्वं च मम संजातं स्वाध्यायक्षतिश्च दृश्यते, जीवितव्यस्य च ममोपायो नास्तीत्येवं कारणे शरीरपरित्यागस्तन्निमित्तो भक्तादिव्युच्छेदः। एतैः षड्भिः कारणैराहारपरित्यागः कार्यः। न पूर्वैः सह विरोधो[1] विषयविभागदर्शनादिति, क्षुद्वेदनादिषु सत्स्वपि आतंकः स्यात्, यदि प्रचुरजीवहत्या वा दृश्यते ततो भोजनादिपरित्यागं, शरीरपीडारहितस्य तपोविधानमिति न विरोधो विषयभेददर्शनादिति। आहारोऽत्रानुवर्तते तेन सह सम्बन्धो व्युच्छेदस्येति ॥४८०॥

एतदर्थं पुनराहारं न कदाचिदपि कुर्यादिति प्रपंचयन्नाह—

ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ[2] तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥४८१॥

न वलार्थं मम वलं युद्धादिक्षमं भूयादित्येवमर्थं न भुंक्ते नायुपोर्थं—ममायुर्वृद्धिं यात्विति न भुंक्ते। न स्वादार्थं, शोभनोऽस्य स्वादो भोजनस्येत्येवमर्थं न भुंक्ते। न शरीरस्योपचयार्थं, शरीरं मम पुष्टं मांसवृद्धं वा भवत्विति न भुंक्ते। नापि तेजोऽर्थं, शरीरस्य मम दीप्तिः स्याद्दर्पो वेति न भुंजीताहारमिति। यद्येवमर्थं न भुंक्ते किमर्थं तर्हि भुंक्तेऽत आह—ज्ञानार्थं, ज्ञानं स्वाध्यायो मम प्रवर्ततामिति भुंक्ते। संयमार्थं,

---

मरण के निमित्त आहार का त्याग करते हैं। अर्थात् इन छह कारणों से आहार का त्याग करना चाहिए।

यहाँ पूर्व कारणों के साथ विरोध नहीं है, क्योंकि विषय विभाग देखा जाता है। क्षुधा-वेदना आदि के होने पर भी आतंक हो सकता है। अथवा यदि प्रचुर जीव-हत्या दिखती है तो भोजन आदि त्याग कर देते हैं। शरीर-पीड़ा रहित साधु के तपश्चरण होता है इसलिए विरोध नहीं है क्योंकि विषयभेद देखा जाता है। आहार शब्द की अनुवृत्ति होने से यहाँ पर भी गाथा में व्युच्छेद के साथ आहार का व्युच्छेद अर्थात् त्याग करना ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए।

इनके लिए पुनः आहार कदाचित् भी न करे, इसी बात को बताते हैं—

गाथार्थ—न बल के लिए, न आयु के लिए और न स्वाद के लिए, न शरीर की पुष्टि के लिए और न तेज के लिए आहार ग्रहण करे। किन्तु ज्ञान के लिए, संयम के लिए और ध्यान के लिए आहार ग्रहण करे ॥४८१॥

आचारवृत्ति—'युद्धादि में समर्थ ऐसा बल मेरे हो जावे' इस हेतु मुनि आहार नहीं करते हैं। 'मेरी आयु बढ़ जावे' इसलिए भी आहार नहीं करते हैं। 'इस भोजन का स्वाद बढ़िया है' इस प्रकार स्वाद के लिए भी भोजन नहीं करते हैं। 'मेरा शरीर पुष्ट हो जावे अथवा मांस की वृद्धि हो जावे' इसलिए भोजन नहीं करते हैं और 'मेरे शरीर में दीप्ति हो या दर्प हो' इसलिए भी आहार नहीं करते हैं।

यदि इन बल, आयु, स्वाद, शरीर पुष्टि और दीप्ति के लिए आहार नहीं करते हैं तो किसलिए करते हैं?

---

१ क 'विरोधो विभागदर्शनादिति आहाररोधो विषयदर्शनादिति। २ क 'रमुपच्चयट्ठ।

संयमो मम स्यादिति भुंक्ते। ध्यानार्थं चैव, आहारमन्तरेण न ध्यानं प्रवर्तते यतो भुंक्ते यतिरिति। तथापि भुंक्ते इत्यत आह ॥४८१॥

> णवकोडीपरिसुद्धं असणं बादालदोसपरिहीणं।
> संजोजणाय हीणं पमाणसहियं विहिसुदिण्णं ॥४८२॥
> विगदिंगाल विधूमं छक्कारणसंजुदं कमविसुद्धं ।
> जत्तासाधणमेत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ॥४८३॥

नवकोटिपरिशुद्धं। कास्ताः कोटयो मनसा कृतकारितानुमतानि तिस्रः कोटयः, तथा वचसा कृतकारितानुमतानि तिस्रः कोटयः, तथा कायेन कृतकारितानुमतानि तिस्रः कोटय एताभिः कोटिभिः परिशुद्धमशनं, द्विचत्वारिंशद्दोषपरिहीणं उद्गमोत्पादैषणादोषरहितं, संयोजनयारहितं, प्रमाणसहितं, विधिना दत्तं प्रतिग्रहोच्चस्थानपादोदकार्चनाप्रणमनमनोवचनकायशुद्ध्यशनशुद्धिभिर्दत्तमुपनीतं, श्रद्धाभक्तितुष्टिविज्ञानालुब्ध-

---

'मेरा स्वाध्याय चलता रहे' इस तरह ज्ञान के लिए आहार करते हैं। 'मेरा संयम पलता रहे' इस तरह संयम के लिए आहार करते हैं और आहार के बिना ध्यान नहीं हो सकेगा इसलिए ध्यान के हेतु यति आहार करते हैं। अर्थात् ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिए मुनि आहार करते हैं।

कैसा आहार ग्रहण करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—नवकोटि से शुद्ध भोजन, जो कि ब्यालीस दोषों से रहित है, संयोजना से हीन है, प्रमाण सहित है और विधिपूर्वक दिया जाता है।

जो कि अंगार दोष से रहित है, धूम दोष रहित है, छह कारणों से युक्त है और क्रम से विशुद्ध है, जो यात्रा के लिए साधनमात्र है तथा चौदह मल दोषों से रहित है, साधु ऐसा अशन ग्रहण करते हैं ॥४८२-४८३॥

आचारवृत्ति—जो आहार नव कोटि से परिशुद्ध है। ये नव कोटि क्या हैं? मन से कृत, कारित, अनुमोदना का होना ये तीन कोटि हैं; वचन से कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन कोटि हैं तथा काय से कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन कोटि हैं, ऐसे ये नव कोटि हुईं। इन नव कोटि से शुद्ध आहार को मुनि ग्रहण करते हैं। अर्थात् मुनि मन, वचन, काय से आहार न बनाते हैं, न बनवाते हैं और न अनुमोदना करते हैं।

सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष और दस एषणा दोष ये ब्यालीस दोष हैं। इनसे रहित, संयोजना दोष से रहित और प्रमाण सहित आहार लेते हैं। तथा विधि से दिया गया हो अर्थात् पड़गाहन करना, उच्च स्थान देना, पाद प्रक्षालन करना, अर्चना करना, प्रणाम करना, मन-वचन-काय की शुद्धि तथा आहार की शुद्धि यह नवधाभक्ति विधि कहलाती है। इस विधि से तथा श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलोभ, क्षमा और शक्ति सात गुणों से युक्त दाता के द्वारा जो दिया गया है ऐसा आहार लेते हैं। जो अंगार दोष रहित, धूम दोष रहित, छह कारणों से संयुक्त, क्रम से विशुद्ध अर्थात् उत्क्रम से हीन, तथा प्राणों के धारण के लिए

ताक्षमाशक्तियुक्तेन दार्शति ॥४८२॥ तथा—

विगतांगारं, विगतधूमं, षट्कारणसंयुक्तं क्रमविशुद्धमुत्क्रमहीनं, यात्रासाधनमात्रं प्राणसंधारणार्थं अथवा मोक्षयात्रासाधननिमित्तं, चतुर्दशमलवर्जितं भुंक्ते साधुरिति सम्बन्धः ॥४८३॥

अथ कानि चतुर्दशमलानीत्याह—

णहरोमजंतुअट्ठी कणकुंडयपूयचम्मरुहिरमंसाणि ।
बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति ॥४८४॥

नखो, हस्तपादाङ्गुल्यग्रप्रभवो मनुष्यजातिप्रतिबद्धतिर्यग्जातिप्रतिबद्धो वा रोमवालः सोपि मनुष्यतिर्यग्जातः[1]। जन्तुर्जीवः प्राणिरहितशरीरं। अस्थि कंकालं कणः यवगोधूमादीनां बहिरवयवः। कुंडघादिशाल्यादीनामभ्यन्तरसूक्ष्मावयवाः। पूय, पक्वरुधिरं व्रणक्लेदः चर्म शरीरत्वक् प्रथमधातुः। रुधिरं द्वितीयो धातुः। मांसं रुधिराधारं तृतीयो धातुः। बीजानि प्रा(प्र) रोहयोग्यावयवगोधूमादयः। फलानि जम्ब्वाम्राम्बाडकफलानि। कंदः कंदल्य[2]धःप्रारोहकारणं। मूलं पिप्पला[3]द्यधःप्ररोहनिमित्तं। छिन्नानि पृथग्भूतानि मलानि चतुर्दश भवन्ति। कानिचिदत्र महामलानि, कानिचिदल्पानि, कानिचिन्महादोषाणि, कानिचिदल्पदोषाणि।

अथवा मोक्ष की यात्रा के साधन का निमित्त है, चौदह मल दोषों से रहित है ऐसे आहार को यति ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—१६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० अशन दोष, संयोजन, प्रमाण, अंगार और धूम से मिलकर छयालीस दोष हो जाते हैं। यहाँ पर संयोजन आदि चार को पृथक् करके उपर्युक्त ४२ को एक साथ लिया है।

चौदह मलदोष क्या हैं?

गाथार्थ—नख, रोम, जंतु, हड्डी, कण, कुण्ड, पीव, चर्म, रुधिर, मांस, बीज, फल, कंद और मूल ये पृथक्भूत चौदह मलदोष होते हैं ॥४८४॥

आचारवृत्ति—नख—मनुष्य या तिर्यंचों के हाथ या पैर की अंगुलियों का अग्र भाग, रोम—मनुष्य और तिर्यंचों के वाल, जन्तु—प्राणियों के निर्जीव शरीर, अस्थि—कंकाल अर्थात् हड्डी, कण—जौ-गेहूँ आदि के बाहर का अवयव, छिलका, कुण्ड—शालि आदि अभ्यन्तर भाग का सूक्ष्म अवयव, पूय—पका हुआ रुधिर अर्थात् घाव का पीव, चर्म—शरीर की त्वचा (यह प्रथम धातु है), रुधिर—खून (यह द्वितीय धातु है), मांस—रुधिर के लिए आधारभूत (यह तृतीय धातु है), बीज—उगने योग्य अवयव अर्थात् गेहूँ, चने आदि, फल—जामुन, आम, अंबाडक आदि, कंद—कंदली के नीचे से उगने वाला, अर्थात् जमीन में उत्पन्न होनेवाले अंकुर की उत्पत्ति के कारणभूत अथवा सूरण वगैरह; मूल—पिप्पली आदि जड़, ये चौदह मल होते हैं।

इनमें कुछ तो महामल हैं और कोई अल्प मल हैं। कोई महादोष हैं और कोई अल्प दोष हैं। रुधिर, मांस, हड्डी, चर्म और पीव ये महादोष हैं। आहार में इनके आ जाने पर सर्वाहार का परित्याग करने पर भी प्रायश्चित लेना होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय

---

१ क °र्यग्गतः। २ क °ल्याधःप्ररो°। ३ क °ल्याधः°।

रुधिरमांसास्थिचर्मपूयानि महादोषाणि सर्वाहारपरित्यागेऽपि प्रायश्चित्तकारणानि द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियशरीराणि वालाश्चाहारत्यागकारणनिमित्तानि। नखेनाहारः परित्यज्यते। किंचित्प्रायश्चित्तं क्रियते। कणकुंडवीजकंदफलमूलानि परिहारयोग्यानि यदि परिहर्तुं न शक्यन्ते भोजनपरित्यागः क्रियते। तथा स्वशरीरे सिद्धभक्तौ कृतायां यदि रुधिरं पूयं च गलति पारिवेशकशरीराद्वा तदाहारस्य त्यागः। तद्दिवसेऽस्य मांसस्य पुनर्दर्शनेनाष्टप्रकारायां पिंडशुद्धौ न पठितानीति पृथगुच्यन्ते इति ॥४८४॥

दोषरहितं भुंक्ते यतिरित्युक्ते किं तद्भुंक्ते इत्याशंकायामाह—

पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्वदोत्ति तं दव्वं।
फासुगमिदि सिद्धेवि य अप्पट्ठकदं असुद्धं तु ॥४८५॥

द्रव्यभावतः प्रासुकं द्रव्यं भुंक्ते। द्रव्यगतप्रासुकमाह—प्रगता असवः प्राणिनो यस्मात्तस्माद्द्रव्यतः शुद्धमिति तद्द्रव्यं यत्रैकेन्द्रिया जीवा न सन्ति न विद्यन्ते स आहारस्तद्द्रव्यतः शुद्धः, द्वीन्द्रियादयः पुनर्यत्र सजीवा निर्जीवा वा सन्ति स आहारो दूरतः परिवर्जनीयो द्रव्यतोऽशुद्धत्वादिति। प्रासुकमिति अनेन प्रकारेण प्रासुकं सिद्धं निष्पन्नमपि द्रव्यं यद्यात्मार्थं कृतमात्मनिमित्तं कृतं चिन्तयति तदा द्रव्यतः शुद्धमप्यशुद्धमेव ॥४८५॥

जीवों के शरीर अर्थात् मृत लट, चिंवटी, मक्खी आदि तथा वाल यदि आहार में आ जावें तो आहार छोड़ देना होता है। आहार में नख आ जाने पर आहार छोड़ देना होता है और किंचित् प्रायश्चित्त भी ग्रहण करना होता है। कण, कुंड, वीज, कंद, फल और मूल इनके आ जाने पर यदि इन्हें न निकाल सकें तो आहार छोड़ देना चाहिए।

तथा सिद्धभक्ति कर लेने के वाद यदि मुनि के अपने शरीर से रुधिर या पीव बहने लगता है अथवा आहार देने वाले के शरीर से रुधिर या पीव निकलता है तो उस दिन आहार छोड़ देना होता है। यदि माँस भी दिख जाए तो भी आहार त्याग कर देना चाहिए।

ये मल दोष आठ प्रकार की पिंडशुद्धि में नहीं कहे गए हैं, अतः इनका पृथक् कथन किया गया है।

यति दोषरहित आहार करते हैं तो वे कैसा आहार करते हैं? सो ही वताते हैं—

गाथार्थ—जिस द्रव्य से जीव निकल गए हैं वह द्रव्य प्रासुक है। इस तरह का भोजन प्रासुक वना होने पर भी यदि वह अपने लिए वना है तो अशुद्ध है ॥४८५॥

आचारवृत्ति—मुनि द्रव्य और भाव से जो प्रासुक वस्तु आहार में लेते हैं। द्रव्यगत प्रासुक को कहते हैं—निकल गये हैं असु अर्थात् प्राणी जिसमें से वह द्रव्य से शुद्ध है अर्थात् जिसमें एकेन्द्रिय जीव नहीं है वह आहार द्रव्य से शुद्ध है। पुनः जिसमें द्वीन्द्रिय आदि जीव जीते हुए या निर्जीव हुए भी हैं वह आहार मुनि को दूर से ही छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वह द्रव्य से अशुद्ध है। इसी प्रकार से प्रासुक सिद्ध हुआ भी द्रव्य यदि अपने लिए तैयार किया गया है तो वह द्रव्य से शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध ही है। अर्थात् वह आहार भाव से अशुद्ध है।

कथं परार्थकृतं शुद्धमित्याशंकायां दृष्टान्तेनार्थमाह—

जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जंति।
ण हि मंडूगा एवं परमट्ठकदे जदि विसुद्धो ॥४८६॥

यथा मत्स्यानां प्रकृते मदनोदके यथा मत्स्यानां निमित्ते कृते मदनकारणे जले मत्स्या हि स्फुटं माद्यन्ति विह्वलीभवन्ति न हि मण्डूका, भेका नैव माद्यन्ति। यस्मिञ्जले मत्स्यास्तस्मिन्नेव मण्डूका अपि तथापि ते न विपद्यन्ते तद्धेतोरभावात्। एवं परार्थे कृते भक्तादिके[1] प्रवर्तमानोऽपि यतिविशुद्धस्तद्गतेन दोषेण न लिप्यते। कुटुम्बिनोऽधःकर्मादिदोषेण गृह्यन्ते न साधवः। तेन कुटुम्बिनः साधुदानफलेन तं दोषमपास्य स्वर्गगामिनो मोक्षगामिनश्च भवन्ति सम्यग्दृष्टयः, मिथ्यादृष्टयः पुनर्भोगभुवमवाप्नुवन्ति न दोष इति ॥४८६॥

भावतः शुद्धमाह—

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वेवि बंधओ भणिओ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो ॥४८७॥

प्रासुके द्रव्ये सति यद्यधःकर्मपरिणतो भवति साधुर्यद्यात्मार्थं कृतं मन्यते गौरवेण तदागौ बन्धको

परके लिए बनाया गया भोजन कैसे शुद्ध है ? ऐसी आशंका होने पर दृष्टांत के द्वारा उसको कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे मत्स्यों के लिए किये मादक जल में मत्स्य ही मद को प्राप्त होते हैं, इसी तरह पर के लिए किये गये (भोजन) में यति विशुद्ध रहते हैं ॥४८६॥

आचारवृत्ति—जैसे मछलियों के लिए जल में मादक वस्तु डालने पर उस जल से मछलियाँ ही विह्वल होती हैं, मेंढक नहीं होते। जिस जल में मछलियाँ हैं उसी में मेंढक भी हैं, फिर भी वे विपत्ति को प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि उनके लिए उस कारण का अभाव है। इसी तरह पर के लिए बनाये गये भोजन आदि में उसे ग्रहण करते हुए भी यति विशुद्ध हैं उसके दोष से लिप्त नहीं होते हैं अर्थात् (दाता के) कुटुम्बीजन ही अधःकर्म आदि दोष से दूषित होते हैं, साधु नहीं। वल्कि वे कुटुम्बी—गृहस्थ जन यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो साधु के दिये दान के फल से उस अधःकर्म—आरम्भजन्य दोष को दूर करके, स्वर्गगामी और मोक्षगामी हो जाते हैं और यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो पुनः भोगभूमि को प्राप्त कर लेते हैं इसलिए उन्हें दोष नहीं होता है।

भाव से शुद्ध आहार को कहते हैं—

गाथार्थ—अधःकर्म से परिणत हुए मुनि प्रासुक द्रव्य के ग्रहण करने में भी वन्धक कहे गये हैं, किन्तु शुद्ध आहार की गवेषणा करने वाले अधःकर्म से युक्त आहार ग्रहण करने में भी शुद्ध हैं ॥४८७॥

आचारवृत्ति—प्रासुक द्रव्य के होने पर भी यदि साधु अधःकर्म से परिणत हैं अर्थात्

---

१ क 'भक्ष्यादिके'।

भणितः कर्मबध्नाति। शुद्धं पुनर्गवेषयमाणोऽधःकर्मविशुद्धं कृतकारितानुमतिरहितं यत्नेन प्रयत्नतःकर्मणि सत्यपि शुद्धोऽसौ यद्यप्यधःकर्मणा निष्पन्नोऽसावाहारस्तथापि साधोर्न बंधहेतुः कृतादिदोषाभावादिति ॥४८७॥

सव्वोवि पिंडदोसो दव्वे भावे समासदो दुविहो।
दव्वगदो पुण दव्वे भावगदो अप्पपरिणामो ॥४८८॥

सर्वोऽपि पिण्डदोषो द्रव्यगतो भावगतश्च समासतो द्विप्रकारः। द्रव्यमुद्‌गमादिदोषसहितमप्यधः-कर्मणा युक्तं द्रव्यगतमित्युच्यते तस्माद्‌द्रव्यगतः पुनर्द्रव्यमिति। भावतः पुनरात्मपरिणामः शुद्धमपि द्रव्यं परि-णामानामशुद्धयाऽशुद्धमिति तस्माद्‌भावशुद्धिर्यत्नेन कार्या। भावशुद्धया सर्वं तपश्चरणं ज्ञानदर्शनादिकं च व्यवस्थितमिति ॥४८८॥

द्रव्यस्य भेदमाह—

सव्वेसणं च विद्देसणं च सुद्धासणं च ते कमसो।
एसणसमिदिविसुद्धं णिव्वियडमवंजणं जाणे ॥४८९॥

सर्वैषणं चशब्देनासर्वैषणं, विद्वैषणं चशब्देनाविद्वैषणं शुद्धाशनं चशब्देनाशुद्धाशनं च ग्राह्यं। एषणा-समितिविशुद्धं सर्वैषणमित्युच्यते। तथा विकृतेः पंचरसेभ्यो निष्क्रान्तं निर्विकृतं गुडतैलघृतदधिदुग्धशाकादि-

---

यदि वे गौरव से उस आहार को अपने लिए किया हुआ मानते हैं तब वे कर्म का बन्ध कर लेते है। पुनः शुद्ध की खोज करते हुए अर्थात् अधःकर्म से रहित और कृत-कारित-अनुमोदना से रहित ऐसा आहार यत्नपूर्वक चाहते हुए साधु कदाचित् अधःकर्म युक्त आहार के ग्रहण करने में भी शुद्ध ही हैं। यद्यपि वह आहार अधःकर्म के द्वारा बनाया हुआ है तो भी साधु के बन्ध का हेतु नहीं है, क्योंकि उसमें उन साधु की कृत-कारित-अनुमोदना आदि नहीं है।

गाथार्थ—सभी पिंड दोष द्रव्य और भाव से संक्षेप में दो प्रकार के हैं। पुनः द्रव्य से सम्बन्धित तो द्रव्य में है और भाव से सम्बन्धित आत्मा का परिणाम है ॥४८८॥

आचारवृत्ति—सभी पिंड दोष द्रव्यगत और भावगत की अपेक्षा से संक्षेप से दो प्रकार हैं, अर्थात् द्रव्य पिण्डदोष और भाव पिण्डदोष ऐसे पिण्डदोष के दो भेद हैं। उद्‌गम आदि दोष से सहित भी अधःकर्म से युक्त आहार द्रव्यगत पिण्डदोष कहलाता है। वह द्रव्य-गत पुनः द्रव्य दोष है। भाव से अर्थात् आत्म परिणाम से जो अशुद्ध है अर्थात् शुद्ध-प्रासुक भी आहार आदि पदार्थ परिणामों की अशुद्धि से अशुद्ध हैं, इसलिए भाव शुद्धि यत्नपूर्वक करना चाहिए, क्योंकि भावशुद्धि से ही सर्व तपश्चरण और ज्ञान-दर्शन आदि व्यवस्थित होते हैं।

द्रव्य के भेद को कहते हैं—

गाथार्थ—सर्वैषण, विद्वैषण और शुद्धाशन ये क्रमशः एषणा समिति से शुद्ध, निर्वि-कृति रूप और व्यंजन रहित हैं ऐसा जानो ॥४८९॥

आचारवृत्ति—सर्वैषण, 'च' शब्द से असर्वैषण, विद्वैषण, 'च' शब्द से अविद्वैषण, शुद्धाशन और 'च' शब्द से अशुद्धाशन ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् गाथा में तीन चकार होने से प्रत्येक के विपरीत का ग्रहण किया समझना चाहिए। एषणा समिति से शुद्ध आहार सर्वै-

रहितं सौवीरशुष्कतक्रादिसमन्वितं विद्रेपणमित्युच्यते। तथा सौवीरशुष्कतक्रादिभिर्वर्जितमभ्यञ्जनं पाकाद-वतीर्णरूपं मनागप्यन्यथा न कृतं शुद्धाशनमिति क्रमशो यथानुक्रमेण जानीहि। एतत्त्रिविधं द्रव्यमशनयोग्यं। असर्वाशनं सर्वरससमन्वितं सर्वव्यञ्जनैश्च सहितं कादाचित्योग्यं कादाचिदयोग्यमिति। एवमनेन न्यायेनैषणा-समितिर्व्याख्याता भवति ॥४८९॥

तां कथं कुर्यादित्याशंकायामाह—

दव्वं खेत्तं कालं भावं बलवीरियं च णाऊण।
कुज्जा एषणसमिदिं जहोवदिट्ठं जिणमदम्मि ॥४९०॥

द्रव्यमाहारादिकं ज्ञात्वा, तथा क्षेत्रं जांगलानूपरूक्षस्निग्धादिकं ज्ञात्वा, तथा कालं शीतोष्णवर्षा-दिकं ज्ञात्वा तथा भावमात्मपरिणामं श्रद्धामुत्साहं ज्ञात्वा, तथा शरीरबलमात्मनो ज्ञात्वा, तथात्मनो वीर्यं

षण कहलाता है। तथा विकृति—पाँच प्रकार के रस, उनसे रहित आहार निर्विकृति रूप है। अर्थात् जो गुड़, तेल, घी, दही और दूध तथा शाक आदि से रहित है, तथा सौवीर—भात का मांड या कांजी, शुष्क तक्र—मक्खन निकाला हुआ छाछ इनसे सहित आहार विद्रेपण है। अर्थात् रसादि निर्विकृति आहार तथा मांड, कांजी या छाछ सहित आहार विद्रेपण कहलाता है। तथा कांजी व छाछ आदि से भी रहित आहार अभ्यंजन है। जो पाक से अवतीर्ण हुआ मात्र है, किंचित् भी अन्य रूप नहीं किया गया है वह शुद्धाशन है। अर्थात् केवल पकाये हुए भात या रोटी दाल या उबाले हुए शाक आदि जिनमें नमक, मिरच, मसाला आदि कुछ भी नहीं डाला गया है वह भोजन व्यंजन — संस्कार रहित है, वही शुद्धाशन कहलाता है। गाथा में यथाक्रम से इनका वर्णन किया गया है।

यह तीन प्रकार का द्रव्य अर्थात् भोजन आहार में ग्रहण करने योग्य है। तथा सर्व-रसों से समन्वित और सर्व व्यंजनों से सहित ऐसा आहार असर्वाशन है वह कदाचित् ग्रहण करने योग्य है, कदाचित् अयोग्य है। इस न्याय से वर्णन करने पर एषणा समिति का व्याख्यान होता है।

उस एषणा समिति का पालन कैसे करें? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा बलवीर्य को जानकर जैसे जिनमत में कही गई है ऐसी एषणा समिति का पालन करें ॥४९०॥

आचारवृत्ति—द्रव्य—आहार आदि पदार्थ को जानकर, क्षेत्र—जांगल, अनूप, रूक्ष, स्निग्ध आदि क्षेत्र को जानकर, काल—शीत, उष्ण, वर्षा आदि को जानकर, भाव—आत्मा के परिणाम, श्रद्धा, उत्साह को जानकर तथा अपने शरीर के बल को जानकर एवं अपने वीर्य—संहनन को जानकर साधु, जिनागम में जैसा उसका वर्णन किया गया है उसी तरह से, एषणा समिति का पालन करे। यदि द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा न रखकर चाहे जैसा वर्तन करेगा तो शरीर में वात-पित्त-कफादि की उत्पत्ति हो जावेगी।

भावार्थ—क्षेत्र के जांगल, अनूप और साधारण ऐसे तीन भेद माने जाते हैं। जिस

संहननं ज्ञात्वा कुर्यादशनसमितिं जिनागमे यथोपदिष्टामिति। अन्यथा यदि कुर्याद्वातपित्तश्लेष्मादिसमुद्भवः स्यादिति ॥४६०॥

भोजनविभागपरिणाममाह—

अद्धमसणस्स सव्विजणस्स उदरस्स तदियमुदयेण।
वाऊसंचरणट्ठं चउत्थमवसेसये भिक्खू ॥४६१॥

उदरस्यार्धं सव्यञ्जनेनाशनेन पूरयेत्तृतीयभागं चोदरस्योदकेन पूरयेद्वायोः संचरणार्थं चतुर्थभागमुदरस्यावशेषयेद्भिक्षुः। चतुर्थभागमुदरस्य तुच्छं कुर्याद्येन षडावश्यकक्रियाः सुखेन प्रवर्तंते, ध्यानाध्ययनादिकं च न हीयते, अजीर्णादिकं च न भवेदिति ॥४६१॥

भोजनयोग्यकालमाह—

सूरुदयत्थमणादो णालीतिय वज्जिदे असणकाले।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्ममुक्कस्से ॥४६२॥

सूर्योदयास्तमनयोर्नाडीत्रिकवर्जितयोर्मध्येऽशनकालः। तस्मिन्नशनकाले त्रिषु मुहूर्तेषु भोजनं

देश में जल, वृक्ष, पर्वत आदि कम रहते हैं वह जांगल देश है। जहाँ पानी, वृक्ष और पर्वत की बहुलता है वह अनूप कहलाता है तथा जहाँ पर जल, वृक्ष व पर्वत अधिक या कम नहीं हैं प्रत्युत सम हैं, उसे साधारण कहते हैं। जो साधु आहार आदि की वस्तुरूप द्रव्य को, प्रकृति के अनुरूप क्षेत्र को, ऋतु के अनुरूप काल को, अपने भावों को तथा अपने बल वीर्य को देखकर उसके अनुरूप आहार आदि ग्रहण करता है उसका धर्मध्यान ठीक चलता है, संयम में बाधा नहीं आती है। इसके विपरीत इन बातों की अपेक्षा न रखने से, वात-पित्त आदि दोष कुपित हो जाने से, नाना रोग उत्पन्न हो जाने से क्लेश हो जाता है।

भोजन के विभाग का परिमाण बताते हैं—

गाथार्थ—उदर का आधा भाग व्यंजन अर्थात् भोजन से भरे, तीसरा भाग जल से भरे और वह साधु चौथा भाग वायु के संचरण के लिए खाली रखे ॥४६१॥

आचारवृत्ति—साधु अपने उदर के चार भाग करे। उनमें से आधा भाग व्यंजन (भोजन) से पूर्ण करे, तृतीय भाग जल से पूर्ण करे और उदर का चौथा भाग वायु के संचार के लिए खाली रखे। उदर का चौथा भाग खाली ही रखे कि जिससे छह आवश्यक क्रियाएँ सुख से हो सकें, स्वाध्याय ध्यान आदि में भी हानि न होवे तथा अजीर्ण आदि रोग भी न होवें।

भोजन के योग्य काल को कहते हैं—

गाथार्थ—सूर्य के उदय और अस्त काल की तीन-तीन घटिका छोड़कर भोजन के काल में तीन, दो और एक मुहूर्त पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट है ॥४६२॥

आचारवृत्ति—सूर्योदय के तीन घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक के मध्य में आहार का काल है। उस आहार के काल में तीन मूहर्त तक भोजन करना जघन्य आच-

जघन्याचरणं द्वयोर्मुहूर्तयोरशनं मध्यमाचरणं एकस्मिन् मुहूर्तेऽशनमुत्कृष्टाचरणमिति सिद्धिभक्तौ कृतायां परिमाणमेतन्न भिक्षामलभमानस्य पर्यटत इति ॥४९२॥

भिक्षार्थं प्रविष्टो मुनिः किं कुर्वन्नाचरतीत्याह—

भिक्खा चरियाए पुण गुत्तीगुणसीलसंजमादीणं।
रक्खंतो चरदिमुणी णिव्वेदतिगं च पेच्छंतो ॥४९३॥

भिक्षाचर्यायां प्रविष्टो मुनिर्मनोगुप्तिं वचनगुप्तिं कायगुप्तिं रक्षंश्चरति। गुणान् मूलगुणान् रक्षंश्चरति। तथा शीलसंयमादींश्च रक्षंश्चरति। निर्वेदत्रिकं चापेक्षमाणः शरीरवैराग्यं संगवैराग्यं संसारवैराग्यं चापेक्षमाण इत्यर्थः ॥४९३॥ तथा—

आणा अणवत्थावि य मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजमविराहणावि य चरियाए परिहरेदव्वा ॥४९४॥

आणा—आज्ञा वीतरागशासनं रक्षयन् पालयंश्चरतीति सम्बन्धः। एतांश्च परिहरंश्चरति अनवस्था

रण है, दो मुहूर्त में भोजन करना मध्यम आचरण है एवं एक मुहूर्त में भोजन करना उत्कृष्ट आचरण है। यह काल का परिमाण सिद्धभक्ति करने के अनन्तर आहार ग्रहण करने का है न कि आहार के लिए भ्रमण करते हुए विधि न मिलने के पहले का भी। अर्थात् यदि साधु आहार हेतु भ्रमण कर रहे हैं उस समय का काल इसमें शामिल नहीं है।

आहार के लिए निकले हुए क्या करते हुए भ्रमण करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—भिक्षा के लिए चर्या में निकले हुए मुनि पुनः गुप्ति, गुण, शील और संयम आदि की रक्षा करते हुए और तीन प्रकार के वैराग्य का चिन्तन करते हुए चलते हैं या आचरण करते हैं ॥४९३॥*

आचारवृत्ति—भिक्षा चर्या में प्रविष्ट हुए मुनि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति की रक्षा करते हुए चलते हैं। मूलगुणों की और उत्तरगुणों की रक्षा करते हुए तथा शील, संयम आदि की रक्षा करते हुए विचरण करते हैं। ऐसे मुनि शरीर से वैराग्य, संग से वैराग्य और संसार से वैराग्य का विचार करते हुए विचरण करते हैं।

गाथार्थ—आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम की विराधना इनका चर्या में परिहार करना चाहिए ॥४९४॥

आचारवृत्ति—आज्ञा अर्थात् वीतराग शासन की रक्षा करते हुए उनकी आज्ञा का

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अधिक है—

एकम्हि दोण्णि तिण्णि य मुहुत्तकालो दु उत्तमादीणो।
पुरदो य पच्छिमेण य णालीतिगवज्जिदो चारे॥

अर्थात् सूर्योदय से तीन घटिका के बाद और सूर्यास्त से तीन घटिका के पूर्व बीच का काल आहार का काल है। एक मुहूर्त में भोजन करना उत्तम, दो मुहूर्त में मध्यम और तीन मुहूर्त में जघन्य माना गया है। यही अर्थ ऊपर की गाथा में आ चुका है।

स्वेच्छाप्रवृत्तिरपि च, मिथ्यात्वाराधनं सम्यक्त्वप्रतिकूलाचरणं, आत्मनाशः स्वप्रतिघातः, संयमविराधना चापि चर्यायां परिहर्त्तव्याः। भिक्षाचर्यायां प्रविष्टो मुनिरनवस्था यथा न भवति तथा चरति। मिथ्यात्वाराधनात्मनाशः संयमविराधनाश्च यथा न भवन्तीति तथा चरति तथान्तरायांश्च परिहरंश्चरति ॥४९४॥

केतेऽन्तराया [1]इत्याशंकयाह—

कागा मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादं च।
जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ॥४९५॥

णाभिअधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणा य जंतुवहो।
कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च ॥४९६॥

पाणीए जंतुवहो मंसादीदंसणे य उवसग्गे।
पादंतरम्मि जीवो संपादो भायणाणं च ॥४९७॥

उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं।
उववेसणं सदंसं भूमीसंफास णिट्ठुवणं ॥४९८॥

उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामडाहो य।
पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमीए ॥४९९॥

एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोयणस्सेह।
बीहणलोगदुगुंछणसंजमणिव्वेदणट्ठं च ॥५००॥*

पालन करते हुए साधु विचरण करते हैं, ऐसा सम्बन्ध लगाना। और, निम्न दोषों का परिहार करते हुए विचरण करते हैं—अनवस्था—स्वेच्छाप्रवृत्ति, मिथ्यात्वाराधना—सम्यक्त्व के प्रतिकूल आचरण, आत्मनाश—स्व का घात, संयम विराधना—संयम की हानि ये दोष हैं। चर्या में प्रविष्ट हुए मुनि जैसे अनवस्था न हो वैसा आचरण करते हैं, मिथ्यात्व की आराधना आदि ये दोष जैसे न हो सकें वैसा ही प्रयत्न करते हुए पर्यटन करते हैं, तथा अन्तरायों का भी परिहार करते हुए आहार ग्रहण करते हैं।

वे अन्तराय कौन से हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—काक, अमेध्य, वमन, रोधन, रुधिर, अश्रुपात, जान्वधःपरामर्श, जानूपरिव्यतिक्रम, नाभि से नीचे निर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन, जन्तुबध, काकादि पिंडहरण, पाणिपात्र से पिंडपतन, पाणिपुट में जन्तुवध, मांसादि दर्शन, उपसर्ग, पादान्तर में जीव संपात, भाजन संपात, उच्चार, मूत्र, अभोज्यगृह प्रवेश, पतन, उपवेशन, सदंश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, उदर कृमि निर्गमन, अदत्तग्रहण, प्रहार, ग्रामदाह, पादेन किंचित् ग्रहण अथवा भूमि से हाथ से किंचित् ग्रहण करना। भोजन त्याग के और भी बहुत से कारण हैं। ये अन्तराय भय, लोक निन्दा, संयम की रक्षा और निर्वेद के लिए पाले जाते हैं ॥५००॥

---

१ क इत्याशंकायामाह।

*अन्तरायों का यह वर्णन फलटन से प्रकाशित मूलाचार के प्रथम अध्याय में ही है।

काका उपलक्षणार्थो गृहीतस्तेन काकबकश्येनादयः परिगृह्यन्ते। गच्छतः स्थितस्य वा बक-काकादयो यदुपरि व्युत्सर्गं कुर्वन्ति तदपि काक इत्युच्यते साहचर्यात्। काको नाम भोजनस्यान्तरायः। तथाऽमेध्यमशुचि तेन पादादिकं यल्लिप्तं तदप्यमेध्यमिति साहचर्यात्, अमेध्यं नामान्तरायः। तथा छर्दिर्वमनमात्मनो यदि भवति। तथा रोधनं यदि कश्चिद्धरणादिकं करोति। तथा रुधिरमात्मनोऽन्यस्य वा यदि पश्यति। चशब्देन पूयादिकं च ग्राह्यं। तथाऽश्रुपातो दुःखेनात्मनो यदश्रूण्यागच्छन्ति परेषामपि सन्निकृष्टानां यद्ययं दोषो भवेत्। तथा जान्वधः आमर्शो जान्वधः परामर्शः। तथा जानूपरि व्यतिक्रमश्चैव। सर्वत्रान्तरायेण सम्बन्ध इति ॥४६५॥ तथा—

नाभ्यधो निर्गमनं नाभेरधो मस्तकं कृत्वा यदि निर्गमनं भवेत्। तथा प्रत्याख्यातस्य सेवना च, अवग्रहो यस्य वस्तुनस्तस्य यदि भक्षणं स्यात्। तथा जन्तुवधः आत्मनोऽन्येन वा पुरतो जीववधो यदि क्रियते। तथा काकादिभिः पिंडहरणं यदि काकादयः पिण्डमपहरन्ति। तथा पाणिपात्रात्पिण्डपतनं भुंजानस्य पाणिपुटाद्यदि पिण्डो ग्रासमात्रं वा पतति ॥४६६॥ तथा—

पाणिपात्रे जन्तुवधो जन्तुरात्मनागत्य पाणौ भुंजानस्य यदि म्रियते। तथा मांसादिदर्शनं मांसं मृतपंचेन्द्रियशरीरं इत्येवमादीनां दर्शनं यदि स्यात्। तथोपसर्गो दैविकाद्युपसर्गो यदि स्यात्। तथा पादान्तरे

आचारवृत्ति—ये बत्तीस अन्तराय कहे गये हैं। इन सभी में अन्तराय शब्द का प्रयोग कर लेना चाहिए।

१. काक—गमन करते हुए या स्थित हुए मुनि के ऊपर यदि काक, बक आदि पक्षी बीट कर देवे तो वह काक नाम का अन्तराय है। यहाँ 'काक' शब्द उपलक्षण मात्र है अतः काक बक, बाज, आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए; क्योंकि साहचर्य की अपेक्षा यह कथन किया गया है। २. अमेध्य—अशुचि पदार्थ विष्ठा आदि से यदि पैर लिप्त हो जाय तो अन्तराय होता है। यहाँ पर अमेध्य के साहचर्य इस अन्तराय को भी अमेध्य कह दिया है। ३. वमन—यदि स्वयं को वमन हो जाय तो वमन नाम का अन्तराय है। ४. रोधन—यदि कोई उस समय रोक दे या पकड़ ले तो अन्तराय है। ५. रुधिर—यदि अपने या अन्य के शरीर से रुधिर[1] निकलता हुआ दिख जाय। गाथा में 'च' शब्द का तात्पर्य है कि पीव आदि दिखने से भी अन्तराय है। ६. अश्रुपात—दुःख से यदि अपने अथवा पास में स्थित किसी अन्य के भी अश्रु आ जावें, ७. जान्वधः परामर्श—घुटनों से नीचे भाग का यदि हाथ से स्पर्श हो जाय, ८. जानूपरि व्यतिक्रम—घुटनों से ऊपर के अवयवों का स्पर्श हो जावे, ९. नाभ्यधोनिर्गमन—नाभि से नीचे मस्तक करके यदि निकलना पड़ जाये, १०. प्रत्याख्यात सेवना—जिस वस्तु का त्याग है यदि उसका भक्षण हो जावे, ११. जन्तु वध—यदि अपने से या अन्य के द्वारा सामने किसी जन्तु का बध हो जावे, १२. काकादिपिंडहरण—यदि कौवे आदि हाथ से ग्रास हरण कर लेवें, १३. पिंडपतन—यदि आहार करते हुए अपने पाणि-पात्र से पिंड—ग्रास मात्र का पतन हो जावे, १४.

---

१. चार अंगुल प्रमाण रुधिर-पीव दिखने से अन्तराय होता है इससे कम नहीं।

"रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहतश्चतुरंगुलं ततो न्यूनवहने नास्त्यंतरायः।"

[अनगार धर्मामृत, अ. ५, श्लोक ४५]

पंचेन्द्रियजीवो यदि गच्छेत् । तथा सम्पातो भाजनस्य परिवेषकहस्ताद्भाजनं यदि पतेत् ॥४९७॥ तथा—

उच्चार आत्मनो यद्युदरमलव्युत्सर्गः स्यात् । तथात्मनः प्रस्रवणं मूत्रादिकं यदि स्यात् । तथा पर्यटतोऽभोजनगृहप्रवेशो यदि भवेत् चांडालादिगृहप्रवेशो यदि स्यात् । तथा पतनमात्मनो मूर्च्छादिना यदि पतनं भवेत् । तथोपवेशनं यद्युपविष्टो भवेत् । तथा सदंशः सह दंशेन वर्तते इति सदंशः श्वादिभिर्यदि दष्टः स्यात् । तथा भूमिसंस्पर्शः सिद्धभक्तिं कृतायां हस्तेन भूमिं यदि स्पृशेत् । तथा निष्ठीवनं स्वेन यदि श्लेष्मादिकं क्षिपेत् ॥४९८॥ तथा—

उदराद्यदि कृमिनिर्गमनं भवेत् । तथा अदत्तग्रहणमदत्तं यदि किंचिद् गृह्णीयात् । तथा प्रहार आत्मनोऽन्यस्य वा खड्गादिभिर्यदि प्रहारः स्यात् । तथा ग्रामदाहो यदि स्यात् । तथा पादेन यदि किंचिद् गृह्यते । तथा करेण वा यदि किंचिद्गृह्यते भूमेरिति सर्वत्राशनस्यान्तरायो भवतीति सम्बन्धः ॥४९९॥

तथा—

एते पूर्वोक्ताः काकादयोऽन्तरायाः कारणभूता भोजनपरित्यागस्य द्वात्रिंशत् । तथान्ये च बहवश्चांडालादिस्पर्शकरेष्टमरणसाधर्मिकसंन्यासपतनप्रधानमरणादयोऽशनपरित्यागहेतवः । भयलोकजुगुप्सायां संयमनिर्वेदनार्थं च यदि किंचित्स्यात् भयं राज्ञः स्यात्, तथा लोकजुगुप्सा च यदि स्यात् तथाप्याहारत्यागः । संयमार्थं चाहारत्यागो निर्वेदनार्थं चेति ॥५००॥

पाणौ जन्तुवध—यदि आहार करते हुए के पाणिपुट में कोई जन्तु स्वयं आकर मर जावे, १५. मांसादिदर्शन—यदि मरे हुए पंचेन्द्रिय जीव के शरीर का मांस आदि दिख जावे, १६. उपसर्ग—यदि देवकृत आदि उपसर्ग हो जावे, १७. पादांतरे जीव—यदि पंचेन्द्रिय जीव पैरों के अन्तराल से निकल जावे, १८. भाजन संपात—यदि आहार देने वाले के हाथ से वर्तन गिर जावे, १९. उच्चार—यदि अपने उदर से मल च्युत हो जावे, २०. प्रस्रवण—यदि अपने मूत्रादि हो जावे, २१. अभोज्य गृहप्रवेश—यदि आहार हेतु पर्यटन करते हुए मुनि का चांडाल आदि अभोज्य के घर में प्रवेश हो जावे, २२. पतन—यदि मूर्च्छा आदि से अपना पतन हो जावे अर्थात् आप गिर पड़े, २३. उपवेशन—यदि बैठना पड़ जावे, २४. सदंश—यदि कुत्ता आदि काट खाये, २५. भूमि स्पर्श—सिद्धभक्ति कर लेने के बाद यदि हाथ से भूमि का स्पर्श हो जावे, २६. निष्ठीवन—यदि अपने मुख से थूक, कफ आदि निकल जावे, २७. उदरकृमि निर्गमन—यदि उदर से कृमि निकल पड़े, २८. अदत्तग्रहण—यदि बिना दी हुई कुछ वस्तु ग्रहण कर लेवे, २९. प्रहार—यदि अपने ऊपर या अन्य किसी पर तलवार आदि से प्रहार हो जावे, ३०. ग्रामदाह—यदि ग्राम में अग्नि लग जावे, ३१. पादेन किंचित् ग्रहण—यदि पैर से कुछ ग्रहण कर लिया जावे, ३२. करेण-किंचिद्ग्रहण—अथवा यदि हाथ से कुछ वस्तु भूमि पर ग्रहण करली जावे । इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से सर्वत्र भोजन में अन्तराय होता है ऐसा समझना चाहिए ।

ये पूर्वोक्त काक आदि बत्तीस अन्तराय हैं जो कि भोजन के त्याग के लिए कारणभूत होते हैं । इनसे अन्य भी वहुत से अन्तराय हैं जैसे कि चांडाल आदि का स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक संन्यास पतन, प्रधान का मरण आदि, ये भी भोजनत्याग के हेतु हैं । यदि राजा का भय या अन्य किंचित् भय हो जावे, यदि लोकनिन्दा हो जावे तो भी आहार त्याग कर देना चाहिए । संयम के लिए और निर्वेदभाव के लिए भी आहार का त्याग होता है ।

पिण्डशुद्धिमुपसंहरन्नाह—

जेणेह पिंडसुद्धी उवदिट्ठा जेहि धारिदा सम्मं।
ते वीरसाधुवग्गा तिरदणसुद्धि मम दिसंतु ॥५०१॥*

सूत्रकारः फलार्थी प्राह—यैरिह पिण्डशुद्धिरुपदिष्टा यैश्चधारिता सेविता सम्यग्विधानेन ते वीर-साधुवर्गास्त्रिरत्नशुद्धि मम दिशन्तु प्रयच्छन्तु ॥५०१॥

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां पिण्डशुद्धिर्नाम षष्ठः प्रस्तावः।

पिंडशुद्धि अधिकार का उपसंहार करते हैं—

गाथार्थ—इस जगत् में जिन्होंने पिंडशुद्धि का उपदेश दिया है, और जिन्होंने सम्यक् प्रकार से इसे धारण किया है वे वीर साधुवर्ग मुझे तीन रत्न की शुद्धि प्रदान करें ॥५०१॥

आचारवृत्ति—सूत्रकार फल की इच्छा करते हुए कहते हैं कि जिन्होंने इस लोक में आहारशुद्धि का उपदेश दिया है और जिन्होंने सम्यक् विधान से उसका सेवन किया है वे वीर साधु समूह मुझे तीन रत्न की शुद्धि प्रदान करें।

इस प्रकार आचारवृत्ति नामक टीका में श्रीवसुनंदि आचार्य द्वारा विरचित
पिंडशुद्धि नाम का छठा प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

---

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अन्त्यमंगल रूप एक गाथा और है—

सगबोधदीवणिज्जिद भुवणत्तयरद्धमंदमोहतमो।
णमिदसुरासुरसंघो जयदु जिणिंदो महावीरो ॥

अर्थात् जिन्होंने अपने केवलज्ञानरूपी दीप के द्वारा तीनों लोकों में व्याप्त मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है तथा जिनको सभी सुर-असुर समूह वन्दन करते हैं वे कर्मों के विजेता श्री महावीर भगवान् सतत जयवन्त हों।

७. षडावश्यकाधिकारः

प्रायेण जायते पुंसां वीतरागस्य दर्शनम् ।
तद्दर्शनविरक्तानां भवेज्जन्मापि निष्फलम् ॥

षडावश्यकक्रियं मूलगुणान्तर्गतमधिकारं प्रपंचेन विवृण्वन् प्रथमतरं तावन्नमस्कारमाह—

काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
आइरियउवज्झाए लोगम्मि य सव्वसाहूणं ॥५०२॥

कृत्वा नमस्कारं, केषामर्हतां तथैव सिद्धानां, आचार्योपाध्यायानां च लोके च सर्वसाधूनां। लोकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कारशब्दो येन तेन षष्ठी संजाताऽन्यथा पुनश्चतुर्थी भवति । अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो लोकेऽस्मिन्नमस्कृत्वा आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये इति सम्बन्धः सापेक्षत्वात् क्त्वान्तप्रयोगस्येति ॥५०२॥

नमस्कारपूर्वकं प्रयोजनमाह—

श्लोकार्थ—जीवों को प्रायः ही वीतराग का दर्शन होता है और जो वीतराग भगवान् के दर्शन से विरक्त हैं उनका जन्म भी निष्फल है ।

मूलगुण के अन्तर्गत जो षट्- आवश्यक क्रिया नामक अधिकार है उसे विस्तार से कहते हुए, उसमें सबसे पहले नमस्कार वचन कहते हैं—

गाथार्थ—अर्हन्तों को, सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को, और लोक में सर्वसाधुओं को नमस्कार करके मैं आवश्यक अधिकार कहूँगा ॥५०२॥

आचारवृत्ति—'लोक' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। 'अरहंताणं' आदि पदों में जो षष्ठी विभक्ति है उसमें कारण यह है कि नमः शब्द के साथ 'कार' शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि नमः शब्द मात्र होता तो पुनः चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया जाता। तात्पर्य यह हुआ कि इस लोक में जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं उनको नमस्कार करके मैं आवश्यक निर्युक्ति का कथन करूँगा, ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए; क्योंकि 'क्त्वा' प्रत्यय वाले शब्दों का प्रयोग सापेक्ष रहता है, वह अगली क्रिया की अपेक्षा रखता है।

अब नमस्कार पूर्वक प्रयोजन को बतलाते हैं—

आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण।
आयरियपरंपराए जहागदा आणुपुव्वीए ॥५०३॥

आवश्यकनिर्युक्ति वक्ष्ये। यथाक्रमं क्रममनतिलंघ्य परिपाट्या। समासेन संक्षेपतः। आचार्यपरंपरया यथागतानुपूर्व्या। येन क्रमेणागता पूर्वाचार्यप्रवाहेण संक्षेपतोऽहमपि तेनैव क्रमेण पूर्वागमक्रमं चापरित्यज्य वक्ष्ये कथयिष्यामीति ॥५०३॥

तावत्पंचनमस्कारनिर्युक्तिमाह—

रागद्दोसकसाए य इंदियाणि य पंच य।
परिसहे उवसग्गे णासयंतो णमोरिहा ॥५०४॥

रागः स्नेहो रतिरूपः। द्वेषोऽप्रीतिररतिरूपः। कषायाः क्रोधादयः। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पंच। परीषहाः क्षुदादयो द्वाविंशतिः। उपसर्गा देवादिकृतसंक्लेशाः। तान् रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गान् स्वतः कृतकृत्यत्वाद्भव्यप्राणिनां नाशयद्भ्यो विनाशयद्भ्योऽर्हद्भ्यो नम इति ॥५०४॥

अथार्हन्तः कया निरुक्त्या उच्यन्त इत्याह—

अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥५०५॥

नमस्कारमर्हन्ति नमस्कारयोग्याः। पूजाया अर्हा योग्याः। लोके सुराणामुत्तमाः प्रधानाः। रजसो

गाथार्थ—आचार्य परम्परा के अनुसार और आगम के अनुरूप संक्षेप में यथाक्रम से मैं आवश्यक निर्युक्ति को कहूँगा ॥५०३॥

आचारवृत्ति—जिस क्रम से इन छह आवश्यक क्रियाओं का वर्णन चला आ रहा है, उसी क्रम से पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार मैं संक्षेप से पूर्वागम का उल्लंघन न करके उनका कथन करूँगा।

पंच नमस्कार की निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—राग, द्वेष और कषायों को, पांच इन्द्रियों को, परीषह और उपसर्गों को नाश करनेवाले अर्हन्तों को नमस्कार होवे ॥५०४॥

आचारवृत्ति—राग स्नेह अर्थात् रति रूप है। द्वेष अप्रीति अर्थात् अरतिरूप है। क्रोधादि को कषाय कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ पाँच हैं। क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषह होती हैं। देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये गये क्लेश को उपसर्ग कहते हैं। इन राग द्वेष आदि को जो स्वयं नष्ट करके कृतकृत्य हैं किन्तु भव्य जीवों के इन राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय परीषह और उपसर्ग को नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे अर्हन्त भगवान् को नमस्कार हो।

अब अर्हन्त शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—

गाथार्थ—नमस्कार के योग्य हैं, लोक में उत्तम देवों द्वारा पूजा के योग्य हैं, आवरण का और मोहनीय शत्रु का हनन करने वाले हैं, इसलिए वे अर्हन्त कहे जाते हैं ॥५०५॥

आचारवृत्ति—इस संसार में जो देवों में प्रधान इन्द्रादिगण द्वारा नमस्कार के योग्य

ज्ञानदर्शनावरणयोर्हन्तारः। अरेर्मोहस्यान्तरायस्य च हन्तारोऽपनेतारो यस्मात्तस्मादर्हन्त इत्युच्यन्ते। येनेह कारणेनेत्थम्भूतास्तेनार्हन्तः सर्वलोकनाथा लोकेस्मिन्नुच्यन्ते ॥५०५॥ अतः किं ?

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५०६॥

इत्थंभूतानामर्हतां नमस्कारं यः करोति भावेन प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५०६॥

सिद्धानां निरुक्तिमाह—

दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्मंहि।
सिदे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ ॥५०७॥

श्लोकोऽयं। दीर्घकालमनादिसंसारं। अयं जन्तुर्जीवः। उषितः स्थितः अष्टसु कर्मसु ज्ञानावरणादिभिः कर्मभिः परिवेष्टितोयं जीवः परिणतः स्थितः। सिते कर्मबन्धे निवृत्ते[1]। निर्धत्ते परप्रकृतिसंक्रमोदयोदीरणोत्कर्षापकर्षणरहिते ध्वस्ते प्रणाशमुपगते सिद्धत्वमुपगच्छति। निर्धत्ते बन्धे ध्वस्ते सत्ययं जन्तुर्यद्यपि दीर्घकालं कर्मसु व्यवस्थितस्तथापि सिद्धो भवति सम्यग्ज्ञानाद्यनुष्ठानेनेति ॥५०७॥

तथोपायमाह—

हैं, उनके द्वारा की गई पूजा के योग्य हैं, 'रज' शब्द से—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हनन करनेवाले हैं, तथा 'अरि' शब्द से—मोहनीय और अन्तराय का हनन करनेवाले हैं अतः वे 'अर्हन्त' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं। और जिस कारण से वे भगवान् इस प्रकार सर्वपूज्य हैं उसी कारण से वे इस लोक में अर्हन्त, सर्वज्ञ, सर्वलोकनाथ कहे जाते हैं।

नमस्कार का क्या फल है—

गाथार्थ—जो प्रयत्नशील भाव से अर्हन्त को नमस्कार करता है, वह अति शीघ्र ही सभी दुःखों से छुटकारा पा लेता है ॥५०६॥

आचारवृत्ति—टीका सरल है।

गाथार्थ—यह जीव अनादिकाल से आठ कर्मों से सहित है। कर्मों के नष्ट हो जाने पर सिद्धपने को प्राप्त हो जाता है ॥५०७॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक है। अनादिकाल से यह जीव ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से वेष्टित है, कर्मों से परिणत हो रहा है। निधत्ति रूप जो कर्म हैं अर्थात् जिनका पर-प्रकृतिरूप संक्रमण नहीं होता है, जिनका उदय, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण नहीं हो रहा है ऐसे कर्मों के ध्वस्त हो जाने पर यह जीव सिद्धपने को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह जीव अनादिकाल से कर्मों से सहित है फिर भी सम्यग्ज्ञान आदि अनुष्ठान के द्वारा कर्मों को ध्वस्त करके सिद्ध हो जाता है।

उसी का उपाय बताते हैं—

---

१ 'निवृत्ते' नास्ति क प्रतौ।

आवेसणी सरीरे इंदियभंडो मणो व आगरिओ ।
धमिदव्व जीवलोहो वावीसपरीसहग्गीहिं ॥५०८॥

आवेसनी चुल्ली यत्रांगाराणि क्रियन्ते । शरीरं किंविशिष्टे, आवेशनीभूतं । इन्द्रियाण्येव भाण्ड-गुपस्कारभूतं सदंशकाभीरणी हस्तकूटघनादिकं । मनस्त्वाकरी चेता उपाध्यायो लोहकारः । ध्मातव्यं दाह्यं निर्मलीकर्तव्यं । जीवलोहं जीवधातुः । द्वाविंशतिपरीषहाग्निना । एवं द्वाविंशतिपरीषहाग्निना कर्मबन्धे ध्वस्ते चुल्लीकृतं शरीरं त्यक्त्वेन्द्रियाणि चोपस्करणभूतानि परित्यज्य निर्मलीभूतं जीवसुवर्णं गृहीत्वा मनः केवलज्ञान-माकरी सिद्धत्वमुपगच्छति सिद्धो भवतीति सम्बन्धः । तस्मात् सिद्धत्वयुक्तानां सिद्धानां नमस्कारं भावेन यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५०८॥

आचार्यस्य निरुक्तिमाह—

सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरे ।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥५०९॥*

श्लोकोऽयं । सदा सर्वकालं आचारं वेत्तीति सदाचारवित् रात्रौ दिने वाचरस्य परमार्थसंवेदनं

गाथार्थ—शरीर चूल्हा है, इन्द्रियाँ वर्तन हैं और मन लोहकार है। वाईस परीपहों के द्वारा जीवरूपी लोह को तपाना चाहिए ॥५०८॥

आचारवृत्ति—आवेशनी अर्थात् चूल्हा, जिसमें अंगारे किये जाते हैं। ऐसा यह शरीर आवेशनीभूत अर्थात् चूल्हा है। इन्द्रियाँ भांड अर्थात् तपाने के साधनरूप संडासी, हथौड़ी, घन आदि हैं। मन अर्थात् यह चित्त उपाध्याय है—लोहकार या स्वर्णकार है। वाईस परीषह रूपी अग्नि के द्वारा इस जीव रूपीलोह या स्वर्णको तपाना चाहिए, निर्मल करना चाहिए।

इस प्रकार से वाईस परीषहरूपी अग्नि के द्वारा कर्मवन्ध को ध्वस्त कर देने पर चूल्हे रूप शरीर को छोड़कर और उपकरण रूप इन्द्रियों को भी छोड़ कर निर्मल हुए जीवरूप स्वर्ण को ग्रहण करके, मनः अर्थात् केवलज्ञान रूपी स्वर्णकार सिद्ध हो जाता है, ऐसा सम्बन्ध लगाना। इसलिए सिद्धत्व से युक्त इन सिद्ध परमेष्ठी को जो प्रयत्नशील जीव भावपूर्वक नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सभी दुःखों से छूट जाता है।

आचार्य पद का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—सदा आचार वेत्ता हैं, सदा आचार का आचरण करते हैं और आचारों का आचरण कराते हैं इसलिए आचार्य कहलाते हैं ॥५०९॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक है। जो हमेशा आचारों को जानते हैं वे आचारविद् हैं

यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अधिक है—

सिद्धाणणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो भक्त मन एकाग्र करके सिद्धों को नमस्कार करता है वह सभी दुःखों से मुक्त हो सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है।

यत्नेन युक्तोऽथवा सदाचारः शोभनाचारः सम्यग्ज्ञानवांश्च सदा सर्वकालमाचरितं चर आचरितं गणधरादिरभिप्रेतं चेष्टितं चरतीति वा चरितं चरोऽथवा चरणीयं श्रामण्ययोग्यं दीक्षाकालं च शिक्षाकालं च चरितवानिति कृतकृत्य इत्यर्थः। आचारमन्यान् साधूनाचारयन् हि यस्मात् प्रभासते तस्मादाचार्य इत्युच्यते ॥५०९॥ तथा

जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि।
आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण वुच्चादे ॥५१०॥*

श्लोकोऽयं। पंचविधमाचारं दर्शनाचारादिपंचप्रकारमाचारं चेष्टयन्। प्रभासते शोभते। आचरितानि स्वानुष्ठानानि दर्शयन् प्रभासते आचार्यस्तेन कारणेनोच्यते इति। एवं विशिष्टाचार्यस्य यो नमस्कारं करोति स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५१०॥

उपाध्यायनिरुक्तिमाह—

बारसंगे जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि ॥५११॥

अर्थात् रात-दिन होने वाले आचरणों को जो परमार्थ से जानते हैं, यत्नपूर्वक उसमें लगे हुए हैं। अथवा जो सदाचार—शोभन आचार का पालन करते हैं, सम्यग्ज्ञानवान् हैं, वे आचारविद् कहलाते हैं। जो सर्वकाल गणधर देव आदिकों के द्वारा अभिप्रेत अर्थात् आचरित आचरण को धारण करते हैं अथवा जो श्रमणपने के योग्य दीक्षा काल और शिक्षाकाल का आचरण करते हुए कृतकृत्य हो रहे हैं, तथा जो पाँच आचारों का अन्य साधुओं को भी आचरण कराते रहते हैं इसी हेतु से वे 'आचार्य' इस नाम से कहे जाते हैं।

उसी प्रकार से और भी लक्षण बताते हैं—

गाथार्थ—जिस कारण वे पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हुए शोभित होते हैं और अपने आचरित आचारों को दिखलाते हैं इसी कारण से वे आचार्य कहलाते हैं।

आचारवृत्ति—यह श्लोक है। दर्शनाचार आदि पाँच आचारों को धारण करते हुए जो शोभित होते हैं और अपने द्वारा किये गये अनुष्ठानों को जो अन्यों को दिखलाते—बतलाते हुए अर्थात् आचरण कराते हुए शोभित होते हैं, इसी कारण से वे आचार्य इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

इन गुणों से विशिष्ट आचार्यों को जो नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्ति पा लेता है।

उपाध्याय का निरुक्ति अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा व्याख्यात द्वादशांग को विद्वानों ने स्वाध्याय कहा है। जो उस स्वाध्याय का उपदेश देते हैं वे इसी कारण से उपाध्याय कहलाते है ॥५११॥

---

*फलटन की प्रति में यह गाथा अधिक है—

आइरिय णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयद मदी।
सो सव्वदुक्ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो भव्यजीव भाव से एकाग्रचित्त होकर आचार्यों को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से मुक्त हो जाता है।

द्वादशांगानि जिनाख्यातानि जिनैः प्रतिपादितानि स्वाध्याय इति कथितो बुधैः पंडितैस्तं स्वाध्यायं द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपं यस्मादुपदिशति प्रतिपादयति तेनोपाध्याय इत्युच्यते । तस्योपाध्यायस्य नमस्कारं यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५११॥

साधूनां निरुक्तितो नमस्कारमाह—

णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो ।
समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो ॥५१२॥*

यस्मान्निर्वाणसाधकान् योगान् मोक्षप्रापकान् मूलगुणादितपोऽनुष्ठानानि सदा सर्वकालं रात्रिदिवं युंजन्ति तैरात्मानं योजयन्ति साधवः साधुचरितानि। यस्माच्च समाः समत्वमापन्नाः सर्वभूतेषु तस्मात्कारणात्ते सर्वसाधव इत्युच्यन्ते । तेषां सर्वसाधूनां नमस्कारं भावेन यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं करोत्यचिरेण कालेनेति ॥५१२॥

पंचनमस्कारमुपसंहरन्नाह—

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग को पंडितों ने 'स्वाध्याय' नाम से कहा है। उस द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वरूप स्वाध्याय का जो उपदेश देते हैं, अन्य जनों को उसका प्रतिपादन करते हैं इस हेतु से वे 'उपाध्याय' इस नाम से कहे जाते हैं। जो प्रयत्नशील होकर उन उपाध्यायों को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

अव साधुओं को निरुक्ति अर्थ पूर्वक नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—साधु निर्वाण के साधक ऐसे योगों में सदा अपने को लगाते हैं, सभी जीवों में समताभावी हैं इसीलिए वे साधु कहलाते हैं ॥५१२॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से मोक्ष को प्राप्त कराने वाले ऐसे मूलगुण आदि तपों के अनुष्ठान में हमेशा रात-दिन वे अपनी आत्मा को लगाते हैं, जिनका आचरण साधु—सुन्दर है और जिस हेतु से वे सम्पूर्ण जीवों में समता भाव को धारण करने वाले हैं, इसी हेतु से वे सर्व साधु इस नाम से कहे जाते हैं। जो प्रयत्नशील होकर उन सभी साधुओं को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

पंच नमस्कार का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

उवज्झायणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो स्थिरचित्त भव्य भक्ति से उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

एवंगुणजुत्ताणं पंचगुरूणं विसुद्धकरणेहिं ।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्घं ।।५१३।।*

एवं गुणयुक्तानां पंचगुरूणां पंचपरमेष्ठिनां सुनिर्मलमनोवाक्कायैर्यः करोति नमस्कारं स प्राप्नोति निर्वृतिं सिद्धिसुखं शीघ्रं । न पौनरुक्त्यं, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरुभयोरपि संग्रहार्थत्वादिति ।।५१३।।

किमर्थं पंचनमस्कारः क्रियत इति चेदित्याह—

एसो पंच णमोयारो सव्वपावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ।।५१४।।

एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशकः सर्वविघ्नविनाशकः मलं पापं गालयन्तीति विनाशयन्ति, मगं

गाथार्थ—इन गुणों से युक्त पाँचों परम गुरुओं को जो विशुद्ध मन-वचन-काय से नमस्कार करता है वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।।५१३।।

आचारवृत्ति—यहाँ प्रश्न यह होता है कि आपने पहले पृथक्-पृथक् पाँचों परमेष्ठियों के नमस्कार का फल निर्वाण वताया है पुनः यहाँ पाँचों के नमस्कार का फल एक साथ फिर क्यों कहा ? यह तो पुनरुक्ति दोष हो गया । इस पर आचार्य समाधान करते हैं कि यह पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों का यहाँ पर संग्रह किया गया है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अर्थ को समझने वाले संक्षेप रुचि वालों के लिए यह समष्टि-रूप कथन है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से विस्तार में रुचि रखनेवाले शिष्यों के लिए पहले विस्तार से कहा जा चुका है ।

पंच परमेष्ठी को नमस्कार किसलिए किया जाता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—यह पंच नमस्कार मन्त्र सर्वपापों का नाश करने वाला है और सर्वमंगलों में यह प्रथम मंगल है ।।५१४।।

आचारवृत्ति—यह पंच नमस्कार मंत्र सम्पूर्ण विघ्नों का नाश करने वाला है इसलिए मंगल स्वरूप है । मंगल का व्युत्पत्ति अर्थ करते हैं कि जो मल-पाप का गालन करते हैं—विनाश करते हैं, अथवा जो मंगं अर्थात् सुख को लाते हैं—देते हैं वे मंगल हैं । इस मंगल के दो भेद होते हैं द्रव्य मंगल और भाव मंगल । जिस हेतु से इन दोनों प्रकारों के सम्पूर्ण मंगलों में पंचनमस्कार

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

साहूण णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पाइव अचिरेण कालेण ।

अर्थ—जो स्थिरचित्त हुआ भव्यजीव भावपूर्वक साधुओं को नमस्कार करता है वह तत्काल ही सर्वदुःखों से छूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है । 'साहूण' की जगह 'अरहंत' शब्द देकर ज्यों की त्यों यह गाथा गाथा क्र० ५०६ पर अंकित है ।

सुखं लान्त्याददतीति वा मंगलानीति तेषु मंगलेषु द्रव्यमंगलेषु भावमंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं भवति मंगलं यस्मात्तस्मात् सर्वशास्त्रादौ मंगलं क्रियत इति ॥५१४॥

पंचनमस्कारनिरुक्तिमाख्यायावश्यकनिर्युक्तेर्निरुक्तिमाह—

ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावस्सयंति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ॥५१५॥

न वश्यः पापादेरवश्यो यदेन्द्रियकषायेषत्कषायरागद्वेषादिभिरनात्मीयकृतस्तस्यावश्यकस्य यत्कर्मानुष्ठानं तदावश्यकमिति बोद्धव्यं ज्ञातव्यं। युक्तिरिति उपाय इति चैकार्थः। निरवयवा सम्पूर्णाऽखण्डिता भवति निर्युक्तिः। आवश्यकानां निर्युक्तिरावश्यकनिर्युक्तिरावश्यकसम्पूर्णोपायः अहोरात्रमध्ये साधूनां यदाचरणं तस्यावबोधकं पृथक्पृथक् स्तुति[1]स्वरूपेण "जयति भगवानित्यादि" प्रतिपादकं यत्पूर्वापराविरुद्धं शास्त्रं न्याय आवश्यकनिर्युक्तिरित्युच्यते। सा च षट्प्रकारा भवति ॥५१५॥

प्रथम मंगल है इसी से सम्पूर्ण शास्त्रों के प्रारम्भ में वह मंगल किया जाता है ऐसा समझना चाहिए।

पंच नमस्कार की व्युत्पत्ति का व्याख्यान करके अब आवश्यक निर्युक्ति का निरुक्ति अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—जो वश में नहीं हैं वह अवश है। उस अवश की मुनि की क्रिया को आवश्यक जानना चाहिए। युक्ति और उपाय एक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उपाय निर्युक्ति कहलाता है ॥५१५॥

आचारवृत्ति—जो पाप आदि के वश्य नहीं हैं वे अवश्य हैं। जब जो इन्द्रिय, कषाय, नोकषाय और राग द्वेष आदि के द्वारा आत्मीय नहीं किये गये हैं अर्थात् जिस समय इन इन्द्रिय कषाय आदिकों ने जिन्हें अपने वश में नहीं किया है उस समय वे मुनि अवश्य होने से आवश्यक कहलाते हैं और उनका जो कर्म अर्थात् अनुष्ठान है वह आवश्यक कहा गया है ऐसा जानना चाहिए। युक्ति और उपाय ये एकार्थवाची हैं, उस निरवयव अर्थात् सम्पूर्ण—अखण्डित उपाय को निर्युक्ति कहते हैं। आवश्यकों की जो निर्युक्ति है उसे आवश्यक निर्युक्ति कहते हैं अर्थात् आवश्यक का सम्पूर्णतया उपाय आवश्यक निर्युक्ति है।

अहोरात्र के मध्य साधुओं का जो आचरण है उसको बतलाने वाले जो पृथक्-पृथक् स्तुति रूप से "जयति भगवान् हेमाम्भोज प्रचार विजृंभिता—" इत्यादि के प्रतिपादक जो पूर्वापर से अविरुद्ध शास्त्र हैं जो कि न्यायरूप हैं, उन्हें आवश्यक निर्युक्ति कहते हैं। उस आवश्यक निर्युक्ति के छह प्रकार हैं।

भावार्थ—यहाँ पर आवश्यक क्रियाओं के प्रतिपादक शास्त्रों को भी आवश्यक निर्युक्ति शब्द से कहा है सो कारण में कार्य का उपचार समझना।

---

१ क स्वरूपेण स्तुति जं'।

तस्य (स्या) भेदान् प्रतिपादयन्नाह—

सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं ।
पच्चाक्खाणं चा तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ।।५१६।।

समः सर्वेषां समानो यो सर्गः पुण्यं वा समायस्तस्मिन् भवं, तदेव प्रयोजनं पुण्यं तेन दीव्यतीति वा सामायिकं समये भवं वा सामायिकं। चतुर्विंशतिस्तवः चतुर्विंशतितीर्थंकराणां स्तवः स्तुतिः। वन्दना सामान्यरूपेण स्तुतिर्जयति भगवानित्यादि, पंचगुरुभक्तिपर्यन्ता पंचपरमेष्ठिविषयनमस्कारकरणं वा शुद्धभावेन। प्रतिक्रमणं व्यतिक्रान्तदोषनिर्हरणं व्रतादयुच्चारणं च । प्रत्याख्यानं भविष्यत्कालविषयवस्तुपरित्यागश्च । तथा कायोत्सर्गो भवति षष्ठः । सामायिकावश्यकनिर्युक्तिः चतुर्विंशतिस्तवाश्यकनिर्युक्तिः, वन्दनावश्यकनिर्युक्तिः, प्रतिक्रमणावश्यकनिर्युक्तिः, प्रत्याख्यानावश्यकनिर्युक्तिः, कायोत्सर्गावश्यकनिर्युक्तिरिति ।।५१६।।

तत्र सामायिकनामावश्यकनिर्युक्तिं वक्तुकामः प्राह—

सामाइयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण ।
आयरियपरंपराए जहागदं आणुपुव्वीए ।।५१७।।

अब उन आवश्यक निर्युक्ति के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग ये छह हैं ।।५१६।।

आचारवृत्ति—सम अर्थात् सभी का समान रूप जो सर्ग अथवा पुण्य है उसे 'समाय' कहते है (पुण्य का नाम 'अय' भी है अतः पुण्य के पर्यायवाची शब्द से सम+अय=समाय बना है। उसमें जो होवे सो सामायिक है ! यहाँ 'समाय' में इकण् प्रत्यय होकर बना है) अथवा वही पुण्य प्रयोजन है जिसका, अथवा 'तेन दीव्यति' उस समाय से शोभित होता है (इस अर्थ में भी इकण् प्रत्यय हो गया है) अथवा समय में जो होवे सो सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति को चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।

सामान्यरूप से "जयति भगवान् हेमांभोजप्रचारविजृंभिता—" इत्यादि चैत्यभक्ति से लेकर पंचगुरुभक्ति पर्यन्त विधिवत् जो स्तुति की जाती है उसे वन्दना कहते हैं अथवा शुद्ध भाव से पंचपरमेष्ठी विषयक नमस्कार करना वन्दना है। पूर्व में किये गये दोषों का निराकरण करना और व्रतादि का उच्चारण करना अर्थात् व्रतों के दण्डकों का उच्चारण करते हुए उन सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए 'मिच्छामे दुक्कडं' बोलना सो प्रतिक्रमण है। भविष्यकाल के लिए वस्तु का त्याग करना प्रत्याख्यान है । तथा काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है । इस प्रकार सामायिक आवश्यक निर्युक्ति, चतुर्विंशति आवश्यक निर्युक्ति, वन्दना आवश्यक निर्युक्ति, प्रतिक्रमण आवश्यक निर्युक्ति, प्रत्याख्यान आवश्यक निर्युक्ति और कायोत्सर्ग आवश्यक निर्युक्ति ये छह भेद हैं !

अब उनमें से सामायिक नामक आवश्यक निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—आचार्य परम्परानुसार आगत क्रम से संक्षेप में मैं क्रम से सामायिक निर्युक्ति को कहूँगा ।।५१७।।

सामायिकनिर्युक्ति सामायिकनिरवयवोपायं वक्ष्ये यथाक्रमं समासेनाचार्यपरंपरया यथागतमानुपूर्व्या। अधिकारक्रमेण पूर्वं यथानुक्रमं सामायिककथनविशेषणं पाश्चात्यानुपूर्वीग्रहणं, यथागतविशेषणमिति कृत्वा न पुनरुक्तदोषः ॥५१७॥

सामायिकनिर्युक्तिरपि[1] षट्प्रकारा तामाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
सामाइयह्मि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ ॥५१८॥

अथवा निक्षेपविरहितं शास्त्रं व्याख्यायमानं वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति सामायिकनिर्युक्तिनिक्षेपो वर्ण्यते—नामसामायिकनिर्युक्तिः, स्थापनासामायिकनिर्युक्तिः, द्रव्यसामायिकनिर्युक्तिः, क्षेत्रसामायिकनिर्युक्तिः, कालसामायिकनिर्युक्तिः, भावसामायिकनिर्युक्तिः। नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन सामायिक एष निक्षेप उपायः षट्प्रकारो भवति ज्ञातव्यः। शुभनामान्यशुभनामानि च श्रुत्वा रागद्वेषादिवर्जनं नामसामायिकं नाम। काश्चन स्थापनाः सुस्थिताः सुप्रमाणाः सर्वावयवसम्पूर्णाः सद्भावरूपा मन आह्लादकारिण्यः। काश्चन पुनः स्थापना दुस्थिताः प्रमाणरहिताः सर्वावयवैरसम्पूर्णाः सद्भावरहितास्तास्तासूपरि रागद्वेषयोरभावः स्थापनासामायिकं नाम। सुवर्णरजतमुक्ताफलमाणिक्यादिमृत्तिकाकाष्टकंटकादिषु समदर्शनं रागद्वेषयोर-

---

आचारवृत्ति—अधिकार के क्रम से संक्षेप में मैं आचार्य परम्परा के अनुरूप अविच्छिन्न प्रवाह से आगत सामायिक के सम्पूर्ण उपाय रूप इस प्रथम आवश्यक को कहूँगा।

सामायिक निर्युक्ति के भी छह भेद कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सामायिक में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥५१८॥

आचारवृत्ति—अथवा निक्षेप रहित शास्त्र का व्याख्यान यदि किया जाता है तो वह वक्ता और श्रोता दोनों को ही उत्पथ में—गलत मार्ग में पतन करा देता है इसलिए सामायिक निर्युक्ति में निक्षेप का वर्णन करते हैं। नाम सामायिक निर्युक्ति, स्थापना सामायिक निर्युक्ति, द्रव्य सामायिक निर्युक्ति, क्षेत्र सामायिक निर्युक्ति, काल सामायिक निर्युक्ति और भाव सामायिक निर्युक्ति इस तरह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सामायिक में यह निक्षेप अर्थात् जानने का उपाय छह प्रकार का समझना चाहिए। इसे ही स्पष्ट करते हैं—

शुभ नाम और अशुभ नाम को सुनकर राग-द्वेष आदि का त्याग करना नाम सामायिक है।

कुछेक स्थापनाएँ—मूर्तियाँ सुस्थित हैं, सुप्रमाण हैं, सर्व अवयवों से सम्पूर्ण हैं, सद्भावरूप—तदाकार हैं और मन के लिए आह्लादकारी हैं। पुनः कुछ एक स्थापनाएँ दुःस्थित हैं, प्रमाण रहित हैं, सर्व अवयवों से परिपूर्ण नहीं हैं और सद्भाव रहित—अतदाकार हैं। इन दोनों प्रकार की मूर्तियों में राग-द्वेष का अभाव होना स्थापना सामायिक है।

---

१ क 'क्तिमपि षट्प्रकारामाह।

भाव। द्रव्यसामायिकं नाम। कानिचित् क्षेत्राणि रम्याणि आरामनगरनदीकूपवापीतडागजनपदोपचितानि, कानिचिच्च क्षेत्राणि रूक्षकंटकविषमविरसास्थिपाषाणसहितानि जीर्णाटवीशुष्कनदीमरुसिकतापुंजादिबाहुल्यानि तेपूपरि रागद्वेषयोरभावः क्षेत्रसामायिकं नाम। प्रावृड्वर्षाहैमन्तशिशिरवसन्तनिदाघाः षड्ऋतवो रात्रिदिवस-शुक्लपक्षकृष्णपक्षाः कालस्तेषूपरि रागद्वेषवर्जनं कालसामायिकं नाम। सर्वजीवेषूपरि मैत्रीभावोऽशुभपरिणाम-वर्जनं भावसामायिकं नाम। अथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकरणं सामायिकशब्दमात्रं नामसामायिकं नाम। सामायिकावश्यकेन परिणतस्याकृतिमत्यनाकृतिमति च वस्तुनि गुणारोपणं स्थापनासामायिकं नाम। द्रव्यसामायिकं द्विविधं आगमद्रव्यसामायिकं नोआगमद्रव्यसामायिकं चेति। सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञायी अनुपयुक्तो जीव आगमद्रव्यसामायिकं नाम। नोआगमद्रव्यसामायिक त्रिविधं सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञायकशरीरसामायिक-प्राभृतभविष्यज्ज्ञायकजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन। ज्ञायकशरीरमिति त्रिविधं भूतवर्तमानभविष्यद्भेदेन। भूतमपि त्रिविधं च्युतच्यावितत्यक्तभेदेन। सामायिकपरिणतजीवाधिष्ठितं क्षेत्रं क्षेत्रसामायिकं नाम। यस्मिन् काले

सोना, चाँदी, मोती, माणिक्य आदि तथा लकड़ी, मिट्टी का ढेला और कंटक आदिकों में समान भाव रखना, उनमें राग-द्वेष नहीं करना द्रव्य सामायिक है।

कोई-कोई क्षेत्र रम्य होते हैं; जैसे कि बगीचे, नगर, नदी, कूप, बावडी, तालाब, जन-पद—देश आदि से सहित स्थान, तथा कोई-कोई क्षेत्र अशोभन होते हैं; जैसे कि रूक्ष, कंटकयुक्त, विषम, विरस, हड्डी और पाषाण सहित स्थान, जीर्ण अटवी, सूखी नदी, मरुस्थल-बालू के पुंज की बहुलतायुक्त भूमि, इन दोनों प्रकार के क्षेत्रों में राग-द्वेष का अभाव होना क्षेत्र सामायिक कहा गया है।

प्रावृड्, वर्षा, हेमन्त शिशिर, वसंत और निदाघ अर्थात् ग्रीष्म इस प्रकार इन छह ऋतुओं में, रात्रि दिवस तथा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में, इन कालों में राग-द्वेष का त्याग काल सामायिक है।

सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना और अशुभ परिणामों का त्याग करना यह भाव सामायिक है।

अथवा जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'सामायिक' ऐसा शब्द मात्र संज्ञाकरण करना—नाम रख देना नाम सामायिक है।

सामायिक आवश्यक से परिणित हुए आकार वाली अथवा अनाकार वाली किसी वस्तु में गुणों का आरोपण करना स्थापना सामायिक है।

द्रव्य सामायिक के दो भेद हैं—आगम द्रव्य सामायिक और नो-आगम द्रव्य सामा-यिक। सामायिक के वर्णन करनेवाले शास्त्र को जाननेवाला किन्तु जो उस समय उस विषय में उपयोग युक्त नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है। नो-आगम द्रव्य सामायिक के तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। सामायिक के वर्णन करनेवाले प्राभृत को जानने-वाले का शरीर ज्ञायकशरीर है, भविष्यकाल में सामायिक प्राभृत को जाननेवाला जीव भावी है और उससे भिन्न तद्व्यतिरिक्त है। ज्ञायकशरीर के भी तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत्। भूतकालीन ज्ञायकशरीर के भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त।

सामायिकं करोति स कालः पूर्वाह्लादिभेदभिन्नः कालसामायिकं। भावसामायिकं द्विविधं, आगमभाव-सामायिकं, नोआगमभावसामायिकं चेति। सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञाय्युपयुक्तो जीव आगमभावसामायिकं नाम, सामायिकपरिणतपरिणामादि नोआगमभावसामायिकं नाम। तयोर्मध्ये आगमभावसामायिकेन नोआगम-भावसामायिकेन च प्रयोजनमिति ॥५१८॥

निरुक्तिपूर्वकं भावसामायिकं प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण ॥५१९॥

सम्यक्त्वज्ञानसंयमतपोभिर्यत्तत् प्रशस्तं समागमनं प्रापणं तैः सहैक्यं च जीवस्य यत् समयस्तु समय एव भणितस्तमेव सामायिकं जानीहि ॥५१९॥ तथा यः—

सामायिक से परिणित हुए जीव से अधिष्ठित क्षेत्र क्षेत्र-सामायिक है। जिस काल में सामायिक करते हैं, पूर्वाह्ल, मध्याह्न और अपराह्ल आदि भेद युक्त काल काल-सामायिक है।

भाव-सामायिक के भी दो भेद हैं—आगमभाव-सामायिक और नोआगम भाव-सामायिक। सामायिक के वर्णन करनेवाले—प्राभृत-ग्रन्थ का जो ज्ञाता है और उसके उपयोग से युक्त है वह जीव आगमभाव-सामायिक है। और, सामायिक से परिणत परिणाम आदि को नो-आगमभाव सामायिक कहते हैं।

इनमें से यहाँ आगम-भाव सामायिक और नो-आगमभाव सामायिक से प्रयोजन है ऐसा समझना।

भावार्थ—यहाँ पर सामायिक के छह भेद दो प्रकार से बताये गये हैं। उनमें पहले जो शुभ-अशुभ नाम आदि में समताभाव रखना, राग-द्वेष नहीं करना बतलाया है वह तो छहों भेदरूप सामायिक उपादेय है। इस साम्यभावना के लिए ही मुनिजन सारे अनुष्ठान करते हैं। अनन्तर जो नाम आदि निक्षेप घटित किये हैं उनमें अन्त में जो भाव निक्षेप है वही यहाँ पर उपादेय है ऐसा समझना। इन निक्षेपों का विस्तृत विवेचन राजवार्तिक, धवला टीका आदि से समझना चाहिए।

निरुक्तिपूर्वक भावसामायिक का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है वह समय कहा गया है, तुम उसे ही सामायिक जानो ॥५१९॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के साथ जो जीव का ऐक्य है वह 'समय' इस नाम से कहा जाता है और उस समय को ही सामायिक कहते हैं (यहाँ पर 'समय' शब्द से स्वार्थ में इकण् प्रत्यय होकर 'समय एव सामायिकं' ऐसा शब्द बना)

उसी प्रकार से—

जिदउवसग्गपरीसह उवजुत्तो भावणासु समिदीसु।
जमणियमउज्जदमदी सामाइयपरिणदो जीवो ॥५२०॥

जिता: सोढा उपसर्गा: परीषहाश्च येन स जितोपसर्गपरीषह: समितिषु भावनासु चोपयुक्तो य: यमनियमोद्यतमतिश्च य:, स सामायिकपरिणतो जीव इति ॥५२०॥ तथा—

जं च समो अप्पाणं परे य मादूय सव्वमहिलासु।
अप्पियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइयं ॥५२१॥

यस्माच्च समो रागद्वेषरहित आत्मनि परे च, यस्माच्च मातरि सर्वमहिलासु च शुद्धभावेन समान:, सर्वा योषितो मातृसदृश: पश्यति, यस्माच्च प्रियाप्रियेषु समान:, यस्माच्च मानापमानादिषु समानस्तस्मात् स श्रवणस्ततश्च तं सामायिकं जानीहीति[1] ॥५२१॥

जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।
सब्भावं तं सिद्धं सामाइयमुत्तमं जाणे[3] ॥५२२॥

पूर्वगाथाभ्यां सम्यक्त्वसंयमयो: समागमनं[4] व्याख्यातं अनया पुनर्गाथया ज्ञानसमागमन[5]माचष्टे।

गाथार्थ—जिन्होंने उपसर्ग और परीषह को जीत लिया है, जो भावना और समितियों में उपयुक्त हैं, यम और नियम में उद्यमशील हैं, वे जीव सामायिक से परिणत हैं ॥५२०॥

आचारवृत्ति—जो उपसर्ग और परीषहों को जीतनेवाले होने से जितेन्द्रिय हैं, पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं अथवा मैत्री आदि भावनाओं में तथा समितियों में लगे हुए हैं, यम और नियम में तत्पर हैं वे मुनि सामायिक से परिणत हैं ऐसा समझो।

उसी प्रकार—

गाथार्थ—जिस कारण से अपने और पर में, माता और सर्व महिलाओं में, अप्रिय और प्रिय तथा मान-अपमान आदि में समानभाव होता है इसी कारण से वे श्रमण हैं और इसी से वे सामायिक हैं ॥५२१॥

आचारवृत्ति—जिससे वे अपने और पर में राग-द्वेष रहित समभाव हैं, जिससे वे माता और सर्व महिलाओं में शुद्धभाव से समान हैं अर्थात् सभी स्त्रियों को माता के सदृश देखते हैं, जिस हेतु से प्रिय और अप्रिय में समानभावी हैं और जिस हेतु से वे मान-अपमान (आदि शब्द से जीवन-मरण 'सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, महल, श्मशान तथा शत्रु-मित्र आदि) में जो समभावी हैं, इन्हीं हेतुओं से वे श्रमण कहलाते हैं और इसीलिए तुम उन्हें सामायिक जानो। यहां पर समताभाव से युक्त मुनि को ही सामायिक कहा है।

गाथार्थ—जो द्रव्यों के, गुणों के और पर्यायों के समवाय को और सद्भाव को जानता है उसके उत्तम सामायिक सिद्ध हुई ऐसा तुम जानो ॥५२२॥

आचारवृत्ति—पूर्व में दो गाथाओं द्वारा सम्यक्त्व और संयम का समागमन अर्थात्

---

१ क °ति सम्बन्ध:। तथा— २ क °सज्झावत्तं सि°। ३ क जाण। ४-५ क समगमनं।

यो जानाति समवायं सादृश्यं स्वरूपं वा द्रव्याणां। द्रव्यसमवायं क्षेत्रसमवायं कालसमवायं भावसमवायं च जानाति तत्र द्रव्यसमवायो नाम धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवप्रदेशाः समाः। क्षेत्रसमवायो नाम सीमन्तनरकमनुष्यक्षेत्रर्जुविमान-सिद्धालयाः समाः। कालसमवायो नाम समयः समयेन समः, अवसर्पिण्युत्सर्पिण्या समेत्यादि। भावसमवायो नाम केवलज्ञानं केवलदर्शनेन सममिति। गुणा रूपरसगन्धस्पर्शज्ञातृत्वद्रष्टृत्वादयस्तेषां समानतां जानाति। अथवौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिका गुणास्तेषां समानतां जानाति। पर्याया नारकत्वमनुष्यत्वतिर्य-क्त्वदेवत्वादयस्तेषां समानतां जानाति। द्रव्याधारत्वेनापृथग्वतित्वेन च गुणानां समवायः। पर्यायाणां उत्पाद-विनाशध्रौव्यत्वेन समवायो भावसमवायो गुणेष्वन्तर्भवति। क्षेत्रसमवायः पर्यायेष्वन्तर्भवति। कालसमवायो द्रव्यसमवायेऽन्तर्भवतीति। द्रव्यसमवायं गुणसमवायं पर्यायसमवायं च यो जानाति तेषां सिद्धिं[1] सद्भावं निष्पन्नं परमार्थरूपं च यो जानाति तं संयतं सामायिकमुत्तमं जानीहि। अथवा द्रव्याणां समवायं सिद्धिं, गुण-

---

जीव के साथ ऐक्य बतलाया है और अब इस गाथा के द्वारा जीव के साथ ज्ञान का समागमन—ऐक्य बतलाते हैं। जो द्रव्यों के समवाय अर्थात् सादृश्य को अथवा स्वरूप को जानते हैं अर्थात् द्रव्य समवाय, क्षेत्र समवाय, काल समवाय और भाव समवाय को जानते हैं वे मुनि उत्तम सामायिक कहलाते हैं। उसमें द्रव्य के समवाय—सादृश्य को कहते हैं। द्रव्यों की सदृशता का नाम द्रव्य समवाय है; जैसे धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव—इनके प्रदेश समान हैं अर्थात् इन चारों में असंख्यात प्रदेश हैं और वे पूर्णतया समान हैं। ऐसे ही क्षेत्र से सदृशता क्षेत्र समवाय है। प्रथम नरक का सीमंतक बिल, मनुष्य क्षेत्र (ढाई द्वीप), प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान और सिद्धालय ये समान हैं अर्थात् ये सभी पैंतालीस लाख योजन प्रमाण हैं। काल की सदृशता काल-समवाय है, जैसे समय समय के समान है, अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के समान है इत्यादि। भावों की सदृशता भाव-समवाय है; जैसे केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है।

रूप-रस-गंध और स्पर्श तथा ज्ञातृत्व और द्रष्टृत्व आदि गुणों की समानता को जो जानते हैं वे गुणों के समवाय को जानते हैं। अथवा जो औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक गुण हैं उनकी समानता को जानना गुणसमवाय है। नारकत्व, मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व और देवत्व आदि पर्यायें हैं। इनकी समानता को जानना पर्यायसमवाय है। अर्थात् जो द्रव्य के आधार में रहते हैं और द्रव्य से अपृथग्वर्ती हैं—कभी भी उनसे पृथक् नहीं किए जा सकते हैं अतः अयुतसिद्ध हैं, यह गुणों का समवाय है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से पर्यायों का समवाय होता है।

ऊपर में जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव समवाय कहे गए हैं उनको द्रव्य, गुण और पर्यायों के अन्तर्गत करने से द्रव्य, गुण और पर्याय नाम से तीन प्रकार के समवाय माने जाते हैं। सो ही बताते हैं—कि भाव समवाय गुणों में अन्तर्भूत हो जाता है। क्षेत्रसमवाय पर्यायों में, काल समवाय द्रव्यसमवाय में अन्तर्भूत हो जाता है। इस तरह जो मुनि द्रव्यसमवाय, गुणसमवाय और पर्यायसमवाय को जानते हैं, इनकी सिद्धि को—निष्पन्नता को अर्थात् पूर्णता को और इनके सद्भाव को—परमार्थ रूप को जानते हैं उन संयतों को तुम उत्तम सामायिक जानो।

---

१ क सिद्धं।

पर्यायाणां च सद्भावं यो जानाति तं सामायिकं जानीहि। अथवा [1]समवृत्ति समवायं, द्रव्यगुणपर्यायाणां समवृत्ति, द्रव्यं गुणविरहितं नास्ति गुणाश्च द्रव्यविरहिता न सन्ति पर्यायाश्च द्रव्यगुणरहिता न सन्ति। [2]एवंभूतं समवृत्ति समवायं सद्भावरूपं न संवृत्तिरूपं, न कल्पनारूपं, नाप्यविद्यारूपं, स्वतः सिद्धं न समवायद्रव्यवलेन यो जानाति तं सामायिकं जानीहीति सम्बन्धः ॥५२२॥

सम्यक्त्वचारित्रपूर्वकं सामायिकमाह—

रागदोसे णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु[3]।
सुत्तेसु य परिणामो सामाइयमुत्तमं जाणे ॥५२३॥

अथवा द्रव्यों की समवाय सिद्धि को और गुणों तथा पर्यायों के सद्भाव को जो जानते हैं उन्हें सामायिक जानो।

अथवा समवृत्ति—सहवृत्ति अर्थात् साथ-साथ रहने का नाम समवाय है। इस तरह द्रव्य, गुण, पर्यायों को सहवृत्ति को जो जानते हैं उनको तुम सामायिक जानो। जैसे द्रव्य गुणों से विरहित नहीं है, और गुण द्रव्य से विरहित नहीं रहते हैं तथा पर्यायें भी द्रव्य और गुणों से रहित होकर नहीं होती हैं। इस प्रकार का जो सहवृत्ति रूप समवाय है वह सद्भाव रूप है, वह न संवृत्ति रूप है न ही कल्पनारूप और न अविद्यारूप ही है। वह समवाय किसी एक पृथग्भूत-समवाय नामक पदार्थ के वल से सिद्ध नहीं है बल्कि स्वतःसिद्ध है ऐसा जो मुनि जानते हैं उनको ही तुम सामायिक जानो, ऐसा गाथा के अर्थ का सम्बन्ध होता है।

भावार्थ—अन्य सम्प्रदायों में कोई द्रव्य, गुण और पर्यायों को पृथक्-पृथक् मानते हैं। कोई उन्हें संवृति—असत्यरूप मानते हैं इत्यादि, उन्हीं की मान्यता का यहाँ अन्त में निराकरण किया गया है। जैसे कि बौद्ध द्रव्य, गुण आदि को सर्वथा संवृतिरूप अर्थात् असत्य मानते हैं। शून्यवादी आदि सभी कुछ कल्पनारूप मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी इस चराचर जगत् को अविद्या-—माया का विलास मानते हैं। और यौग द्रव्य को गुणों से पृथक् मानकर समवाय सम्बन्ध से गुणी कहते हैं अर्थात् अग्नि को उष्ण गुण समवाय सम्बन्ध से उष्ण कहते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने द्रव्य, गुण पर्यायों को सर्वथा अपृथग्रूप—तादात्म्य सम्ब्रन्धयुत माना है अतः वास्तव में यह द्रव्य गुण पर्यायों का समवाय—तादात्म्य स्वतःसिद्ध है, परमार्थभूत है ऐसा समझना। और इस सम्यग्ज्ञान से परिणत हुए महामुनि स्वयं सामायिक रूप ही हैं ऐसा यहाँ कहा गया है। क्योंकि इस परामार्थज्ञान के साथ उन मुनि का ऐक्य हो रहा है इसलिए वे मुनि ही 'सामायिक' इस नाम से कहे गए हैं।

सम्यक्त्व चारित्रपूर्वक सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—राग-द्वेष का निरोध करके सभी कार्यों में समता भाव होना, और सूत्रों में परिणाम होना—इनको तुम उत्तम सामायिक जानो ॥५२३॥

---

१ क समवायवृत्ति द्र°। २ क एवं निर्वृत्तिसमवायं सद्भावरूपं। ३ क समकं मदा।

रागद्वेषौ निरुध्य सर्वकर्मसु सर्वकर्तव्येषु या समता, सूत्रेषु च द्वादशांगचतुर्दशपूर्वेषु च यः परिणामः श्रद्धानं सामायिकमुत्तमं प्रकृष्टं जानीहि ॥५२३॥

तपःपूर्वकं सामायिकमाह—

विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिदिओ।
जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं ॥५२४॥

सर्वसावद्याद्यो विरतस्त्रिगुप्तः, पिहितेन्द्रियो निरुद्धरूपादिविषयः, एवंभूतो जीवः सामायिकं संयमस्थानमुत्तमं जानीहि जीवसामायिकसंयमयोरभेदादिति ॥५२४॥

भेदं च प्राह—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥५२५॥

यस्य संनिहितः स्थितः आत्मा। क्व, संयमे नियमे तपसि च तस्य सामायिकं तिष्ठति। इत्येवं केवलिनां शासनं एवं केवलिनामाज्ञा शिक्षा वा। अथवास्मिन् केवलिशासने जिनागमे तस्य सामायिकं तिष्ठतीति ॥५२५॥

आचारवृत्ति—राग द्वेष को दूर करके सभी कार्यों में जो समता है और द्वादशांग तथा चतुर्दश पूर्वरूप सूत्रों का जो श्रद्धान है वही प्रकृष्ट सामायिक है ऐसा तुम जानो।

अब तपपूर्वक सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—सर्व सावद्य से विरत, तीन गुप्ति से गुप्त, जितेन्द्रिय जीव संयमस्थान रूप उत्तम सामायिक नाम को प्राप्त होता है ॥५२४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि सर्व पापयोग से विरत हैं, तीन गुप्ति से सहित हैं, रूपादि विषयों में इन्द्रियों को न जाने देने से जो जितेन्द्रिय हैं ऐसे संयत जीव को ही संयम के स्थान भूत उत्तम सामायिक रूप समझो। क्योंकि जीव और सामायिक संयम में अभेद है अर्थात् जीव के आश्रय में ही सामायिक संयम पाया जाता है। यहाँ अभेदरूप से सामायिक का प्रतिपादन हुआ है।

अब भेद को कहते हैं—

गाथार्थ—जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में स्थित है उसके सामायिक रहता है ऐसा केवली के शासन में कहा है ॥५२५॥

आचारवृत्ति—जिनकी आत्मा संयम आदि में लगी हुई है उसके ही सामायिक होता है, इस प्रकार केवली भगवान् का शासन है अर्थात् केवली भगवान की आज्ञा है अथवा उनकी शिक्षा है। अथवा केवली भगवान् के इस शासन में अर्थात् जिनागम में उसी जीव के सामायिक होता है ऐसा अभिप्राय समझना।

समत्वभावपूर्वकं भेदेन सामायिकमाह—

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
[1]तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥५२६॥

यः समः सर्वभूतेषु—त्रसेषु स्थावरेषु च समस्तेषामपीडाकरस्तस्य सामायिकमिति ॥५२६॥

रागद्वेषविकाराभावभेदेन सामायिकमाह—

जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु।

यस्य रागद्वेषौ विकृतिं विकारं न जनयतस्तस्य सामायिकमिति

कषायजयेन सामायिकमाह—

जेण कोधो य माणो य माया लोभो य णिज्जिदो ॥५२७॥

येन क्रोधमानमायालोभाः सभेदाः सनोकषाया निर्जिता दलितास्तस्य सामायिकमिति ॥५२७॥

संज्ञालेश्याविकाराभावभेदेन सामायिकमाह—

जस्स सण्णा य लेस्सा य वियडिं ण जणंति दु ॥५२८॥

समत्वभावपूर्वक भेद के द्वारा सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—सभी प्राणियों में, त्रसों और स्थावरों में, जो समभावी है उसके सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥५२६॥

जो सर्व प्राणियों में, त्रसों और स्थावरों में समभाव रखते हैं अर्थात् उनको पीड़ा नहीं देते हैं उनके सामायिक होता है।

राग-द्वेष विकारों के अभाव से भेदरूप सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जिस जीव के राग और द्वेष विकार को उत्पन्न नहीं करते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है।

कषाय-जय के द्वारा सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है उनके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन में कहा है ॥५२७॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने अनन्तानुबन्धी आदि चार भेदों सहित क्रोध, मान, माया, लोभ का तथा हास्य आदि नोकषायों का दलन कर दिया है उन्हीं के सामायिक होता है।

संज्ञा और लेश्यारूप विकारों के अभावपूर्वक भेदरूप सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जिनके संज्ञाएँ और लेश्याएँ विकार को उत्पन्न नहीं करतीं उसके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन में कहा है।

---

१ अस्याः गाथायाः उत्तरार्धं द्वात्रिंशत्तमगाथापर्यन्तं संयोज्य संयोज्य पठनीयं।

यस्य संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा विकृतिं विकारं न जनयन्ति । तथा यस्य लेश्याः कृष्ण-नीलकापोतपीतपद्मलेश्याः कषायानुरञ्जितयोगवृत्तयो विकृतिं विकारं न जनयन्ति तस्य सामायिक-मिति ॥५२८॥

कामेन्द्रियविषयवर्जनद्वारेण सामायिकमाह—

जो दुरसे य फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा ॥५२९॥

रसः कटुकषायादिभेदभिन्नः, स्पर्शो मृद्वादिभेदभिन्नः रसस्पर्शौ काम इत्युच्यते । रसनेन्द्रियं स्पर्श-नेन्द्रियं च कामेन्द्रिये । यो रसस्पर्शौ कामौ वर्जयति नित्यं । कामेन्द्रियं च निरुणद्धि तस्य सामायिक-मिति ।

भोगेन्द्रियविषयवर्जनद्वारेण सामायिकमाह—

जो रूवगंधसद्दे य भोगे वज्जदि णिच्चसा ॥५३०॥

यः रूपं कृष्णनीलादिभेदभिन्न, गन्धो द्विविधः सुरभ्यसुरभिभेदेन च, शब्दो वीणावंशादिसमुद्भवः, रूपगन्धशब्दा भोगा इत्युच्यन्ते, चक्षुर्घ्राणश्रोत्राणि भोगेन्द्रियाणि, यो रूपगन्धशब्दान् वर्जयति, भोगेन्द्रियाणि

आचारवृत्ति—जिनके आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इनकी अभिलाषारूप चार संज्ञाएँ विकार को उत्पन्न नहीं करती हैं, तथा जिनके कृष्ण, नील, कापोत, पीत और पद्म ये कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्तिरूप लेश्याएँ विकार को पैदा नहीं करती हैं उनके सामायिक होता है ।

कामेन्द्रिय के विषय वर्जन द्वारा सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जो मुनि रस और स्पर्श इन काम को नित्य ही छोड़ते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन में कहा है ।

आचारवृत्ति—कटु, कषाय, अम्ल, तिक्त और मधुर ऐसे रस पाँच हैं । मृदु, कठोर, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे स्पर्श के आठ भेद हैं । इन रस और स्पर्श को काम कहते हैं तथा रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय को कामेन्द्रिय कहते हैं । जो मुनि रस और स्पर्श का नित्य ही वर्जन करते हैं और कामेन्द्रिय का निरोध करते हैं उन्हीं के सामायिक होता है ।

भोगेन्द्रिय के विषय-वर्जन द्वारा सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जो रूप, गन्ध और शब्द इन भोगों को नित्य ही छोड़ देता है उसके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है ॥५३०॥

आचारवृत्ति—कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत ये रूप के पाँच भेद हैं । सुरभि और असुरभि के भेद से गन्ध दो प्रकार का है । और, वीणा बाँसुरी आदि से उत्पन्न हुए शब्द अनेक प्रकार के हैं । इन रूप, गन्ध और शब्द को भोग कहते हैं तथा इनको ग्रहण करने वाली चक्षु, घ्राण एवं कर्ण इन तीनों इन्द्रियों को भोगेन्द्रिय कहते हैं । जो मुनि इन रूप, गन्ध और

च नित्यं सर्वकालं निवारयति तस्य सामायिकमिति ॥५३०॥

दुष्टध्यानपरिहारेण सामायिकमाह—

जो दु अट्ठं च रुद्दं च झाणं वज्जदि णिच्चसा।

चकारावनयोः स्वभेदग्राहकाविति कृत्वैवमुच्यते यस्त्वार्तं चतुष्प्रकारं रौद्रं च चतुष्प्रकारं ध्यानं वर्जयति सर्वकालं तस्य सामायिकमिति।

शुभध्यानद्वारेण सामायिकस्थानमाह—

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणे झायदि णिच्चसा ॥५३१॥

अत्रापि चकारावनयोः स्वभेदप्रतिपादकाविति कृत्वैवमाह—यस्तु धर्मं चतुष्प्रकारं शुक्लं च चतुष्कारं ध्यानं ध्यायति युनक्ति सर्वकालं तस्य सामायिकं तिष्ठतीति। केवलिशासनमिति सर्वत्र सम्बन्धो दृष्टव्य इति ॥५३१॥

किमर्थं सामायिकं प्रज्ञप्तमित्याशंकायामाह—

सावज्जजोगपरिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं।
गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णिच्चा कुज्जा बुधो अप्पहियं पसत्थं ॥५३२॥

शब्द का वर्जन करते हैं तथा भोगेन्द्रियों का नित्य ही निवारण करते हैं अर्थात् इन इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष नहीं करते हैं उनके सामायिक होता है।

दुष्ट ध्यान के परिहार द्वारा सामायिक का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—जो आर्त और रौद्र ध्यान का नित्य ही त्याग करते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है।

आचारवृत्ति—इस गाथा में जो दो बार 'च' शब्द है वे इन दोनों ध्यानों के अपने-अपने भेदों को ग्रहण करने वाले हैं। इसलिए ऐसा समझना कि जो मुनि चार प्रकार के आर्तध्यान को और चार प्रकार के रौद्र ध्यान को सर्वकाल के लिए छोड़ देते हैं उनके सामायिक होता है।

अब शुभ ध्यान द्वारा सामायिक का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—जो धर्म और शुक्ल ध्यान को नित्य ही ध्याते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है ॥५३१॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर भी दो चकार इन दोनों ध्यानों के स्वभेदों के प्रतिपादक हैं। अर्थात् जो मुनि चार प्रकार के धर्म-ध्यान को और चार प्रकार के शुक्ल-ध्यान को ध्याते हैं, हमेशा उनमें अपने को लगाते हैं उनके सर्वकाल सामायिक ठहरता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है। इस अन्तिम पंक्ति का सम्बन्ध सर्वत्र समझना चाहिए।

किसलिए सामायिक को कहा है ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—सावद्य योग का त्याग करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक कहा है। गृहस्थ धर्म जघन्य है, ऐसा जानकर विद्वान् प्रशस्त आत्म हित को करे ॥५३२॥

वृत्तमेतत्। सावद्ययोगपरिवर्जनार्थं पापास्रववर्जनाय सामायिकं केवलिभिः प्रशस्तं प्रतिपादितं स्तुतमिति। यस्मात्तस्माद् गृहस्थधर्मः सारम्भारम्भादिप्रवृत्तिविशेषोऽपरगो जघन्यः संसारहेतुरिति ज्ञात्वा बुधः संयतः प्रशस्तं शोभनमात्महितं सामायिकं कुर्यादिति ॥५३२॥

पुनरपि सामायिकमाहात्म्यमाह—

सामाइयह्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्ज ॥५३३॥

सामायिके तु कृते सति श्रावकोऽपि किल श्रमणः संयतो भवति। यस्मात्कस्मिंश्चित् पर्वणि कश्चित् श्रावकः सामायिकसंयमं समत्वं गृहीत्वा श्मशाने स्थि (तः) तस्य पुत्रनप्तृबन्ध्वादिमरणपीडादिमहोपसर्गः

आचारवृत्ति—यह वृत्त छन्द है। सावद्य योग का त्याग करने के लिए अर्थात् पापास्रव का वर्जन करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक का प्रतिपादन किया है उसे स्तुत कहा गया है। क्योंकि गृहस्थ धर्म आरम्भ आदि का प्रवृत्ति विशेष रूप होने से जघन्य अर्थात् ससार का हेतु है ऐसा समझकर संयत मुनि प्रशस्त—शोभन आत्महित रूप सामायिक को करें।

पुनरपि सामायिक के माहात्म्य को कहते हैं—

गाथार्थ—सामायिक करते समय जिससे श्रावक भी श्रमण हो जाता है इससे तो बहुत बार सामायिक करना चाहिए ॥५३३॥

आचारवृत्ति—सामायिक के करते समय श्रावक भी आश्चर्य है कि संयत हो जाता है अर्थात् मुनि सदृश हो जाता है। जैसे किसी पर्व में कोई श्रावक सामायिक संयम अर्थात् समता भाव को ग्रहण करके श्मशान में स्थित हो गया है—खड़ा हो गया है, उस समय, (किसी के द्वारा) उसके पुत्र, पौत्र, नाती बन्धुजन आदि के मरण अथवा उनको पीड़ा देना आदि महा-उपसर्ग हो रहे हैं या स्वयं के ऊपर उपसर्ग हो रहे हैं तो भी वह सामायिक व्रत से च्युत नहीं हुआ अर्थात् सामायिक के समय एकाग्रता रूप धर्मध्यान से चलायमान नहीं हुआ उस समय वह श्रमण होता है।

प्रश्न—यदि वह उस समय भाव श्रमण हो गया तब तो उसे श्रावकपना कैसे रहा होगा?

उत्तर—वह भाव-श्रमण नहीं है किन्तु श्रमण के सदृश उसे समझना चाहिए; क्योंकि उस समय उसके प्रत्याख्यान कषाय का उदय मन्दतर है। यहाँ पर (सुदर्शन आदि की) कथा कही जा सकती है। इसलिए बहुलता से सामायिक करना चाहिए।

भावार्थ—कदाचित् किसी श्रावक ने अष्टमी या चतुर्दशी को दिन में या रात्रि में श्मशान भूमि में जाकर निश्चल ध्यान रूप सामायिक शुरू किया, उस समय उसने कुछ घण्टों का नियम कर लिया है और उतने समय तक सभी से समता भाव धारण करके वह राग-द्वेष रहित होकर स्थित हो गया है। उस समय किसी देव या विद्याधर मनुष्य आदि ने पूर्व जन्म के वैरवश या दृढ़ता की परीक्षा हेतु उस पर उपसर्ग करना चाहा, उसके सामने उसके परिवार को, पुत्र पौत्रों

संयतस्तथाप्यसौ न सामायिकव्रतान्निर्गतः। भावश्रमणः संवृत्तस्तर्हि श्रावकत्वं कथं ? प्रत्याख्यानमन्दतरत्वात्। अत्र कथा वाच्या। तस्मादनेन कारणेन वहुशो वाहुल्येन सामायिकं कुर्यादिति ॥५३३॥

पुनरपि सामायिकमाहात्म्यमाह—

सामाइए कदे सावएण विद्धो मम्रो अरणह्मि।
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइयं फिडिम्रो ॥५३४॥

सामाइए—सामायिके। **कदे**—कृते। **सावएण**—श्रावकेन। **विद्धो**—व्यथितः केनापि। **मओ**—मृगो हरिणपोतः। **अरणम्मि**—अरण्येऽटव्यां। **सो य मओ**—सोऽपि मृगः। **उद्धादो**—मृतः प्राणैर्विपन्नः। **ण य सो**—न चासौ। **सामाइयं**—सामायिकात्। **फिडिओ**—निर्गतः परिहीणः। केनचिच्छ्रावकेणाटव्यां

आदि को मार डाला या उन्हें अनेक यातनाएँ देने लगा फिर भी वह श्रावक अपनी दृढ़ता से च्युत नहीं हुआ अथवा उस श्रावक पर ही उपसर्ग कर दिया उस समय वह श्रावक, उपसर्ग में वस्त्र जिन पर डाल दिया गया है ऐसे वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान है। अथवा जैसे सुदर्शन ने श्मशान में रात्रि में प्रतिमायोग ग्रहण किया था तब अभयमती रानी ने उसे अपने महल में मँगाकर उसके साथ नाना कुचेष्टा करते हुए उसे ब्रह्मचर्य से चलित करना चाहा था किन्तु वे सुदर्शन सेठ निर्विकार ही बने रहे थे। ऐसी अवस्था में वे निर्वस्त्र मुनि के ही समान थे। किन्तु इन श्रावकों के छठा सातवाँ गुणस्थान न हो सकने के कारण ये भाव से मुनि नहीं हो सकते हैं। अतः ये भावसंयत या श्रमण नहीं कहलाते हैं किन्तु इनके प्रत्याख्यान कषाय का उदय उस समय अत्यन्त मन्दतर रहता है अतः ये यहाँ श्रमण कहे गये हैं। इससे 'श्रमण सदृश' ऐसा अर्थ ही समझना।

पुनरपि सामायिक के माहात्म्य को कहते हैं—

गाथार्थ—कोई श्रावक सामायिक कर रहा होता है। उस समय वन में कोई हरिण बाणों से विद्ध हुआ आया और मर गया किन्तु उस श्रावक ने सामायिक भंग नहीं किया ॥५३४॥

आचारवृत्ति—वन में कोई श्रावक सामायिक कर रहा है, उस समय किसी व्याध के द्वारा बाणों से विद्ध होकर व्यथित होता हुआ कोई हिरण वहाँ उस श्रावक के पैरों के बीच में आकर गिर पड़ा और वेदना से पीड़ित हुआ, वह तड़फता हुआ बार-बार उसके पास स्थित रह कर मर भी गया फिर भी वह श्रावक अपने सामायिक संयम से पृथक् नहीं हुआ अर्थात् सामायिक का नियम भंग नहीं किया, क्योंकि वह उस समय संसार की स्थिति का विचार करता रहा। इसलिए अनेक प्रकार से सामायिक करना चाहिए, यहाँ ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए।

भावार्थ—वन में या श्मशान में जाकर सामायिक वे ही श्रावक करेंगे, जो अतिशय धीर वीर और स्थिरचित्त वाले हैं। अतः उनका यहाँ पर करुणापूर्वक उस जीव की रक्षा की तरफ कोई विशेष लक्ष्य नहीं होता। वे तो अपने धर्मध्यान में अतिशय स्थित होकर अपनी शुद्धात्मा की भावना कर रहे होते हैं। इस उदाहरण को सामायिक करनेवाले घर में या मन्दिर में बैठकर ध्यान का अभ्यास करते हुए श्रावक अपने में नहीं घटा सकते हैं। वे सामायिक छोड़कर

सामायिके कृते शल्येन विद्धो मृगः पादान्तरे आगत्य व्यवस्थितो वेदनार्त्तः सन् स्तोकवारं स्थित्वा मृतो मृगो नासौ श्रावकः सामायिकात् संयमान्निर्गतः संसारदोषदर्शनादिति, तेन कारणेन सामायिकं क्रियत इति सम्बन्धः ॥५३४॥

केन सामायिकमुद्दिष्टमित्याशंकायामाह—

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥५३५॥

द्वाविंशतितीर्थंकरा अजितादिपार्श्वनाथपर्यन्ताः सामायिकसंयममुपदिशन्ति प्रतिपादयन्ति। छेदोपस्थानं पुनः संयमं वृषभो वीरश्च प्रतिपादयतः ॥५३५॥

किमर्थं वृषभमहावीरौ छेदोपस्थापनं प्रतिपादयतो यस्मात्—

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥५३६॥

आचक्खिदुं—आख्यातुं कथयितुं आस्वादयितुं वा। विभयिदुं—विभक्तुं पृथक्-पृथक् भावयितुं। **विण्णादुं**—विज्ञातुमवबोद्धुं चापि। सुहदरं—सुखतरं सुखग्रहणं। होदि—भवति। एदेण—एतेन। कारणेन।

उस समय उस जीव की रक्षा का प्रयत्न कर सकते हैं। यदि रक्षा न कर सकें तो उसे महामन्त्र सुनाते हुए तथा नाना प्रकार से सम्बोधन करके शिक्षा देते हुए उसका भवान्तर सुधार सकते हैं पुनः गुरु के पास जाकर सामायिक भंग करने का अल्प प्रायश्चित्त लेकर अपनी शुद्धि कर सकते हैं।

किनने सामायिक का उपदेश किया है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं किन्तु भगवान् वृषभदेव और महावीर छेदोपस्थापना संयम का उपदेश देते हैं ॥५३५॥

अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं। किन्तु छेदोपस्थापना संयम का वर्णन वृषभदेव और वर्द्धमान स्वामी ने ही किया है।

भावार्थ—यहाँ पर अभेद संयम का नाम सामायिक संयम है और मूलगुण आवश्यक क्रिया आदि से भेदरूप संयम का नाम छेदोपस्थापना संयम है ऐसा समझना।

वृषभदेव और महावीर ने छेदोपस्थापना का प्रतिपादन किसलिए किया है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिस हेतु से कहने, विभाग करने और जानने के लिए सरल होता है उस हेतु से महाव्रत पाँच कहे गये हैं ॥५३६॥

आचारवृत्ति—कहने के लिए अथवा अनुभव करने के लिए तथा पृथक्-पृथक् भावित करने के लिए और समझने के लिए भी जिनका सुख से अर्थात् सरलता से ग्रहण हो जाता है।

महव्वदा—महाव्रतानि । पंचपण्णता—पंच प्रज्ञप्तानि । यस्मादन्यस्मै प्रतिपादयितुं स्वेच्छयानुष्ठातुं विभक्तुं, विज्ञातुं चापि भवति सुखतरं सामायिकं, तेन कारणेन महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानीति ॥५३६॥

किमर्थं[1] मादितीर्थेऽन्ततीर्थे च च्छेदोपस्थापन[2] संयममित्याशंकायामाह—

आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य ।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति ॥५३७॥

आदितीर्थे शिष्याः दुःखेन शोध्यन्ते सुष्ठु ऋजुस्वभावा यतः । तथा पश्चिमतीर्थे शिष्याः दुःखेन प्रतिपाल्यन्ते सुष्ठु वक्रस्वभावा यतः । पूर्वकालशिष्याः पश्चिमकालशिष्याश्च अपि स्फुटं कल्प्यं—योग्यं अकल्प्यं अयोग्यं च न जानन्ति यतस्ततः आदौ निधने च छेदोपस्थानमुपदिशत इति ॥५३७॥

अर्थात् जिस हेतु से अन्य शिष्यों को प्रतिपादन करने के लिए, अपनी इच्छानुसार उनका अनुष्ठान करने के लिए, विभाग करके समझने के लिए भी सामायिक संयम सरल हो जाता है इस लिए महाव्रत पाँच कहे गये हैं।

आदितीर्थ में और अन्ततीर्थ में छेदोपस्थापना संयम को किसलिए कहा ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य कठिनता से शुद्ध होने से तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में दुःख से उनका पालन होने से वे पूर्व के शिष्य और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य योग्य और अयोग्य को नहीं जानते हैं ॥५३७॥

आचारवृत्ति—आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य दुःख से शुद्ध किये जाते हैं, क्योंकि वे अत्यर्थ सरल स्वभावी होते हैं। तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में शिष्यों का दुःख से प्रतिपालन किया जाता है, क्योंकि वे अत्यर्थ वक्रस्वभावी होते हैं। ये पूर्वकाल के शिष्य और पश्चिम काल के शिष्य—दोनों समय के शिष्य भी स्पष्टतया योग्य अर्थात् उचित और अयोग्य अर्थात अनुचित नहीं जानते हैं इसीलिए आदि और अन्त के दोनों तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है।

भावार्थ—आदिनाथ के तीर्थ के समय भोगभूमि समाप्त होकर ही कर्मभूमि प्रारम्भ हुई थी, अतः उस समय के शिष्य बहुत ही सरल और किन्तु जड़ (अज्ञान) स्वभाव वाले थे तथा अन्तिम तीर्थंकर के समय पंचमकाल का प्रारम्भ होनेवाला था अतः उस समय के शिष्य बहुत ही कुटिल परिणामी और जड़ स्वभावी थे इसीलिए इन दोनों तीर्थकरों ने छेद अर्थात् भेद के उपस्थापन अर्थात् कथन रूप पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया है। शेष बाईस तीर्थकरों के समय के शिष्य विशेष बुद्धिमान थे, इसीलिए उन तीर्थंकरों ने मात्र 'सर्व सावद्य योग' के त्यागरूप एक सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है; क्योंकि उनके लिए उतना ही पर्याप्त था। आज भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है अतः आज कल के सभी साधुओं को भेदरूप चारित्र के पालन का ही उपदेश है।

---

१ क °दि अंत° । २ क °नाम° ।

सामायिककरणक्रममाह—

पडिलिहियअंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥५३८॥

प्रतिलेखितावञ्जलिकरौ येनासौ प्रतिलेखिताञ्जलिकरः। उपयुक्तः समाहितमतिः, उत्थाय—स्थित्वा, एकाग्रमना अव्याक्षिप्तः, आगमोक्तक्रमेण करोति सामायिकं भिक्षुः। अथवा प्रतिलेखन शुद्धो भूत्वा द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धि कृत्वा, प्रकृष्टाञ्जलि[1]करमुकलितकरः प्रतिलेखनेन सहिताञ्जलिकरो वा सामायिकं करोतीति ॥५३८॥

सामायिकनिर्युक्तिमुपसंहर्तुं चतुर्विंशतिस्तवं सूचयितुं प्राह—

सामाइयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
चउवीसयणिज्जुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥५३९॥

सामायिकनिर्युक्तिरेषा कथिता समासेन। इत ऊर्ध्वं चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिं प्रवक्ष्यामीति ॥५३९॥

[2]तदवबोधनार्थं [3]निक्षेपमाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो थवह्मि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होई ॥५४०॥

अब सामायिक करने का क्रम कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिलेखन सहित अंजलि जोड़कर, उपयुक्त हुआ, उठकर एकाग्रमन होकर, मन को विक्षेप रहित करके, मुनि सामायिक करता है ॥५३८॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने पिच्छी को लेकर अंजलि जोड़ ली है, जो सावधान बुद्धिवाले हैं, वे मुनि व्याक्षिप्त चित्त न होकर, खड़े होकर एकाग्रमन होते हुए, आगम में कथित विधि से सामायिक करते हैं। अथवा पिच्छी से प्रतिलेखन करके शुद्ध होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव शुद्धि को करके प्रकृष्ट रूप से अंजलि को मुकुलित/कमलाकार बना कर अथवा प्रतिलेखन—पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर सामायिक करते हैं।

सामायिक निर्युक्ति का उपसंहार कर अब चतुर्विंशति स्तव को सूचित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप में यह सामायिक निर्युक्ति कही है इससे आगे चतुर्विंशति स्तव को कहूँगा ॥५३९॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल होने से टीका नहीं है।

द्वितीय आवश्यक का ज्ञान कराने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्तव में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥५४०॥

---

१ क °लिकरो कृत्वांजलिकरः मु०। २ क तदनुबो°। ३ क °पानाह।

नामस्तवः स्थापनास्तवो द्रव्यस्तवः क्षेत्रस्तवः कालस्तवो भावस्तव एष स्तवे निक्षेपः षड्विधो भवति ज्ञातव्यः। चतुर्विंशतितीर्थंकराणां यथार्थानुगतैरष्टोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभिः स्तवनं चतुर्विंशतिनामस्तवः, चतुर्विंशतितीर्थंकराणामपरिमितानां कृत्रिमाकृत्रिमस्थापनानां स्तवनं चतुर्विंशतिस्थापनास्तवः। तीर्थंकर-शरीराणां परमौदारिकस्वरूपाणां वर्णभेदेन स्तवनं द्रव्यस्तवः। कैलाससम्मेदोर्जयन्तपावाचम्पानगरादिनिर्वाण-क्षेत्राणां समवसृतिक्षेत्राणां च स्तवनं क्षेत्रस्तवः। स्वर्गावतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलोत्पत्तिनिर्वाणकालानां स्तवनं कालस्तवः। केवलज्ञानकेवलदर्शनादिगुणानां स्तवनं भावस्तवः। अथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म चतुर्विंशतिमात्रं नामस्तवः। चतुर्विंशतितीर्थंकराणां साकृत्यनाकृतिवस्तुनि गुणानारोप्य स्तवनं स्थाप-नास्तवः। द्रव्यस्तवो द्विविधः आगमनोआगमभेदेन। चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञाय्यनुपयुक्त आगमद्रव्य-स्तवः। चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृत[1]ज्ञायक-शरीरभाविजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन नोआगमद्रव्यस्तवस्त्रिविधः, पूर्ववत्सर्वमन्यत्। चतुर्विंशतिस्तवसहितं क्षेत्रं कालश्च क्षेत्रस्तवः कालस्तवश्च। भावस्तव आगमनोआगम-

---

आचारवृत्ति—स्तव में नामस्तव, स्थापनास्तव, द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव और भावस्तव यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए। चौबीस तीर्थंकरों के वास्तविक अर्थ का अनुसरण करने वाले एक हजार आठ नामों से स्तवन करना चतुर्विंशति नामस्तव है। चौबीस तीर्थंकरों की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएँ स्थापना प्रतिमाएँ हैं जो कि अपरिमित हैं। अर्थात् कृत्रिम प्रतिमाएँ अगणित हैं, अकृत्रिम प्रतिमाएँ तो असंख्य हैं उनका स्तवन करना चतुर्विंशति स्थापना-स्तव है। तीर्थंकरों के शरीर, जो कि परमौदारिक हैं, के वर्णभेदों का वर्णन करते हुए स्तवन करना द्रव्यस्तव है। कैलाशगिरि, सम्मेदगिरि, ऊर्जयन्तगिरि, पावापुरी, चम्पापुरी आदि निर्वाण क्षेत्रों का और समवसरण क्षेत्रों का स्तवन करना क्षेत्रस्तव है। स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलोत्पत्ति और निर्वाणकल्याणक के काल का स्तवन करना अर्थात् उन-उन कल्याणकों के दिन भक्तिपाठ आदि करना या उन-उन तिथियों की स्तुति करना कालस्तव है। तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों का स्तवन करना भावस्तव है।

अथवा जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष चतुर्विंशति मात्र का नामकरण है वह नामस्तव है।

चौबीस तीर्थंकरों को आकारवान अथवा अनाकारवान अर्थात् तदाकार अथवा अतदाकार वस्तु में गुणों का आरोपण करके स्तवन करना स्थापनास्तव है।

आगम और नोआगम के भेद से द्रव्यस्तव दो प्रकार का है। जो चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वणन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है ऐसा आत्मा आगम-द्रव्यस्तव है। नो-आगम द्रव्यस्तव के तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। चौबीस तीर्थंकरों के स्तव का वर्णन करनेवाले प्राभृत के ज्ञाता का शरीर ज्ञायकशरीर है। इसके भी भूत, भविष्यत्, वर्तमान की अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं। बाकी सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

---

१ क 'तज्ज्ञश'।

भेदेन द्विविधः। चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञायी उपयुक्त आगमभावचतुर्विंशतिस्तवः। चतुर्विंशतिस्तवपरिणतपरिणामो नोआगमभावस्तव इति। भरतैरावतापेक्षश्चतुर्विंशतिस्तव उक्तः। पूर्वविदेहा[1]परविदेहापेक्षस्तु सामान्यतीर्थकरस्तव इति कृत्वा न दोष इति ॥५४०॥

अत्र नामस्तवेन भावस्तवेन प्रयोजनं सर्वैर्वा प्रयोजनं। तदर्थमाह—

लोगुज्जोए धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥५४१॥

लोको जगत्। उद्योतः प्रकाशः। धर्म उत्तमक्षमादिः। तीर्थं संसारतारणोपायं। धर्ममेव तीर्थं कुर्वन्तीति धर्मतीर्थंकराः। कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषां वरा प्रधाना जिनवराः। अर्हन्तः सर्वज्ञाः। कीर्तनं प्रशंसनं कीर्तनीया वा केवलिनः सर्वप्रत्यक्षाववोधाः। एवं च। उत्तमाः प्रकृष्टाः सर्वपूज्याः। मे बोधिं संसारनिस्तरणोपायं। दिशन्तु ददतु। एवं स्तवः क्रियते। अर्हन्तो लोकोद्योतकरा धर्मतीर्थंकरा जिनवराः

चौबीस तीर्थंकरों से सहित क्षेत्र का स्तवन करना क्षेत्रस्तव है। चौबीस तीर्थंकरों से सहित काल अथवा गर्भ, जन्म आदि का जो काल है उनका स्तवन करना काल-स्तव है।

भावस्तव भी आगम, नोआगम की अपेक्षा दो प्रकार का है। चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत के जो ज्ञाता हैं और उसमें उपयोग भी जिनका लगा हुआ है उन्हें आगमभाव चतुर्विंशति-स्तव कहते हैं।

चतुर्विंशति तीर्थंकरों के स्तवन से परिणत हुए परिणाम को नोआगम भाव-स्तव कहते हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा यह चतुर्विंशति स्तव कहा गया है। किन्तु पूर्वविदेह और अपरविदेह की अपेक्षा से सामान्य तीर्थंकर स्तव समझना चाहिए। इस प्रकार से इसमें कोई दोष नहीं है। अर्थात् पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में ही चतुर्थ काल में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं किन्तु एक सौ साठ विदेह क्षेत्रों में हमेशा ही तीर्थंकर होते रहते हैं अतः उनकी संख्या का कोई नियम नहीं है। उनकी अपेक्षा से इस आवश्यक को सामान्यतया तीर्थंकर स्तव ही कहना चाहिए इसमें कोई दोष नहीं है।

यहाँ पर नामस्तव से प्रयोजन है या भावस्तव से अथवा सभी स्तवों से? ऐसा प्रश्न होने पर उसी का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—लोक में उद्योत करनेवाले धर्म तीर्थ के कर्ता अर्हन्त केवली जिनेश्वर प्रशंसा के योग्य हैं। वे मुझे उत्तम बोधि प्रदान करें ॥५४१॥

आचारवृत्ति—लोक अर्थात् जगत् में उद्योत अर्थात् प्रकाश को करनेवाले लोकोद्योतकर कहलाते हैं। उत्तमक्षमादि को धर्म कहते हैं और संसार से पार होने के उपाय को तीर्थ कहते हैं अतः यह धर्म ही तीर्थ है। इस धर्मतीर्थ को करनेवाले अर्थात् चलानेवाले धर्म तीर्थंकर कहलाते हैं। कर्मरूपी शत्रुओं को जीतनेवाले को जिन कहते हैं और उनमें वर अर्थात् जो प्रधान

---

१ क पूर्वविदेहापेक्षस्तु।

केवलिन उत्तमाश्च ये तेषां कीर्तनं प्रशंसनं बोधिं मह्यं दिशन्तु प्रयच्छन्तु। अथवा एते अर्हतो धर्मतीर्थकरा लोकोद्योतकराः जिनवराः कीर्तनीया उत्तमाः केवलिनो मम बोधिं दिशन्तु। अथवा अर्हन्तः सर्वविशेषणविशिष्टाः केवलिनां च कीर्तनं मह्यं बोधिं प्रयच्छन्त्विति सम्बन्धः ॥५४१॥

एतैर्दशभिरधिकारैश्चतुर्विंशतिस्तवो व्याख्यायत इति कृत्वादौ तावल्लोकनिरुक्तिमाह—

लोयदि आलोयदि पल्लोयदि सल्लोयदित्ति एगत्थो[1]।
जह्मा जिणेहिं कसिणं तेणेसो वुच्चदे लोओ ॥५४२॥

लोक्यते आलोक्यते प्रलोक्यते संलोक्यते दृश्यते इत्येकार्थः। कैर्जिनैरिति तस्माल्लोक इत्युच्यते? कथं छद्मस्थावस्थायां—मतिज्ञानश्रुतज्ञानाभ्यां लोक्यते दृश्यते यस्मात्तस्माल्लोकः। अथवावधिज्ञानेनालोक्यते पुद्गलमर्यादारूपेण दृश्यते यस्मात्तस्माल्लोकः। अथवा मनःपर्ययज्ञानेन प्रलोक्यते विशेषेण रूपेण दृश्यते

हैं वे जिनवर कहलाते हैं। सर्वज्ञदेव को अर्हन्त कहते हैं। तथा सर्व को प्रत्यक्ष करनेवाला जिनका ज्ञान है वे केवली हैं। इन विशेषणों से विशिष्ट अर्हन्त भगवान् उत्तम हैं, प्रकृष्ट हैं, सर्व पूज्य हैं। ऐसे जिनेन्द्र भगवान् मुझे संसार से पार होने के लिए उपायभूत ऐसी बोधि को प्रदान करें। इस प्रकार से यह स्तव किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि लोक में उद्योतकारी, धर्मतीर्थंकर, जिनवर, केवली, अर्हन्त भगवान् उत्तम हैं। इस प्रकार से उनका कीर्तन करना, उनकी प्रशंसा करना तथा 'वे मुझे बोधि प्रदान करें' ऐसा कहना ही स्तव है। अथवा ये अर्हन्त, धर्मतीर्थंकर, लोकोद्योतकर, जिनवर, कीर्तनीय, उत्तम, केवली भगवान् मुझे बोधि प्रदान करें। अथवा अर्हन्त भगवान् सर्व विशेषणों से विशिष्ट हैं वे मुझे बोधि प्रदान करें ऐसा केवली भगवान् का स्तवन करना ही स्तव है।

अब आगे इन्हीं दश अधिकारों द्वारा चतुर्विंशतिस्तव का व्याख्यान किया जाता है। उसमें सर्वप्रथम लोक शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—लोकित किया जाता है, आलोकित किया जाता है, प्रलोकित किया जाता है और संलोकित किया जाता है, ये चारों क्रियाएँ एक अर्थवाली हैं। जिस हेतु से जिनेन्द्रदेव द्वारा यह सब कुछ अवलोकित किया जाता है इसीलिए यह 'लोक' कहा जाता है।५४२॥

आचारवृत्ति—लोकन करना—(अवलोकन करना), आलोकन करना, प्रलोकन करना, संलोकन करना, और देखना ये शब्द पर्यायवाची शब्द हैं। जिनेन्द्र देव द्वारा यह सर्वजगत् लोकित—अवलोकित कर लिया जाता है इसीलिए इसकी 'लोक' यह संज्ञा सार्थक है। यहाँ पर इन चारों क्रियाओं का पृथक्करण करते हुए भी टीकाकार स्पष्ट करते हैं। छद्मस्थ अवस्था में मति और श्रुत इन दो ज्ञानों के द्वारा यह सर्व 'लोक्यते' अर्थात् देखा जाता है इसीलिए इसे 'लोक' कहते हैं। अथवा अवधिज्ञान द्वारा मर्यादारूप से यह 'आलोक्यते' आलोकित किया जाता है इसलिए यह 'लोक' कहलाता है। अथवा मन:पर्ययज्ञान के द्वारा 'प्रलोक्यते' विशेष रूप से यह देखा जाता है अतः 'लोक' कहलाता है। अथवा केवलज्ञान के द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवान् इस

---

१ क एयट्ठो।

यस्मात्तस्माल्लोकः। अथवा केवलज्ञानेन जिनैः कृत्स्नं यथा भवतीति तथा संलोक्यते सर्वद्रव्यपर्यायैः सम्यगुपलभ्यते यस्मात्तस्माल्लोकः। तेन कारणेन लोकः स इत्युच्यत इति ॥५४२॥

नवप्रकारैर्निक्षेपैर्लोकस्वरूपमाह—

णाम ट्ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोओ य।
भवलोगो भावलोगो पज्जयलोगो य णादव्वो ॥५४३॥

नात्र विभक्तिनिर्देशस्य प्राधान्यं प्राकृतेऽन्यथापि वृत्तेः। लोकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। नामलोकः स्थापनालोको द्रव्यलोकः क्षेत्रलोकश्चिह्नलोकः कषायलोको भवलोको भावलोकः पर्यायलोकश्च ज्ञातव्य इति ॥५४३॥

तत्र नामलोकं विवृण्वन्नाह—

णामाणि जाणि काणि[1] चि सुहासुहाणि[2] लोगह्नि।
णामलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४४॥

नामानि संज्ञारूपाणि, यानि कानिचिच्छुभान्यशुभानि च शोभनान्यशोभनानि च सन्ति विद्यंते जीवलोकेऽस्मिन् तन्नामलोकमनन्तजिनदर्शितं विजानीहि। न विद्यतेऽन्तो विनाशोऽवसानं वा येषां तेऽनन्तास्ते च ते जिनाश्चानन्तजिनास्तैर्दृष्टो यतः इति ॥५४६॥

सम्पूर्ण जगत् को जैसा है वैसा ही 'संलोक्यते' संलोकन करते हैं अर्थात् सर्व द्रव्य पर्यायों को सम्यक् प्रकार से उपलब्ध कर लेते हैं—जान लेते हैं इसलिए इसको 'लोक' इस नाम से कहा गया है।

नव प्रकार के निक्षेपों से लोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, चिह्न, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक ये नवलोक जानना चाहिए ॥५४३॥

आचारवृत्ति—यहाँ इस गाथा में लोक के निर्देश की विभक्ति प्रधान नहीं है क्योंकि प्राकृत में अन्यथा भी वृत्ति देखी जाती है। इनमें प्रत्येक के साथ 'लोक' शब्द को लगा लेना चाहिए। जैसे कि नामलोक, स्थापनालोक, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, चिह्नलोक, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक इन भेदों से लोक की व्याख्या नव प्रकार की हो जाती है।

उनमें से अब नामलोक का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—लोक में जो कोई भी शुभ या अशुभ नाम है उनको अन्तरहित जिनेन्द्रदेव ने नामलोक कहा है ऐसा जानो ॥५४४॥

आचारवृत्ति—इस जीव लोक में जो कुछ भी शोभन और अशोभन नाम हैं उनको अनन्त जिनेन्द्र ने नामलोक कहा है। जिनका अन्त अर्थात् विनाश या अवसान नहीं है वे अनन्त कहलाते हैं। ऐसे अनन्त विशेषण से विशिष्ट जिनेश्वरों ने देखा है—इस कारण से नामलोक ऐसा कहा है।

---

१ क 'णिवि। २ क 'णि य संति लोगंति।

स्थापनालोकमाह—

ठविदं ठाविदं चावि जं किंवि अत्थि लोगह्मि ।
ठवणालोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४५॥

ठविदं—स्वतः स्थितमकृत्रिमं । ठाविदं—स्थापितं कृत्रिमं चापि यत्किंचिदस्ति विद्यतेऽस्मिन् लोके तत्सर्वं स्थापनालोकमिति जानीहि, अनन्तजिनदर्शितत्वादिति ॥५४५॥

द्रव्यलोकस्वरूपमाह—

जीवाजीवं रूवारूवं सपदेसमप्पदेसं च ।
दव्वलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४६॥

जीवाश्चेतनावन्तः । अजीवाः कालाकाशधर्माधर्माः पुद्गलाः । रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दवन्तः पुद्गलाः । अरूपिणः कालाकाशधर्माधर्मा जीवाश्च । सप्रदेशाः सर्वे जीवादयः । अप्रदेशौ कालाणुपरमाणू च । एनं सर्वलोकं द्रव्यलोकं विजानीहि, अक्षयसर्वज्ञदृष्टो यत इति ॥५४६॥

तथेममपि द्रव्यलोकं विजानीहीत्याह—

परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एक्कखेत्त किरिओ य ।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरह्मि अपवेसो ॥५४७॥

स्थापना लोक को कहते हैं—

गाथार्थ—इस लोक में स्थित और स्थापित जो कुछ भी है उसको अनन्त जिन द्वारा देखा गया स्थापना लोक समझो ॥५४५॥

आचारवृत्ति—जो स्वतः स्थित है वह अकृत्रिम है और जो स्थापना निक्षेप से स्थापित किया गया है वह कृत्रिम है। इस लोक में ऐसा जो कुछ भी है वह सभी स्थापना-लोक है ऐसा जानो, क्योंकि अनन्त जिनेश्वर ने उसे देखा है।

द्रव्यलोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जीव, अजीव, रूपी, अरूपी तथा सप्रदेशी एवं अप्रदेशी को अनन्तजिन द्वारा देखा गया द्रव्यलोक जानो ॥५४६॥

आचारवृत्ति—चेतनावान् जीव हैं और धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल ये अजीव हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दवाले पुद्गल रूपी हैं। काल, आकाश, धर्म, अधर्म और जीव ये अरूपी हैं। सभी जीवादि द्रव्य सप्रदेशी हैं और कालाणु तथा परमाणु अप्रदेशी हैं अर्थात् ये एक प्रदेशी हैं। इस सर्वलोक को द्रव्यलोक समझो क्योंकि यह अक्षय सर्वज्ञदेव के द्वारा देखा गया है।

तथा इनको भी द्रव्यलोक जानो ऐसा आगे और कहते हैं—

गाथार्थ—परिणामी, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक, क्षेत्र, क्रियावान्, नित्य, कारण, कर्ता

परिणामोऽन्यथाभावो विद्यते येषां ते परिणामिनः। के ते जीवपुद्गलाः। शेषाणि धर्माधर्मकालाकाशान्यपरिणामीनि कुतो द्रव्यार्थिकनयापेक्षया व्यञ्जनपर्यायं चाश्रित्यैतदुक्तं। पर्यायार्थिकनयापेक्षयान्वर्थपर्यायमाश्रित्य सर्वेऽपि परिणामापरिणामात्मका यत इति। जीवो जीवद्रव्यं चेतनालक्षणो यतः। अजीवाः पुनः सर्वे पुद्गलादयो ज्ञातृत्वदृष्टृत्वाद्यभावादिति। मूर्तं पुद्गलद्रव्यं रूपादिमत्त्वात्। शेषाणि जीवधर्माधर्मकालाकाशान्यमूर्तानि रूपादिविरहितत्वात्। सप्रदेशानि सांशानि जीवधर्माधर्मपुद्गलाकाशानि[1] प्रदेशबन्धदर्शनात्। अप्रदेशाः कालाणवः परमाणुश्च प्रचयाभावाद् बन्धाभावाच्च। धर्माधर्माकाशान्येकरूपाणि सर्वदा प्रदेशविघाताभावात्। शेषाः संसारिजीवपुद्गलकाला अनेकरूपाः प्रदेशानां भेददर्शनात्। आकाशं क्षेत्रं सर्वपदार्थानामाधारत्वात्।

और सर्वगत तथा इनसे विपरीत अपरिणामी आदि के द्वारा द्रव्य लोक को जानना चाहिए ॥५४७॥*

आचारवृत्ति—परिणाम अर्थात् अन्य प्रकार से होना जिनमें पाया जाय वे द्रव्य परिणामी कहलाते हैं। वे जीव और पुद्गल हैं। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अपरिणामी हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से व्यंजनपर्याय का आश्रय लेकर यह कथन किया गया है। तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्वर्थपर्याय का आश्रय लेकर सभी द्रव्य परिणामापरिणामात्मक हैं अर्थात् सभी द्रव्य कथंचित् परिणामी हैं, कथंचित् अपरिणामी हैं। जीव द्रव्य चेतना लक्षणवाला है, बाकी पुद्गल आदि सभी अजीव द्रव्य हैं, क्योंकि इनमें ज्ञातृत्व दृष्टृत्व आदि का अभाव है। पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, क्योंकि वह रूपादिमान् है। शेष जीव, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं, क्योंकि ये रूपादि से रहित हैं। जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल और आकाश सप्रदेशी हैं अर्थात् ये अंश सहित हैं; क्योंकि इनमें प्रदेशबन्ध देखा जाता है। कालाणु और परमाणु अप्रदेशी हैं क्योंकि इनमें प्रचय का अभाव है और बन्ध का भी अभाव है। धर्म, अधर्म और आकाश ये एक रूप हैं अर्थात् अखण्ड हैं, क्योंकि हमेशा इनके प्रदेश के विघात का अभाव है। शेष संसारी जीव, पुद्गल और काल ये अनेकरूप हैं, चूँकि इनके प्रदेशों में भेद देखा जाता है। अर्थात् ये अनेक हैं इनके प्रदेश पृथक्-पृथक् हैं।

आकाश क्षेत्र है क्योंकि वह सर्व पदार्थों के लिए आधारभूत है। शेष जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल अक्षेत्र हैं क्योंकि इनमें अवगाहन लक्षण का अभाव है। जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं क्योंकि इनकी गति देखी जाती है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल

---

1 क 'नि सप्र'।

*निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

परियट्टणदो ठिदि अविसेसेण विसेसिदं दव्वं।
कालोत्ति तं हि भणिदं तेहिं असंखेज्जकालाणु ॥

अर्थात् प्रत्येक घट पट आदिकों में नया, पुराना इत्यादि परिवर्तन देखने से काल नामक पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रत्येक पदार्थ कुछ स्थिति को धारण करता है। पदार्थ की यह स्थिति काल के बिना नहीं हो सकती है अतः यह काल नामक पदार्थ द्रव्य है ऐसा जिनेश्वर ने कहा है और यह काल द्रव्य असंख्यात है।

शेषा जीवपुद्गलधर्माधर्मकाला अक्षेत्राणि अवगाहनलक्षणाभावात्। जीवपुद्गला: क्रियावन्तो गतेर्दर्शनात् शेषा धर्माधर्माकाशकाला अक्रियावन्तो गतिक्रियाया अभावदर्शनात्। नित्या धर्माधर्माकाशपरमार्थकाला व्यवहारनयापेक्षया व्यञ्जनपर्यायाभावमपेक्ष्य विनाशाभावात्। जीवपुद्गला अनित्या व्यञ्जनपर्यायदर्शनात्। कारणानि पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशानि जीवोपकारकत्वेन वृत्तत्वात्। जीवोऽकारणं स्वतंत्रत्वात्। जीवः कर्ता शुभाशुभभोक्तृत्वात्। शेषा धर्माधर्मपुद्गलाकाशकाला अकर्तारः शुभाशुभभोक्तृत्वाभावात् आकाशं सर्वगतं सर्वत्रोपलभ्यमानत्वात्। शेषाण्यसर्वगतानि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालद्रव्याणि सर्वत्रोपलंभाभावात्। तस्मात्परिणामजीवमूर्तसप्रदेशैकक्षेत्रक्रियावन्नित्यकारणकर्तृसर्वगति [गत]स्वरूपेण द्रव्यलोकं जानीहि, इतरैश्चापरिणामादिभिः प्रदेशैः द्रव्यलोकं जानीहीति सम्बन्धः ॥५४७॥

क्षेत्रलोकस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अक्रियावान् हैं क्योंकि इनमें गति क्रिया का अभाव है। धर्म, अधर्म, आकाश और परमार्थकाल नित्य हैं, क्योंकि व्यवहार नय की अपेक्षा से, व्यंजन पर्याय के अभाव की अपेक्षा से, उनका विनाश नहीं होता है। अर्थात् इन द्रव्यों में व्यंजन पर्याय नहीं होने से उनका विनाश नहीं होता है। जीव और पुद्गल अनित्य हैं क्योंकि इनमें व्यंजन पर्याय देखी जाती हैं। अर्थात् जीव, पुद्गल भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं किन्तु व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से अनित्य हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश कारण हैं क्योंकि जीव के प्रति उपकार रूप से ये वर्तन करते हैं। किन्तु जीव अकारण है क्योंकि वह स्वतन्त्र है। जीव कर्ता है, क्योंकि वह शुभ और अशुभ का भोक्ता है। शेष धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश और काल अकर्ता हैं, क्योंकि उनमें शुभ, अशुभ के भोक्तृत्व का अभाव है। आकाश सर्वगत है क्योंकि वह सर्वत्र उपलब्ध हो रहा है। किन्तु शेष बचे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य असर्वगत हैं क्योंकि इनके सर्वत्र (लोकालोक में) उपलब्ध होने का अभाव है।

इसलिए परिणाम, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक, क्षेत्र, क्रियावान, नित्य, कारण, कर्तृत्व और सर्वगत इन स्वरूप से द्रव्य लोक को जानो। इससे इतर अर्थात् अपरिणाम, अजीव, अमूर्त आदि प्रदेशों से द्रव्यलोक को जानो, ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर 'भिन्न रूप धारण करना' यह परिणाम का लक्षण किया है। यह मात्र व्यंजन पर्याय की अपेक्षा रखता है। अन्यत्र परिणाम का लक्षण ऐसा किया है कि पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को ग्रहण करते हुए अपने मूल स्वभाव को न छोड़ना उस लक्षणवाला परिणाम तो सभी द्रव्यों में पाया जाता है। इसलिए व्यंजन पर्याय की दृष्टि से जीव और पुद्गल इनमें ही परिणमन होता है। शेष चार द्रव्य अपरिणामी हो जाते हैं किन्तु अर्थपर्याय की अपेक्षा से छहों द्रव्य परिणामी हैं। कूटस्थ नित्य अपरिणामी नहीं हैं। जीव पुद्गल में अन्यथा परिणमन देखा जाता है किन्तु शेष द्रव्य अपने-अपने सजातीय परिणमन की अपेक्षा से परिणमनशील हैं। ऐसे ही, आगे भी छहों द्रव्यों में नय विवक्षा से यथायोग्य जीवत्व, मूर्तत्व, सप्रदेशत्व इत्यादि धर्म घटित करना चाहिए।

क्षेत्रलोक का स्वरूप कहते हैं—

आयासं सपदेशं उड्ढमहो तिरियलोगं च।
खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४८॥

आकाशं सप्रदेशं प्रदेशैः सह। ऊर्ध्वलोकं मध्यलोकमधोलोकं च। एतत्सर्वं क्षेत्रलोकमनन्तजिनदृष्टं विजानीहीति ॥५४८॥

चिह्नलोकमाह—

जं दिट्ठं संठाणं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।
चिण्हलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४९॥

द्रव्यसंस्थानं धर्माधर्मयोर्लोकाकारेण संस्थानं। कालद्रव्यस्याकाशप्रदेशस्वरूपेण संस्थानं। आकाशस्य केवलज्ञानस्वरूपेण संस्थानं। लोकाकाशस्य गृहगुहादिस्वरूपेण संस्थानं। पुद्गलद्रव्यस्य लोकस्वरूपेण संस्थानं द्वीपनदीसागरपर्वतपृथिव्यादिरूपेण संस्थानं। जीवद्रव्यस्य समचतुरस्रन्यग्रोधादिस्वरूपेण संस्थानं। गुणानां द्रव्याकारेण कृष्णनीलशुक्लादिस्वरूपेण वा संस्थानं। पर्यायाणां दीर्घह्रस्ववृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिनारकत्वतिर्य-

---

गाथार्थ—आकाश सप्रदेशी है। ऊर्ध्व, अधः और मध्य लोक हैं। अनन्त जिनेन्द्र द्वारा देखा गया यह सब क्षेत्रलोक है, ऐसा जानो ॥५४८॥

आचारवृत्ति—आकाश अनन्त प्रदेशी है किन्तु लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश हैं। उसमें ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ऐसे भेद हैं। अनन्त—शाश्वत जिनेन्द्र देव के द्वारा देखा गया यह सब क्षेत्रलोक है ऐसा तुम समझो।

चिह्नलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, गुण और पर्यायों का जो आकार देखा जाता है अनन्त जिन द्वारा दृष्ट वह चिह्न लोक है ऐसा जानो ॥५४९॥

आचारवृत्ति—पहले द्रव्य का संस्थान—आकार बताते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकार से संस्थान है अर्थात् ये दोनों द्रव्य लोकाकाश में व्याप्त होने से लोकाकाश के समान ही आकारवाले हैं। काल द्रव्य का आकाश के एक प्रदेश स्वरूप से आकार है अर्थात् काल द्रव्य असंख्यात हैं। प्रत्येक कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं इसलिए जो एक प्रदेश का आकार है वही कालाणु का आकार है। आकाश का केवलज्ञान स्वरूप से संस्थान है। लोकाकाश का घर, गुफा आदि स्वरूप से संस्थान है। पुद्गल द्रव्य का लोकस्वरूप से संस्थान है तथा द्वीप, नदी, सागर, पर्वत और पृथ्वी आदि रूप से संस्थान है। अर्थात् महास्कन्ध की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य का आकार लोकाकाश जैसा है क्योंकि वह महास्कन्ध लोकाकाशव्यापी है। तथा अन्य पुद्गल स्कन्ध नदी, द्वीप आदि आकार से स्थित हैं। जीव द्रव्य का समचतुरस्र, न्यग्रोध आदि स्वरूप से संस्थान है अर्थात् नाम कर्म के अन्तर्गत संस्थान के समचतुरस्र, संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, वामन, कुब्जक और हुंडक ऐसे छह भेद माने हैं। जीव संसार में इन छहों में से किसी एक संस्थान को लेकर ही शरीर धारण करता है तथा मुक्त जीव भी जिस संस्थान से मुक्त होते हैं उनके आत्म प्रदेश मुक्तावस्था में उसी आकार के ही रहते हैं। इस प्रकार यहाँ द्रव्यों के संस्थान कहे गये।

क्त्वमनुष्यत्वदेवत्वादिस्वरूपेण संस्थानं। यद्दृष्टं संस्थानं द्रव्याणां गुणानां पर्यायाणां च चिह्नलोकं विजानीहीति ॥५४९॥

कषायलोकमाह—

कोधो माणो माया लोभो उदिण्णा जस्स जंतुणो।
कसायलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५५०॥

यस्य जन्तोर्जीवस्य क्रोधमानमायालोभा उदीर्णा उदयमागताः तं कषायलोकं विजानीहीति अनन्तजिनदर्शितम् ॥५५०॥

भवलोकमाह—

णेरइयदेवमाणुसतिरिक्खजोणिं गदाय जे सत्ता।
णिययभवे वट्टंता भवलोगं तं विजाणाहि ॥५५१॥

नारकदेवमनुष्यतिर्यग्योनिषु गताश्च ये जीवा निजभवे निजायुःप्रमाणे वर्तमानास्तं भवलोकं विजानीहीति ॥५५१॥

भावलोकमाह—

गुणों के संस्थान को कहते हैं—द्रव्य के आकार से रहना गुणों का संस्थान है अथवा कृष्ण, नील, शुक्ल, आदि स्वरूप जो गुण हैं उन रूप से रहना गुणों का संस्थान है।

पर्यायों के संस्थान को भी बताते हैं—दीर्घ, ह्रस्व, गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि तथा नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, और देवत्व आदि स्वरूप से आकार होना यह पर्यायों का संस्थान है। अर्थात् दीर्घ, ह्रस्व आदि आकार पुद्गल की पर्यायों के हैं। तथा नारकपना आदि संस्थान जीव की पर्यायों के हैं। इस प्रकार से जो भी द्रव्यों के गुणों के, तथा पर्यायों के संस्थान देखे जाते हैं उन्हें ही चिह्नलोक जानो।

कषायलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ जिस जीव के उदय में आ रहे हैं, उसे अनन्त जिन देव के द्वारा कथित कषायलोक जानो ॥५५०॥

आचारवृत्ति—जिन जीवों के क्रोधादि कषायें उदय में आ रही हैं, उन कषायों को अथवा उनसे परिणत हुए जीवों को कषायलोक कहते हैं।

भवलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—नारक, देव, मनुष्य और तिर्यंच योनि को प्राप्त हुए जो जीव अपने भव में वर्तमान हैं उन्हें भवलोक जानो ॥५५१॥

आचारवृत्ति—नरक आदि योनि को प्राप्त हुए जीव अपने उस भव में अपनी-अपनी आयु प्रमाण जीवित रहते हैं। उन जीवों के भावों को या उन जीवों को ही भवलोक कहा है।

भावलोक को कहते हैं—

तिव्वो रागो य दोसो य उदिण्णा जस्स जंतुणो ।
भावलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५५२॥

यस्य जन्तोस्तीव्रौ रागद्वेषौ प्रीतिविप्रीती उदीर्णौ उदयमागतौ तं भावलोकं विजानीहीति ॥५५४॥

पर्यायलोकमाह—

दव्वगुणखेत्तपज्जय भवाणुभावो य भावपरिणामो ।
जाण चउव्विहमेयं पज्जयलोगं समासेण ॥५५३॥

द्रव्याणां गुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यकर्तृत्वभोक्तृत्वकृष्णनीलशुक्लरक्तपीतगतिकारकत्वस्थितिकारकत्वावगाहनागुरुलघुवर्तनादयः । क्षेत्रपर्यायाः सप्तनरकपृथ्वीप्रदेशपूर्वविदेहापरविदेहभरतैरावतद्वीपसमुद्रत्रिषष्टिस्वर्गभूमिभेदादयः । भवानामनुभवः आयुषो जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पः । भावो [1]नाम परिणामोऽसंख्याततलोकप्रदेशमात्रः शुभाशुभरूपः कर्मादाने परित्यागे वा[2] समर्थः । द्रव्यस्य गुणाः पर्यायलोकः, क्षेत्रस्य पर्यायाः पर्यायलोकः भवस्यानुभवाः पर्यायलोकः भावो नाम परिणामः पर्यायलोकः । एवं चतुर्विधं पर्यायलोकं समासेन जानीहीति ॥५५३॥

गाथार्थ—तीव्र राग और द्वेष जिस जीव के उदय में आ गये हैं उसे तुम अनन्तजिन के द्वारा कथित भावलोक जानो ॥५५२॥

आचारवृत्ति—जिस जीव के तीव्र राग-द्वेष उदय को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् किसी में प्रीति, किसी में अप्रीति चल रही है उन उदयागत भावों को ही भावलोक कहते हैं ।

पर्यायलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्यगुण, क्षेत्र-पर्याय, भवानुभाव और भाव परिणाम, संक्षेप से यह चार प्रकार का पर्यायलोक जानो ॥५५३॥

आचारवृत्ति—द्रव्यों के गुण—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये जीव के गुण हैं । कृष्ण, नील, शुक्ल, रक्त और पीत ये पुद्गल के गुण हैं । गतिकारकत्व धर्म द्रव्य का गुण है । स्थितिकारकत्व यह अधर्म द्रव्य का गुण है । अवगाहनत्व आकाश द्रव्य का गुण है । अगुरुलघु गुण सब द्रव्यों का गुण है और वर्तना आदि काल का गुण है ।

क्षेत्रपर्याय—सप्तम नरक पृथ्वी के प्रदेश, पूर्वविदेह, अपरविदेह, भरतक्षेत्र ऐरावतक्षेत्र, द्वीप, समुद्र, त्रेसठ स्वर्गपटल इत्यादि भेद क्षेत्र की पर्यायें हैं । भवानुभाव—आयु के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद भवानुभाव हैं । भावपरिणाम—भाव अर्थात् परिणाम ये असंख्यात लोक प्रदेश प्रमाण हैं, शुभ-अशुभरूप हैं । ये कर्मों को ग्रहण करने में अथवा कर्मों का परित्याग करने में समर्थ हैं । अर्थात् आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामों से कर्म आते हैं तथा उदय में आकर फल देकर नष्ट भी हो जाते हैं ।

द्रव्य के गुण पर्यायलोक हैं, क्षेत्र की पर्यायें पर्यायलोक हैं, भव का अनुभव पर्यायलोक है और भावरूप परिणाम पर्यायलोक हैं । इस प्रकार संक्षेप से पर्यायलोक चार प्रकार का है, ऐसा जानो । इस तरह नव प्रकार के निक्षेप से नवप्रकार के लोक का स्वरूप कहा गया है ।

---

१ क नाम अनुभवपर्यायः प । २ क वा असमर्थः ।

उद्योतस्य स्वरूपमाह—

उज्जोवो खलु दुविहो णादव्वो दव्वभावसंजुत्तो ।
दव्वुज्जोवो [1]अग्गी चंदो सूरो मणी चेव ।।५५४।।

उद्योतः प्रकाश खलु द्विविधः स्फुटं ज्ञातव्यो द्रव्यभावभेदेन । द्रव्यसंयुक्तो भावसंयुक्तश्च । तत्र द्रव्योद्योतोऽग्निश्चन्द्रः सूर्यो मणिश्च । एवकारः प्रकारार्थः । एवंविधोऽन्योऽपि द्रव्योद्योतो ज्ञात्वा वक्तव्य इति ।।५५६।।

भावोद्योतं निरूपयन्नाह—

भावुज्जोवो णाणं जह भणियं सव्वभावदरिसीहिं ।
तस्स दु पओगकरणे भावुज्जोवोत्ति णादव्वो ।।५५५।।

भावोद्योतो नाम ज्ञानं यथा भणितं सर्वभावदर्शिभिः येन प्रकारेण सर्वपदार्थदर्शिभिर्ज्ञानमुक्तं तद्भावोद्योतः परमार्थोद्योतस्तथा ज्ञानस्योपयोगकरणात् स्वपरप्रकाशकत्वाद्भावोद्योत इति ज्ञातव्यः ।।५५७।।

पुनरपि भावोद्योतस्य भेदमाह—

पंचविहो खलु भणिओ भावुज्जोवो य जिणवरिंदेहिं ।
आभिणिबोहियसुदओहि-णाणमणकेवलमओ [1]य ।।५५६।।

उद्योत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से युक्त उद्योत निश्चय से दो प्रकार का जानना चाहिए। अग्नि, चन्द्र, सूर्य और मणि ये द्रव्य उद्योत हैं ।।५५४।।

आचारवृत्ति—उद्योत—प्रकाश स्पष्टरूप से द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का ह । अर्थात् द्रव्यसंयुक्त और भावसंयुक्त उद्योत । उसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और मणि ये द्रव्य-उद्योत हैं । इसी प्रकार के अन्य भी द्रव्य-उद्योत जानकर कहना चाहिए। अर्थात् प्रकाशमान पदार्थ को यहाँ द्रव्य-उद्योत कहा गया है ।

भाव-उद्योत को कहते हैं—

गाथार्थ—भाव-उद्योत ज्ञान है जैसाकि सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया है। उसके उपयोग करने में भाव उद्योत है ऐसा जानना चाहिए ।।५५५।।

आचारवृत्ति—जिस प्रकार से सर्वपदार्थ के देखने, जाननेवाले सर्वज्ञदेव ने ज्ञान का कथन किया है वह भाव उद्योत है, वही परमार्थ उद्योत है। वह ज्ञान स्वपर का प्रकाशक होने से भाव उद्योत है ऐसा जानना चाहिए । अर्थात् ज्ञान ही चेतन-अचेतन पदार्थों का प्रकाशक होने से सच्चा प्रकाश है ।

पुनः भाव-उद्योत के भेद कहते हैं—

गाथार्थ—जिनवर देव ने निश्चय से भावोद्योत पाँच प्रकार का कहा है। वह आभिनि-

---

१ जोऊ द॰। १ ॰लंणेयं।

स भावोद्योतो जिनवरेन्द्रैः पंचविधः पंचप्रकारः खलु स्फुटं, भणितः प्रतिपादितः। आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययकेवलमयो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पंचप्रकार इति ॥५५६॥*

द्रव्यभावोद्योतयोः स्वरूपमाह—

दव्वुज्जोवोजोवो पडिहण्णदि परिमिदह्मि खेत्तह्मि।
भावुज्जोवोजोवो लोगालोगं पयासेदि ॥५५७॥

द्रव्योद्योतो य उद्योतः स प्रतिहन्यतेऽन्येन द्रव्येण परिमिते न क्षेत्रे वर्तते। भावोद्योतः पुनरुद्योतो लोकमलोकं च प्रकाशयति न प्रतिहन्यते नापि परिमिते क्षेत्रे वर्ततेऽप्रतिघातिसर्वगतत्वादिति ॥५५७॥

तस्मात्—

लोगस्सुज्जोवयरा दव्वुज्जोएण ण हु जिणा होंति।
भावुज्जोवयरा पुण होंति जिणवरा चउव्वीसा ॥५५८॥

बोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं ऐसा जानना ॥५५६॥

आचारवृत्ति—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से वह भावोद्योत पाँच प्रकार का है ऐसा श्रीजिनेन्द्र ने कहा है।

द्रव्यभाव उद्योत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्योद्योत रूप प्रकाश अन्य से बाधित होता है, परिमित क्षेत्र में रहता है और भावोद्योत प्रकाश, लोक-अलोक को प्रकाशित करता है ॥५५७॥

आचारवृत्ति—जो द्रव्योद्योत का प्रकाश है वह अन्य द्रव्य के द्वारा नष्ट हो जाता है और सीमित क्षेत्र में रहता है। किन्तु भावोद्योत रूप प्रकाश लोक और अलोक को प्रकाशित करता है, किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता है और न परिमित क्षेत्र में ही रहता है; क्योंकि वह अप्रतिघाती और सर्वगत है। अर्थात् ज्ञानरूप प्रकाश सर्व लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाला है. किसी मेघ या राहु आदि के द्वारा बाधित नहीं होता है और सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है। किन्तु सूर्य, मणि आदि के प्रकाश अन्य के द्वारा रोके जा सकते हैं एवं स्वल्प क्षेत्र में ही प्रकाश करनेवाले हैं।

इसलिए—

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् निश्चितरूप से द्रव्यउद्योत के द्वारा लोक को प्रकाशित करनेवाले नहीं होते हैं, किन्तु वे चौबीसों तीर्थंकर तो भावोद्योत से प्रकाश करनेवाले होते हैं ॥५५८॥

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

लोयालोयपयासं अक्खलिगं णिम्मलं असंदिद्धं।
जं णाणं अरहंता भावुज्जोवो त्ति वुच्चंति ॥

अर्थात् जो ज्ञान लोकालोक को प्रकाशित करता है कभी स्खलित नहीं होता है, निर्मल है, संशयरहित है, अरिहंतदेव ऐसे ज्ञान को भावोद्योत कहते हैं।

लोकस्योद्योतकरा द्रव्योद्योतेन नैव भवन्ति जिनाः। भावोद्योतकराः पुनर्भवन्ति जिनवराश्चतुर्विंशतिः। अतो भावोद्योतेनैव लोकस्योद्योतकरा जिना इति स्थितमिति। लोकोद्योतकरा इति व्याख्यातं।

धर्मतीर्थंकरा इति पदं व्याख्यातुकामः प्राह—

तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य।
तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं ॥५५९॥

धर्मस्तावत्त्रिप्रकारो भवति। श्रुतधर्मोऽस्तिकायधर्मस्तृतीयश्चारित्रधर्मः। अत्र पुनः श्रुतधर्मस्ती[1]र्थन्तिरं संसारसागरं तरन्ति येन तत्तीर्थमिति ॥५५९॥

तीर्थस्य स्वरूपमाह—

दुविहं च होइ तित्थं णादव्वं दव्वभावसंजुत्तं।
एदेसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणा होदि ॥५६०॥

द्विविधं च भवति तीर्थं द्रव्यसंयुक्तं भावसंयुक्तं चेति। द्रव्यतीर्थमपरमार्थरूपं। भावतीर्थं पुनः परमार्थभूतमन्यापेक्षाभावात्। एतयोर्द्वयोरपि तीर्थयोः प्रत्येकं प्ररूपणा भवति ॥५६०॥

द्रव्यतीर्थ[1]स्य स्वरूपमाह—

आचारवृत्ति—चौबीस तीर्थंकर द्रव्य प्रकाश से लोक को प्रकाशित नहीं करते हैं, किन्तु वे ज्ञान के प्रकाश से ही लोक का उद्योत करनेवाले होते हैं यह बात व्यवस्थित हो गई। इस तरह 'लोकोद्योतकरा' इसका व्याख्यान हुआ।

'धर्मतीर्थंकरा' इस पद का व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—धर्म तीन प्रकार का है—श्रुत धर्म, अस्तिकायधर्म और चारित्रधर्म। किन्तु यहाँ श्रुतधर्म तीर्थ है ॥५५९॥

आचारवृत्ति—श्रुतधर्म, अस्तिकाय धर्म और चारित्रधर्म इन तीनों में श्रुतधर्म को तीर्थ माना है। जिससे संसारसागर को तिरते हैं वह तीर्थ है सो यह श्रुत अर्थात् जिनदेव कथित आगम ही सच्चा तीर्थ है।

तीर्थ का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से संयुक्त तीर्थ दो प्रकार का है। इन दोनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं ॥५६०॥

आचारवृत्ति—द्रव्य और भाव की अपेक्षा तीर्थ के दो भेद हैं। द्रव्यतीर्थ तो अपरमार्थभूत है और भावतीर्थ परमार्थभूत है, क्योंकि इसमें अन्य की अपेक्षा का अभाव है। इन दोनों का वर्णन करते हैं।

द्रव्यतीर्थ का स्वरूप कहते हैं—

---

१ क तीर्थं सं°। १ क °र्थस्व°।

दाहोपसमण तण्हाछेदो मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तह्मा तं दव्वदो तित्थं ॥५६१॥

द्रव्यतीर्थेन दाहस्य संतापस्योपशमनं भवति तृष्णायाश्छेदो विनाशो भवति स्तोककालं पंकस्य च प्रवहणं शोधनमेव भवति न धर्मादिको गुणस्तस्मात्त्रिभिः कारणैर्युक्तं द्रव्यतीर्थं भवतीति ॥५६१॥

भावतीर्थस्वरूपमाह—

दंसणणाणचरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेवि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तह्मा ते भावदो तित्थं ॥५६२॥

दर्शनज्ञानचारित्रैर्युक्ताः संयुक्ता जिनवराः सर्वेऽपि ते तीर्थं भवंति तस्मात्त्रिभिः कारणैरपि भावतस्तीर्थमिति भावोद्योतेन लोकोद्योतकरा भावतीर्थकर्तृत्वेन धर्मतीर्थकरा इति। अथवा दर्शनज्ञानचारित्राणि जिनवरैः सर्वैरपि निर्युक्तानि सेवितानि तस्मात्तानि भावतस्तीर्थमिति ॥५६२॥

जिनवरा अर्हन्निति पदं व्याख्यातुकामः प्राह—

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण 'वुच्चंति ॥५६३॥

गाथार्थ—दाह को उपशम करना, तृष्णा का नाश करना और मल कीचड़ को धो डालना, इन तीन कारणों से जो युक्त है, वह द्रव्य से तीर्थ है ॥५६१॥

आचारवृत्ति—द्रव्यतीर्थ से (गंगा पुष्कर आदि से) संताप का उपशमन होता है, प्यास का विनाश होता है और कुछ काल तक ही मल का शोधन हो जाता है, किन्तु उससे धर्म आदि गुण नहीं होते हैं। इसलिए इन तीन कारणों से सहित होने से उसे द्रव्य तीर्थ कहते हैं।

भावतीर्थ को कहते हैं—

गाथार्थ—सभी जिनेश्वर दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं इसलिए वे भाव से तीर्थ हैं ॥५६२॥

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान, चारित्र से संयुक्त होने से सभी तीर्थंकर भावतीर्थ कहलाते हैं। इस प्रकार से ये तीर्थंकर भावउद्योत से लोक को प्रकाशित करनेवाले हैं और भावतीर्थ के कर्ता होने से 'धर्मतीर्थंकर' कहलाते हैं। अथवा सभी जिनवरों ने इस रत्नत्रय का सेवन किया है इसलिए वह भी भावतीर्थ कहलाता है।

जिनवर और अर्हन् इन पदों का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध मान माया और लोभ को जीत चुके हैं इसलिए वे 'जिन' होते हैं। शत्रुओं का और जन्म का हनन करनेवाले हैं अतः वे अर्हंत कहलाते हैं ॥५६३॥

---

१ क वुच्चदि ग।

यस्माज्जितक्रोधमानमायालोभास्तस्मात्तेन कारणेन ते जिना इति भवंति येनारीणां हन्तारो जन्मनः संसारस्य च हन्तारस्तेनार्हन्त इत्युच्यन्ते ॥५६३॥

येन च—

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥५६४॥

वंदनाया नमस्कारस्य च योग्या वंदनां नमस्कारमर्हंति, पूजायाः सत्कारस्य च योग्याः पूजासत्कारमर्हन्ति च यतः सिद्धिगमनस्य च योग्याः सिद्धिगमनमर्हन्ति, यस्मात्तेनाऽर्हन्त इत्युच्यन्ते ॥५६४॥

किमर्थमेते कीर्त्यन्त इत्याशंकायामाह—

आचारवृत्ति—जिस कारण से उन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है इसी कारण से वे 'जिन' कहलाते हैं। तथा जिस कारण से वे मोह शत्रु के तथा संसार के नाश करनेवाले हैं इसी कारण से वे 'अरिहंत' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।*

और भी अरिहंत शब्द की निरुक्ति करते हैं—

गाथार्थ—वन्दना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा सत्कार के योग्य हैं और सिद्धि गमन के योग्य हैं इसलिए वे 'अर्हंत' कहलाते हैं ॥५६४॥

आचारवृत्ति—अर्हंतदेव वन्दना, नमस्कार, पूजा, सत्कार और मोक्ष गमन के योग्य हैं—समर्थ हैं अतएव वे 'अर्हंत' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

भावार्थ—अरिहंत और अर्हंत दो पद माने गये हैं अतः यहाँ पर दोनों पदों की व्युत्पत्ति दिखाई है। जो अरि अर्थात् मोह कर्म का हनन करनेवाले हैं वे 'अरिहंत' हैं और 'अर्ह' धातु पूजा तथा क्षमता अर्थ में है अतः जो वन्दना आदि के लिए योग्य हैं, पूज्य हैं, सक्षम हैं वे 'अर्हंत' इन नाम से कहे जाते हैं। महामन्त्र में 'अरिहंताणं' और 'अरहंताणं' दोनों पद मिलते हैं वे दोनों ही शुद्ध माने गये हैं।

किसलिए इनका कीर्तन किया जाता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

तण्हावदाहछेदणकम्ममलविणासणसमत्थं।
तिहिं कारणेहिं जुत्तं सुत्तं पुण भावदो तित्थं ॥

अर्थ—जो तृष्णा और दाह का छेदन करने वाला है तथा कर्म मल को विनाश करने में समर्थ है। इन तीन कारणों से जो युक्त है वह सूत्र भाव से तीर्थ है। अर्थात् द्वादशांग सूत्र रूप श्रुतधर्म को भावतीर्थ कहा है। वह तीर्थ सांसारिक विषयों की अभिलाषा रूप तृष्णा को दूर करता है, कर्मोदय जनित नाना प्रकार के दुःख रूप दाह को शांत करता है और कर्ममल को दूर करने में समर्थ है। इन तीन गुणों से युक्त होने से जिनवाणी ही सच्चा भावतीर्थ है।

किह ते ण कित्तणिज्जा सदेवमणुयासुरेहिं लोगेहिं ।
दंसणणाणचरित्ते तव विणओ जेहिं पण्णत्तो ॥५६५॥

कथं ते न कीर्तनीयाः व्यावर्णनीयाः सदेवमनुष्यासुरैर्लोकैर्दर्शनज्ञानचारित्रतपसां विनयो यैः प्रज्ञप्तः प्रतिपादितः ते चतुर्विंशतितीर्थकराः कथं न कीर्त्तनीयाः ॥५६५॥

इति कीर्तनमधिकारं व्याख्याय केवलिनां स्वरूपमाह—

सव्वं केवलिकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति ।
केवलणाणचरित्ता[1] तह्मा ते केवली होंति ॥५५६॥

किमर्थं केवलिन इत्युच्यन्त इत्याशंकायामाह—यस्मात्सर्वं निरवशेषं केवलिकल्पं केवलज्ञानविषयं लोकमलोकं च जानन्ति तथा च पश्यंति केवलज्ञानमेव चरित्रं येषां ते केवलज्ञानचरित्राः परित्यक्ताशेषव्यापारास्तस्मात्ते केवलिनो भवंतीति ॥५६६॥

अथोत्तमाः कथमित्याशंकायामाह—

मिच्छत्तवेवणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च ।
तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ॥५६७॥

मिथ्यात्ववेदनीयमश्रद्धानरूपं ज्ञानावरणं ज्ञानदर्शयोरावरणं चारित्रमोहश्चैतत्त्रिविधं तमस्तस्मात्-

---

गाथार्थ—देव, मनुष्य और असुर इन सहित लोगों के द्वारा वे अर्हंत कीर्तन करने योग्य क्यों नहीं होंगे ? जबकि उन्होंने दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के विनय का प्रज्ञापन किया है ॥५६५॥

आचारवृत्ति—वे चौबीस तीर्थंकर देव आदि सभीजनों द्वारा कीर्तन-वर्णन-प्रशंसन करने योग्य इसीलिए हैं, कि उन्होंने दर्शन आदि के विनय का उपदेश दिया है।

इस तरह कीर्तन अधिकार को कहकर अब केवलियों का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—केवलज्ञान विषयक सर्वलोक को जानते हैं तथा देखते हैं, एवं केवलज्ञानरूप चारित्रवाले हैं इसलिए वे केवली होते हैं ॥५६६॥

आचारवृत्ति—अर्हंत को केवली क्यों कहते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—जिस हेतु वे अर्हंत भगवान् केवलज्ञान के विषयभूत सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानते हैं तथा देखते हैं और जिनका चारित्र केवलज्ञान ही है अर्थात् जिनके अशेष व्यापार छूट चुके हैं इसलिए वे केवली कहलाते हैं।

तीर्थंकर उत्तम क्यों हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व वेदनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोह इन तीन तम से मुक्त हो चुके हैं इसलिए वे उत्तम कहलाते हैं ॥५६७॥

आचारवृत्ति—अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व वेदनीय है अर्थात् मिथ्यात्वकर्म के उदय से जीव को सम्यक् तत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता है। यह दर्शनमोह गाढ़ अंधकार के सदृश है।

---

1 क्लो।

मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टा भवंतीति ॥५६७॥

त एवं विशिष्टा मम—

आरोग्ग बोहिलाहं दितु समाहिं च मे जिणवरिंदा।
किं ण हु णिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायव्वा ॥५६८॥

एवं विशिष्टास्ते जिनवरेन्द्रा मह्यमारोग्यं जातिजरामरणाभावं बोधिलाभं च जिनसूत्रश्रद्धानं दीक्षाभिमुखीकरणं वा समाधिं च मरणकाले सम्यक्परिणामं ददतु प्रयच्छन्तु, किं पुनरिदं निदानं न भवति न भवत्येव कस्माद्विभाषाऽत्र विकल्पोऽत्र कर्तव्यो यस्मादिति ॥५६८॥

एतस्माच्चेदं निदानं न भवति यतः—

ज्ञानावरण से दर्शनावरण भी आ जाता है चूंकि वे सहचारी हैं। चारित्रमोह से मोहनीय की, दर्शनमोह से अतिरिक्त सारी प्रकृतियाँ आ जाती हैं। ये मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण और दर्शनावरण तीनों ही कर्म 'तम' के समान हैं इस 'तम' से मुक्त हो जाने से ही तीर्थंकर 'उत्तम' शब्द से कहे जाते हैं।

इन विशेषणों से विशिष्ट तीर्थंकर हमें क्या देवें ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें। क्या यह निदान नहीं है ? अर्थात् नहीं है, यहाँ केवल विकल्प समझना चाहिए ॥५६८॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य—जन्ममरण का अभाव, बोधिलाभ—जिन सूत्र का श्रद्धान अथवा दीक्षा के अभिमुख होना, और समाधि—मरण के समय सम्यक् परिणाम इन तीन को प्रदान करें।

क्या यह निदान नहीं है ?

नहीं है।

क्यों ?

क्योंकि यहाँ पर इसे विभाषा—विकल्प समझना चाहिए।

भावार्थ—गाथा ५४१ में तीर्थंकरस्तव के प्रकरण में सात विशेषण बताये थे—लोकोद्योतकर, धर्मतीर्थकर, जिनवर, अर्हंत, कीर्तनीय, केवली और उत्तम। पुनः उनसे बोधि की प्रार्थना की थी। उनमें से प्रत्येक विशेषण के एक-एक पदों को पृथक् कर करके उनका विशेष अर्थ किया है। १२ गाथा पर्यंत 'लोक' शब्द का व्याख्यान किया है, ५ गाथाओं में 'उद्योत' का, ४ गाथाओं में 'तीर्थ' का, १ गाथा के पूर्वार्ध में 'जिनवर' का एवं उत्तरार्ध तथा एक और गाथा में 'अर्हत' का, १ गाथा में 'कीर्तनीय' का. १ गाथा में 'केवली' का, १ गाथा में 'उत्तम' का एवं अन्त की गाथा में 'बोधि' की प्रार्थना का स्पष्टीकरण किया है।

यहाँ जो वीतरागदेव से याचना की गई है सो आचार्य का कहना है कि यह निदान नहीं है वल्कि भक्ति का एक प्रकार है।

भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा [1]एसा।
ण हु खीण[2]रागदोसा [3]दिति समाहिं च बोहिं च ॥५६९॥

असत्यमृषा भाषेयं किंतु भक्त्या भाषितैषा यस्मान्नहि क्षीणरागद्वेषा जिना ददते समाधिं बोधिं च। यदि दाने प्रवर्त्तेरन् सरागद्वेषाः स्युरिति ॥५६९॥

अन्यच्च—

जं तेहिं दु दादव्वं तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दंसणणाणचरित्तस्स एस तिविहस्स उवदेसो ॥५७०॥

यत्तैस्तु दातव्यं तद्दत्तमेव जिनवरैः सर्वैः किं? तद्दर्शनज्ञानचारित्राणां त्रिप्रकाराणां एष उपदेशोऽस्मात्किमधिकं यत्प्रार्थ्यते। इति एषा च समाधिबोधिप्रार्थना भक्तिर्भवति यतः ॥५७०॥

अत आह—

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥५७१॥

जिनवराणां भक्त्या पूर्वसंचितं कर्म क्षीयते विनश्यते यस्मात् आचार्याणां च भक्तिः किमर्थं? आचार्याणां च प्रसादेन विद्या मंत्राश्च सिद्धिमुपगच्छंति यस्मादिति तस्माज्जिनानामाचार्याणां च भक्तिरियं न

गाथार्थ—यह असत्यमृषा भाषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गई है क्योंकि राग-द्वेष से रहित भगवान् समाधि और बोधि को नहीं देते हैं ॥५६९॥

आचारवृत्ति—यह बोधि समाधि की प्रार्थना असत्यमृषा भाषा है, यह मात्र भक्ति से ही कही गई है, क्योंकि जिनके राग-द्वेष नष्ट हो चुके हैं वे जिनेन्द्र भगवान् समाधि और बोधि को नहीं देते हैं। यदि वे देने का कार्य करेंगे तो राग-द्वेष सहित हो जावेंगे।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनवरों ने वह दे दिया है। सो वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों का उपदेश है ॥५७०॥

आचारवृत्ति—उनके द्वारा जो देने योग्य था सो तो उन्होंने दे ही दिया है। वह क्या है? वह रत्नत्रय का उपदेश है। हम लोगों के लिए और इससे अधिक क्या है कि जिसकी प्रार्थना करें इसलिए यह समाधि और बोधि की प्रार्थना भक्ति है।

इस भक्ति का माहात्म्य कहते हैं—

गाथार्थ—जिनवरों की भक्ति से जो पूर्व संचित कर्म हैं वे क्षय हो जाते हैं, और आचार्य के प्रसाद से विद्या तथा मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं ॥५७१॥

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव की भक्ति से पूर्व संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं सो ठीक है, किन्तु आचार्यों की भक्ति किसलिए है? आचार्यों के प्रसाद से विद्या और मन्त्रों की सिद्धि होती

१ क भासा। २ क 'खीणपेज्जदोसा'। ३ क दिंतु।

निदानमिति ॥५७१॥

अन्यच्च;—

> अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु ।
> धम्मह्मि य जो राओ सुदे य जो बारसविधह्मि ॥५७२॥
>
> आयरियेसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे ।
> एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु ॥५७३॥

व्यपगतरागेष्वष्टादशदोषरहितेषु अर्हत्सु यः रागः या भक्तिस्तथा धर्मे यो रागस्तथा श्रुते द्वादशविधे यः रागः ॥५७२॥ तथा—

आचार्येषु रागः श्रमणेषु बहुश्रुतेषु च यो रागश्चरित्राढ्येषु च रागः स एष राग प्रशस्तः शोभनो भवति सरागेषु सर्वेष्विति ॥५७३॥

अन्यच्च;—

> तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए ।
> तो भत्ति रागपुव्वं वुच्चइ एदं ण हु णिदाणं ॥५७४॥

तेषां जिनवरादीनामभिमुखतया भक्त्या चार्था वांछितेष्टसिद्धयः सिध्यन्ति हस्तग्राह्या भवन्ति यस्मात्तस्माद्भक्ती रागपूर्वकमेतदुच्यते न हि निदानं, संसारकारणाभावादिति ॥५७४॥

होती है । इसलिए जिनवरों की और आचार्यों की यह भक्ति निदान नहीं है ।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—राग रहित और द्वेष रहित अर्हंतदेव में जो राग है, धर्म में जो राग है, और द्वादशविध श्रुत में जो राग है—वह तीनों भक्ति हैं ।

आचार्यों में, श्रमणों में और चारित्रयुक्त बहुश्रुत विद्वानों में जो राग है यह प्रशस्त राग सभी सरागी मुनियों में होता है ॥५७२-५७३॥

आचारवृत्ति—रागद्वेष रहित अर्हंतों में, धर्म में, द्वादशांग श्रुत में, आचार्यों में, मुनियों में, चारित्रयुक्त बहुश्रुत विद्वानों में जो राग होता है वह प्रशस्त—शोभन राग है वह सभी सरागी मुनियों में पाया जाता है । अर्थात् सराग संयमी मुनि इन सभी में अनुराग रूप भक्ति करते ही हैं ।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—उनके अभिमुख होने से तथा उनकी भक्ति से मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं । इसलिए भक्ति रागपूर्वक कही गई है । यह वास्तव में निदान नहीं है ॥५७४॥

आचारवृत्ति—उन जिनवर आदिकों के अभिमुख होने से—उनकी तरफ अपने मन को लगाने से, उनकी भक्ति से वांछित इष्ट की सिद्धि हो जाती है—इष्ट मनोरथ हस्तग्राह्य हो जाते हैं । इसलिए यह भक्ति रागपूर्वक ही होती है । यह निदान नहीं कहलाती है, क्योंकि इससे संसार के कारणों का अभाव होता है ।

चतुर्विंशतिस्तवविधानमाह—

चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो ।
अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदि य चउवीसत्थयं भिक्खू ॥५७५॥

चतुरंगुलान्तरपादः स्थितांगः परित्यक्तशरीरावयवचालनश्चकारादेतल्लब्धं प्रतिलिख्य शरीरभूमि-चित्तादिकं प्रशोध्य प्रांजलिः सपिंडः कृतांजलिपुटेन प्रशस्तः सौम्यभावोऽव्याक्षिप्तः सर्वव्यापाररहितः करोति चतुर्विंशतिस्तवं भिक्षुः संयतश्चतुरंगुलमंतरं ययोः पादयोस्तौ चतुरंगुलान्तरौ तौ पादौ यस्य स चतुरंगुलान्तर-पादः स्थितं निश्चलमंगं यस्य सः स्थितांगः शोभनकायिकवाचिकमानसिकक्रिय इत्यर्थः ॥५७५॥

चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिमुपसंहर्तुं वंदनानिर्युक्तिं च प्रतिपादयितुं प्राह—

चउवीसयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
वंदणणिज्जुत्ती पुण एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥५७६॥

चतुर्विंशतिनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन वंदनानिर्युक्तिं पुनरित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रतिपाद-यिष्यामीति ॥५७६॥

तथैतां नामादिनिक्षेपैः प्रतिपादयन्नाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो खलु वंदणगे णिक्खेवो छव्विहो भणिदो ॥५७७॥

अब चतुर्विंशतिस्तव के विधान को कहते हैं—

गाथार्थ—चार अंगुल अन्तराल से पाद को करके, प्रतिलेखन करके, अंजलि को प्रशस्त जोड़कर, एकाग्रमना हुआ भिक्षु चौबीस तीर्थंकर का स्तोत्र करता है ॥५७५॥

आचारवृत्ति—पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर स्थिर अंग कर जो खड़े हुए हैं अर्थात् शरीर के अवयवों के हलन चलन से रहित स्थिर हैं; चकार से ऐसा समझना कि जिन्होंने अपने शरीर और भूमि का पिच्छिका से प्रतिलेखन करके एवं चित्त आदि का शोधन करके अपने हाथों की अंजुलि जोड़ रखी है, जो प्रशस्त-सौम्यभावी हैं, व्याकुलता रहित अर्थात् सर्वव्यापार रहित हैं ऐसे संयत मुनि चतुर्विंशतिस्तव को करते हैं। अर्थात् पैरों में चार अंगुल के अंतराल को रखकर निश्चल अंग करके खड़े होकर, मुनि शोभनरूप कायिक, वाचिक और मान-सिक क्रिया वाले होते हुए स्तव नामक आवश्यक को करते हैं।

चतुर्विंशतिस्तव निर्युक्ति का उपसंहार करने के लिए और वन्दना निर्युक्ति का प्रति-पादन करने के लिए अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह चतुर्विंशतिनिर्युक्ति कही है, पुनः इसके बाद वन्दना निर्युक्ति को कहूंगा ॥५७६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

वन्दना को नामादि निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, निश्चय से वन्दना का यह छह प्रकार का निक्षेप कहा गया है ॥५७७॥

एकतीर्थंकरनामोच्चारणं सिद्धाचार्यादिनामोच्चारणं च नामावश्यकवंदनानिर्युक्तिरेव तीर्थकरप्रतिबिंबस्य सिद्धाचार्यादिप्रतिबिंबानां च स्तवनं स्थापनावंदनानिर्युक्तिस्तेषामेव शरीराणां स्तवनं द्रव्यवंदनानिर्युक्तिस्तैरेव यत्क्षेत्रमधिष्ठितं कालश्च योऽधिष्ठितस्तयोः स्तवनं क्षेत्रवन्दना च, एकतीर्थकरस्य सिद्धाचार्यादीनां च शुद्धपरिणामेन यद्गुणस्तवनं तद्भावावश्यकवंदनानिर्युक्तिः। नामाथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म वंदनाशब्दमात्रं नाम, वन्दनापरिणतस्य प्राभृतज्ञो प्रतिकृतिवन्दनास्थापनावंदना,वन्दनाव्यावर्णनप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यवंदना शेषः पूर्ववदिति। एष वंदनाया निक्षेपः षड्विधो भवति ज्ञातव्यो नामादिभेदेनेति ॥५७७॥

नामवंदनां प्रतिपादयन्नाह—

किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।
कादव्वं केण कस्स व कधे व कहिं व कदिखुत्तो ॥५७८॥

पूर्वगाथार्धेन वंदनाया एकार्थः कथ्यते[1]ऽपरार्द्धेन तद्विकल्पा इति। कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येनाक्षरकदंबकेन परिणामेन क्रियया वा तत्कृतिकर्म पापविनाशनोपायः[2]। चीयते समेकीक्रियते संचीयते

आचारवृत्ति—एक तीर्थंकर का नाम उच्चारण करना, तथा सिद्ध, आचार्यादि का नाम उच्चारण करना नाम-वन्दना आवश्यक निर्युक्ति है। एक तीर्थंकर के प्रतिबिम्ब का तथा सिद्ध आचार्य आदि के प्रतिबिम्बों का स्तवन करना स्थापनावन्दना निर्युक्ति है। एक तीर्थंकर के शरीर का तथा सिद्ध आचार्यों के शरीर का स्तवन करना द्रव्य-वन्दना निर्युक्ति है। इन एक तीर्थंकर, सिद्ध और आचार्यों से अधिष्ठित जो क्षेत्र हैं उनकी स्तुति करना क्षेत्र-वन्दना निर्युक्ति है। ऐसे ही इन्हीं से अधिष्ठित जो काल हैं उनकी स्तुति करना काल वन्दना निर्युक्ति है। एक तीर्थंकर और सिद्ध तथा आचार्यों के गुणों का शुद्ध परिणाम से जो स्तवन है वह भाववन्दना निर्युक्ति है।

अथवा जाति, द्रव्य व क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'वन्दना' ऐसा शब्द मात्र से संज्ञा कर्म करना नाम-वन्दना है। वन्दना से परिणत हुए का जो प्रतिबिम्ब है वह स्थापनावन्दना है। वन्दना के वर्णन करनेवाले शास्त्र का जो ज्ञाता है किन्तु उसमें उस समय उपयोग उसका नहीं है वह आगमद्रव्य वन्दना है। बाकी के भेदों को पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। वन्दना का यह निक्षेप नाम आदि के भेद से छह प्रकार का है ऐसा जानना।

नाम वन्दना का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये वन्दना के एकार्थ नाम हैं। किसको, किसकी, किस प्रकार से, किस समय और कितनी बार वन्दना करना चाहिए ॥५७८॥

आचारवृत्ति—गाथा के पूर्वार्ध से वन्दना के पर्यायवाची नाम कहे हैं अर्थात् कृतिकर्म आदि वन्दना के ही नाम हैं। तथा गाथा के अपरार्ध से वन्दना के भेद कहे हैं।

कृतिकर्म—जिस अक्षर समूह से या जिस परिणाम से अथवा जिस क्रिया से आठ प्रकार का कर्म काटा जाता है—छेदा जाता है वह कृतिकर्म कहलाता है अर्थात् पापों के विनाशन

---

१ क °ते पश्चार्द्धेन। २ क °पायं। क्रियते समो या क्रियते।

पुण्यकर्म तीर्थंकरत्वादि येन तच्चितिकर्म पुण्यसंचयकारणं। पूज्यंतेऽर्च्यन्तेऽर्हदादयो येन तत्पूजाकर्म बहुवचनोच्चारणस्रक्चंदनादिकं। विनीयंते निराक्रियन्ते संक्रमणोदयोदीरणादिभावेन प्राप्यंते येन कर्माणि तद्विनयकर्म शुश्रूषणं तत्क्रिया कर्म कर्तव्यं केन कस्य कर्तव्यं कथमिव केन विधानेन कर्त्तव्यं कस्मिन्नवस्थाविशेषे कर्त्तव्यं कतिवारान् ॥५७८॥

तथा—

कदि ओणदं कदि सिरं कदिए आवत्तगेहि परिसुद्धं।
कदिदोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं ॥५७९॥

कदि ओणदं—कियन्त्यवनतानि। कति करमुकुलांकितेन शिरसा भूमिस्पर्शनानि कर्त्तव्यानि। **कदि सिरं**—कियन्ति शिरांसि कतिवारान् शिरसि करकुड्मलं कर्त्तव्यं। **कदि आवत्तगेहि परिसुद्धं**—कियद्भिरावर्त्तकैः परिशुद्धं कतिवारान्मनोवचनकाया आवर्त्तनीयाः। **कदि दोसविप्पमुक्कं**—कति दोषैर्विप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यमिति ॥५७९॥

का उपाय कृतिकर्म है।

चितिकर्म—जिस अक्षर समूह से या परिणाम से अथवा क्रिया से तीर्थंकरत्व आदि पुण्य कर्म का चयन होता है—सम्यक् प्रकार से अपने साथ एकीभाव होता है या संचय होता है, वह पुण्य संचय का कारणभूत चितिकर्म कहलाता है।

पूजाकर्म—जिन अक्षर आदिकों के द्वारा अरिहंत देव आदि पूजे जाते हैं—अर्चे जाते हैं ऐसा बहुवचन से उच्चारण कर उनको जो पुष्पमाला, चन्दन आदि चढ़ाये जाते हैं वह पूजाकर्म कहलाता है।

विनयकर्म—जिसके द्वारा कर्मों का निराकरण किया जाता है अर्थात् कर्म संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भाव से प्राप्त करा दिये जाते हैं वह विनय है जोकि शुश्रूषा रूप है।

वह वन्दनाक्रिया नामक आवश्यककर्म किसे करना चाहिए? किसको करना चाहिए? किस विधान से करना चाहिए? किस अवस्थाविशेष में करना चाहिए? और कितनी बार करना चाहिए? इस आवश्यक के विषय में ऐसी प्रश्नमाला होती है।

उसी प्रकार से और भी प्रश्न होते हैं—

गाथार्थ—कितनी अवनति, कितनी शिरोनति, कितने आवर्तों से परिशुद्ध, कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए ॥५७९॥

आचारवृत्ति—हाथों को मुकुलित जोड़कर, मस्तक से लगाकर सिर से भूमि स्पर्श करके जो नमस्कार होता है उसे अवनति या प्रणाम कहते हैं। वह अवनति कितने बार करना चाहिए? मुकुलित—जुड़े हुए हाथ पर मस्तक रखकर नमस्कार करना शिरोनति है सो कितनी होनी चाहिए? मनवचनकाय का आवर्तन करना या अंजुलि, जुड़े हाथों को घुमाना सो आवर्त है—यह कितनी बार करना चाहिए? एवं कितने दोषों से रहित यह कृतिकर्म होना चाहिए?

इति प्रश्नमालाया कृतायां तावत्कृति[1]कर्मविनयकर्मणोरेकार्थ इति कृत्वा विनयकर्मणः सप्रयोजनां निरुक्तिमाह—

जह्मा विणेदि[2] कम्मं अट्ठविहं चाउरगमोक्खो य।
तह्मा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा ॥५८०॥

यस्माद्विनयति विनाशयति कर्माष्टविधं चातुरंगात्संसारान्मोक्षश्च यस्माद्विनयात्तस्माद्विद्वांसो विलीनसंसारा विनय इति वदंति ॥५८०॥

यस्माच्च—

पुव्वं चेव य विणओ परूविदो जिणवरेहिं सव्वेहिं।
सव्वासु कम्मभूमिसु णिच्चं सो मोक्खमग्गम्मि ॥५८१॥

यतश्च पूर्वस्मिन्नेव काले विनयः प्ररूपितो जिनवरैः सर्वैः सर्वासु कर्मभूमिषु सप्तत्यधिकक्षेत्रेषु नित्यं सर्वकालं मोक्षमार्गे मोक्षमार्गहेतोस्तस्मान्नार्वाक्कालिको रथ्यापुरुषप्रणीतो वा शंकाऽत्र न कर्त्तव्या निश्चयेनात्र प्रवर्तितव्यमिति ॥५८१॥

कतिप्रकारोऽसौ विनय इत्याशंकायामाह—

लोगाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य।
भयविणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य ॥५८२॥

इस प्रकार से प्रश्नमाला के करने पर पहले कृतिकर्म और विनयकर्म का एक ही अर्थ है इसलिए विनयकर्म की प्रयोजन सहित निरुक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—जिससे आठ प्रकार का कर्म नष्ट हो जाता है और चतुरंग संसार से मोक्ष हो जाता है इस कारण से संसार से रहित विद्वान् उसे 'विनय' कहते हैं ॥५८०॥

आचारवृत्ति—जिस विनय से कर्मों का नाश होता है और चतुर्गति रूप संसार से मुक्ति मिलती है इससे संसार का विलय करनेवाले विद्वान् उसे 'विनय' यह सार्थक नाम देते हैं।

क्योंकि—

गाथार्थ—पूर्व में सभी जिनवरों ने सभी कर्मभूमियों में मोक्षमार्ग के कथन में नित्य ही उस विनय का प्ररूपण किया है ॥५८१॥

आचारवृत्ति—क्योंकि पूर्वकाल में भी सभी जिनवरों ने एक सौ सत्तर कर्मभूमियों में हमेशा ही मोक्ष मार्ग के हेतु में विनय का प्ररूपण किया है, इसलिए यह विनय आजकल के लोगों द्वारा कथित है या रथ्यापुरुष—पागलपुरुष—यत्र तत्र फिरनेवाले पुरुष के द्वारा कथित है, ऐसा नहीं कह सकते। अतः इसमें शंका नहीं करनी चाहिए प्रत्युत इस विनय कर्म में निश्चय से प्रवृत्ति करनी चाहिए। अर्थात् यह विनयकर्म सर्वज्ञदेव द्वारा कथित है।

कितने प्रकार का यह विनय है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—लोकानुवृत्ति विनय, अर्थनिमित्त विनय, कामतन्त्रविनय, चौथा भयविनय और पाँचवाँ मोक्षविनय है ॥५८२॥

---

१ क 'कर्मणः विनयकर्मणो'। २ क विणेयदि।

लोकस्यानुवृत्तिरनुवर्त्तनं लोकानुवृत्तिर्नाम प्रथमो विनयः, अर्थस्य निमित्तमर्थनिमित्तं कार्यहेतुर्विनयो द्वितीयः, कामतंत्रे कामतंत्रहेतुः कामानुष्ठाननिमित्तं तृतीयो विनयः, भयविनयश्चतुर्थः[1] भयकारणेन यः क्रियते विनयः स चतुर्थः, पंचमो मोक्षविनयः; एवं कारणेन पंचप्रकारो विनय इति ॥५८२॥

तत्रादौ तावल्लोकानुवृत्तिविनयस्वरूपमाह—

अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च अतिहिपूजा य ।
लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविहवेण ॥५८३॥

अभ्युत्थानं कस्मिंश्चिदागते आसनादुत्थानं प्रांजलिरंजलिकरणं स्वावासमागतस्यासनदानं तथा-ऽतिथिपूजा च मध्याह्नकाले आगतस्य साधोरन्यस्य वा धार्मिकस्य बहुमानं देवतापूजा च स्वविभवेन स्ववित्तानुसारेण देवपूजा च तदेतत्सर्वं लोकानुवृत्तिर्नाम विनयः ॥५८३॥

तथा—

भासाणुवत्ति छंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च ।
लोकाणुवत्तिविणओ अंजलिकरणं च अत्थकदे ॥५८४॥

भाषाया वचनस्यनुवृत्तेरनुवर्त्तनं यथासौ वदति तथा सोऽपि भणति भाषानुवृत्तिः, छंदानु-

---

आचारवृत्ति—लोक की अनुकूलता करना सो लोकानुवृत्ति का पहला विनय है। अर्थ—कार्य के हेतु विनय करना दूसरा अर्थनिमित्त विनय है। काम के अनुष्ठान हेतु विनय करना कामतन्त्र नाम का तीसरा विनय है। भय के कारण से विनय करना यह चौथा भय विनय है। और मोक्ष के हेतु विनय पाँचवाँ मोक्षविनय है।

उनमें से पहले लोकानुवृत्ति विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—उठकर खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथि की पूजा करना, और अपने विभव के अनुसार देवों की पूजा करना यह लोकानुवृत्ति विनय है ॥५८३॥

आचारवृत्ति—किसी के अर्थात् बड़ों के आने पर आसन से उठकर खड़े होना, अंजुलि जोड़ना, अपने आवास में आये हुए को आसन देना, अतिथि पूजा—मध्याह्न काल में आये हुए साधु या अन्य धार्मिकजन अतिथि कहलाते हैं उनका बहुमान करना, और अपने विभव या धन के अनुसार देवपूजा करना, सो यह सब लोकानुवृत्ति नाम का विनय है।

तथा—

गाथार्थ—अनुकूल वचन बोलना, अनुकूल प्रवृत्ति करना, देशकाल के योग्य दान देना, अंजुलि जोड़ना और लोक के अनुकूल रहना सो लोकानुवृत्ति विनय है तथा अर्थ के निमित्त से ऐसा ही करना अर्थविनय है ॥५८४॥

आचारवृत्ति—भाषानुवृत्ति—जैसे वे बोलते हैं वैसे ही बोलना, छन्दानुवर्तन—उनके अभिप्राय के अनुकूल आचरण करना, देश के योग्य और काल के योग्य दान देना—

---

1 क °र्थः पंचमो ।

वर्त्तनं तदभिप्रायानुकूलाचरणं, देशयोग्यं कालयोग्यं च यद्दानं स्वद्रव्योत्सर्गस्तदेतत्सर्वं लोकानुवृत्तिविनयो लोकात्मीकरणार्थो यथाऽयं विनयोंजलिकरणादिकः प्रयुज्यते तथांऽजलिकरणादिको योऽर्थनि[1]मित्तं क्रियते सोऽर्थहेतुः ॥५८४॥

तथा—

एमेव कामतंते भयविणग्रो चेव ग्राणुपुव्वीए।
पंचमग्रो खलु विणग्रो परूवणा तस्सिमा होदि ॥५८५॥

यथा लोकानुवृत्तिविनयो व्याख्यातस्तथैवं कामतन्त्रो भयार्थश्च भवति आनुपूर्व्या विशेषाभावात्, यः पुनः पंचमो विनयस्तस्येयं प्ररूपणा भवतीति ॥५८५॥

दंसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचारिग्रो चेव।
मोक्खह्मि एस विणग्रो पंचविहो होदि णायव्वो ॥५८६॥

दर्शनज्ञानचारित्रतप औपचारिकभेदेन मोक्षविनय एषः पंचप्रकारो भवति ॥५८६॥

स पंचाचारे यद्यपि विस्तरेणोक्तस्तथाऽपि विस्मरणशीलशिष्यानुग्रहार्थं संक्षेपतः पुनरुच्यत इति—

अपने द्रव्य का त्याग करना यह सब लोकानुवृत्ति विनय है, क्योंकि यह लोक को अपना करने के लिए अंजुलि जोड़ना आदि यथार्थ विनय किया जाता है। उसी प्रकार से जो अर्थ के निमित्त—प्रयोजन के लिए अंजुलि जोड़ना आदि उपर्युक्त विनय किया जाता है वह अर्थनिमित्त विनय है।

भावार्थ—सामने वाले के अनुकूल वचन बोलना, उसी के अनुकूल कार्य करना आदि जो विनय लोगों को अपना बनाने के लिए किया जाता है वह लोकानुवृत्ति विनय है और जो कार्य सिद्धि के लिए उपर्युक्त क्रियाओं का करना है सो अर्थनिमित्त विनय है।

उसी प्रकार से कामतन्त्र और भय विनय को कहते हैं—

गाथार्थ—इसी प्रकार से कामतन्त्र में विनय करना कामतन्त्र विनय है और इसी क्रम से भय हेतु विनय करना भय विनय है। निश्चय से पंचम जो विनय है उसकी यह—आगे प्ररूपणा होती है ॥५८५॥

आचारवृत्ति—जैसे लोकानुवृत्ति विनय का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार से काम के निमित्त विनय कामतन्त्र विनय है तथा वैसे ही क्रम से भय-निमित्त विनय भयविनय है। इनमें कोई अन्तर नहीं है अर्थात् अभिप्राय मात्र का अन्तर है, क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं है। अब जो पाँचवाँ मोक्ष विनय है उसकी आगे प्ररूपणा करते हैं।

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप में विनय तथा औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का मोक्ष विनय जानना चाहिए ॥५८६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

यह मोक्ष विनय यद्यपि पंचाचार के वर्णन में विस्तार से कहा गया है फिर भी विस्मरणशील शिष्यों के अनुग्रह के लिए पुनः संक्षेप से कहा जाता है—

---

१ क 'र्थंगतोनि'।

जे दव्वपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे ।
ते तह सद्दहदि णरो दंसणविणओत्ति णादव्वो ।।५८७।।

ये द्रव्यपर्यायाः खलूपदिष्टा जिनवरैः श्रुतज्ञाने तांस्तथैव श्रद्दधाति यो नरः स दर्शनविनय इति ज्ञातव्यो भेदोपचारादिति ।।५८७।।

अथ ज्ञाने किमर्थं विनयः क्रियते इत्याशंकायामाह—

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि ।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ ।।५८८।।

यस्माज्ज्ञानी गच्छति मोक्षं जानाति वा गतेर्ज्ञानगमनप्राप्त्यर्थकत्वात्, यस्माच्च ज्ञानी वंचति परिहरति पापं यस्माच्च ज्ञानी नवं कर्म नाददाति न बध्यते कर्मभिरिति यस्माच्च ज्ञानेन करोति चरणं चारित्रं तस्माच्च ज्ञाने भवति विनयः कर्त्तव्य इति ।।५८८।।

अथ चारित्रे विनयः किमर्थं क्रियत इत्याशंकायामाह—

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो ।
णवकम्मं ण य बंधदि चारित्तविणओत्ति णादव्वो ।।५८९।।

चिरंतनकर्मरजश्चर्यया चारित्रेण रिक्तं तुच्छं करोति यतमानश्चेष्टमानो नवं कर्म न न बध्नाति यस्मात्, तस्माच्चारित्रे विनयो भवति कर्त्तव्य इति ज्ञातव्यः ।।५८९।।

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेवों ने श्रुतज्ञान में निश्चय से जिन द्रव्य पर्यायों का उपदेश दिया है मनुष्य उनका वैसा ही श्रद्धान करता है वह दर्शनविनय है ऐसा जानना चाहिए ।।५८७।।

आचारवृत्ति—जिनवरों ने द्रव्यादिकों का जैसा उपदेश दिया है जो मनुष्य उनका वैसा ही श्रद्धान करता है वह मनुष्य ही दर्शनविनय है । यहाँ पर गुण-गुणी में अभेद का उपचार किया गया है ।

अब ज्ञान की किसलिए विनय करना ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञानी जानता है, ज्ञानी छोड़ता है, और ज्ञानी नवीन कर्म को नहीं ग्रहण करता है, ज्ञान से चारित्र का पालन करता है इसलिए ज्ञान में विनय होवे ।।५८८।।

आचारवृत्ति—जिस हेतु से ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा जानता है । गति अर्थ वाले धातु ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थवाले होते हैं ऐसा व्याकरण का नियम है अतः यहाँ गच्छति का जानना और प्राप्त करना अर्थ किया है । जिससे ज्ञानी पाप की वंचना—परिहार करता है और नवीन कर्मों से नहीं बँधता है तथा ज्ञान से चारित्र को धारण करता है इसीलिए ज्ञान में विनय करना चाहिए ।

चारित्र में विनय क्यों करना ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ साधु चारित्र से पुराने कर्मरज को खाली करता है और नूतन कर्म नहीं बांधता है इसलिए उसे चारित्रविनय जानना चाहिए ।।५८९।।

आचारवृत्ति—यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ मुनि अपने आचरण से चिरन्तन कर्मधूलि को तुच्छ—समाप्त या साफ कर देता है तथा नूतन कर्मों का बंध नहीं करता है अतः चारित्र में विनय करना चाहिए ।

तथा तपोविनयप्रयोजनमाह—

अवणयदि तवेण तमं उवणयदि मोक्खमग्गमप्पाणं।
तवविणयणियमिदमदी सो तवविणओ त्ति णादव्वो ॥५९०॥[1]

इत्येवमादिगाथानां 'आयारजीदा'दिगाथापर्यन्तानां तप आचारेर्थः प्रतिपादित इति कृत्वा नेह प्रतन्यते पुनरुक्तदोपभयादिति ॥५९०॥

यतो विनयः शासनमूलं यतश्च विनयः शिक्षाफलम्—

तह्मा सव्वपयत्तेण विणयत्तं मा कदाइ छंडिज्जो।
अप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण ॥५९१॥

यस्मात्सर्वप्रयत्नेन विनयत्वं नो कदाचित्परिहरेत् भवान् यस्मादल्पश्रुतोऽपि पुरुषः क्षपयति कर्माणि विनयेन तस्माद्विनयो न त्याज्य इति ॥५९१॥

कृतिकर्मणः प्रयोजनं तं दत्वा प्रस्तुतायाः प्रश्नमालायास्तावदसौ केन कर्तव्यं तत्कृतिकर्म यत्पृष्टं तस्योत्तरमाह—

पंचमहव्वयगुत्तो संविग्गोऽणालसो अमाणी य।
किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणइ सदा ऊणरादिणिओ ॥५९२॥

अब तपोविनय का प्रयोजन कहते हैं—

गाथार्थ—तप के द्वारा तम को दूर करता है और अपने को मोक्षमार्ग के समीप करता है। जो तप के विनय में बुद्धि को नियमित कर चुका है वह ही तपोविनय है ऐसा जानना चाहिए ॥५९०॥

आचारवृत्ति—गाथा का अर्थ स्पष्ट है। इसी प्रकार से पूर्व में 'आयारजीदा' आदि गाथा पर्यंत तप आचार में तप विनय का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसलिए यहाँ पर विस्तार नहीं करते हैं, क्योंकि वैसा करने से पुनरुक्त दोष आ जाता है।

विनय शासन का मूल है और विनय शिक्षा का फल है, इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—इसलिए सभी प्रयत्नों से विनय को कभी भी मत छोड़ो क्योंकि अल्पश्रुत का धारक भी पुरुष विनय से कर्मों का क्षपण कर देता है ॥५९१॥

आचारवृत्ति—अतः सर्व प्रयत्न करके विनय को कदाचित् भी मत छोड़ो, क्योंकि अल्पज्ञानी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश कर देता है इसलिए विनय को सदा काल करते रहना चाहिए।

कृतिकर्म अर्थात् विनय कर्म का प्रयोजन दिखलाकर अब प्रस्तुत प्रश्नमाला में जो पहला प्रश्न था कि 'वह कृतिकर्म किसे करना चाहिए?' उसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जो पाँच महाव्रतों से युक्त है, संवेगवान है, आलसरहित है और मान रहित है ऐसा एक रात्रि भी छोटा मुनि निर्जरा का इच्छुक हुआ हमेशा कृतिकर्म को करे।

---

१. गाथा ३६४ से लेकर गाथा ३८८ तक विनय का व्याख्यान किया गया है।

२. गाथा ३८७।

पंचमहाव्रतैर्गुप्तः पंचमहाव्रतानुष्ठानपरः संविग्नो धर्मफलयोर्विषये हर्षोत्कंठितदेहोऽनालसः उद्योगवान् अमाणीय अमानी च परित्यक्तमानकषायो निर्जरार्थी ऊनरात्रिको दीक्षया लघुः एवं स कृतिकर्म करोति सदा सर्वकालं, पंचमहाव्रतयुक्तेन परलोकार्थिना विनयकर्म कर्त्तव्यं भवतीति सम्बन्धः ॥५६२॥

कस्य तत्कृतिकर्म कर्त्तव्यं यत्पृष्टं तस्योत्तरमाह—

आइरियउवज्झायाणं पवत्तयत्थेरगणधरादीणं ।
एदेसिं किदियम्मं कादव्वं णिज्जरट्ठाए ॥५६३॥

तेषामाचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणधरादीनां कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थं न मन्त्रतन्त्रोपकरणायेति ॥५६३॥

एते पुनः क्रियाकर्मायोग्या इति प्रतिपादयन्नाह—

णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं व ।
देसविरद देवं वा विरदो पासत्थपणगं वा ॥५६४॥

णो वंदिज्ज न वंदेत न स्तुयात् कं अविरदमविरतमसंयतं मातरं जननीं पितरं जनकं गुरुं दीक्षागुरुं श्रुतगुरुमप्यसंयतं चरणादिशिथिलं नरेन्द्रं राजानं अन्यतीर्थिकं पाखण्डिनं वा देशविरत श्रावकं शास्त्रादि-

---

आचारवृत्ति—जो पाँच महाव्रतों के अनुष्ठान में तत्पर हैं, धर्म और धर्म के फल में जिनका शरीर हर्ष से रोमांचित हो रहा है, आलस्य रहित—उद्यमवान् हैं, मान कषाय से रहित हैं, कर्म निर्जरा के इच्छुक हैं ऐसे मुनि दीक्षा में एक रात्रि भी यदि लघु हैं तो वे सर्वकाल गुरुओं की कृतिकर्मपूर्वक वन्दना करें। अर्थात् मुनियों को अपने से बड़े मुनियों की कृतिकर्म पूर्वक विनय करना चाहिए। यहाँ पर कृतिकर्म करनेवाले का वर्णन किया है।

किसका वह कृतिकर्म करना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—निर्जरा के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर का कृतिकर्म करना चाहिए ॥५६३॥

आचारवृत्ति—इन आचार्य आदिकों का कृतिकर्म—विनय कर्म कर्मों की निर्जरा के लिए करे, मन्त्र-तन्त्र या उपकरण के लिए नहीं।

पुनः जो विनयकर्म के अयोग्य हैं उनका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—अविरत माता-पिता व गुरु की, राजा की, अन्य तीर्थ की, या देशविरत की, अथवा देवों की या पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि की वह विरत मुनि वन्दना न करे ॥५६४॥

आचारवृत्ति—असंयत माता-पिता की, असंयत गुरु की अर्थात् दीक्षा-गुरु यदि चारित्र में शिथिल—भ्रष्ट हैं या श्रुतगुरु यदि असंयत हैं अथवा चारित्र में शिथिल हैं तो संयत मुनि इनकी वन्दना न करे। वह राजा की, पाखंडी साधुओं की, शास्त्रादि से प्रौढ़ भी देशव्रती श्रावक की या नाग, यक्ष, चन्द्र सूर्य, इन्द्रादि देवों की भी वन्दना न करे। तथा पार्श्वस्थ आदि

प्रौढमपि देवं वा नागयक्षचन्द्रसूर्येन्द्रादिकं वा विरतः संयतः सन् पार्श्वस्थपणकं वा ज्ञानदर्शनचारित्रशिथिलान् पंचजनान्निर्ग्रन्थानपि संयतः स्नेहादिना पार्श्वस्थपणकं न वंदेत मातरमसंयतां पितरमसंयतं अन्यं च मोहादिना न स्तुयात् भयेन लोभादिना वा नरेन्द्रं न स्तुयात् ग्रहादिपीडाभयाद्देवं सूर्यादिकं न पूजयेत् शास्त्रादिलोभेनान्यतीर्थिकं न स्तुयादाहारादिनिमित्तं श्रावकं न स्तुयात्। आत्मगुरुमपि विनष्टं न वंदेत तथा वाशब्दसूचितानन्यानपि स्वोपकारिणोऽसंयतान्न स्तुयादिति ॥५९४॥

इति के ते पंच पार्श्वस्था इत्याशंकायामाह—

पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा ॥५९५॥

संयतगुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः वसतिकादिप्रतिबद्धो मोहबहुलो रात्रिंदिवमुपकरणानां कारकोऽसंयतजनसेवी संयतजनेभ्यो दूरीभूतः, कुत्सितं शीलं आचरणं स्वभावो वा यस्यासौ कुशीलः क्रोधादिकलुपितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीनः संघस्यायशःकरणकुशलः, सम्यगसंयतगुणेष्वाशक्तः संशक्तः आहारादिगृद्धया वैद्यमन्त्रज्योतिषादिकुशलत्वेन प्रतिबद्धो राजादिसेवातत्परः, ओसण्णोऽपगतसंज्ञोऽपगता विनष्टा संज्ञा सम्यग्ज्ञानादिकं यस्यासौ अपगतसंज्ञश्चारित्राद्यपहीनो जिनवचनमजानञ्चारित्रादिप्रभ्रष्टः

पाँच प्रकार के मुनि जोकि निर्ग्रंथ होते हुए भी दर्शन ज्ञान चारित्र में शिथिल हैं इनकी भी वन्दना न करे।

विरत मुनि मोहादि से असंयत माता-पिता आदि की, या अन्य किसी की स्तुति न करे। भय से या लोभ आदि से राजा की स्तुति न करे। ग्रहों की पीड़ा आदि के भय से सूर्य आदि की पूजा न करे। शास्त्रादि ज्ञान के लोभ से अन्य मतावलम्बी पाखंडी साधुओं की स्तुति न करे। आहार आदि के निमित्त श्रावक की स्तुति न करे, एवं स्नेह आदि से पार्श्वस्थ आदि मुनियों की स्तुति न करे। तथैव अपने गुरु भी यदि हीनचारित्र हो गये हैं तो उनकी भी वन्दना न करे तथा अन्य भी जो अपने उपकारी हैं किन्तु असंयत हैं उनकी वन्दना न करे।

वे पाँच प्रकार के पार्श्वस्थ कौन हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञक और मृगचरित्र ये पाँचों दर्शन, ज्ञान और चारित्र में नियुक्त नहीं हैं एवं मन्द संवेग वाले हैं ॥५९५॥

आचारवृत्ति—जो संयमी के गुणों से 'पार्श्वे तिष्ठति' 'पास में—निकट में रहते हैं वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं। ये मुनि वसतिका आदि से प्रतिबद्ध रहते हैं अर्थात् वसतिका आदि में अपनेपन की भावना रखकर उनमें आसक्त रहते हैं, इनमें मोह की बहुलता रहती है, ये रात-दिन उपकरणों के बनाने में लगे रहते हैं, असंयतजनों की सेवा करते हैं और संयमीजनों से दूर रहते हैं अतः ये पार्श्वस्थ इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

कुत्सित-शील—आचरण या खोटा स्वभाव जिनका है वे 'कुशील' कहलाते हैं। ये क्रोधादि कषायों से कलुषित रहते हैं, व्रत गुण और शीलों से हीन हैं, संघ के साधुओं की निन्दा करने में कुशल रहते हैं, अतः ये कुशील कहे जाते हैं। जो अच्छी तरह से असंयत गुणों में

करणालसः सासांरिकसुखमानसः, मृगस्येव पशोरिव चरित्रमाचरणं यस्यासौ मृगचरित्रः परित्यक्तानार्गोपदेशः स्वच्छन्दगतिरेकाकी जिनसूत्रदूपणस्तपःसूत्राद्यविनीतो धृतिरहितश्चेत्येते पंच पार्श्वस्था दर्शनज्ञानचारित्रेषु अनियुक्ताश्चारित्राद्यनुष्ठान [द्यननुष्ठान] परा मंदसंवेगास्तीर्थधर्माद्यकृतहर्षाः सर्वदा न वंदनीया इति ॥५९५॥

पुनरपि स्पष्टमवन्दनायाः कारणमाह—

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकाल पासत्था।
एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणं ॥५९६॥

आसक्त हैं वे 'संसक्त' कहलाते हैं। ये मुनि आहार आदि की लंपटता से वैद्य-चिकित्सा, मन्त्र, ज्योतिष आदि में कुशलता धारण करते हैं और राजा आदि की सेवा में तत्पर रहते हैं। जिनकी संज्ञा—सम्यग्ज्ञान आदि गुण अपगत—नष्ट हो चुके हैं वे 'अपसंज्ञक' कहलाते हैं। ये चारित्र आदि से हीन हैं, जिनेन्द्रदेव के वचनों को नहीं जानते हुए चारित्र आदि से परिभ्रष्ट हैं, तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी हैं एवं जिनका मन सांसारिक सुखों में लगा हुआ है वे अपसंज्ञक इस सार्थक नामवाले हैं। मृग के समान अर्थात् पशु के समान जिनका चारित्र है वे 'मृगचरित्र' कहलाते हैं। ये आचार्यों का उपदेश नहीं मानते हैं, स्वच्छन्दचारी हैं, एकाकी विचरण करते हैं, जिनसूत्र—जिनागम में दूपण लगाते हैं, तप और श्रुत की विनय नहीं करते हैं, धैर्य रहित होते हैं, अतः 'मृगचरित्र'—स्वैराचारी होते हैं।

ये पाँचों प्रकार के मुनि 'पार्श्वस्थ' नाम से भी कहे जाते हैं। ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि के अनुष्ठान से शून्य रहते हैं, इन्हें तीर्थ और धर्म आदि में हर्ष रूप संवेग भाव नहीं होता है अतः ये हमेशा ही वन्दना करने योग्य नहीं हैं ऐसा समझना।

पुनरपि इनको वन्दना न करने का स्पष्ट कारण कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की विनय से ये नित्य ही पार्श्वस्थ हैं। ये गुण

---

*ये गाथायें फलटन से प्रकाशित कृति में अधिक हैं—

पांचों पार्श्वस्थ आदि का लक्षण गाथा द्वारा कहा गया है—

वसहीसु य पडिबद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई ॥

अर्थ—जो वसतिकाओं में आसक्त हैं, जो उपकरणों को बनाता रहता है, जो मुनियों के मार्ग का दूर से आश्रय करता है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं।

कोहादिकलुसिदप्पा वयगुणसीलेहि चावि परिहीणो।
संघस्स अयसकारी कुसीलसमणो त्ति णायव्वो ॥

अर्थ—जिसने क्रोधादिकों से अपने को कलुषित कर रखा है, व्रतगुण और शीलों से हीन है, संघ का अपयश करने वाला है वह कुशील श्रमण है ऐसा जानना।

वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिबद्धो।
राजादी सेवंतो संसत्तो णाम सो होई ॥

अर्थ—वैद्यशास्त्र, मंत्रशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र में कुशल होने से उनमें आसक्त रहता है अर्थात्

दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेभ्यो नित्यकालं पार्श्वस्था दूरीभूता यतोऽत एते न वंदनीयाश्छिद्रप्रेक्षिण: सर्वकालं गुणधराणां च छिद्रान्वेषिण: संयतजनस्य दोषोद्भाविनो यतोऽतो न वंदनीया एतेऽन्ये चेति ॥५९६॥

के तर्हि वंद्यंतेऽत आह—

समणं वंदिज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं ।
पंचमहव्वदकलिदं असंजमदुगंछयं धीरं ॥५९७॥

हे मेधाविन् ! चारित्राद्यनुष्ठानतत्पर ! श्रमणं निर्ग्रन्थरूपं वंदेत पूजयेत् किंविशिष्टं संयतं चारित्राद्यनुष्ठानतन्निष्ठं । पुनरपि किंविशिष्टं ? सुसमाहितं ध्यानाध्ययनतत्परं क्षमादिसहितं पंचमहाव्रतकलितं असंयमजुगुप्सकं प्राणेन्द्रियसंयमपरं धीरं धैर्योपेतं चागमप्रभावनाशीलं सर्वगुणोपेतमेवं विशिष्टं स्तूयादिति ॥५९७॥

तथा—

धारियों के छिद्र देखनेवाले हैं अत: ये वन्दनीय नहीं हैं ॥५९६॥*

आचारवृत्ति—दर्शन ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों की विनय से ये नित्यकाल दूर रहते हैं अत: ये वन्दनीय नहीं हैं। क्योंकि ये गुणों से युक्त संयमियों का दोष उद्भावन करते रहते हैं इसलिए इन पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वन्दना नहीं करनी चाहिए।

तो कौन वन्दनीय हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—हे बुद्धिमन् ! पाँच महाव्रतों से सहित, असंयम से रहित, धीर, एकाग्रचित्तवाले संयत ऐसे मुनि की वन्दना करो ॥५९७॥

आचारवृत्ति—हे चारित्रादि अनुष्ठान में तत्पर विद्वन् मुने ! तुम ऐसे निर्ग्रंथरूप श्रमण की वन्दना करो जो चारित्रादि के अनुष्ठान में निष्ठ हैं, ध्यान अध्ययन में तत्पर रहते हैं, क्षमादि गुणों से सहित हैं, पाँच महाव्रतों से युक्त हैं, असंयम के जुगुप्सक—प्राणी संयम [illegible]न्द्रिय संयम में परायण हैं, धैर्यगुण से सहित हैं, आगम की प्रभावना करने के स्वभाव[illegible] इन सर्वगुणों से सहित मुनियों की वन्दना व स्तुति करो।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

हमेशा इन्हीं के प्रयोग में लगे रहते है, एवं राजा आदिकों की सेवा करते हैं उनको संसक्त मुनि कहते हैं।

जिणवयणमयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्ठो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥

अर्थ—जो जिन वचनों को नहीं जानते हुए चारित्ररूपी धुरा को छोड़ चुके हैं, ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट हैं, तेरह विध क्रियाओं में आलसी हैं, उनको अपसंज्ञक मुनि कहते हैं।

आयरियकुलं मुच्चा विहरइ एगागिणो य जो समणो ।
जिणवयणं णिदंतो सच्छंदो होइ मिगचारी ॥

अर्थ—आचार्य के संघ को छोड़कर जो एकाकी विहार करते हैं, जिनवचनों की निन्दा करते हैं, स्वच्छन्द प्रवृत्ति रखते हैं, वे मृगचारी मुनि कहलाते हैं।

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालमुवजुत्ता ।
एदे खु वंदणिज्जा जे गुणवादी गुणधराणं ॥५६८॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेषु नित्यकालमभीक्ष्णमुपयुक्ताः सुष्ठु निरता ये ते एते वंदनीया गुणधराणां शीलधराणां च गुणवादिनो ये च ते वंदनीया इति ॥५६८॥

संयतमप्येवं स्थितमेतेषु स्थानेषु च न वंदेतेत्याह—

वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो ।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि ॥५६६॥*

व्याक्षिप्तं [1]ध्यानादिनाकुलचित्तं परावृत्तं पराङ्मुखं पृष्ठदेशतः स्थितं प्रमत्तं निद्राविकथादिरतं मा कदाचिद् वंदिज्ज नो वंदेत संयतमिति संबंधस्तथाऽऽहारं च कुर्वन्तं भोजनक्रियां कुर्वाणं नीहारं वा मूत्रपुरीषादिकं यदि करोति तदाऽपि नो कुर्वीत वंदनां साधुरिति ॥५६६॥

गाथार्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके विनयों में हमेशा लगे रहते हैं, जो गुणधारी मुनियों के गुणों का बखान करते हैं वास्तव में वे मुनि वन्दनीय हैं ॥५६८॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है ।

संयत भी यदि इस तरह स्थित हैं तो उन स्थानों में उनकी भी वन्दना न करे, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो व्याकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं, या प्रमाद सहित हैं उनकी भी कभी उस समय वन्दना न करे और यदि आहार कर रहे हैं अथवा नीहार कर रहे हैं उस समय भी वन्दना न करे ॥५६६॥*

आचारवृत्ति—व्याक्षिप्त—ध्यान आदि से आकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं, प्रमत्त—निद्रा या विकथा आदि में लगे हुए हैं, आहार कर रहे हैं या मल-मूत्रादि विसर्जन कर रहे हैं। संयमी मुनि भी यदि इस प्रकार की स्थिति में हैं तो साधु उस समय उनकी भी वन्दना न करे।

---

१ क व्याख्यानदिना व्याकु' ।

*ये गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक हैं—

वसदिविहारे काइयसण्णा भिक्खाविहारभूमीदो ।
चेदिय पुरगामादो गुरुम्हि एदे समुट्ठंति ॥

अर्थ—वसतिका में अथवा आश्रम में शरीर शुद्धि करके, विहार भूमि से—आश्रम से निकलकर, चैत्यवन्दना कर, और आहार लेकर गुरु के वापस आने पर शिष्य आदर से खड़े होते हैं।

असमाणेहि गुरुम्हि य वसभचउक्के विएस चेव वदी ।
तेसु य असमाणेसु य पुज्जो सव्वचेट्ठो सो ॥

अर्थ—गुरु—आचार्य के अभाव में उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ऐसे श्रेष्ठ मुनि का विनय यह व्रती—शिष्य मुनि करे। और यदि उपाध्याय आदि भी न हों तो संघ में जितने दिनकर प्रवृत्ति हैं अर्थात् जो दीक्षा गुण आदि में बड़े हैं उनकी विनय-वन्दना करे।

केन विधानेन स्थितो वंद्यत इत्याशंकायामाह—

आसणे आसणत्थं च उवसंत उवट्ठिदं ।
अणु[1]विण्णय मेधावो किदियम्मं पउंजदे ।।६००।।

आसने विविक्तभूप्रदेशे आसनस्थं पर्यकादिना व्यवस्थितं अथवा आसने आसनस्थमव्याक्षिप्तमपराङ्मुखमुपशांतं स्वस्थचित्तं उपस्थितं वंदनां कुर्वीत इति स्थित अनुविज्ञाप्य वंदना करोमीति संबोध्य मेधावी प्राज्ञोऽनेन विधानेन कृतिकर्म प्रारभेत प्रयुंजीत विदधीतेत्यर्थः ।।६००।।

कथमिद गतं सूत्रं वंदनायाः स्थानमित्याह—

आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूयणे य सज्झाए ।
अवराहे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु ।।६०१।।

आलोचनायाः करणे आलोचनाकालेऽथवा करणे षडावश्यककाले परिप्रश्ने प्रश्नकाले पूजने पूजाकाले च स्वाध्याये स्वाध्यायकालेऽपराधे क्रोधाद्यपराधकाले च गुरूणामाचार्योपाध्यायादीनां वंदनैतेषु स्थानेषु कर्तव्येति ।।६०१।।

भावार्थ—यह प्रकरण मुख्यतया साधु के लिए है अतः आहार करते समय श्रावक यदि उन्हें आहार देने आते हैं तो 'नमोस्तु' करके ही आहार देते हैं ।

किस विधान से स्थित हों तो वन्दना करे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो आसन पर बैठे हुए हैं, शांतचित्त हैं एवं सन्मुख मुख किए हुए हैं उनकी अनुज्ञा लेकर विद्वान् मुनि वन्दना विधि का प्रयोग करे ।।६००।।

आचारवृत्ति—एकांत भूमिप्रदेश में जो पर्यंक आदि आसन से बैठे हुए हैं अथवा आसन—पाटे आदि पर बैठे हुए हैं, जो शांत—निराकुल चित्त हैं, अपनी तरफ मुख करके बैठे हुए हैं, स्वस्थ चित्त हैं, उनके पास आकर—'हे भगवन् ! मैं वन्दना करूँगा' ऐसा सम्बोधन करके विद्वान् मुनि इसविधि से कृतिकर्म—विधिपूर्वक वन्दना प्रारम्भ करे। इस प्रकार से वन्दना किनकी करना और कैसे करना इन दो प्रश्नों का उत्तर हो चुका है।

अब वन्दना कब करना सो बताते हैं—

गाथार्थ—आलोचना के करने में, प्रश्न पूछने में, पूजा करने में, स्वाध्याय के प्रारम्भ में और अपराध के हो जाने पर इन स्थानों में गुरुओं की वन्दना करे ।।६०१।।

आचारवृत्ति—आलोचना के समय, करण अर्थात् छह आवश्यक क्रियाओं के समय, प्रश्न करने के समय, पूजन के समय, स्वाध्याय के समय और अपने से क्रोधादि रूप किसी अपराध के हो जाने पर गुरु—आचार्य, उपाध्याय आदिकों की वन्दना करे। अर्थात् इन-इन प्रकरणों में गुरुओं की वन्दना करनी होती है। 'किस स्थान में वन्दना करना' जो यह प्रश्न था उसका उत्तर दे दिया है।

---

१ क अणुण्णवित्त मे ।

"...स्मिन्स्थाने" यदेतत्सूत्रं स्थापितं तद्व्याख्यातमिदानीं कतिवारं कृतिकर्म कर्तव्यमिति यत्सूत्रं स्थापितं तद्व्याख्यानायाह—

चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥६०२॥

सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थकरस्तवपर्यन्तः [1]कृतिकर्मेत्युच्यते। प्रतिक्रमणकाले चत्वारि क्रियाकर्माणि स्वाध्यायकाले च त्रीणि क्रियाकर्माणि भवंत्येवं पूर्वाह्णे क्रियाकर्माणि सप्त तथाऽपराह्णे च क्रियाकर्माणि सप्तैवं पूर्वाह्णेऽपराह्णे च क्रियाकर्माणि चतुर्दश भवतीति। कथं प्रतिक्रमणे चत्वारि क्रियाकर्माणि, आलोचनाभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एकं क्रियाकर्म तथा प्रतिक्रमणभक्तिकरणे कायोत्सर्गः द्वितीयं क्रियाकर्म तथा[2] वीरभक्तिकरणे कायोत्सर्गस्तृतीयं क्रियाकर्म तथा चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकरणे शांतिहेतोः कायोत्सर्गश्चतुर्थं क्रियाकर्म। कथं च स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि, श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एकं क्रियाकर्म तथाऽऽचार्यभक्तिक्रियाकरणे द्वितीयं क्रियाकर्म तथा स्वाध्यायोपसंहारे श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्गस्तृतीयं क्रियाकर्मैवं जातिमपेक्ष्य त्रीणि क्रियाकर्माणि भवंति स्वाध्याये शेषाणां वंदनादिक्रियाकर्मणामत्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्यः।

'अब कितनी बार कृतिकर्म करना चाहिए' जो यह प्रश्न हुआ था उसका व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म, स्वाध्याय में तीन ये पूर्वाह्ण और अपराह्ण से सम्बन्धित ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं ॥६०२॥

आचारवृत्ति—सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव-पर्यंत जो क्रिया है उसे 'कृतिकर्म' कहते हैं। प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म और स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म इस तरह पूर्वाह्ण सम्बन्धी क्रियाकर्म सात होते हैं तथा अपराह्ण सम्बन्धी क्रियाकर्म भी सात होते हैं। ऐसे चौदह क्रियाकर्म होते हैं।

प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म कैसे होते हैं?

आलोचना भक्ति (सिद्धभक्ति) करने में कायोत्सर्ग होता है वह एक क्रियाकर्म हुआ। प्रतिक्रमण भक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है वह दूसरा क्रियाकर्म हुआ। वीर भक्ति के करने में जो कायोत्सर्ग है वह तृतीय क्रियाकर्म हुआ तथा चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के करने में शान्ति के लिए जो कायोत्सर्ग है वह चतुर्थ क्रियाकर्म है। इस तरह प्रतिक्रमण में चार क्रियाकर्म हुए।

स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म कैसे हैं?

स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुतभक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है वह एक कृतिकर्म है तथा आचार्य भक्ति की क्रिया करने में जो कायोत्सर्ग है वह दूसरा कृतिकर्म है। तथा स्वाध्याय की समाप्ति में श्रुतभक्ति करने में जो कायोत्सर्ग है वह तीसरा कृतिकर्म है। इस तरह जाति की अपेक्षा तीन क्रियाकर्म स्वाध्याय में होते हैं। शेष वन्दना आदि क्रियाओं का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रधान पद का ग्रहण किया है जिससे पूर्वाह्ण कहने से दिवस का और

---

१ क क्रियाकर्मे। २ क तथा महावीर।

प्रधानपदोच्चारणं कृतं यतः पूर्वाह्णे दिवस इति एवमपराह्णे रात्रावपि द्रष्टव्यं भेदाभावात् अथवा पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि स्वाध्याये त्रीणि वंदनायां द्वे, सवितर्युदिते स्वाध्याये त्रीणि मध्याह्नवंदनायां द्वे एवं पूर्वाह्णक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति; तथाऽपराह्णवेलायां स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि प्रतिक्रमणे चत्वारि वंदनायां द्वे योगभक्तिग्रहणोपसंहारकालयोः द्वे रात्रौ प्रथमस्वाध्याये त्राणि। एवमपराह्णक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवंति प्रतिक्रमणस्वाध्यायकालयोरुपलक्षणत्वादिति, अन्यान्यपि क्रियाकर्माण्यत्रैवान्तर्भवन्ति नाव्यापकत्वमिति संबन्धः। पूर्वाह्णसमीपकालः पूर्वाह्ण इत्युच्यतेऽपराह्णसमीपकालोऽपराह्ण इत्युच्यते तस्मान्न दोष इति ॥६०२॥

कत्यवनतिकरणमित्यादि यत्पृष्टं तदर्थमाह—

दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव य।
चादुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे ॥६०३॥

अपराह्ण कहने से रात्रि का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि पूर्वाह्ण से दिवस में और अपराह्ण से रात्रि में कोई भेद नहीं है।

अथवा पश्चिम रात्रि के प्रतिक्रमण में क्रियाकर्म चार, स्वाध्याय में तीन और वन्दना में दो, सूर्य उदय होने के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्न वन्दना के दो इस प्रकार से पूर्वाह्ण सम्बन्धी क्रियाकर्म चौदह होते हैं। तथा अपराह्णवेला में स्वाध्याय में तीन क्रियाकर्म, प्रतिक्रमण में चार, वन्दना में दो, योगभक्ति ग्रहण और उपसंहार में दो एवं रात्रि में प्रथम स्वाध्याय के तीन इस तरह अपराह्ण सम्बन्धी क्रियाकर्म चौदह होते हैं। गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय काल उपलक्षण रूप हैं इससे अन्य भी क्रियाकर्म इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः अव्यापक दोष नहीं आता है। चूंकि पूर्वाह्ण के समीप का काल पूर्वाह्ण कहलाता है और अपराह्ण के समीप का काल अपराह्ण कहलाता है इसलिए कोई दोष नहीं है।

भावार्थ—मुनि के अहोरात्र सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग कहे गये हैं। उन्हीं का यहाँ वर्णन किया गया है। यथा दैवसिक-रात्रिक इन दो प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्ग ८, त्रिकालदेव वन्दना सम्बन्धी ६, पूर्वाह्ण, अपराह्ण, तथा पूर्वरात्रि और अपररात्रि इन चार काल में तीन बार स्वाध्याय सम्बन्धी १२, रात्रियोग ग्रहण और विसर्जन इन दो समयों में दो बार योगभक्ति सम्बन्धी २, कुल मिलाकर २८ होते हैं। अन्यत्र ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख है यथा—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः[1] ॥७५॥

अर्थ—स्वाध्याय के बारह, वन्दना के छह, प्रतिक्रमण के आठ और योगभक्ति के दो ऐसे अहोरात्र सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते हैं।

'कितनी अवनति करना ?' इत्यादि रूप जो प्रश्न हुए थे उन्हीं का उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जातरूप सदृश दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धि सहित कृतिकर्म का प्रयोग करें ॥६०३॥

---

१ अनगारधर्मामृत अ. ८, पृ० ५६७।

दोणदं—द्वे अवनती पंचनमस्कारादावेकावनतिर्भूमिसंस्पर्शस्तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ द्वितीयाऽवनतिः शरीरनमनं द्वे अवनती जहाजादं—यथाजातं जातरूपसदृशं क्रोधमानमायासंगादिरहितं। बारसावत्तमेव य द्वादशावर्त्ता एवं च पंचनमस्कारोच्चारणादौ मनोवचनकायानां संयमनानि शुभयोगवृत्तयस्त्रय आवर्त्तास्तथा पंचनमस्कारसमाप्तौ मनोवचनकायानां शुभवृत्तयस्त्रीण्यन्यान्यावर्त्तनानि तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ मनोवचनकायाः शुभवृत्तयस्त्रीण्यपराण्यावर्त्तनानि तथा चतुर्विंशतिस्तवसमाप्तौ शुभमनोवचनकायवृत्तयस्त्रीण्यावर्त्तनान्येवं द्वादशधा मनोवचनकायवृत्तयो द्वादशावर्त्ता भवन्ति, अथवा चतसृषु दिक्षु चत्वारः प्रणामा एकस्मिन् भ्रमणे एवं त्रिषु भ्रमणेषु द्वादश भवंति, चदुस्सिरं चत्वारि शिरांसि पंचनमस्कारस्यादावंते च करमुकुलांकित-

---

आचारवृत्ति—दो अवनति—पंच नमस्कार के आदि में एक बार अवनति अर्थात् भूमि स्पर्शनात्मक नमस्कार करना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि में दूसरी बार अवनति—शरीर का नमाना अर्थात् भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार करना ये दो अवनति हैं। यथाजात—जातरूप सदृश क्रोध, मान, माया और संग—परिग्रह या लोभ आदि रहित कृतिकर्म को मुनि करते हैं। द्वादश आवर्त—पंच नमस्कार के उच्चारण के आदि में मन वचन काय के संयमन रूप शुभयोगों की प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त पंचनमस्कार की समाप्ति में मनवचनकाय की शुभवृत्ति होना ये तीन आवर्त, तथा चतुर्विंशति स्तव की आदि में मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त एवं चतुर्विंशति स्तव की समाप्ति में शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त—ऐसे मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति रूप बारह आवर्त होते हैं। अथवा चारों ही दिशाओं में चार प्रणाम एक भ्रमण में ऐसे ही तीन बार के भ्रमण में बारह हो जाते हैं।

चतुःशिर—पंचनमस्कार के आदि और अन्त में कर मुकुलित करके अंजलि जोड़कर माथे से लगाना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त में कर मुकुलित करके माथे से लगाना ऐसे चार शिर—शिरोनति होती हैं।

इस तरह इसे एक कृतिकर्म में दो अवनति, बारह आवर्त और चार शिरोनमन होते हैं। मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक मुनि इस विधानयुक्त यथाजात कृतिकर्म का प्रयोग करें।

विशेषार्थ—एक बार के कायोत्सर्ग में यह उपर्युक्त विधि की जाती है उसी का नाम कृतिकर्म है। यह विधि देववन्दना, प्रतिक्रमण आदि सर्व क्रियाओं में भक्तिपाठ के प्रारम्भ में की जाती है। जैसे देववन्दना में चैत्यभक्ति के प्रारम्भ में-

'अथ पौर्वाह्णिक-देववन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रीचैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं'।

यह प्रतिज्ञा हुई, इसको बोलकर भूमि स्पर्शनात्मक पंचांग नमस्कार करें। यह एक अवनति हुई। अनन्तर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके 'णमो अरिहंताणं...चत्तारिमंगलं... अड्ढाइज्जदीव...इत्यादि पाठ बोलते हुए...दुच्चरियं वोस्सरामि' तक पाठ बोले यह सामायिकस्तव' कहलाता है। पुनः तीन आवर्त और एक शिरोनति करें। इस तरह सामायिक दण्डक के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति होने से छह आवर्त और दो शिरोनति हुई। पुनः नौ बार णमोकार मन्त्र को सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में जपकर भूमिस्पर्श-

शिरःकरणं तथा चतुर्विंशतिस्तवस्यादावंते च करमुकुलांकितशिरःकरणमेवं चत्वारि शिरांसि भवंति, त्रिशुद्धं मनोवचनकायशुद्धं क्रियाकर्म प्रयुंक्ते करोति। द्वे अवनती यस्मिन्तत् द्वयवनति क्रियाकर्म द्वादशावर्त्ताः यस्मिस्तत् द्वादशावर्त्त, मनोवचनकायशुद्धया चत्वारि शिरांसि यस्मिन् तत् चतुःशिरःक्रियाकर्मैवं विशिष्टं यथाजातं क्रियाकर्म प्रयुंजीतेति ॥६०३॥

पुनरपि क्रियाकर्मप्रयुंजनविधानमाह—

तिविहं तियरणसुद्धं मयरहियं दुविहठाण पुणरुत्तं।
विणएण कमविसुद्धं किदियम्मं होदि कायव्वं ॥६०४॥

त्रिविधं ग्रंथार्थोभयभेदेन त्रिप्रकारं, अथवाऽवनतिद्वयमेकः प्रकारः द्वादशावर्त्तः द्वितीयः प्रकारश्चतुःशिरस्तृतीयं विधानमेवं त्रिविधं, अथवा कृतकारितानुमतिभेदेन त्रिविधं, अथवा प्रतिक्रमणस्वाध्यायवन्दनाभेदेन त्रिविधं, अथवा पंचनमस्कारध्यानचतुर्विंशतिस्तवभेदेन त्रिविधमिति। त्रिकरणशुद्धं मनोवचनकायाशुभ-

---

नात्मक नमस्कार करें। इस तरह प्रतिज्ञा के अनन्तर और कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार अवनति हो गयीं।

बाद में तीन आवर्त, एक शिरोनति करके 'थोस्सामि स्तव' पढ़कर अन्त में पुनः तीन आवर्त, एक शिरोनति करें। इस तरह चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से छह आवर्त और दो शिरोनति हो गयीं। ये सामायिक स्तव सम्बन्धी छह आवर्त, दो शिरोनति तथा चतुर्विंशतिस्तव सम्बन्धी छह आवर्त, दो शिरोनति मिलकर बारह आवर्त और चार शिरोनति हो गयीं।

इस तरह एक कायोत्सर्ग के करने में दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं।

जुड़ी हुई अंजुलि को दाहिनी तरफ से घुमाना सो आवर्त का लक्षण है यहाँ पर टीकाकार ने मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति का करना आवर्त कहा है जोकि उस क्रिया के करने में होना ही चाहिए।

इतनी क्रियारूप कृतिकर्म को करके 'जयतु भगवान् इत्यादि चैत्यभक्ति का पाठ पढ़ना चाहिए। ऐसे ही जो भी भक्ति जिस क्रिया में करना होती है तो यही विधि की जाती है।

पुनरपि क्रियाकर्म की प्रयोगविधि बताते हैं—

गाथार्थ—अवनति, आवर्त और शिरोनति ये तीन विध, मनवचनकाय से शुद्ध, मदरहित, पर्यंक और कायोत्सर्ग इन दो स्थान युक्त, पुनरुक्ति युक्त विनय से क्रमानुसार कृतिकर्म करना होता है ॥६०४॥

आचारवृत्ति—त्रिविधं—ग्रंथ, अर्थ और उभय के भेद से तीन प्रकार, अथवा दो अवनति यह एक प्रकार, बारह आवर्त यह दो प्रकार, चार शिर यह तृतीय प्रकार, ऐसे तीन प्रकार, अथवा कृत, कारित, अनुमोदना के भेद से तीन प्रकार, अथवा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और वन्दना के भेद से तीन प्रकार, अथवा पंचनमस्कार, ध्यान और चतुर्विंशतिस्तव अर्थात् सामा-

परिणामविमुक्तं, अथवाऽवनतिद्वयद्वादशावर्त्तचतुःशिरःक्रियाभिः शुद्धं । मदरहितं जात्यादिमदहीनं । द्विविध-स्थानं द्वे पर्यंककायोत्सर्गौ स्थाने यस्य तत् द्विविधं स्थानं । पुनरुक्तं क्रियां क्रियां प्रति, तदेव क्रियत इति पुनरुक्तं, विनयेन विनययुक्त्या क्रमविशुद्धं[1] क्रममनतिलंघ्यागमानुसारेण कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यं । न पुनरुक्तो दोषो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहणादिति ॥६०४॥

कति दोषविप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यमिति यत्पृष्टं तदर्थमाह—

अणाठिदं च थद्धं च पविट्ठं परिपीडिदं ।
दोलाइयमंकुसियं तहा कच्छभरिंगियं ॥६०५॥

मच्छुव्वत्तं मणोदुट्ठं वेदिआबद्धमेव य ।
भयसा चेव भयत्तं इड्ढिगारव गारवं ॥६०६॥

यिक दण्डक, कायोत्सर्ग और थोस्सामिस्तव इन भेदों से तीन प्रकार होते हैं। अर्थात् यहाँ त्रिविध शब्द से पांच तरह से तीन प्रकार को लिया है जो कि सभी ग्राह्य हैं किन्तु फिर भी यहाँ कृतिकर्म में द्वितीय प्रकार और पाँचवाँ प्रकार ही मुख्य है।

त्रिकरणशुद्ध—मनवचनकाय के अशुभ परिणाम से रहित अथवा दो अवनति, बारह आवर्त और चार शिर इन क्रियाओं से शुद्ध।

मदरहित—जाति, कुल आदि आठ मदों से रहित।

द्विविधस्थान—पर्यंक आसन और खड़े होकर कायोत्सर्ग आसन ये दो प्रकार के स्थान कृतिकर्म में होते हैं।

पुनरुक्त—क्रिया-क्रिया के प्रति अर्थात् प्रत्येक क्रियाओं के प्रति वही विधि की जाती है यह पुनरुक्त होता है। यहाँ यह दोष नहीं है। प्रत्युत करना ही चाहिए।

इस तरह से त्रिविध, त्रिकरणशुद्ध, मदरहित, द्विविधस्थान युक्त और पुनरुक्त इतने विशेषणों से युक्त विनय से युक्त होकर, क्रम का उल्लंघन न करके, आगम के अनुसार कृति-कर्म करना चाहिए। पूर्वगाथा में यद्यपि कृतिकर्म का लक्षण बता दिया था फिर भी इस गाथा में विशेष रूप से कहा गया है अतः पुनरुक्त दोष नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यों के संग्रह के लिए ऐसा कहा गया है। अर्थात् संक्षेप से समझने की बुद्धि वाले शिष्य पहली गाथा से स्पष्ट समझ लेंगे, किंतु विस्तार से समझने की बुद्धि वाले शिष्यों के लिए दोनों गाथाओं के द्वारा समझना सरल होगा ऐसा जानना।

कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए? ऐसा जो प्रश्न हुआ था अब उसका समाधान करते हैं—

गाथार्थ—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्यत्त्व, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित प्रतिनीत, प्रदुष्ट,

---

1 क °शुद्धया।

तेणिदं पडिणिदं चावि पदुट्ठं तज्जिदं तधा ।
सद्दं च हीलिदं चावि [1]तह तिवलिद[2]कुंचिदं ।।६०७।।
दिट्ठमदिट्ठं चावि य संघस्स करमोयणं ।
आलद्धमणालद्धं च हीणमुत्तरचूलियं ।।६०८।।
मूगं च दद्दुरं चावि चुलुलिदमपच्छिमं ।
बत्तीसदोसविसुद्धं किदियम्मं पउंजदे ।।६०९।।

अणाठिदमनादृतं विनादरेण संभ्रममंतरेण यत् क्रियाकर्म क्रियते तदनादृतमित्युच्यते अनादृतनामा[3] दोषः । थद्धं च स्तब्धश्च विद्यादिगर्वेणोद्धतः सन् यः करोति क्रियाकर्म तस्य स्तब्धनामा[4] दोषः पविट्ठं प्रविष्टः पंचपरमेष्ठिनामत्यासन्नो भूत्वा यः करोति कृतिकर्म तस्य प्रविष्टदोषः, परिपीडिदं परिपीडितं करजानुप्रदेशैः परिपीड्य संस्पर्श्य यः करोति वंदनां तस्य परिपीडितदोषः, दोलाधिदं—दोलायितं दोलामिवात्मानं चलाचलं

तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तर चूलिका, मूक, दर्दुर और चुलुलित इस प्रकार साधु इन बत्तीस दोषों से विशुद्ध कृतिकर्म का प्रयोग करते हैं ।।६०५-६०९।।

आचारवृत्ति—वन्दना के समय जो कृतिकर्म प्रयोग होता है उसके अर्थात् वन्दना के बत्तीस दोष होते हैं, उन्हीं का क्रम से स्पष्टीकरण करते हैं—

१. अनादृत—बिना आदर के या बिना उत्साह के जो क्रियाकर्म किया जाता है वह अनादृत कहलाता है । यह अनादृत नाम का पहला दोष है .

२. स्तब्ध—विद्या आदि के गर्व से उद्धत—उद्दंड होकर जो क्रियाकर्म किया जाता है वह स्तब्ध दोष है ।

३. प्रविष्ट—पंचपरमेष्ठी के अति निकट होकर जो कृतिकर्म किया जाता है वह प्रविष्ट दोष है ।

४. परिपीड़ित—हाथ से घुटनों को पीडित—स्पर्श करके जो वन्दना करता है उसके परिपीड़ित दोष होता है ।

५. दोलायित—झूला के समान अपने को चलाचल करके अथवा सो कर (या नींद से झूमते हुए) जो वन्दना करता है उसके दोलायित दोष होता है ।

६. अंकुशित—अंकुश के समान हाथ के अंगूठे को ललाट पर रखकर जो वन्दना करता है उसके अंकुशित दोष होता है ।

७. कच्छपरिंगित—कछुए के समान चेष्टा करके कटिभाग से सरककर जो वन्दना करता है उसके कच्छपरिंगित दोष होता है ।

---

१ क तहा । २ क 'दं-तु कुं' । ३ क नाम दोषरूपं । ४ क स्तब्धो 'नाम' ।

कृत्वा शयित्वा वा यो विदधाति वन्दनां तस्य दोलायितदोषः अंकुसियं अंकुशितमंकुशमिव करांगुष्ठं ललाटदेशे कृत्वा यो वन्दनां करोति तस्यांकुशितदोषः, तथा कच्छभरिंगियं कच्छपरिंगितं चेष्टितं कटिभागेन कृत्वा यो विदधाति वन्दनां तस्य कच्छपरिंगितदोषः ॥६०५॥

तथा—

मत्स्योद्वर्त्तः पार्श्वद्वयेन वन्दनाकारणमथवा मत्स्यस्य इव कटिभागेनोद्वर्त्त कृत्वा यो वंदनां विदधाति तस्य मत्स्योद्वर्त्तदोषः,मनसाचार्यादीनां दुष्टो भूत्वा यो वंदनां करोति तस्य मनोदुष्टदोषः। संक्लेशयुक्तेन मनसा यद्वा वंदनाकरणं, वेदियावद्धमेव य वेदिकाबद्ध एव च वेदिकाकारेण हस्ताभ्यां बंधो हस्तपंजरेण वामदक्षिण-स्तनप्रदेशं प्रपीड्य जानुद्वयं वा प्रबद्ध्य वंदनाकरणं वेदिकाबद्धदोषः, भयसा चेव भयेन चैव मरणादिभीतस्य भयसंत्रस्तस्य यद्वन्दनाकारणं भयदोषः भयतो बिभ्यतो गुर्वादिभ्यतोबिभ्यतो भयं प्राप्नुवतः परमार्थातपरस्य वालस्वरूपस्य वंदनाभिधानं बिभ्यद्दोषः, इड्ढिगारव ऋद्धिगौरवं वंदनामकुर्वतो महापरिकरश्चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघो

---

८. मत्स्योद्वर्त—दो पसवाड़ों से वन्दना करना अथवा मत्स्य के समान कटिभाग को ऊपर उठाकर (या पलटकर) जो वन्दना करता है उसके मत्स्योद्वर्त दोष होता है।

९. मनोदुष्ट—मन से आचार्य आदि के प्रति द्वेष धारण करके जो वन्दना करता है अथवा संक्लेशयुक्त मन से जो वन्दना करता है उसके मनोदुष्ट नाम का दोष होता है।

१०, वेदिकाबद्ध—वेदिका के आकार रूप से दोनों हाथों को बाँधकर हाथ पंजर से वाम-दक्षिण स्तन प्रदेश को पीडित करके या दोनों घुटनों को बाँध करके वन्दना करना वेदिका-बद्ध दोष है।

११. भय—भय से अर्थात् मरण आदि से भयभीत होकर या भय से घबड़ाकर वन्दना करना, भय दोष है।

१२. बिभ्यत्त्व—गुरु आदि से डरते हुए या परमार्थ से परे वालकस्वरूप परमार्थ के ज्ञान से शून्य अज्ञानी हुए वन्दना करना बिभ्यत् दोष है.

१३. ऋद्धिगौरव—वन्दना को करने से महापरिकर वाला चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ मेरा भक्त हो जावेगा इस अभिप्राय से जो वन्दना करता है उसके ऋद्धिगौरव दोष होता है।

१४. गौरव—अपना माहात्म्य आसन आदि के द्वारा प्रगट करके या रस के सुख के लिए जो वन्दना करता है उसके गौरव नाम का दोष होता है।

१५. स्तेनित—जिस प्रकार से गुरु आदि न जान सकें ऐसी चोर बुद्धि से या कोठरी में प्रवेश करके वन्दना करना या अन्य जनों से आँखें चुराकर अर्थात् नहीं देख सकें ऐसे स्थान में वन्दना करना सो स्तेनित दोष है.

१६. प्रतिनीत—गुरु आदि के प्रतिकूल होकर जो वन्दना करता है उसके प्रतिनीत दोष होता है।

१७. प्रदुष्ट—अन्य के साथ प्रद्वेष—वैर कलह आदि करके पुनः उनसे क्षमाभाव न कराकर जो क्रियाकलाप करता है उसके प्रदुष्ट दोष होता है।

भक्तो भवत्येवमभिप्रायेण यो वंदनां विदधाति तस्य ऋद्धिगौरवदोषः। गारवं गौरवं आत्मनो माहात्म्यासनादिभिराविःकृत्य रससुखहेतोर्वा यो वंदनां करोति तस्य गौरववंदनादोषः ॥६०८॥ तथा—

तेणिदं स्तेनितं चौरबुद्ध्या यथा गुर्वादयो न जानंति वन्दनादिकमपवरकाभ्यन्तरं प्रविश्य वा परेषां वंदनां चोरयित्वा यः करोति वंदनादिकं[1] तस्य स्तेनितदोषः, पडिणिदं प्रतिनीतं देवगुर्वादीनां प्रतिकूलो भूत्वा यो वंदनां विदधाति तस्य प्रतिनीतदोषः, पदुट्ठं प्रदुष्टोऽन्यैः सह प्रद्वेषं वैरं कलहादिकं विधाय क्षंतव्यमकृत्वा यः करोति क्रियाकलापं तस्य प्रदुष्टदोषः। तज्जिदं तर्जितं तथा अन्यांस्तर्जयन्नन्येषां भयमुत्पादयन्यदि वन्दनां करोति तदा तर्जितदोषस्तस्याथवाऽऽचार्यादिभिरंगुल्यादिना तर्जितः शासितो यदि 'नियमादिकं न करोषि निर्वासयामो भवन्त" मिति तर्जितो यः करोति तस्य तर्जितदोषः। सद्दं च शब्दं ब्रुवाणो यो वन्दनादिकं करोति मौनं परित्यज्य तस्य शब्ददोषोऽथवा सट्ठं चेति पाठस्तत एवं ग्राह्यं शाठ्येन मायाप्रपंचेन यो वन्दनां करोति तस्य शाठ्यदोषः। हीलिदं हीलितं वचनेनाचार्यादीनां परिभवं कृत्वा यः करोति वन्दनां तस्य हीलितदोषः, तह तिवलिदं तथा त्रिविलिते शरीरस्य त्रिषु कटिहृदयग्रीवाप्रदेशेषु भंगं कृत्वा ललाटदेशे वा त्रिवलिं कृत्वा यो विदधाति वन्दनां तस्य त्रिवलितदोषः, कुंचिदं कुचितं कुंचितहस्ताभ्यां शिरः परामर्शं कुर्वन् यो वन्दनां विदधाति

---

१८. **तर्जित**—अन्यों की तर्जना करते हुए अर्थात् अन्य साधुओं को भय उत्पन्न करते हुए यदि वन्दना करता है। अथवा आचार्य आदि के द्वारा अंगुली आदि से तर्जित—शासित—दंडित होता हुआ यदि वन्दना करता है अर्थात् 'यदि तुम नियम आदि क्रियाएँ नहीं करोगे तो हम तुम्हें संघ से निकाल देंगे।' ऐसी आचार्यों की फटकार सुनकर जो वन्दना करता है उसके तर्जित दोष होता है।

१९. **शब्द**—मौन को छोड़कर शब्द बोलते हुए जो वन्दना आदि करता है उसके शब्द दोष होता है। अथवा 'सट्ठं च' ऐसा पाठ भेद होने से उसका ऐसा अर्थ करना कि शठता से, माया प्रपंच से जो वन्दना करता है उसके शाठ्य दोष होता है।

२०. **हीलित**—वचन से आचार्य आदिकों का तिरस्कार करके जो वन्दना करता है उसके हीलित दोष होता है।

२१. **त्रिवलित**—शरीर के कटि, हृदय और ग्रीवा इन तीन स्थानों में भंग डालकर अर्थात् कमर, हृदय और गरदन को मोड़कर वन्दना करना या ललाट में त्रिवली—तीन सिकुड़न डालकर वन्दना करना सो त्रिवलित दोष है।

२२. **कुंचित**—संकुचित किए हाथों से शिर का स्पर्श करते हुए जो वन्दना करता है या घुटनों के मध्य शिर को रखकर संकुचित होकर जो वन्दना करता है उसके संकुचित दोष होता है।

२३. **दृष्ट**—आचार्यादि यदि देख रहे हैं तो सम्यक् विधान से वन्दना आदि करता है अन्यथा स्वेच्छानुसार करता है अथवा दिशाओं का अवलोकन करते हुए यदि वन्दना करता है तो उसके दृष्ट दोष होता है।

---

१ क °दि क्रिया त°।

जानुमध्ययोर्वा शिरः कृत्वा संकुचितो भूत्वा यो वन्दनां करोति तस्य संकुचितदोषः ॥६०७॥

दिट्ठं दृष्टं आचार्यादिभिर्दृष्टः सन् सम्यग्विधानेन वन्दनादिकं करोत्यन्यथा स्वेच्छयाऽथवा दिगवलोकनं कुर्वन् वन्दनादिकं यदि विदधाति तदा तस्य दृष्टो दोषः। **अदिट्ठं** अदृष्टं आचार्यादीनां दर्शनं पृथक् त्यक्त्वा भूप्रदेशं शरीरं चाप्रतिलेख्यातद्गतमनाः पृष्ठदेशतो वा भूत्वा यो वन्दनादिकं करोति तस्यादृष्टदोषः, अपि च **संघस्स करमोयणं** संघस्य करमोचनं संघस्य मायाकरो वृष्टिर्दातव्योऽन्यथा न ममोपरि संघः शोभनः स्यादिति ज्ञात्वा यो वन्दनादिकं करोति तस्य संघकरमोचनदोषः। **आलद्धमणालद्धं** उपकरणादिकं लब्ध्वा यो वन्दनां करोति तस्य लब्धदोषः। **अणालद्धं**—अनालब्धं उपकरणादिकं लप्स्येऽहमिति बुद्ध्या यः करोति वन्दनादिकं तस्यानालब्धदोषः। **हीणं** हीनं ग्रंथार्थकालप्रमाणरहितां वन्दनां यः करोति तस्य हीनदोषः। **उत्तरचूलियं** उत्तरचूलिकां वन्दनां स्तोकेन निर्वर्त्य वन्दनायाश्चूलिकाभूतस्यालोचनादिकस्य महता कालेन निर्वर्तकं कृत्वा यो वन्दनां विदधाति तस्योत्तरचूलिकादोषः ॥६०८॥

---

२४. **अदृष्ट**—आचार्य आदिकों को पृथक्-पृथक् न देखकर भूमिप्रदेश और शरीर का पिच्छी से परिमार्जन न करके, वन्दना की क्रिया और पाठ में उपयोग न लगाते हुए अथवा गुरु आदि के पृष्ठ देश में—उनके पीठ पीछे होकर जो वन्दना आदि करता है उसके अदृष्ट दोष होता है।

२५. **संघकरमोचन**—संघ को मायाकर—वृष्टि अर्थात् कर भाग देना चाहिए अन्यथा मेरे प्रति संघ शुभ नहीं रहेगा अर्थात् मुझसे संघ रुष्ट हो जावेगा ऐसा समझ कर जो वन्दना आदि करता है उसके संघकर-मोचन दोष होता है।

२६. **आलब्ध**—उपकरण आदि प्राप्त करके जो वन्दना करता है उसके लब्ध दोष होता है।

२७. **अनालब्ध**—'उपकरणादि मुझे मिलें' ऐसी बुद्धि से यदि वन्दना आदि करता है तो उसके अनालब्ध दोष होता है।

२८. **हीन**—ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित जो वन्दना करता है उसके हीन दोष होता है। अर्थात् वन्दना सम्बन्धी पाठ के शब्द जितने हैं उतने पढ़ना चाहिए, उनका अर्थ ठीक समझते रहना चाहिए और जितने काल में उनको पढ़ना है उतने काल में ही पढ़ना चाहिए। इससे अतिरिक्त जो इन प्रमाणों को कम कर देता है, जल्दी-जल्दी पाठ पढ़ लेता है इत्यादि उसके हीन दोष होता है।

२९. **उत्तरचूलिका**—वन्दना का पाठ थोड़े ही काल में पढ़कर वन्दना की चूलिका भूत आलोचना आदि को बहुत काल तक पढ़ते हुए जो वन्दना करता है उसके उत्तरचूलिका दोष होता है। अर्थात् 'जयतु भगवान् हेमाम्भोज' इत्यादि भक्तिपाठ जल्दी पढ़कर 'इच्छामि भंते!चेइय भक्ति' इत्यादि चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को बहुत मंदगति से पढ़ना आदि उत्तर चूलिका दोष है।

तथा—

मूगं च मूकश्च मूक इव मुखमध्ये यः करोति वन्दनामथवा वन्दनां कुर्वन् हुंकारांगुल्यादिभिः संज्ञां च यः करोति तस्य मूकदोषः, दद्दुरं दर्दुरं आत्मीयशब्देनान्येषां शब्दानभिभूय महाकलकलं बृहद्गलेन कृत्वा यो वन्दना करोति तस्य दर्दुरदोषः, अविचुगुलिदमपच्छिमं अपि चुलुलितमपश्चिमं एकस्मिन्प्रदेशे स्थित्वा करमुकुलं संभ्राम्य सर्वेषां यो वन्दनां करोत्यथवा पंचमादिस्वरेण यो वन्दनां करोति तस्य चुलुलितदोषो भवत्यपश्चिमः। एतैर्द्वात्रिंशद्दोषैः परिशुद्धं विमुक्तं यदि कृतिकर्म प्रयुंक्ते करोति साधुस्ततो विपुलनिर्जराभागी भवति ॥६०९॥

यदि पुनरेवं करोति तदा—

किदियम्मंपि करंतो ण होदि किदयम्मणिज्जराभागी ।
बत्तीसाणण्णदरं साहू ठाणं विराहंतो ॥६१०॥

कृतिकर्म कुर्वन्नपि न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी कृतिकर्मणा या कर्मनिर्जरा तस्याः स्वामी न स्यात्, यदि द्वात्रिंशद्दोषेभ्योऽन्यतरं स्थानं दोषं [1]निवारयन्नाचरन् क्रियाकर्म कुर्यात्साधुरिति। अथवा द्वात्रिंशद्दोषेभ्योऽन्यतरेण दोषेण स्थानं कायोत्सर्गादिवन्दनां विराधयन्कुर्वीतेति ॥६१०॥

---

३०. **मूक**—गूंगे के समान मुख में ही जो वन्दना का पाठ बोलता है अथवा वन्दना करने में 'हुंकार' आदि शब्द करते हुए या अंगुली आदि से इशारा करते हुए जो वन्दना करता है उसके मूक दोष होता है।

३१. **दर्दुर**—अपने शब्दों से दूसरों के शब्दों को दबाकर महाकलकल ध्वनि करते हुए ऊँचे स्वर से जो वन्दना करता है उसके दर्दुर दोष होता है।

३२. **चुलुलित**—एक प्रदेश में खड़े होकर मुकुलित अंगुलि को घुमाकर जो सभी की वन्दना कर लेता है या जो पंचम आदि स्वर से वन्दना पाठ करता है उसके चुलुलित दोष होता है।

यदि साधु इन बत्तीस दोषों से रहित कृतिकर्म का प्रयोग करता है—वन्दना करता है तो वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है ऐसा समझना।

यदि पुनः ऐसा करता है तो लाभ है उसे ही ग्रन्थकार स्वयं बताते हैं—

गाथार्थ—इन बत्तीस स्थानों में से एक भी स्थान की विराधना करता हुआ साधु कृतिकर्म को करते हुए भी कृति कर्म से होनेवाली निर्जरा को प्राप्त नहीं होता है ॥६१०॥

आचारवृत्ति—इन बत्तीस दोषों में से किसी एक भी दोष को करते हुए यदि साधु क्रियाकर्म—वन्दना करता है तो कृति कर्म को करते हुए भी उस कृति कर्म के द्वारा होनेवाली निर्जरा का स्वामी नहीं हो सकता है। अथवा इन बत्तीस दोषों में से किसी एक दोष के द्वारा स्थान अर्थात् कायोत्सर्ग आदि क्रियारूप वन्दना की विराधना कर देता है।

---

१ क 'दोषं विराधयन्'।

कथं तर्हि वन्दना कुर्वीत साधुरित्याह—

हत्थंतरेणबाधे संफासपमज्जणं पउज्जंतो ।
[1]जाचेंतो वंदणयं इच्छाकारं कुणइ भिक्खू ॥६११॥

हस्तान्तरेण हस्तमात्रान्तरेण यस्य वन्दना क्रियते यश्च करोति तयोरन्तरं हस्तमात्रं भवेत् तस्मिन् हस्तान्तरे स्थित्वा अणाबाधेऽनाबाधे बाधामन्तरेण संफासपमज्जणं स्वस्य देहस्य स्पर्शः संस्पर्शनं कटिगुह्यादिकं च तस्य प्रमार्जनं प्रतिलेखनं शुद्धिं पउंजंतो प्रयुंजानः प्रकर्षेण कुर्वन् जाचेंतो वन्दणयं वन्दनां च याचमानो 'भवद्भयो वन्दनां विदधामि' इति याञ्चां कुर्वन्निच्छाकारं वन्दनाप्रणामं करोति भिक्षुः साधुरेवं द्वात्रिंशद्दोषपरिहारेण तावत् द्वात्रिंशद् गुणा भवंति तस्माद्यत्नपरेण हास्यभयासादनारागद्वेषगौरवालस्यमदलोभस्तेनभावप्रातिकूल्यबालत्वोपरोधहीनाधिकभावशरीरपरामर्शवचनभृकुटिकरणखात्करणादिवर्जनपरेण देवतादिगतमानसेन विवर्जितकार्यान्तरेण विशुद्धमनोवचनकाययोगेन मौनपरेण वन्दना करणीया वन्दनाकारकेणेति ॥६११॥

तो फिर साधु किस प्रकार वन्दना करे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—बाधा रहित एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि का स्पर्श व प्रमार्जन करता हुआ मुनि वन्दना की याचना करके वन्दना को करता है ॥६११॥

आचारवृत्ति—जिसकी वन्दना की है और जो वन्दना करता है उन दोनों में एक हाथ का अन्तर रहना चाहिए अर्थात् गुरु या देव आदि की वन्दना के समय उनसे एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर उनको बाधा न करते हुए वन्दना करे। अपने शरीर का स्पर्श और प्रमार्जन अर्थात् कटि, गुह्य आदि प्रदेशों का पिच्छिका से स्पर्श व प्रमार्जन करके शरीर की शुद्धि को करता हुआ प्रकर्ष रीति से वन्दना की याचना करे। अर्थात् 'हे भगवन् ! मैं आपकी वन्दना करूँगा' इस प्रकार याचना—प्रार्थना करके साधु इच्छाकार—वन्दना और प्रणाम को करता है।

तथा बत्तीस दोषों के परिहार से बत्तीस ही गुण होते हैं। उन गुणों सहित, यत्न में तत्पर हुआ मुनि वन्दना करे। हास्य, भय, आसादना, राग, द्वेष, गौरव, आलस्य, मद, लोभ, चौर्य भाव, प्रतिकूलता, बालभाव, उपरोध—दूसरों को रोकना, हीन या अधिक पाठ बोलना, शरीर का स्पर्श करना, वचन बोलना, भृकुटी चढ़ाना, खात्कार—खांसना, खखारना इत्यादि दोषों को छोड़कर वन्दना करे। जिनकी वन्दना कर रहे है ऐसे देव या गुरु आदि में अपने मन को लगाकर अर्थात् उनके गुणों में अपने उपयोग को लगाते हुए, अन्य कार्यों को छोड़कर वन्दना करनेवाले को विशुद्ध मन-वचन-काय के द्वारा मौनपूर्वक वन्दना करना चाहिए।

भावार्थ—साधु, गुरु या देव की वन्दना करने के लिए कम से कम उनसे एक हाथ दूर स्थित होवे। पिच्छिका से अपने शरीर का एवं भूमि का परिमार्जन करे। पुनः प्रार्थना करे कि 'हे भगवन् ! मैं आपकी वन्दना करूँगा' यदि गुरु की वन्दना की जा रही है तो उनकी स्वीकृति पाकर भय आसादना आदि दोषों को छोड़कर उनमें अपना उपयोग स्थिर कर विनयपूर्वक विधिवत् उनकी वन्दना करे। उपर्युक्त बत्तीस दोषों से रहित होकर क्रिया करे यह अभिप्राय है।

---

1. जाएंतो इति पाठान्तरं।

यस्य क्रियते वन्दना तेन कथं प्रत्येपितव्येत्याह—

तेण च पडिच्छिदव्वं गारवरहिएण सुद्धभावण।
किदियम्मकारकस्सवि संवेगं संजणंतेण ॥६१२॥

तेण च तेनाचार्येण पडिच्छिदव्वं प्रत्येषितव्यमभ्युगन्तव्यं गौरवरहितेन ऋद्धिवीर्यादिगर्वरहितेन कृतिकर्मकारकस्य वन्दनायाः कर्तुरपि संवेगधर्मे धर्मफले च हर्षं संजनयता सम्यग्विधानेन कारयता शुद्धपरिणामवता वन्दनाऽभ्युपगंतव्येति ॥६१२॥

वन्दनानिर्युक्तिं संक्षेपयन् प्रतिक्रमणे निर्युक्तिं सूचयन्नाह—

वंदणणिज्जुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण।
पडिकमणणिजुत्ती पुण एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥६१३॥

वन्दनानिर्युक्तिरेषा पुनः कथिता मया संक्षेपेण प्रतिक्रमणनिर्युक्तिं पुनरित ऊर्ध्वं वक्ष्य इति ॥६१३॥

तां निक्षेपस्वरूपेणाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो पडिक्कमणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६१४॥

जिनकी वन्दना की जाती है वे वन्दना को किस प्रकार से स्वीकार करें? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म करनेवाले को हर्ष उत्पन्न करते हुए वे गुरु गर्वरहित शुद्ध भाव से वन्दना स्वीकार करें ॥६१२॥

आचारवृत्ति—शुद्ध परिणामवाले वे आचार्य ऋद्धि और वीर्य आदि के गर्व से रहित होकर वन्दना करनेवाले मुनि के धर्म और धर्म के फल में हर्ष उत्पन्न करते हुए उसके द्वारा की गई वन्दना को स्वीकार करें।

भावार्थ—जब शिष्य मुनि आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुओं की या अपने से बड़े मुनियों की वन्दना करते हैं तो बदले में वे आचार्य आदि भी 'नमोऽस्तु' शब्द बोलकर प्रतिवन्दना करते हैं। यही वन्दना की स्वीकृति होती है।

वन्दना-निर्युक्ति को संक्षिप्त करके अब आचार्य प्रतिक्रमण-निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह वन्दना-निर्युक्ति कही है अब इसके बाद प्रतिक्रमण निर्युक्ति को कहूँगा ॥६१३॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उस प्रतिक्रमण निर्युक्ति को निक्षेप स्वरूप से कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, प्रतिक्रमण में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६१४॥

नामप्रतिक्रमणं पापहेतु[1]नामातीचारान्निवर्तनं प्रतिक्रमणदंडकगतशब्दोच्चारणं वा, सरागस्थापनाभ्यः परिणामनिवर्तनं स्थापनाप्रतिक्रमणं। सावद्यद्रव्यसेवायाः परिणामस्य निवर्तनं द्रव्यप्रतिक्रमणं। क्षेत्राश्रितातिचारान्निवर्तनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं, कालमाश्रितातीचारान्निवृत्तिः कालप्रतिक्रमणं, रागद्वेषाद्याश्रितातीचारान्निवर्तनं भावप्रतिक्रमणमेव नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारनिवृत्तिविषयः प्रतिक्रमणे निक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति। अथवा नाम प्रतिक्रमणं नाममात्रं, प्रतिक्रमणपरिणतस्य प्रतिबिंबस्थापना स्थापनाप्रतिक्रमणं, प्रतिक्रमणप्राभृतज्ञोऽप्यनुपयुक्त आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं, तच्छरीरादिकं नोआगमद्रव्यप्रतिक्रमणमित्येवमादि पूर्ववद् द्रष्टव्यमिति ॥६१४॥

प्रतिक्रमणभेदं प्रतिपादयन्नाह—

पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥६१५॥

प्रतिक्रमणं कृतकारितानुमतातिचारान्निवर्त्तनं, दिवसे भवं दैवसिकं दिवसमध्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः शोधनं, तथा रात्रौ भवं रात्रिकं रात्रि-

---

आचारवृत्ति—पाप हेतुक नामों से हुए अतिचारों से दूर होना या प्रतिक्रमण के दण्डकरूप शब्दों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है। सराग स्थापना से अर्थात् सराग मूर्तियों से या अन्य आकारों से परिणाम का हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है। सावद्य—पाप कारक द्रव्यों के सेवन से परिणाम को निवृत्त करना द्रव्य प्रतिक्रमण हैं। क्षेत्र के आश्रित हुए अतिचारों से दूर होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है। काल के आश्रय से हुए अतिचारों से दूर होना काल प्रतिक्रमण है। इस तरह प्रतिक्रमण में छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए।

अथवा नाममात्र को नाम प्रतिक्रमण कहते हैं। प्रतिक्रमण में परिणत हुए के प्रतिबिम्ब की स्थापना करना स्थापना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण शास्त्र का जानने वाला तो है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है तो वह आगम द्रव्य प्रतिक्रमण है, उसके शरीर आदि नो-आगमद्रव्य प्रतिक्रमण हैं। इत्यादि रूप से अन्य और भेद पूर्ववत् समझने चाहिए।

प्रतिक्रमण के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ इन सात भेद रूप जानना चाहिए ॥६१५॥

आचारवृत्ति—कृत, कारित और अनुमोदन से हुए अतीचार को दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके सात भेद हैं। उन्हें ही क्रम से दिखाते हैं—

दैवसिक—दिवस में हुए दोषों का प्रतिक्रमण दैवसिक है। दिवस के मध्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से कृत, कारित और अनुमोदना रूप जो अतिचार हुए हैं उनका मनवचनकाय से शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

रात्रिक—रात्रि सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण रात्रिक है अर्थात् रात्रि विषयक

---

१ क 'तु अतीचारनाम्नो निव'।

विपयस्य पड्विधातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य त्रिविधेन निरसनं रात्रिकं, ईर्यापथे भवमैर्यापथिकं पड्जीवनिकायविपयातीचारस्य निरसनं ज्ञातव्यं, पक्षे भवं पाक्षिकं पंचदशाहोरात्रविषयस्य पड्विधनामादिकारणस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः परिशोधनं, चतुर्मासेषु भवं चातुर्मासिकं, संवत्सरे भवं सांवत्सरिकं। चतुर्मासमध्ये संवत्सरमध्ये नामादिभेदेन पड्विधस्यातीचारस्य वहुभेदभिन्नस्य वा, कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः निरसनं, उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं यावज्जीवं चतुर्विधाहारस्य परित्यागः सर्वातिचारप्रतिक्रमणस्यात्रान्तर्भावो द्रष्टव्यः, [1]एवं प्रतिक्रमणसप्तकं द्रष्टव्यम् ॥६१५॥

अतीचार जोकि कृत, कारित व अनुमोदना से किए गये हैं एवं नाम स्थापना आदि छह निमित्तों से हुए हैं, उनका मन-वचन-काय से निरसन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

ऐर्यापथिक—ईर्यापथ सम्वन्धी प्रतिक्रमण, अर्थात् ईर्यापथ से चलते हुए मार्ग में छह जीव निकाय के विषय में जो अतीचार हुआ है उसको दूर करना ऐर्यापथिक है।

पाक्षिक—पक्ष सम्वन्धी प्रतिक्रमण, पन्द्रह अहोरात्र विषयक जो दोष हुए हैं, जोकि कृत, कारित और अनुमोदना से एवं नाम आदि छह के आश्रय से हुए हैं उनका मनवचनकाय से शोधन करना सो पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मासिक—चार महीने सम्वन्धी प्रतिक्रमण।

सांवत्सरिक—एक वर्ष सम्वन्धी प्रतिक्रमण।

चातुर्मास के मध्य और संवत्सर के मध्य हुए अतीचार जोकि नाम, स्थापना आदि छह कारणों से अथवा वहुत से भेदों से सहित, और कृत, कारित और अनुमोदना से होते हैं उनको मनवचनकाय से दूर करना सो चातुर्मासिक और वार्षिक कहलाते हैं।

उत्तमार्थ—उत्तम-अर्थ सल्लेखना से सम्बन्धित प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है इसमें यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् मरणान्त समय जो सल्लेखना ली जाती है उसी में चार प्रकार के आहार का त्याग करके दीक्षित जीवन के सर्वदोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

सर्वातिचार प्रतिक्रमण का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। इस तरह प्रतिक्रमण के सात भेद जानना चाहिए।

भावार्थ—दिवस के अन्त में, सायंकाल में, दैवसिक प्रतिक्रमण होता है। रात्रि के अन्त में रात्रिक प्रतिक्रमण होता है। ईर्यापथ से चलकर आने के वाद ऐर्यापथिक होता है। प्रत्येक चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पौर्णमासी को पाक्षिक प्रतिक्रमण होता है। कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को तथा फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण होता है। आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को सांवत्सरिक प्रतिक्रमण होता है। तथा सल्लेखनाकाल में औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण होता है।

---

१ क एवं सप्त प्रकारं प्रतिक्रमणं द्रष्टव्यम्।

पुनरप्यन्येन प्रकारेण भेदं प्रतिपादयन्नाह—

पडिकमओ पडिकमणं पडिकमिदव्वं च होदि णादव्वं।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि[1] तिण्हंपि ॥६१६॥

प्रतिक्रामति कृतदोषाद्विरमतीति प्रतिक्रामकः, अथवा दोषनिर्हरणे प्रवर्तते अविघ्नेन प्रतिक्रमत इति प्रतिक्रामकः पंचमहाव्रतादिश्रवणधारणदोषनिर्हरणतत्परः, प्रतिक्रमणं पंचमहाव्रताद्यतीचारविरतिर्व्रतशुद्धिनिमित्ताक्षरमाला वा, प्रतिक्रमितव्यं द्रव्यं च परित्याज्यं मिथ्यात्वाद्यतीचाररूपं भवति ज्ञातव्यं, एतेषां त्रयाणां प्रत्येकमेकमेकं प्रति प्ररूपणाप्रतिपादनं भवति ॥६१६॥

तथैव प्रतिपादयन्नाह—

जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
पडिगच्छदि जेण [2]जह्मि तं तस्स भवे पडिक्कमणं ॥६१७॥

जीवस्तु प्रतिक्रामकः दोषद्वारागतकर्मविक्षपणशीलो जीवश्चेतनालक्षणः। क्व प्रतिक्रामकः? द्रव्यक्षेत्रकालभावविषये, द्रव्यमाहारपुस्तकभेषजोपकरणादिकं, क्षेत्रं शयनासनस्थानचंक्रमणादिविषयो भूभागोऽगुन-

---

पुनरपि अन्य प्रकार से भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण करने योग्य वस्तु इनको जानना चाहिए। इन तीनों की भी अलग-अलग प्ररूपणा करते हैं ॥६१६॥

आचारवृत्ति—जो प्रतिक्रमण करता है अर्थात् किए हुए दोषों से विरक्त होता है—उनसे अपने को हटाता है वह प्रतिक्रामक है। अथवा जो दोषों को दूर करने में प्रवृत्त होता है, निर्विघ्नरूप से प्रतिक्रमण करता है वह प्रतिक्रामक है, वह साधु पांच महाव्रत आदि को श्रवण करने, उनको धारण करने और उनके दोषों को दूर करने में तत्पर रहता है।

पाँच महाव्रत आदि में हुए अतीचारों से विरति अथवा व्रतशुद्धि निमित्त अक्षरों का समूह प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, असंयम आदि अतीचाररूप द्रव्य त्याग करने योग्य हैं इन्हें ही प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। आगे इन तीनों का पृथक्-पृथक् निरूपण करते हैं।

उन्हीं का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जीव प्रतिक्रामक होता है। जिसके द्वारा, जिसमें वापस आता है वह उसका प्रतिक्रमण है ॥६१७॥

आचारवृत्ति—जीव चेतना लक्षणवाला है। जो दोषों द्वारा आए हुए कर्म को दूर करने के स्वभाव वाला है वह प्रतिक्रामक है।

किस विषय में प्रतिक्रमण करनेवाला होता है?

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में प्रतिक्रमण करनेवाला होता है। आहार,

---

1 क होदि कायव्वा। 2 क जहि।

वितस्तिहस्तधनुःक्रोशयोजनादिप्रमितः, कालः घटिकामुहूर्तसमयलवदिवसरात्रिपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरसंध्या पर्वादिः, भावः परिणामरागद्वेषादिमदादिलक्षणः, एतद्विषयादतिचारान्निवर्त्तनपरो जीवः प्रतिक्रामक इत्युच्यते ज्ञेयाकारवहिर्व्यावृत्तरूपः, अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयादतिचारात्प्रतिगच्छति निवर्त्तते स प्रतिक्रामकोऽथवा येन परिणामेनाक्षरकदंबकेन वा प्रतिगच्छति पुनर्याति यस्मिन् व्रतशुद्धिपूर्वकस्वरूपे यस्मिन् वा जीवे पूर्वव्रत शुद्धिपरिणतेऽतीचारं परिभूतं स परिणामोऽक्षरसमूहो' वा तस्य व्रतस्य तस्य वा व्रतशुद्धिपरिणतस्य जीवस्य भवेत्प्रतिक्रमणं व्रतविषयमतीचारं येन परिणामेन प्रक्षाल्य प्रतिगच्छति पूर्वव्रतशुद्धौ स परिणामस्तस्य जीवस्य भवेत्प्रतिक्रमणमिति । मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं द्रव्यक्षेत्रकालभावमाश्रित्य प्रतिक्रमण मिति वा ॥६१७॥

प्रतिक्रमितव्यं तस्य स्वरूपमाह—

पुस्तक, औषध, और उपकरण आदि द्रव्य हैं। सोने, बैठने, खड़े होने, गमन करने आदि विषयक भूमिप्रदेश क्षेत्र हैं जोकि अंगुल, वितस्ति, हाथ, कोश, योजन आदि से परिमित होता है। घड़ी, मुहूर्त, समय, लव, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, संध्या और पर्वादि दिवस ये सब काल हैं। राग, द्वेष, मद आदि लक्षण परिणाम भाव हैं। इन द्रव्य आदि विषयक अतिचार से निवृत्त होनेवाला जीव प्रतिक्रामक कहलाता है। अर्थात् ज्ञेयाकार से परिणत होकर वाह्य द्रव्य क्षेत्रादि से पृथक् रहनेवाला—अतिचारों से हटनेवाला आत्मा प्रतिक्रामक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनिमित्तक अतिचारों से जो वापस आता है वह प्रतिक्रामक है।

जिन परिणामों से या जिन अक्षर समूहों से यह जीव जिस व्रतशुद्धिपूर्वक अपने स्वरूप में वापस आ जाता है, अथवा पूर्व के व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव में वापस आ जाता है, अतीचार को तिरस्कृत करने रूप वह परिणाम अथवा वह अक्षर समूह उस व्रत के अथवा व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव का प्रतिक्रमण है। अर्थात् व्रत शुद्धि के परिणाम या प्रतिक्रमण पाठ के दण्डक प्रतिक्रमण कहलाते हैं।

यह जीव जिन परिणामों से व्रतों में हुए अतीचारों का प्रक्षालन करके पुनः पूर्व के व्रत की शुद्धि में वापस आ जाता है अर्थात् उसके व्रत पूर्ववत् निर्दोष हो जाते हैं वह परिणाम उस जीव का प्रतिक्रमण है। अथवा 'मिथ्या मे दुष्कृतं' इस शब्द से अभिव्यक्त है प्रतिक्रिया जिसकी ऐसा वह प्रतिक्रमण होता है, जोकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से होता है।

भावार्थ—टीकाकार ने भाव प्रतिक्रमण और द्रव्य प्रतिक्रमण इन दोनों की अपेक्षा से प्रतिक्रमण का अर्थ किया है। जिन परिणामों से दोषों का शोधन होता है वे परिणाम भाव प्रतिक्रमण हैं एवं जिन अक्षरों का उच्चारण अर्थात् 'मिच्छा मे दुक्कडं' इत्यादि दण्डकों का उच्चारण करना द्रव्यप्रतिक्रमण है। ये शब्द भी दोषों को दूर करने में हेतु होते हैं। इस गाथा में प्रतिक्रामक और प्रतिक्रमण इन दो का लक्षण किया है।

अब प्रतिक्रमितव्य का स्वरूप कहते हैं—

पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं तिविहं।
खेत्तं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालह्मि ॥६१८॥

प्रतिक्रमितव्यं परित्यजनीयं। किं तत् द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रिविधं। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तं द्विपदचतुष्पदाद्यचित्तं सुवर्णरूप्यलोहादिमिश्रं वस्त्रादियुक्तद्विपदादि। तथा क्षेत्रं गृहपत्तनकूपवाप्यादिकं प्रतिक्रमितव्यं तथा कालो दिवसमुहूर्तरात्रिवर्षाकालादिः प्रतिक्रमितव्यः। येन द्रव्येण क्षेत्रेण कालेन वा पापागमो भवति तत् द्रव्यं तत् क्षेत्रं स काल परिहरणीयः द्रव्यक्षेत्रकालाश्रितदोषाभाव इत्यर्थः। काले च प्रतिक्रमितव्यं यस्मिन् काले च प्रतिक्रमणमुक्तं तस्मिन् काले कर्तव्यमिति, अथवा कालेऽष्टमीचतुर्दशीनंदीश्वरादिके द्रव्यं क्षेत्रं प्रतिक्रमितव्यं कालश्च दिवसादिः प्रतिक्रमितव्य उपवासादिरूपेण, अथवा 'भावो हि' पाठान्तरं भावश्च प्रतिक्रमितव्य इति। अप्रासुकद्रव्यक्षेत्रकालभावास्त्याज्यास्तद्द्वारेणातीचाराश्च परिहरणीया इति ॥६१८॥

भावप्रतिक्रमणमाह—

मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु ॥६१९॥

गाथार्थ—सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन प्रकार का द्रव्य, गृह आदि क्षेत्र, दिवस आदि समय रूप काल प्रतिक्रमण करने योग्य हैं ॥६१८॥

आचारवृत्ति—त्याग करने योग्य को प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। वह क्या है ? सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का जो द्रव्य है, वह त्याग करने योग्य है। द्विपद—दास-दासी आदि और चतुष्पद—गाय, भैंस आदि ये सचेतन पदार्थ सचित्त हैं। सोना, चांदी, लोहा आदि पदार्थ अचित्त हैं, और वस्त्रादि युक्त मनुष्य, नौकर-चाकर आदि मिश्र हैं। ये तीनों प्रकार के द्रव्य त्याग करने योग्य हैं।

गृह, पत्तन, कूप, वावड़ी आदि क्षेत्र त्यागने योग्य हैं।

मुहूर्त, दिन, रात, वर्षाकाल आदि काल त्यागने योग्य हैं।

अर्थात् जिन द्रव्यों से, जिन क्षेत्रों और जिन कालों से पाप का आगमन होता है वे द्रव्य, क्षेत्र, काल छोड़ने योग्य हैं। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र और काल के आश्रित होनेवाले दोषों का निराकरण करना चाहिए।

काल में प्रतिक्रमण का अभिप्राय यह है कि जिसकाल में प्रतिक्रमण करना आगम में कहा गया है उस काल में करना। अथवा काल में—अष्टमी, चतुर्दशी, नंदीश्वर आदि काल में द्रव्य क्षेत्र का प्रतिक्रमण करना और दिवस आदि काल का भी उपवास आदि रूप से प्रतिक्रमण करना। अथवा 'भावो हि' ऐसा पाठांतर भी है। उसके आधार से 'भाव का प्रतिक्रमण करना चाहिए' ऐसा अर्थ होता है। तात्पर्य यह हुआ कि अप्रासुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव त्याग करने योग्य हैं और उनके द्वारा होनेवाले अतिचार भी त्याग करने योग्य हैं।

भावप्रतिक्रमण का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण तथा असंयम का प्रतिक्रमण, कषायों का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण, यह भावप्रतिक्रमण है ॥६१९॥

मिथ्यात्वस्य प्रतिक्रमणं त्यागस्तद्विषयदोषनिर्हरणं तथैवासंयमस्य प्रतिक्रमणं तद्विषयातीचारपरिहारः। कषायाणां क्रोधादीनां प्रतिक्रमणं तद्विषयातीचारशुद्धिकरणं। योगानामप्रशस्तानां प्रतिक्रमणं मनोवाक्कायविषयव्रतातीचारनिवर्त्तनमित्येवं भावप्रतिक्रमणमिति ॥६१९॥

आलोचनापूर्वकं यतोऽत आलोचनास्वरूपमाह—

काऊण य किदियम्मं पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो।
आलोचिज्ज सुविहिदो गारव माणं च मोत्तूण ॥६२०॥

कृतिकर्म विनयं सिद्धभक्तिश्रुतभक्त्यादिकं कृत्वा पूर्वापरशरीरभागं स्वोपवेशनस्थानं च प्रतिलेख्य सम्मार्ज्य पिच्छिकया चक्षुषा चाथवा चारित्रातीचारान् सम्यङ्निरूप्यांजलिकरणं शुद्धिर्ललाटपट्टविन्यस्तकरकुड्मलक्रियाशुद्ध एवमालोचयेत् गुरवेऽपराधान्निवेदयेत् सुविहितः सुचरितः स्वच्छवृत्तिः ऋद्धिगौरवं रसगौरवं मानं च जात्यादिमदं मुक्त्वा परित्यज्यैवं गुरवे स्वव्रतातीचारान्निवेदयेदिति ॥६२०॥

आलोचनाप्रकारमाह—

आलोचणं दिवसियं रादिअ इरियापधं[1] च बोद्धव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥६२१॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण—त्याग करना अर्थात् उस विषयक दोष को दूर करना, उसी प्रकार से असंयम का प्रतिक्रमण अर्थात् उस विषयक अतीचार का परिहार करना, क्रोधादि कषायों का प्रतिक्रमण अर्थात् उस विषयक अतीचारों को शुद्ध करना, अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण अर्थात् मनवचनकाय से हुए अतीचारों से निवृत्त होना, यह सब भावप्रतिक्रमण है।

भावार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मबन्ध के कारण हैं। इनसे हुए दोषों को दूर करना ही भावप्रतिक्रमण है।

आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण होता है अतः आलोचना का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म करके, तथा पिच्छी से परिमार्जन कर, अंजली जोड़कर, शुद्ध हुआ गौरव और मान को छोड़कर समाधान चित्त हुआ साधु आलोचना करे ॥६२०॥

आचारवृत्ति—कृतिकर्म—विनय, सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति आदि करके अपने शरीर के पूर्व-अपर भाग को और अपने बैठने के स्थान को चक्षु से देखकर और पिच्छी से परिमार्जित करके अथवा चारित्र के अतिचारों को सम्यक् प्रकार से निरूपण करके अंजलि जोड़े—ललाट पट्ट पर अंजलि जोड़कर रखे, पुनः ऋद्धि गौरव, रस गौरव और जाति आदि मद को छोड़कर स्वच्छवृत्ति होता हुआ गुरु के पास अपने व्रतों के अतिचारों को निवेदित करे। इसी का नाम आलोचना है।

आलोचना के प्रकार कहते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और

---

1 क °यावहं च।

आलोचनं गुरवेऽपराधनिवेदनं अर्हद्भट्टारकस्याग्रतः स्वापराधाविष्करणं वा स्वचित्तेऽपराधानाम-नवगूहनं, दिवसे भवं दैवसिकं, रात्रौ भवं रात्रिकं, ईर्यापथे भवमैर्यापथिकं बोद्धव्यं। पक्षे भवं पाक्षिकं, चतुर्षु मासेषु भवं चातुर्मासिकं, संवत्सरे भवं सांवत्सरिकं, उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं च दिवसरात्रीर्यापथपक्षचतुर्मास-संवत्सरोत्तमार्थविषयजातापराधानां गुर्वादिभ्यो निवेदनं सप्तप्रकारमालोचनं वेदितव्यमिति ॥६२१॥

आलोचनीयमाह—

अणाभोगकिदं कम्मं जं किंवि मणसा कदं।
तं सव्वं आलोचेज्जहु[1] अव्वाखित्तेण चेदसा ॥६२२॥

आभोगः सर्वजनपरिज्ञातव्रतातीचारोऽनाभोगो न परैर्ज्ञातस्तस्मादनाभोगकृतं कर्माऽऽभोगमन्तरेण कृतातीचारस्तथाभोगकृतश्चातीचारश्च तथा यत्किंचिन्मनसा च कृतं कर्म तथा कायवचनकृतं च तत्सर्वमालो-

---

उत्तमार्थ यह सात तरह की आलोचना जाननी चाहिए ॥६२१॥*

आचारवृत्ति—गुरु के पास अपने अपराध का निवेदन करना अथवा अर्हत भट्टारक[2] के आगे अपने अपराधों को प्रगट करना अर्थात् अपने चित्त में अपराधों को नहीं छिपाना यह आलोचना है। यह भी दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ऐसी सातभेदरूप है। अर्थात् दिवस, रात्रिक, ईर्यापथ, चार मास, वर्ष और उत्तमार्थ इनके इन विषयक हुए अपराधों को गुरु आदि के समक्ष निवेदन रूप आलोचना होती है।

आलोचना करने योग्य क्या है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—जो कुछ भी मन के द्वारा कृत अनाभोगकर्म है, मुनि विक्षेप रहित चित्त से उन सबकी आलोचना करे ॥६२२॥

आचारवृत्ति—सभी जनों के द्वारा जाने गए व्रतों के अतीचार आभोग हैं और जो अतीचार पद के द्वारा अज्ञात हैं वह अनाभोग हैं। यह अनाभोगकृत कर्म और आभोगकृत भी कर्म तथा मन से किया गया दोष, वचन और काय से भी किया गया दोष, ऐसा जो कुछ भी

---

१ क 'आलोचज्जाहु।

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार की प्रति में में अधिक है—

आलोचिय अवराहं ठिदिओ सुद्धो अहंति तुट्ठमणो।
पुणरवि तमेव भुज्जइ तोसत्थं होइ पुणरुत्तं॥

अर्थ—खड़े होकर गुरु के समीप अपराधों का निवेदन करके मैं शुद्ध हुआ ऐसा समझकर जो आनन्दित हुआ है ऐसा वह आलोचक यदि पुनः आनन्द के लिए उसी दोष की आलोचना करता है तो वह आलोचना पुनरुक्त होती है।

२. अर्हन्त की प्रतिमा के सामने।

चयेत् यत्किंचिदनाभोगकृतं कर्माभोगकृतं कायवाङ्मनोभिः कृतं च पापं तत्सर्वमव्याक्षिप्तचेतसाऽनाकु[1]लितचेतसाऽऽलोचयेदिति ॥६२२॥

आलोचनापर्यायनामान्याह—

आलोचणमालुंचण विगडीकरणं च भावसुद्धी दु।
आलोचदह्मि आराधणा अणालोचणे भज्जा ॥६२३॥

आलोचनमालुंचनमपनयनं विकृतीकरणमाविष्करणं भावशुद्धिश्चेत्येकोऽर्थः। अथ किमर्थमालोचनं क्रियत इत्याशंकायामाह—यस्मादालोचिते चरित्राचारपूर्वकेण गुरवे निवेदिते चेति आराधना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिरनालोचने पुनर्दोषाणामनाविष्करणे पुनर्भाज्याऽऽराधना तस्मादालोचयितव्यमिति ॥६२३॥

आलोचने कालहरणं न कर्त्तव्यमिति प्रदर्शयन्नाह—

उप्पण्णा उप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा।
आलोचणणिंदणगरहणाहिं ण पुणो तिअं विदिअं ॥६२४॥

उत्पन्नोत्पन्ना यथा यथा संजाता माया व्रतातीचारोऽनुपूर्वशोनुक्रमेण यस्मिन् काले यस्मिन् क्षेत्रे

दोष है, अर्थात् अपने व्रतों के अतिचारों को चाहे दूसरे जान चुके हों या नहीं जानते हों ऐसे आभोगकृत दोष और अनाभोग दोष, तथा मनवचनकाय से हुए जो भी दोष हुए हैं, साधु अनाकुलचित्त होकर उन सबकी आलोचना करे।

आलोचना के पर्यायवाची नाम को कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचन, आलुंचन, विकृतिकरण और भावशुद्धि ये एकार्थवाची हैं। आलोचना करने पर आराधना होती है और आलोचना नहीं करने पर विकल्प है ॥६२३॥

आचारवृत्ति—आलोचना और आलुंचन इन दो शब्दों का अर्थ अपनयन—दूर करना है, विकृतीकरण का अर्थ दोष प्रगट करना है तथा भावशुद्धि ये चारों ही शब्द एक अर्थ को कहने वाले हैं।

किसलिए आलोचना की जाती है?

गुरु के सामने चारित्राचारपूर्वक दोषों को आलोचना कर देने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धिरूप आराधना सिद्ध होती है। तथा दोषों को प्रकट न करने से पुनः वह आराधना वैकल्पिक है अर्थात् हो भी, नहीं हो भी, इसलिए आलोचना करनी चाहिए।

आलोचना करने में कालक्षेप नहीं करना चाहिए, इस बात को दिखाते हैं—

गाथार्थ—जैसे-जैसे उत्पन्न हुई माया है उसको उसी क्रम से नष्ट कर देना चाहिए। आलोचना, निंदन और गर्हण करने में पुनः तीसरा या दूसरा दिन नहीं करना चाहिए ॥६२४॥

आचारवृत्ति—जिस-जिस प्रकार से माया अर्थात् व्रतों में अतीचार हुए हैं, अनुक्रम से

---

१ क 'कुलचित्तेनवालो'।

यद्द्रव्यमाश्रित्य येन भावेन तेनैव क्रमेण कौटिल्यं परित्यज्य निहन्तव्या परिशोध्या यस्मादालोचने गुरवे दोष-निवेदने निंदने परेष्वाविष्करणे गर्हणे आत्मजुगुप्सने कर्त्तव्ये पुनर्द्वितीयं पुनर्न करिष्यामीत्यथवा न पुनस्तृतीयं दिनं द्वितीयं वा द्वितीयदिवसे तृतीयदिवसे आलोचयिष्यामीति न चिंतनीयं यस्माद्गतमपि कालं न जानंतीति भावार्थस्तस्माच्छीघ्रमालोचयितव्यमिति ॥६२४॥

यस्मात्—

आलोचणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अ करणाए।
तं भावपडिक्कमणं सेसं पुणदव्वदो भणिअं ॥६२५॥

गुरवेऽपराधनिवेदनमालोचनं वचनेनात्मजुगुप्सनं परेभ्यो निवेदनं च निन्दा चित्तेनात्मनो जुगुप्सनं शासनविराधनभयं च गर्हणमेतैः क्रियायां प्रतिक्रमणेऽथवा पुनरतीचाराकरणेऽभ्युत्थित उद्यतो यतस्तस्माद्भाव-प्रतिक्रमणं परमार्थभूतो दोषपरिहारः शेषं पुनरेवमन्तरेण द्रव्यतोऽपरमार्थरूपं भणितमिति ॥२२५॥

द्रव्यप्रतिक्रमणे दोषमाह—

भावेण अणुवजुत्तो दव्वीभूदो पडिक्कमदि जो दु।
जस्सट्ठं पडिकमदे तं पुण अट्ठं ण साधेदि ॥६२६॥

उनको दूर करना चाहिए। अर्थात् जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिस द्रव्य का आश्रय लेकर और जिस भाव से व्रतों में अतीचार उत्पन्न हुए हैं, मायाचारी को छोड़कर उसी क्रम से उनका परिशोधन करना चाहिए।

गुरु के सामने दोषों का निवेदन करना आलोचना है, पर के सामने दोषों को प्रकट करना निन्दा है और अपनी निन्दा करना गर्हा है। इन आलोचना, निन्दा और गर्हा के करने में 'मैं दूसरे दिन आलोचना करूँगा अथवा तीसरे दिन कर लूंगा' इस तरह से नहीं सोचना चाहिए। क्योंकि बीतता हुआ काल जानने में नहीं आता है ऐसा अभिप्राय है। इसलिए शीघ्र ही आलोचना कर लेनी चाहिए।

भाव और द्रव्य प्रतिक्रमण को कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, निन्दा और गर्हा के द्वारा जो प्रतिक्रमण क्रिया में उद्यत हुआ, उसका वह भाव प्रतिक्रमण है। पुनः शेष प्रतिक्रमण द्रव्य से कहा गया है ॥६२५॥

आचारवृत्ति—गुरु के सामने अपराध का निवेदन करना आलोचना है, वचनों से अपनी जुगुप्सा करना और पर के सामने निवेदन करना निन्दा है तथा मन से अपनी जुगुप्सा—तिरस्कार करना और शासन की विराधना का भय रखना गर्हा है। इनके द्वारा प्रतिक्रमण करने में अथवा पुनः अतीचारों के नहीं करने में जो उद्यत होता है उसके वह भाव प्रतिक्रमण होता है जोकि परमार्थभूत दोषों के परिहाररूप है। शेष पुनः इन आलोचना आदि के बिना जो प्रतिक्रमण है वह द्रव्य प्रतिक्रमण है। वह अपरमार्थ रूप कहा गया है।

द्रव्य प्रतिक्रमण में दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो भाव से उपयुक्त न होता हुआ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करता है, वह जिस लिए प्रतिक्रमण करता है उस प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता है ॥६२६॥

भावेनानुपयुक्तः शुद्धपरिणामरहितः द्रव्यीभूतेभ्यो-। दोषेभ्यो न[1] निर्गतमना रागद्वेषाद्युपहतचेताः प्रतिक्रमते दोषनिर्हरणाय प्रतिक्रमणं शृणोति करोति चेति यः स यस्यार्थं यस्मै दोषाय प्रतिक्रमते तं पुनरर्थं न साधयति तं दोषं न[2] परित्यजतीत्यर्थः ॥६२६॥

भावप्रतिक्रमणमाह—

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं ।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे साधू ॥६२७॥

भावेन संप्रयुक्तो यदर्थं योगश्च यन्निमित्तं शुभानुष्ठानं यस्मै अर्थायाभ्युद्यतो जल्पति सूत्रं प्रतिक्रमण-पदान्युच्चरति शृणोति वा स साधुः कर्मनिर्जरायां विपुलायां प्रवर्तते सर्वापराधान् परिहरतीत्यर्थः ॥६२७॥

किमर्थं प्रतिक्रमणे तात्पर्यं, यस्मात्—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥६२८॥

सह प्रतिक्रमणेन वर्तत इति सप्रतिक्रमणो धर्मो दोषपरिहारेण चारित्रं पूर्वस्य प्राक्तनस्य वृषभतीर्थंकरस्य पश्चिमस्य पाश्चात्यस्य सन्मतिस्वामिनो जिनस्य तयोस्तीर्थंकरयोर्धर्म्मः प्रतिक्रमणसमन्वितः

आचारवृत्ति—जो शुद्ध परिणामों से रहित है, दोषों से अपने मन को दूर नहीं करने वाला है। ऐसा साधु दोष को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण को सुनता है या करता है तो वह जिस दोष के लिए प्रतिक्रमण करता है उस दोष को छोड़ नहीं पाता है। अर्थात् यदि साधु का मन प्रतिक्रमण करते समय दोषों की आलोचना, निन्दा आदि रूप नहीं है तो वह प्रतिक्रमण दण्डकों को सुन लेने या पढ़ लेनेमात्र से उन दोषों से छूट नहीं सकता है। अतः जिस लिए प्रति-क्रमण किया जाता है वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता है ऐसा समझकर भावरूप प्रतिक्रमण करना चाहिए।

भाव प्रतिक्रमण को कहते हैं—

गाथार्थ—भाव से युक्त होता हुआ जिस प्रयोजन के लिए सूत्र को पढ़ता है वह साधु उस विपुल कर्मनिर्जरा में प्रवृत्त होता है ॥६२७॥

आचारवृत्ति—जो साधु भाव से संयुक्त हुआ जिस अर्थ के लिए उद्यत हुआ प्रतिक्रमण पदों का उच्चारण करता है अथवा सुनता है वह बहुत से कर्मों की निर्जरा कर लेता है अर्थात् सभी अपराधों का परिहार कर देता है।

प्रतिक्रमण करने का उद्देश क्या है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—प्रथम और अन्तिम जिनवरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है तथा अपराध होने पर मध्यम जिनवरों का प्रतिक्रमण करना धर्म है ॥६२८॥

आचारवृत्ति—प्रतिक्रमण सहित धर्म अर्थात् दोष परिहारपूर्वक चारित्र। प्रथम जिन वृषभ तीर्थंकर और अन्तिम जिन सन्मति स्वामी इन दोनों तीर्थंकरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है। अपराध हों अथवा न हों किन्तु इनके तीर्थ में शिष्यों को प्रतिक्रमण करना ही

१—२. 'न' नास्ति क-प्रतौ।

अपराधो भवतु मा वा, मध्यमानां पुनर्जिनवराणामजितादिपार्श्वनाथपर्यन्तानामपराधे सति प्रतिक्रमणं तेषां यतोऽपराधबाहुल्याभावादिति ॥६२८॥

जावेदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो।
तावेदु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥६२९॥

यस्मिन् व्रत आत्मनोऽन्यस्य वा भवेदतीचारस्तस्मिन् विषये भवेत्प्रतिक्रमणं मध्यमजिनवराणामाद्य-पश्चिमयोः पुनस्तीर्थंकरयोरेकस्मिन्नपराधे सर्वान् प्रतिक्रमणदण्डकान् भणति ॥६२९॥

इत्याह—

इरियागोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु।
पुरिम चरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमदि ॥६३०॥

ईर्यागोचरस्वप्नादिभवं सर्वमतीचारमाचरतु मा वाऽऽचरतु पूर्वे ऋषभनाथशिष्याश्चरमा वर्द्धमान-शिष्याः सर्वे सर्वान्नियमान् प्रतिक्रमणदण्डकान् प्रतिक्रमन्त उच्चारयन्ति ॥६३०॥

किमित्याद्याः पश्चिमाश्च सर्वान्नियमादुच्चारयंति किमित्यजितादिपार्श्वनाथपर्यन्तशिष्या नोच्चार-यन्ति इत्याशंकायामाह—

चाहिए। किन्तु अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथपर्यंत मध्य के बाईस तीर्थंकरों का धर्म, अपराध के होने पर ही प्रतिक्रमण करने रूप है, क्योंकि उनके शिष्यों में अपराध की बहुलता का अभाव है।

गाथार्थ—जिस व्रत में अपने को या अन्य किसी को अतीचार होवें, मध्यम जिनवरों के काल में उसका ही प्रतिक्रमण करना होता है ॥६२९॥

आचारवृत्ति—जिस व्रत में अपने को या अन्य किसी साधु को अतीचार लगता है उसी विषय में प्रतिक्रमण होता है ऐसा मध्यम के बाईस तीर्थंकरों के शासन का नियम था किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासनकाल में पुनः एक अपराध के होने पर प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों को बोलना होता है।

इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—ईर्यापथ सम्बन्धी, आहार सम्बन्धी, स्वप्न आदि सम्बन्धी सभी दोष करें या न करें किन्तु पूर्व और चरम अर्थात् आद्यन्त तीर्थंकरों के काल में सभी साधु सभी दोषों का नियम से प्रतिक्रमण करते हैं ॥६३०॥

आचारवृत्ति—ईर्यापथ, गोचरी, स्वप्न इत्यादि में अतीचार होवें या न होवें, किन्तु ऋषभनाथ के शिष्य और वर्धमान भगवान् के सभी शिष्य सभी प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करते हैं।

आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य किसलिए सर्व प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करते हैं? और अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथपर्यंत के शिष्य क्यों नहीं सभी का उच्चारण करते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तह्मा हु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति ॥६३१॥

यस्मान्मध्यमतीर्थंकरशिष्या दृढबुद्धयोऽविस्मरणशीला एकाग्रमनसः स्थिरचित्ता अमोहलक्षा अमूढमनसः प्रेक्षापूर्वकारिणः तस्मात्स्फुटं यं दोषं आचरंति तस्माद्दोपाद् गर्हन्तोऽप्यात्मानं जुगुप्समानाः शुद्धयन्ते शुद्धचारित्रा भवन्तीति ॥६३१॥

पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो ॥६३२॥

पूर्वचरमतीर्थंकरशिष्यास्तु यस्माच्चलचित्ताश्चैव दृढ़मनसो नैव, मोहलक्षाश्च मूढमनसो वहून् वारान् प्रतिपादितमपि शास्त्रं न जानंति ऋजुजडा वक्रजडाश्च यस्मात्तस्मात्सर्वप्रतिक्रमणं दण्डकोच्चारणं। तेपामन्धलकघोटकदृष्टान्तः। कस्यचिद्राज्ञोऽश्वोऽन्धस्तेन च वैद्यपुत्रं प्रति अश्वायौषधं पृष्टं स च वैद्यकं न जानाति, वैद्यश्च ग्रामं गतस्तेन च वैद्यपुत्रेणाश्वाक्षिनिमित्तानि सर्वाण्योपधानि प्रयुक्तानि तैः सोऽश्वः स्वस्थी-

---

गाथार्थ—मध्य तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़वुद्धिवाले, एकाग्र मन सहित और मूढ़मन-रहित होते हैं। इसलिए जिस दोष का आचरण करते हैं उसकी गर्हा करके ही शुद्ध हो जाते हैं ॥६३१॥

आचारवृत्ति—मध्यम २२ तीर्थकरों के शिष्य दृढ़ वुद्धि वाले होते थे अर्थात् वे विस्मरण स्वभाव वाले नहीं थे—उनकी स्मरण शक्ति विशेष थी, उनका चित्त स्थिर-रहता था, और वे विवेकपूर्वक कार्य करते थे। इसलिए जो दोष उनसे होता था उस दोष से अपनी आत्मा की गर्हा करते हुए शुद्ध चारित्र वाले हो जाते थे।

गाथार्थ—पूर्व और चरम के अर्थात् आद्यन्त तीर्थकर के शिष्य तो जिस हेतु से चल-चित्त और मूढ़मनवाले होते हैं इसलिए उनके सर्वप्रतिक्रमण है, इसमें अंधलक घोटक उदाहरण समझना ॥६३२॥

आचारवृत्ति—प्रथम और चरम तीर्थकर के शिष्य जिस कारण से चंचल चित्त होते हैं अर्थात् उनका मन स्थिर नहीं रहता है। तथा मूढ़चित्त वाले हैं—उनको वहुत वार शास्त्रों को प्रतिपादन करने पर भी वे नहीं समझते हैं वे ऋजुजड़ और वक्रजड़ स्वभावी होते हैं। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के शासन के शिष्यों में अतिसरलता और अतिजड़ता रहती थी और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों में कुटिलता और जड़ता रहती है अतः ये ऋजुजड़ और वक्रजड़ कहलाते हैं। इसी कारण से इन्हें सर्वदण्डकों के उच्चारण का विधान है।

इनके लिए अन्धलक घोटक दृष्टान्त दिया गया है। यथा—

किसी राजा का घोड़ा अन्धा हो गया, उसने उस घोड़े के लिए वैद्य के पुत्र से औपधि पूछी। वह वैद्यक शास्त्र जानता नहीं था और उसका पिता वैद्य अन्य ग्राम को चला गया था। तव उस वैद्यपुत्र ने घोड़े की आँख के निमित्त सभी औपधियों का प्रयोग कर दिया अर्थात् सभी औपधि उस घोड़े की आँख में लगाता गया। उन औपधियों के प्रयोग से वह घोड़ा स्वस्थ हो गया अर्थात् जो आँख खुलने की औपधि थी उसी में वह भी आ गई। उसके लगते ही घोड़े की

भूतः एवं साधुरपि यदि एकस्मिन्प्रतिक्रमणदण्डके स्थिरमना न भवति अन्यस्मिन् भविष्यति अन्यस्मिन् वा न भवत्यन्यस्मिन् भविष्यतीति सर्वदण्डकोच्चारणं न्याय्यमिति, न चात्र विरोधः, सर्वेपि कर्मक्षयकरणसमर्था यतः इति ॥६३२॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिमुपसंहरन् प्रत्याख्याननिर्युक्तिं प्रपंचयन्नाह—

पडिक्कमणणिजुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण।
पच्चक्खाणणिजुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥६३३॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन पुनः प्रत्याख्याननिर्युक्तिमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामीति।

तामेव प्रतिज्ञां निर्वहन्नाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो पच्चक्खाणे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६३४॥

अयोग्यानि नामानि पापहेतूनि विरोधकारणानि न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमंतव्यानीति

आंख खुल गई। वैसे ही साधु भी यदि एक प्रतिक्रमण दण्डक में स्थिरचित्त नहीं होता तो अन्य दण्डक में हो जावेगा, अथवा यदि अन्य दण्डक में भी स्थिरमना नहीं होगा तो अन्य किसी दण्डक में स्थिरचित्त हो जावेगा, इसलिए सर्वदण्डकों का उच्चारण करना न्याय ही है, और इसमें विरोध भी नहीं है क्योंकि प्रतिक्रमण के सभी दण्डक सूत्र कर्मक्षय करने में समर्थ हैं।

भावार्थ—ऋषभदेव और वीरप्रभु के शासन के मुनि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि समयों में आगम विहित पूरे प्रतिक्रमण को पढ़ते हैं। उस प्रतिक्रमण में सभी प्रकार के दोषों के निराकरण करने वाले सूत्र आते हैं। इन साधुओं को चाहे एक व्रत में अतीचार लगे, चाहे दो चार आदि में लगे, चाहे कदाचित् किसी व्रत में अतीचार न भी लगे अर्थात् किंचित् दोष न भी हो तो भी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के अनुसार यथोक्तकाल में वे प्रतिक्रमण विधि करें ही करें ऐसा आदेश है चूंकि वे विस्मरणशील चंचलचित्त और सरल जड़ या जड़ कुटिल तथा अज्ञानबहुल होते हैं। यही बात ऊपर बताई गई है। अतः प्रमाद छोड़कर विधिवत् सर्व प्रतिक्रमणों को करते रहना चाहिए। तथा उनके अर्थ को समझते हुए अपनी निन्दा गर्हा आदि के द्वारा उन दोषों से उपरत होना चाहिए।

प्रतिक्रमण निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए प्रत्याख्यान निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह प्रतिक्रमण निर्युक्ति कही है। इसके आगे प्रत्याख्यान निर्युक्ति को कहूंगा ॥६३३॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उसी प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन प्रत्याख्यान में छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६३४॥

आचारवृत्ति—अयोग्य नाम पाप के हेतु हैं और विरोध के कारण हैं ऐसे नाम न

नामप्रत्याख्यानं प्रत्याख्याननाममात्रं वा, अयोग्याः स्थापनाः पापबंधहेतुभूताः मिथ्यात्वादिप्रवर्तका अपरमार्थरूपदेवतादिप्रतिबिंबानि पापकारणद्रव्यरूपाणि च न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमन्तव्यानि इति स्थापनाप्रत्याख्यानं। प्रत्याख्यानपरिणतप्रतिबिंबं च सद्भावासद्भावरूपं स्थापनाप्रत्याख्यानमिति, पापबन्धकारणद्रव्यं सावद्यं निरवद्यमपि तपोनिमित्तं त्यक्तं न भोक्तव्यं न भोजयितव्यं नानुमंतव्यमिति द्रव्यप्रत्याख्यानं। प्राभृतज्ञायकोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भावी जीवस्तद्व्यतिरिक्तं च द्रव्यप्रत्याख्यानं। असंयमादिहेतुभूतस्य क्षेत्रस्य परिहारः क्षेत्रप्रत्याख्यानं, प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितप्रदेशे[1] प्रवेशो वा क्षेत्रप्रत्याख्यानं, असंयमादिनिमित्तभूतस्य[2] कालस्य त्रिधा परिहारः कालप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितकालो वा, मिथ्यात्वासंयमकषायादीनां त्रिविधेन परिहारो भावप्रत्याख्यानं भावप्रत्याख्यानप्राभृतज्ञायकस्तद्विज्ञानं प्रदेशादित्येवमेष नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविषयः प्रत्याख्याने निक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति। प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयोः को विशेष इति चेन्नैष

रखना चाहिए, न रखवाना चाहिए और न रखते हुए को अनुमोदना ही देनी चाहिए—यह नाम प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान नाम मात्र किसी का रख देना नाम प्रत्याख्यान है। अयोग्य स्थापना—मूर्तियाँ पापबन्ध के लिए कारण हैं, मिथ्यात्व आदि की प्रवर्तक हैं, और अवास्तविक रूप देवता आदि के जो प्रतिबिम्ब हैं वे भी पाप के कारण रूप द्रव्य हैं ऐसी अयोग्य स्थापना को न करना चाहिए, न कराना चाहिए और करते हुए को अनुमोदना देना चाहिए यह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि आदि का प्रतिबिम्ब जोकि तदाकार हो या अतदाकार, वह भी स्थापना प्रत्याख्यान है।

पापबन्ध के कारणभूत सावद्य—सदोष द्रव्य तथा तप के निमित्त त्याग किए गये जो निरवद्य—निर्दोष द्रव्य भी हैं ऐसे सदोष और त्यक्त रूप निर्दोष द्रव्य को भी न ग्रहण करना चाहिए न कराना चाहिए और न अनुमोदना देनी चाहिए। यहाँ आहार सम्बन्धी तो खाने में अर्थात् भोग में आयेगा और उसके अतिरिक्त भी द्रव्य उपकरण आदि उपभोग में आयेंगे किन्तु 'भोक्तव्यं' क्रिया से यहा पर मुख्यतया भोजन सम्बन्धी द्रव्य की विवक्षा है, इस तरह यह द्रव्य प्रत्याख्यान है अथवा प्रत्याख्यान शास्त्र का ज्ञाता और उसके उपयोग से रहित जीव, उसका शरीर, भावी जीव और उससे व्यतिरिक्त ये सब द्रव्य प्रत्याख्यान हैं।

असंयम आदि के लिए कारणभूत क्षेत्र का परिहार करना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है, अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि के द्वारा सेवित प्रदेश में प्रवेश करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है।

असंयम आदि के कारणभूत काल का मन-वचन-काय से परिहार करना काल-प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि के द्वारा सेवित काल काल-प्रत्याख्यान है।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि का मनवचनकाय से परिहार—त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। अथवा भाव प्रत्याख्यान के शास्त्र के ज्ञाता जीव को या उसके ज्ञान को या उसके आत्म प्रदेशों को भी भाव प्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रकार से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक छह प्रकार का निक्षेप प्रत्याख्यान में घटित किया गया है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है?

भूतकाल विषयक अतीचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है, और भूत, भविष्यत्

---

१. क °देशो वा। २. क °दिहेतुभूतस्य।

दोषोऽतीतकालविषयातीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीतभविष्यद्वर्त्तमानकालविषयातिचारनिर्हरणं प्रत्याख्यानमथवा व्रताद्यतीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीचारकारणसच्चित्ताचित्तमिश्रद्रव्यविनिवृत्तिस्तपोनिमित्तं प्रासुकद्रव्यस्य च निवृत्तिः प्रत्याख्यानं यस्मादिति ॥६३४॥

प्रत्याख्यायकप्रत्याख्यानप्रत्याख्यातव्यस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

पच्चक्खाओ पच्चक्खाणं पच्चक्खियव्वमेवं तु।
तीदे पच्चुप्पण्णे अणागदे चेव कालह्मि ॥६३५॥

प्रत्याख्यायको जीवः संयमोपेतः प्रत्याख्यानं परित्यागपरिणामः प्रत्याख्यातव्यं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकं सावद्यं निरवद्यं वा। एवं त्रिप्रकारं[1] प्रत्याख्यानस्वरूपोऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति। तत्त्रिविधमप्यतीते काले प्रत्युत्पन्ने कालेऽनागते च काले भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालेष्वपि ज्ञातव्यमिति ॥६३५॥

तथा वर्तमान इन तीनों कालविषयक अतीचारों का निरसन करना प्रत्याख्यान है। अथवा व्रत आदि के अतीचारों का शोधन प्रतिक्रमण है तथा अतीचार के लिए कारणभूत ऐसे सचित्त, अचित्त एवं मिश्र द्रव्यों का त्याग करना तथा तप के लिए प्रासुकद्रव्य का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

भावार्थ—समता, स्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण इनमें जो निक्षेप घटित किए हैं वहाँ पर पहले चरणानुयोग की पद्धति से द्रव्य आदि निक्षेपों को कहकर पुनः 'अथवा' कहकर सैद्धांतिक विधि से छहों निक्षेप बताये हैं। किन्तु यहाँ पर टीकाकार ने दोनों प्रकार के निक्षेपों को साथ-साथ ही घटित कर दिया है ऐसा समझना। एवं छहों निक्षेपों का चरणानुयोग की विधि से जो कथन है उसमें प्रत्येक में कृत, कारित, अनुमोदना को लगा लेना चाहिए।

प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य इन तीनों का स्वरूप प्रतिपादित करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य ये तीनों ही भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल में होते हैं ॥६३५॥

आचारवृत्ति—संयम से युक्त जीव—मुनि प्रत्याख्यायक हैं, अर्थात् प्रत्याख्यान करनेवाले हैं। त्यागरूप परिणाम प्रत्याख्यान है। सावद्य हों या निरवद्य, सचित्त, अचित्त तथा मिश्र ये तीन प्रकार के द्रव्य प्रत्याख्यातव्य हैं अर्थात् प्रत्याख्यान के योग्य हैं। इन तीन प्रकार से प्रत्याख्यान के स्वरूप की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् इन प्रत्याख्यायक आदि तीन प्रकार के सिवाय प्रत्याख्यान का कोई स्वरूप नहीं है। ये तीनों ही भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत् की अपेक्षा से तीन-तीन भेदरूप हो जाते हैं। अर्थात् भूतप्रत्याख्यायक, वर्तमान प्रत्याख्यायक और भविष्यत् प्रत्याख्यायक। भूत प्रत्याख्यान, वर्तमान प्रत्याख्यान और भविष्यत्-प्रत्याख्यान। भूतप्रत्याख्यातव्य, वर्तमान प्रत्याख्यातव्य और भविष्यत्-प्रत्याख्यातव्य।

भावार्थ—प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। सो त्याग करनेवाला जीव, त्याग और त्यागने योग्य वस्तु—मूल में इन तीनों को कहा है। पुनः प्रत्याख्यान त्रैकालिक होने से तीनों को भी त्रैकालिक सिद्ध किया है।

---

1 क त्रिप्रकार एवं।

प्रत्याख्यायकस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आणाय जाणणाविय उवजुत्तो मूलमज्झणिद्देसे।
सागारमणागारं अणुपालेंतो दढधिदीओ ॥६३६॥

आणाविय आज्ञया गुरूपदेशेनार्हदाद्याज्ञया चारित्रश्रद्धया, **जाणणाविय** ज्ञापकेन गुरुनिवेदनेनाथवा परमार्थतो ज्ञात्वा दोपस्वरूपं तमोहेतुं वाह्याभ्यन्तरं प्रविश्य ज्ञात्वाऽपि चोपयुक्तः पट्प्रकारसमन्वितः मूले आदौ ग्रहणकाले मध्ये मध्यकाले निर्देशे समाप्तौ सागारं गार्हस्थ्यं संयतासंयतयोग्यमथवा साकारं सविकल्पं भेदसहितं अनागारं संयमसमेतोद्भवं यतिप्रतिबद्धमथवाऽनाकारं निर्विकल्पं सर्वथा परित्यागमनुपालयन् रक्षयन् दृढधृतिकः सदृढधैर्यः, मूलमध्यनिर्देशे साकारमनाकारं च प्रत्याख्यानमुपयुक्तः सन् आज्ञया सम्यग्विवेकेन वाऽनुपालयन् दृढधृतिको यो भवति स एप प्रत्याख्यायको नामेति सम्बन्धः। उत्तरेणाथवा मूलमध्यनिर्देश आज्ञयोपयुक्तः साकारमनाकारं च प्रत्याख्यानं च गुरुं ज्ञापयन् प्रतिपादयन् अनुपालयंश्च दृढधृतिकः प्रत्याख्यायको भवेदिति ॥६३६॥

शेषं प्रतिपादयन्नाह—

प्रत्याख्यायक का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—आज्ञा से और गुरु के निवेदन से उपयुक्त हुआ क्रिया के आदि और अन्त में सविकल्प और निर्विकल्प संयम को पालन करता हुआ दृढ़ धैर्यवान् साधु प्रत्याख्यायक होता है ॥६३६॥

आचारवृत्ति—आज्ञा—गुरु का उपदेश, अर्हंत आदि की आज्ञा और चारित्र की श्रद्धा ये आज्ञा शब्द से ग्राह्य हैं। ज्ञापक—वतलाने वाले गुरु। इस तरह गुरु के उपदेश आदि रूप आज्ञा से और गुरु के कथन से पाप रूप अन्धकार के हेतुक दोष के स्वरूप को परमार्थ से जानकर और उसके वाह्य-अभ्यन्तर कारणों में प्रवेश करके जो मुनि नाम, स्थापना आदि छह भेद रूप प्रत्याख्यानों से समन्वित हैं वह साधु प्रत्याख्यान के मूल—ग्रहण के समय, उसके मध्यकाल में और निर्देश—उसकी समाप्ति में सागार—संयतासंयत गृहस्थ के योग्य और अनगार—संयमयुक्त यति से सम्बन्धित अथवा साकार—सविकल्प-भेद सहित और अनाकार—निर्विकल्प अर्थात् सर्वथा परित्याग रूप प्रत्याख्यान की रक्षा करता हुआ दृढ़ धैर्यसहित होने से प्रत्याख्यायक है। अर्थात् जो साधु त्याग के आदि, मध्य और अन्त में साकार व अनाकार प्रत्याख्यान में उद्यमशील होता हुआ गुरुओं की आज्ञा या सम्यक् विवेक से उसका पालन करता हुआ दृढ़धैर्यवान है वह प्रत्याख्यायक कहलाता है ऐसा अगली गाथा से सम्वन्ध कर लेना चाहिए। अथवा मूल, मध्य और अन्त में प्रत्याख्यान का पालन करनेवाला, गुरु की आज्ञा को धारण करनेवाला साधु भेदसहित और भेदरहित प्रत्याख्यान को गुरु को वतलाकर उसको पालता हुआ धैर्यगुणयुक्त है वह प्रत्याख्यायक है।

शेप को वतलाते हैं—

एसो पच्चक्खाओ पच्चक्खाणेत्ति वुच्चदे चाओ।
पच्चक्खिदव्वमुवहि आहारो चेव बोधव्वो ॥६३७॥

एष प्रत्याख्यायकः पूर्वेण सम्बन्धः प्रत्याख्यानमित्युच्यते । त्यागः सावद्यस्य द्रव्यस्य निरवद्यस्य वा तपोनिमित्तं परित्यागः प्रत्याख्यानं प्रत्याख्यातव्यः परित्यजनीय उपधिः परिग्रहः सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नः क्रोधादिभेदभिन्नश्चाहारश्चाभक्ष्यभोज्यादिभेदभिन्नो बोद्धव्य इति ॥६३७॥

प्रस्तुतं प्रत्याख्यानं प्रपंचयन्नाह—

पच्चक्खाणं उत्तरगुणेसु खमणादि होदि णेयविहं ।
तेणवि अ एत्थ पयदं तंपि य इणमो दसविहं तु ॥६३८॥

प्रत्याख्यानं मूलगुणविषयमुत्तरगुणविषयं वक्ष्यमाणादिभेदेनाशनपरित्यागादिभेदेनानेकविधमनेकप्रकारं। तेनापि चात्र प्रकृतं प्रस्तुतं अथ वा तेन प्रत्याख्यायकेनात्र यत्नः कर्त्तव्यस्तदेतदपि च दशविधं तदपि चैतत् क्षमणादि दशप्रकारं भवतीति वेदितव्यम् ॥६३८॥

तान् दशभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव ।
सागारमणागारं परिमाणगदं अपरिसेसं ॥४३६॥

अद्धाणगदं णवमं दसमं तु सहेदुगं वियाणाहि ।
पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदह्मि ॥६४०॥

गाथार्थ—यह पूर्वोक्त गाथा कथित साधु प्रत्याख्यायक है। त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं, और उपधि तथा आहार यह प्रत्याख्यान करने योग्य पदार्थ हैं ऐसा जानना ॥६३७॥

आचारवृत्ति—पूर्वगाथा में कहा गया साधु प्रत्याख्यायक है। सावद्यद्रव्य का त्याग करना या तपोनिमित्त निर्दोष द्रव्य का त्याग करना प्रत्याख्यान है। सचित्त, अचित्त तथा मिश्र रूप बाह्य परिग्रह एवं क्रोध आदि रूप अभ्यन्तर परिग्रह ये उपधि हैं। अभक्ष्य भोज्य आदि पदार्थ आहार कहलाते हैं। ये उपधि और आहार प्रत्याख्यातव्य हैं।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान का विस्तार से वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—उत्तर गुणों में जो अनेक प्रकार के उपवास आदि हैं वे प्रत्याख्यान हैं। उसमें प्रत्याख्यायक प्रयत्न करे सो यह प्रत्याख्यान दश प्रकार का भी है ॥६३८॥

आचारवृत्ति—मूलगुण विषयक प्रत्याख्यान और उत्तरगुण विषयक प्रत्याख्यान होता है जोकि आगे कहे जाने वाले भोजन के परित्याग आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। उन भेदों से भी यहाँ पर प्रकृत है—कहा गया है अथवा उस प्रत्याख्यायक साधु के इन त्याग रूप उपवास आदिकों में प्रयत्न करना चाहिए।

सो यह भी उपवास आदि रूप प्रत्याख्यान दश प्रकार का है ऐसा जानना।

उन दश भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखंडित, साकार, अनाकार, परिमाण

अणागदं अनागतं भविष्यत्कालविषयोपवासादिकरणं चतुर्दश्यादिपु यत्कर्त्तव्यं तत्त्रयोदश्यादिपु यत् क्रियते तदनागतं प्रत्याख्यानं, अदिकंतं अतिक्रान्तं अतीतकालविपयोपवासादिकरणं चतुर्दश्यादिषु यत्कर्त्तव्यमुपवासादिकं तत्प्रतिपदादिपु क्रियतेऽतिक्रान्तं प्रत्याख्यानं। कोडीसहिदं कोटिसहितं संकल्पसमन्वितं शक्त्यपेक्षयोपवासादिकं श्वस्तने दिने स्वाध्यायवेलायामतिक्रान्तायां यदि शक्तिर्भविष्यत्युपवासादिकं करिष्यामि नो चेन्न करिष्यामीत्येवं यत् क्रियते प्रत्याख्यानं तत्कोटिसहितमिति, णिखंडितं निखंडितं अवश्यकर्त्तव्यं पाक्षिकादिपूपवासकरणं निखंडितं प्रत्याख्यानं, सागारं सभेदं सर्वतोभद्रकनकावल्याद्युपवासविधिर्नक्षत्रादिभेदेन करणं तत्साकारप्रत्याख्यानं, अनाकारं स्वेच्छयोपवासविधिर्नक्षत्रादिक्रमंतरेणोपवासादिकरणमनाकारं प्रत्याख्यानं,

---

गत, अपरिशेष, अध्वानगत और दशम सहेतुक ये दश भेद जानो। ये प्रत्याख्यान के भेद जिनमत में निरुक्ति सहित हैं ॥६३९-६४०॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार के प्रत्याख्यान को पृथक्-पृथक् कहते हैं—

१. भविष्यत्काल में किए जाने वाले उपवास आदि पहले कर लेना, जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास करना था उसको त्रयोदशी आदि में कर लेना अनागत प्रत्याख्यान है।

२. अतीतकाल में किए जाने वाले उपवास आदि को आगे करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास आदि करना है उसे प्रतिपदा आदि में करना।

३. शक्ति आदि की अपेक्षा से संकल्प सहित उपवास करना कोटिसहित प्रत्याख्यान है। जैसे कल प्रातः स्वाध्याय वेला के अनन्तर यदि शक्ति रहेगी तो उपवास आदि करूँगा, यदि शक्ति नहीं रही तो नहीं करूँगा, इस प्रकार से जो संकल्प करके प्रत्याख्यान होता है वह कोटिसहित है।

४. पाक्षिक आदि में अवश्य किए जाने वाले उपवास का करना निखण्डित प्रत्याख्यान है।

५. भेद सहित उपवास करने को साकार प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसे सर्वतोभद्र, कनकावली आदि व्रतों की विधि से उपवास करना, रोहिणी आदि नक्षत्रों के भेद से उपवास करना।

६. स्वेच्छा से उपवास करना, जैसे नक्षत्र या तिथि आदि की अपेक्षा के विना ही स्वरुचि से कभी भी कर लेना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७. प्रमाण सहित उपवास को परिमाणगत कहते हैं। जैसे वेला, तेला, चार उपवास, पांच उपवास, सात दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि काल के प्रमाण उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

८. जीवन पर्यंत के लिए चार प्रकार के आहार आदि का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

९. मार्ग विषयक प्रत्याख्यान अध्वानगत है। जैसे जंगल या नदी आदि से निकलने

परिमाणगतं प्रमाणसहितं षष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षार्द्धपक्षमासादिकालादिपरिमाणेनोपवासादिकरणं परिमाण-गतं प्रत्याख्यानं, अपरिशेषं यावज्जीवं चतुर्विधाऽऽहारादित्यागोऽपरिशेषं प्रत्याख्यानम् ॥६३९॥

तथा—

अद्धाणगदं अध्वानं गतमध्वगतं मार्गविषयाटवीनद्यादिनिष्क्रमणद्वारेणोपवासादिकरणं। अध्वगतं नाम प्रत्याख्यानं नवमं, सहहेतुना वर्तत इति सहेतुकमुपसर्गादिनिमित्तापेक्षमुपवासादिकरणं सहेतुकं नाम प्रत्याख्यानं दशमं विजानीहि, एवमेतान्प्रत्याख्यानकरणविकल्पान्विभक्तियुक्तान्नवगतान् परमार्थरूपाञ्जिन-मते विजानीहीति ॥६४०॥

पुनरपि प्रत्याख्यानकरणविधिमाह—

विणएण तहणुभासा हवदि य अणुपालणाय परिणामे।
एदं पच्चक्खाणं चदुव्विधं होदि णादव्वं ॥६४१॥

विनयेन शुद्धं तथाऽनुभाषयाऽनुपालनेन परिणामेन च यच्छुद्धं भवति तदेतत्प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यं। यस्मिन् प्रत्याख्याने विनयेन सार्द्धमनुभाषाप्रतिपालनेन सह परिणामशुद्धिस्तत्प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यमिति ॥६४१॥

विनयप्रत्याख्यानं तावदाह—

किदियम्मं उवचारिय विणओ तह णाणदंसणचारित्ते।
पंचविधविणयजुत्तं विणयसुद्धं हवदि तं तु ॥६४२॥

के प्रसंग में उपवास आदि करना अर्थात् इस वन से बाहर पहुँचने तक मेरे चतुर्विध आहार का त्याग है या इस नदी से पार होने तक चतुर्विध आहार का त्याग है ऐसा उपवास करना सो अध्वानगत प्रत्याख्यान है।

१०. हेतु सहित उपवास सहेतुक हैं यथा उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना सहेतुक नाम का प्रत्याख्यान है।

विभक्ति से युक्त अन्वर्थ, नाम से सहित तथा परमार्थ रूप प्रत्याख्यान करने के ये दश भेद जिनमत में कहे गए हैं ऐसा जानो।

पुनरपि प्रत्याख्यान करने की विधि बताते हैं—

गाथार्थ—विनय से, अनुभाषा से, अनुपालन से और परिणाम से प्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान चार प्रकार का जानना चाहिए ॥६४१॥

आचारवृत्ति—विनय से शुद्ध तथैव अनुभाषा, अनुपालन और परिणाम से शुद्ध प्रत्याख्यान चार भेद रूप हो जाता है। अर्थात् जिस प्रत्याख्यान में विनय के साथ, अनुभाषा के साथ, प्रतिपालना के साथ और परिणाम शुद्धि के साथ आहार आदि का त्याग होता है वह प्रत्याख्यान उन विनय आदि की अपेक्षा से चार प्रकार का हो जाता है।

इनमें से पहले विनय प्रत्याख्यान को कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म, औपचारिक विनय, तथा दर्शन ज्ञान और चारित्र में विनय जो इन पांच विध विनय से युक्त है वह विनय शुद्ध प्रत्याख्यान है ॥६४२॥

कृतिकर्म सिद्धभक्तियोगभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं कायोत्सर्गकरणं, पूर्वोक्तः औपचारिकविनयः कृतकर-मुकुलललाटपट्टविनतोत्तमांगः प्रशांततनुः पिच्छिकया विभूषितवक्ष इत्याद्युपचारविनयः, तथा ज्ञानदर्शन-चारित्रविषयो विनयः एवं क्रियाकर्मादिपंचप्रकारेण विनयेन युक्तं विनयशुद्धं तत्प्रत्याख्यानं भवत्येवेति ।।६४२।।

अनुभाषायुक्तं प्रत्याख्यानमाह—

अणुभासदि गुरुवयणं अक्खरपदवंजणं कमविसुद्धं ।
घोसविसुद्धी सुद्धं एवं अणुभासणासुद्धं ।।६४३।।

अणुभासदि अनुभाषते अनुवदति गुरुवचनं गुरुणा यथोच्चारिता प्रत्याख्यानाक्षरपद्धतिस्तथैव तामुच्चरतीति, अक्षरमेकस्वरयुक्तं व्यंजनं, इच्छामीत्यादिकं पदं सुबन्तं मिङन्तं चाक्षरसमुदायरूपं, व्यंजनमन-क्षरवर्णरूपं खंडाक्षरानुस्वारविसर्जनीयादिकं क्रमविशुद्धं येनैव क्रमेण स्थितानि वर्णपदव्यंजनवाक्यादीनि ग्रंथार्थो-भयशुद्धानि तेनैव पाठः, घोषविशुद्धया च शुद्धं गुर्वादिकवर्णविषयोच्चारणसहितं मुखमध्योच्चारणरहितं महा-कलकलेन विहीनं स्वरविशुद्धमिति, एवमेतत्प्रत्याख्यानमनुभाषणशुद्धं वेदितव्यमिति ।।६४५।।

अनुपालनसहित प्रत्याख्यानस्य स्वरूपमाह—

आचारवृत्ति—सिद्ध भक्ति, योग भक्ति और गुरु भक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करना कृति-कर्म विनय है। औपचारिक विनय का लक्षण पहले कह चुके हैं अर्थात् हाथों को मुकुलित कर ललाट पट्ट पर रख मस्तक को झुकाना, प्रशांत शरीर होना, पिच्छिका से वक्षस्थल भूषित करना—पिच्छिका सहित अंजुली जोड़कर हृदय के पास रखना, प्रार्थना करना आदि उपचार विनय है, एवं दर्शन, ज्ञान और चारित्र विषयक विनय करना—इस तरह कृतिकर्म आदि पाँच प्रकार के विनय से युक्त प्रत्याख्यान विनयशुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

अनुभाषा युक्त प्रत्याख्यान को कहते हैं—

गाथार्थ—गुरु के वचन के अनुरूप बोलना, अक्षर, पद, व्यंजन क्रम से विशुद्ध और घोष की विशुद्धि से शुद्ध बोलना अनुभाषणाशुद्धि है ।।६४३।।

आचारवृत्ति—प्रत्याख्यान के अक्षरों को गुरु ने जैसा उच्चारण किया है वैसा ही उन अक्षरों का उच्चारण करता है। एक स्वरयुक्त व्यंजन को अक्षर कहते हैं, सुबंत और मिङन्त को पद कहते हैं अर्थात् 'इच्छामि' इत्यादि प्रकार से जो अक्षर समुदायरूप है वह पद कहलाता है। अक्षर रहित वर्ण को व्यंजन कहते हैं जोकि खण्डाक्षर, अनुस्वार और विसर्ग आदि रूप हैं। जिस क्रम से वर्ण, पद, व्यंजन और वाक्य आदि, ग्रन्थशुद्ध, अर्थशुद्ध और उभयशुद्ध हैं उनका उसी पद्धति से पाठ करना सो क्रमविशुद्ध कहलाता है। तथा ह्रस्व, दीर्घ आदि वर्णों का यथायोग्य उच्चारण करना घोष विशुद्धि है। मुख में ही शब्द का उच्चारण नहीं होना चाहिए और न महाकलकल शब्द करना चाहिए। स्वरशुद्ध रहना चाहिए सो यह सब घोषशुद्धि है, इस प्रकार का जो प्रत्याख्यान है वह अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

अनुपालन सहितप्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं—

आदंके उवसग्गे समे य दुब्भिक्खवुत्ति कंतारे।
जं पालिदं ण भग्गं एदं अणुपालणासुद्धं ॥६४४॥

आतंकः सहसोत्थितो व्याधिः, उपसर्गो देवमनुष्यतिर्यक्कृतपीडा, श्रम उपवासालाभमार्गादिकृतः परिश्रमः ज्वररोगादिकृतश्च, दुर्भिक्षवृत्तिर्वर्षाकालराज्यभंगविड्वरचौराद्युपद्रवभयेन सस्याद्यभावेन भिक्षायाः प्राप्त्यभावः, कान्तारे महाटवीविंध्यारण्यादिकभयानकप्रदेशः, एतेषूपस्थितेष्वातंकोपसर्गदुर्भिक्षवृत्तिकान्तारेषु यत्प्रतिपालितं रक्षितं न भग्नं न मनागपि विपरिणामरूपं जातं तदेतत्प्रत्याख्यानमनुपालनविशुद्धं नाम ॥६४४॥

परिणामविशुद्धप्रत्याख्यानस्य स्वरूपमाह—

रागेण व दोसेण व मणपरिणामेण दूसिदं जं तु।
तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं ॥६४५॥

रागपरिणामेन द्वेषपरिणामेन च न दूषितं न प्रतिहतं विपरिणामेन यत्प्रत्याख्यानं तत्पुनः प्रत्याख्यानं भावविशुद्धं तु ज्ञातव्यमिति। सम्यग्दर्शनादियुक्तस्य निःकांक्षस्य वीतरागस्य समभावयुक्तस्याहिंसादिव्रतसहित-शुद्धभावस्य प्रत्याख्यानं परिणामशुद्धं भवेदिति ॥६४५॥

चतुर्विधाहारस्वरूपमाह—

गाथार्थ—आकस्मिक व्याधि, उपसर्ग, श्रम, भिक्षा का अलाभ और गहनवन इनमें जो ग्रहण किया गया प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है वह अनुपालना शुद्ध है ॥६४४॥

आचारवृत्ति—सहसा उत्पन्न हुई व्याधि आतंक है। देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत पीड़ा को उपसर्ग कहते हैं। उपवास, अलाभ, या मार्ग में चलने आदि से हुआ परिश्रम या ज्वर आदि रोगों के निमित्त से हुआ खेद श्रम कहलाता है। दुर्भिक्षवृत्ति—वर्षा का अभाव, राज्यभंग, वदमाश—लुटेरे, चोर इत्यादि के उपद्रव के भय से या धान्य आदि की उत्पत्ति के अभाव से भिक्षा का लाभ न होना, महावन, विंध्याचल, अरण्य आदि भयानक प्रदेशों में पहुँच जाना अर्थात् आतंक के आ जाने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, श्रम से थकान हो जाने पर, भिक्षा न मिलने पर या महान् भयानक वन आदि में पहुँच जाने पर जो प्रत्याख्यान ग्रहण किया हुआ है उसकी रक्षा करना, उससे तिलमात्र भी विचलित नहीं होना सो यह अनुपालन विशुद्ध प्रत्याख्यान है।

परिणाम विशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—राग से अथवा द्वेष रूप मन के परिणामों से जो दूषित नहीं होता है वह भाव विशुद्ध प्रत्याख्यान है ऐसा जानना ॥६४५॥

आचारवृत्ति—राग परिणाम से या द्वेष परिणाम से जो प्रत्याख्यान दूषित नहीं होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि से युक्त, कांक्षा रहित, वीतराग, समभावयुक्त और अहिंसादिव्रतों से सहित शुद्ध भाववाले मुनि का प्रत्याख्यान परिणाम शुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

चार प्रकार के आहार का स्वरूप बताते हैं—

असणं खुहप्पसमणं पाणाणमणुग्गहं तहा पाणं।
खादंति खादियं पुण सादंति सादियं भणियं ॥६४६॥

अशनं क्षुदुपशमनं बुभुक्षोपरतिः प्राणानां दशप्रकाराणामनुग्रहो येन तत्तथा खाद्यत इति खाद्य रसविशुद्धं लड्डुकादि पुनरास्वाद्यत इति आस्वाद्यमेलाकक्कोलादिकमिति भणितमेवंविधस्य चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानमुत्तमार्थप्रत्याख्यानमिति ॥६४६॥

चतुर्विधस्याहारस्य भेदं प्रतिपाद्याभेदार्थमाह—

सव्वोवि य आहारो असणं सव्वोवि वुच्चदे पाणं।
सव्वोवि खादियं पुण सव्वोवि य सादियं भणियं ॥६४७॥

सर्वोऽप्याहारोऽशनं तथा सर्वोऽप्याहारः पानमित्युच्यते तथा सर्वोऽप्याहारः खाद्यं तथा सर्वोऽप्याहारः स्वाद्यमिति भणितं एवं चतुर्विधस्याप्याहारस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षयैक्यं आहारत्वेनाभेदादिति ॥६४७॥

पर्यायार्थिकनयापेक्षया पुनश्चतुर्विधस्तथैव प्राह—

असणं पाणं तह खादियं चउत्थं च सादियं भणियं।
एवं परूविदं दु सद्दहिदुं जे सुही होदि ॥६४८॥

एवमशनपानखाद्यस्वाद्यभेदेनाहारं चतुर्विधं प्ररूपितं श्रद्धाय सुखी भवतीति फलं व्याख्यातं भवतीति ॥६४८॥

गाथार्थ—क्षुधा को शांत करनेवाला अशन, प्राणों पर अनुग्रह करनेवाला पान है। जो खाया जाय वह खाद्य एवं जिसका स्वाद लिया जाय वह स्वाद्य कहलाता है ॥६४६॥

आचारवृत्ति—जिससे भूख की उपरति-शान्ति हो जाती है वह अशन है। जिसके द्वारा दश प्रकार के प्राणों का उपकार होता है वह पान है। जो खाये जाते हैं वे खाद्य हैं। रस सहित लड्डू आदि पदार्थ खाद्य हैं। जिनका आस्वाद लिया जाता है वे इलायची कक्कोल आदि स्वाद्य हैं। इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उत्तमार्थ प्रत्याख्यान कहलाता है।

चार प्रकार के आहारों का भेद बताकर अब उनका अभेद दिखाते हैं—

गाथार्थ—सभी आहार अशन कहलाता है। सभी आहार पान कहलाता है। सभी आहार खाद्य और सभी ही आहार स्वाद्य कहा जाता है ॥६४७॥

आचारवृत्ति—सभी आहार अशन हैं, सभी आहार पान हैं, सभी आहार खाद्य हैं एवं सभी आहार स्वाद्य हैं। इस तरह चारों प्रकार का आहार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकरूप है क्योंकि आहारपने की अपेक्षा से सभी में अभेद है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पुनः आहार चार भेदरूप है—

गाथार्थ—अशन, पान, खाद्य तथा चौथा स्वाद्य कहा गया है। इन कहे हुए उपदेश का श्रद्धान करके जीव सुखी हो जाता है ॥६४८॥

आचारवृत्ति—इन अशन आदि चार भेद रूप कहे गए आहार का श्रद्धान करके जीव सुखी हो जाता है यह इसका फल बताया गया है। अर्थात् उत्तमार्थी इन सब का त्यागकर सुखी होता है यह फल है।

प्रत्याख्याननिर्युक्तिं व्याख्याय कायोत्सर्गनिर्युक्तिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

पच्चक्खाणणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
काओसग्गणिजुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥६४९॥

प्रत्याख्याननिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन कायोत्सर्गनिर्युक्तिमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्य इति[1]। स्पष्टोर्थः ॥६४९॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो काउस्सग्गे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६५०॥

खरपरुषादिसावद्यनामकरणद्वारेणागतातीचारशोधनाय कायोत्सर्गो नाममात्रः कायोत्सर्गो वा नामकायोत्सर्गः, पापस्थापनाद्वारेणा[2]गतातीचारशोधननिमित्तकायोत्सर्गपरिणतप्रतिबिम्बानि[3] स्थापनाकायोत्सर्गः सावद्यद्रव्यसेवाद्वारेणागतातीचारनिर्हरणाय कायोत्सर्गः, कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं वा द्रव्यकायोत्सर्गः, सावद्यक्षेत्रसेवनादागतदोषध्वंसनाय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसेवितक्षेत्रं वा क्षेत्रकायोत्सर्गः, सावद्यकालाचरणद्वारागतदोषपरिहाराय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसहितकालो वा कालकायोत्सर्गः,

---

प्रत्याख्यान निर्युक्ति का व्याख्यान करके अब कायोत्सर्ग निर्युक्ति का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह प्रत्याख्याननिर्युक्ति कही है। इसके बाद कायोत्सर्ग निर्युक्ति कहूँगा ॥६४९॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये छह हैं। कायोत्सर्ग में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६५०॥

आचारवृत्ति—तीक्ष्ण कठोर आदि पापयुक्त नामकरण के द्वारा उत्पन्न हुए अतीचारों का शोधन करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नाम कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग यह नामकरण करना नाम कायोत्सर्ग है। पापस्थापना—अशुभ या सरागमूर्ति की स्थापना द्वारा हुए अतीचारों के शोधननिमित्त कायोत्सर्ग करना स्थापना कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत मुनि की प्रतिमा आदि स्थापना कायोत्सर्ग है। सदोष द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए अतीचारों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है वह द्रव्य कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करनेवाले प्राभृत का ज्ञानी किन्तु उसके उपयोग से रहित जीव और उसका शरीर ये द्रव्य कायोत्सर्ग हैं। सदोष क्षेत्र के सेवन से होने वाले अतीचारों को नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग क्षेत्र कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सेवित स्थान क्षेत्र कायोत्सर्ग है। सावद्य काल के आचरण द्वारा उत्पन्न हुए दोषों का परिहार करने के लिए कायोत्सर्ग काल-कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सहित काल काल-कायोत्सर्ग है। मिथ्यात्व आदि अतीचारों के शोधन करने के लिए किया गया कायोत्सर्ग भाव

---

१ क इति। नामादिभिः कायोत्सर्गं निरूपयितुमाह—। २ क °णागतातीचार। ३ क °बिम्बानि°।

मिथ्यात्वाद्यतीचारशोधनाय भावकायोत्सर्गः कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तसंज्ञानजीवप्रदेशो वा भावकायोत्सर्गः, एवं नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविषय एष कायोत्सर्गनिक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति ॥६५०॥

कायोत्सर्गकारणमन्तरेण कायोत्सर्गः प्रतिपादयितुं न शक्यत इति तत्स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

काउस्सग्गो काउस्सग्गी काउस्सग्गस्स कारणं चेव ।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥६५१॥

कायस्य शरीरस्योत्सर्गः परित्यागः कायोत्सर्गः स्थितस्यासीनस्य सर्वांगचलनरहितस्य शुभध्यानस्य वृत्तिः कायोत्सर्गोऽस्यास्तीति कायोत्सर्गी असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिभव्यः कायोत्सर्गस्य कारणं हेतुरेव तेषां त्रयाणामपि प्रत्येकं प्ररूपणा भवति ज्ञातव्येति ॥६५१॥

तावत्कायोत्सर्गस्वरूपमाह—

वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो ।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥६५२॥

व्युत्सृष्टं त्यक्तं बाहुयुगलं यस्मिन्नवस्थाविशेषे सो व्युत्सृष्टबाहुयुगलः प्रलंबितभुजश्चतुरंगुलमन्तरं ययोः पादयोस्तौ चतुरंगुलान्तरौ । चतुरंगुलान्तरौ समौ पादौ यस्मिन्स चतुरंगुलान्तरसमपादः । सर्वेषामंगानां करचरणशिरोग्रीवाक्षिभ्रूविकारादीनां चलनं तेन रहितः सर्वांगचलनरहितः सर्वाक्षेपविमुक्तः, एवंविधस्तु

कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करनेवाले प्राभृत का ज्ञाता तथा उसमें उपयोग सहित और उसके ज्ञान सहित जीवों के प्रदेश भी भाव कायोत्सर्ग हैं । इस तरह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक यह कायोत्सर्ग का निक्षेप छह रूप जानना चाहिए ।

कायोत्सर्ग के कारण विना वताए कायोत्सर्ग का प्रतिपादन करना शक्य नहीं है इसलिए उनके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारण इन तीनों की भी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करते हैं ॥६५१॥

आचारवृत्ति—काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग कायोत्सर्ग है अर्थात् खड़े होकर या बैठकर सर्वांग के हलन-चलन रहित शुभध्यान की जो वृत्ति है वह कायोत्सर्ग है । कायोत्सर्ग जिसके है वह कायोत्सर्गी है अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत मुनि आदि भव्य जीव कायोत्सर्ग करनेकाले हैं । तथा कायोत्सर्ग के हेतु—निमित्त को कारण कहते हैं । इन तीनों की प्ररूपणा आचार्य स्वयं करते है ।

पहले कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जो चार अगुल के अन्तर से समपाद रूप है, जिसमें दोनों वाहु लटका दी गई हैं, जो सर्वांग के चलन से रहित, विशुद्ध है वह कायोत्सर्ग कहलाता है ॥६५२॥

आचारवृत्ति—जिस अवस्था विशेष में दोनों भुजाओं को लम्बित कर दिया है, पैरों में चार अंगुल अन्तर रखकर दोनों पैर समान किये हैं; जिसमें हाथ, पैर, मस्तक, ग्रीवा, नेत्र

विशुद्धः कायोत्सर्गो भवतीति ॥६५२॥

कायोत्सर्गिकस्वरूपनिरूपणायाह—

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा ॥६५३॥

मोक्षमर्थयत इति मोक्षार्थी कर्मक्षयप्रयोजनः, जिता निद्रा येनासौ जितनिद्रः जागरणशीलः सूत्रञ्चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोर्विशारदो निपुणः सूत्रार्थविशारदः, करणेन क्रियाया परिणामेन शुद्धः करणशुद्धः आत्माहारशक्तिक्षयोपशमशक्तिसहितः कायोत्सर्गी विशुद्धात्मा भवति ज्ञातव्य इति ॥६५३॥

कायोत्सर्गमधिष्ठातुकामः प्राह—

काउस्सग्गं मोक्खपहदेसयं घादिकम्म अदिचारं।
इच्छामि अहिट्ठादुं जिणसेविद देसिदत्तादो ॥६५४॥

कायोत्सर्गं मोक्षपथदेशकं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपकारकं घातिकर्मणां ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मणामतीचारं विनाशनं घातिकर्मविध्वंसकमिच्छाम्यहमधिष्ठातुं यतः कायोत्सर्गो [1]जिनैर्देशितः सेवितश्च तस्मात्तमधिष्ठातुमिच्छामीति ॥६५४॥

और भौंह आदि का विकार—हलन-चलन नहीं है, एवं जो सर्व आक्षेप से रहित है, इस प्रकार से जो विशुद्ध है वह कायोत्सर्ग होता है।

कायोत्सर्गी का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—मोक्ष का इच्छुक, निद्राविजयी, सूत्र और उसके अर्थ में प्रवीण, क्रिया से शुद्ध, आत्मा के बल और वीर्य से युक्त, विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्ग को करनेवाला होता है ॥६५३॥

आचारवृत्ति—जो मोक्ष को चाहता है वह मोक्षार्थी है अर्थात् कर्म क्षय के प्रयोजन वाला है। जिसने निद्रा जीत ली है वह जागरणशील है। जो सूत्र और उनके अर्थ इन दोनों में निपुण है, जो तेरह प्रकार की क्रिया और परिणाम से शुद्ध—निर्मल है, जो आत्मा की आहार से होनेवाली शक्ति और कर्मों के क्षयोपशम की शक्ति से सहित है ऐसा विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्गी होता है।

कायोत्सर्ग के अनुष्ठान की इच्छा करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो मोक्ष मार्ग का उपदेशक है, घाति कर्म का नाशक है, जिनेन्द्रदेव द्वारा सेवित है और उपदिष्ट है ऐसे कायोत्सर्ग को मैं धारण करना चाहता हूँ ॥६५४॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपकारक है; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों का विध्वंसक है, ऐसे कायोत्सर्ग का मैं अधिष्ठान करना चाहता हूँ क्योंकि वह जिनवरों द्वारा सेवन किया गया है और उन्हीं के द्वारा कहा गया है।

---

१ क जिनेन्द्रदेशितः।

कायोत्सर्गस्य कारणमाह—

एगपदमस्सिदस्सवि जो अदिचारो दु रागदोसेहिं।
गुत्तीहिं[1] वदिकमो वा चदुहिं कसाएहिं व [2]वदेहिं ॥६५५॥
छज्जीवणिकाएहिं भयमयठाणेहिं बंभधम्मेहिं[3]।
काउस्सग्गं ठामिय तं कम्मणिघादणट्ठाए ॥६५६॥

एकपदमाश्रितस्यैकपदेन स्थितस्य योऽतीचारो भवति रागद्वेषाभ्यां तथा गुप्तीनां यो व्यतिक्रमः कषायैश्चतुर्भिः स्यात् व्रतविषये वा यो व्यतिक्रमः स्यात् ॥६५५॥

तथा—

षट्जीवनिकायैः पृथिव्यादिकायविराधनद्वारेण यो व्यतिक्रमस्तथा भयमदस्थानैः सप्तभयाष्टमद-द्वारेण यो व्यतिक्रमस्तथा ब्रह्मचर्यविषये यो व्यतिक्रमस्तेनाऽऽगतं यत्कर्मैकपदाद्याश्रितस्य गुप्त्यादिव्यतिक्रमेण च यत्कर्म तस्य कर्मणो निघातनाय कायोत्सर्गमधितिष्ठामि कायोत्सर्गेण तिष्ठामीति सम्बन्धः, अथ वैकपदस्थित-स्यापि रागद्वेषाभ्यामतीचारो भवति यतः किं पुनर्भ्रमति ततो घातनार्थं कर्मणां तिष्ठामीति ॥६५६॥

पुनरपि कायोत्सर्गकारणमाह—

जे केई उवसग्गा देवमाणुसतिरिक्खचेदणिया।
ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संतो ॥६५७॥

कायोत्सर्ग के कारण को कहते हैं—

गाथार्थ—एक पद[4] का आश्रय लेनेवाले के जो अतीचार हुआ है, राग-द्वेष इन दो से तीन गुप्तियों में अथवा चार कषायों द्वारा वा पाँच व्रतों में जो व्यतिक्रम हुआ है, छह जीव निकायों से, सात भयों से, आठ मद स्थानों से, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति में और दशधर्मों में जो व्यतिक्रम हुआ है उनकर्मों का घात करने के लिए मैं कायोत्सर्ग का अनुष्ठान करता हूँ ॥६५५-६५६॥

आचारवृत्ति—एक पद से स्थित हुए—एक पैर से खड़े हुए जीव के—(?)जोअतिचार होता है, राग और द्वेष से जो व्यतिक्रम हुआ है, तीन गुप्तियों का जो व्यतिक्रम हुआ है, चार कषायों से और पांच व्रतों के विषय में जो व्यतिक्रम हुआ है; पृथिवी, जल आदि षट्कायों की विराधना के द्वारा जो व्यतिक्रम हुआ है, तथा सातभय और आठ मद के द्वारा जो व्यतिक्रम हुआ है, ब्रह्मचर्य के विषय में जो व्यतिक्रम अर्थात् अतिचार हुआ है, अर्थात् इनसे जो कर्मों का आना हुआ है उन कर्मों का नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग को स्वीकार करता हूँ।

अथवा एक पैर से खड़े होने पर भी राग-द्वेष के द्वारा अतीचार होते हैं तो पुनः तुम क्यों भ्रमण करते हो? ऐसा समझकर ही मैं उन राग-द्वेष आदि के द्वारा हुए अतीचारों को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग से स्थित होता हूँ।

पुनरपि कायोत्सर्ग के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत जो कोई भी उपसर्ग हैं, कायोत्सर्ग में स्थित हुआ मैं उन सबको सहन करता हूँ ॥६५७॥

---

१ क गुत्तीवदिक्कमो। २ क वदएहिं। ३ क 'भकम्पे'। ४ एक्केभावे अणाचारे— एक पद का आश्रय अर्थात् एक किसी व्रत में अनाचार हो जाने पर।

ये केचनोपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता अचेतना विद्युदशन्यादयस्तान् सर्वानिष्यासे सम्यग्विधानेन सहेऽहं कायोत्सर्गे स्थितः सन्, उपसर्गेष्वागतेषु कायोत्सर्गः कर्तव्यः कायोत्सर्गेण वा स्थितस्य यद्युपसर्गाः समुपस्थिताः भवन्ति तेऽपि सहनीया इति ॥६५७॥

कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि ।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥६५८॥

संवत्सरं द्वादशमासमात्रं उत्कृष्टं प्रमाणं कायोत्सर्गस्य । जघन्येन प्रमाणं कायोत्सर्गस्यान्तर्मुहूर्तमात्रं । संवत्सरान्तर्मुहूर्तमध्येऽनेकविकल्पा दिवसरात्र्यहोरात्र्यादिभेदभिन्नाः शेषाः कायोत्सर्गा अनेकेषु स्थानेषु बहुस्थानविशेषेषु शक्त्यपेक्षया कार्याः, कालद्रव्यक्षेत्रभावकायोत्सर्गविकल्पा भवन्तीति ॥६५८॥

दैवसिकादिप्रतिक्रमणे कायोत्सर्गस्य प्रमाणमाह—

अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया ।
उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण ॥६५९॥

अष्टभिरधिकं शतमष्टोत्तरशतं[1] दैवसिके प्रतिक्रमणे दैवसिकप्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे उच्छ्वासा-

---

आचारवृत्ति—देव, मनुष्य या तिर्यंच के द्वारा किए गये, अथवा बिजली, वज्रपात आदि अचेतन कृत हुए जो कोई भी उपसर्ग हैं, कायोत्सर्ग में स्थित हुआ, उन सबको मैं सम्यक् प्रकार से सहन करता हूँ। उपसर्गों के आ जाने पर कायोत्सर्ग करना चाहिए अथवा कायोत्सर्ग से स्थित हुए हैं और यदि उपसर्ग आ जाते हैं तो भी उन्हें सहन करना चाहिए। ऐसा अभिप्राय है।

कायोत्सर्ग के प्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—एक वर्ष तक कायोत्सर्ग उत्कृष्ट है और अन्तर्मुहूर्त का जघन्य होता है। शेष कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में होते हैं ॥६५८॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग का द्वादशमासपर्यंत उत्कृष्ट प्रमाण है, अन्तर्मुहूर्त मात्र जघन्य प्रमाण है। तथा वर्ष के और अन्तर्मुहूर्त के मध्य में दिवस, रात्रि, अहोरात्र आदि भेदरूप अनेकों विकल्प होते हैं। ये सब मध्यमकाल के कहलाते हैं। अपनी शक्ति की अपेक्षा से बहुत से स्थान विशेषों में ये कायोत्सर्ग करना चाहिए। काल, द्रव्य, क्षेत्र और भाव से भी कायोत्सर्ग के भेद हो जाते हैं।

दैवसिक आदि प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—अप्रमत्त साधु को वीर भक्ति में दैवसिक के एक सौ आठ, रात्रिक के इससे आधे—चौवन और पाक्षिक के तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए ॥६५९॥

आचारवृत्ति—दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना

---

1 क °अष्टशतं।

नामष्टोत्तरशतं कर्त्तव्यं । कल्लद्धं रात्रिकप्रतिक्रमणविषयकायोत्सर्गे चतुःपंचाशदुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । पाक्षिके च प्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे त्रीणि शतानि उच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्थातव्यानि विधेयानि । नियमान्ते वीरभक्तिकायोत्सर्गकाले अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन यत्नवता विशेषे[1] सिद्धभक्तिप्रतिक्रमणभक्तिचतुर्विंशतितीर्थकरभक्तिकरणकायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या इति ॥६५६॥

चातुर्मासिकसांवत्सरिककायोत्सर्गप्रमाणमाह—

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे[2] य पंचसदा ।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ॥६६०॥

चातुर्मासिके प्रतिक्रमणे चत्वारि शतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि । सांवत्सरिके च प्रतिक्रमणे पंचशतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्थातव्यानि नियमान्ते कायोत्सर्गप्रमाणमेतच्छेषेषु पूर्ववत् द्रष्टव्यः । एवं

चाहिए, अर्थात् छत्तीस वार णमोकार मंत्र का जप करना चाहिए । रात्रिक प्रतिक्रमण विषयक कायोत्सर्ग में चौवन उच्छ्वास अर्थात् अठारह वार णमोकार मन्त्र करना चाहिए । पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमांत—अर्थात् वीर भक्ति के कायोत्सर्ग के समय प्रयत्नशील मुनि को प्रमाद रहित होकर करना चाहिए । तथा विशेष में अर्थात् सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के कायोत्सर्ग में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए अर्थात् नौ वार णमोकार मन्त्र जपना चाहिए ।

भावार्थ—दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में चार भक्तियाँ की जाती हैं—सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर। इनमें से तीन भक्तियों के कायोत्सर्ग में तो २७-२७ उच्छ्वास करना होते हैं और वीर भक्ति में उपर्युक्त प्रमाण से उच्छ्वास होते हैं। पाक्षिक प्रतिक्रमण में ग्यारह भक्तियाँ होती हैं । यथा सिद्ध,चारित्र, सिद्ध,योगि, आचार्य,प्रतिक्रमण, वीर, चतुर्विंशति तीर्थंकर, बृहदालोचनाचार्य, मध्यमालोचनाचार्य और क्षुल्लकालोचनाचार्य । इनमें से नव भक्ति में सत्ताईस उच्छ्वास ही होते हैं, तथा वीर भक्ति में तीन सौ उच्छ्वास होते हैं । एक वार णमोकार मन्त्र के जप में तीन उच्छ्वास होते हैं, यथा—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धांणं, इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास; णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास, णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक पद के उच्चारण में एक उच्छ्वास ऐसे तीन होते हैं ।

चातुर्मासिक और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ और सांवत्सारिक में पांचसौ इस तरह इन पाँच स्थानों में कायोत्सर्ग के उच्छ्वास जानना चाहिए ॥६६०॥

आचारवृत्ति—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ उच्छ्वासों का चिंतवन करना और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में पांच सौ उच्छ्वासों का चिन्तवन करना । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमान्त—वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में होना है । शेष भक्तियों में पूर्ववत् सत्ताईस

---

१ क °विशेषेषु । २ क संवच्छराय ।

कायोत्सर्गोच्छ्‌वासाः पंचसु स्थानेषु ज्ञातव्याः ॥६६०॥

शेषेषु स्थानेषूच्छ्‌वासप्रमाणमाह—

[1]पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥६६१॥

[2]प्राणिवधातीचारे मृषावादातीचारे अदत्तग्रहणातीचारे मैथुनातिचारे परिग्रहातीचारे च कायोत्सर्गे चोच्छ्‌वासानामष्टोत्तरशतं कर्तव्यं नियमान्ते' सर्वत्र द्रष्टव्यं शेषेषु पूर्ववदिति ॥६६१॥

पुनरपि कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा ॥६६२॥

भक्ते पाने च गोचरे प्रतिक्रमणविषये गोचरादागतस्य कायोत्सर्गे पंचविंशतिरुच्छ्‌वासाः कर्तव्या भवन्ति, प्रस्तुतात् ग्रामादन्यग्राम[3] ग्रामान्तरं ग्रामान्तरगमनविषये च कायोत्सर्गे च पंचविंशतिरुच्छ्‌वासाः

उच्छ्‌वास करना चाहिए। इस तरह कायोत्सर्ग के उच्छ्‌वासों का वर्णन पाँच स्थानों में किया गया है।

भावार्थ—पाक्षिक के समान चातुर्मासिक और वार्षिक में भी ग्यारह भक्तियाँ होती हैं जिनके नाम ऊपर भावार्थ में बताए गए हैं। उनमें से वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में उपर्युक्त प्रमाण है। बाकी भक्तियों में नववार णमोकार मन्त्र का जाप्य होता है। इस तरह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक ऐसे पाँच स्थानों के कायोत्सर्ग सम्बन्धी उच्छ्‌-वासों का प्रमाण बताया है।

अब शेष स्थानों में उच्छ्‌वासों का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन दोषों के हो जाने पर कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्‌वास करना चाहिए ॥६६१॥

आचारवृत्ति—प्राणिवध के अतीचार में, असत्यभाषण के अतीचार में, अदत्तग्रहण के अतीचार में, मैथुन के अतीचार में और परिग्रह के अतीचार में कायोत्सर्ग करने में एक सौ आठ उच्छ्‌वास करना चाहिए। यहाँ भी वीरभक्ति के कायोत्सर्ग के उच्छ्‌वासों का यह प्रमाण है, शेष भक्तियों में सत्ताईस उच्छ्‌वास करना चाहिए।

पुनरपि कायोत्सर्ग का प्रमाण बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हंत के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में और मल-मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्‌वास होते हैं ॥६६२॥

आचारवृत्ति—गोचर प्रतिक्रमण अर्थात् आहार से आकर कायोत्सर्ग करने में पच्चीस उच्छ्‌वास करने होते हैं। प्रस्तुत ग्राम से अन्य ग्राम को ग्रामान्तर कहते हैं अर्थात् एक ग्राम से

---

१ क पाण'। २ क प्राण'। ३ क 'न्तेषु।

नामष्टोत्तरशतं कर्त्तव्यं । कल्लद्धं रात्रिकप्रतिक्रमणविषयकायोत्सर्गे चतुःपंचाशदुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । पाक्षिके च प्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे त्रीणि शतानि उच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्थातव्यानि विधेयानि । नियमान्ते वीरभक्तिकायोत्सर्गकाले अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन यत्नवता विशेषे[1] सिद्धभक्तिप्रतिक्रमणभक्तिचतुर्विंशतितीर्थकरभक्तिकरणकायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या इति ॥६५९॥

चातुर्मासिकसांवत्सरिककायोत्सर्गप्रमाणमाह—

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे[2] य पंचसदा ।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ॥६६०॥

चातुर्मासिके प्रतिक्रमणे चत्वारि शतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि । सांवत्सरिके च प्रतिक्रमणे पंचशतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्थातव्यानि नियमान्ते कायोत्सर्गप्रमाणमेतच्छेषेषु पूर्ववत् द्रष्टव्यः । एवं

चाहिए, अर्थात् छत्तीस बार णमोकार मंत्र का जप करना चाहिए । रात्रिक प्रतिक्रमण विषयक कायोत्सर्ग में चौवन उच्छ्वास अर्थात् अठारह बार णमोकार मन्त्र करना चाहिए । पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमांत —अर्थात् वीर भक्ति के कायोत्सर्ग के समय प्रयत्नशील मुनि को प्रमाद रहित होकर करना चाहिए । तथा विशेष में अर्थात् सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के कायोत्सर्ग में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए अर्थात् नौ वार णमोकार मन्त्र जपना चाहिए ।

भावार्थ—दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में चार भक्तियाँ की जाती हैं—सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर । इनमें से तीन भक्तियों के कायोत्सर्ग में तो २७-२७ उच्छ्वास करना होते हैं और वीर भक्ति में उपर्युक्त प्रमाण से उच्छ्वास होते हैं । पाक्षिक प्रतिक्रमण में ग्यारह भक्तियाँ होती हैं । यथा सिद्ध,चारित्र, सिद्ध,योगि, आचार्य,प्रतिक्रमण, वीर, चतुर्विंशति तीर्थंकर, बृहदालोचनाचार्य, मध्यमालोचनाचार्य और क्षुल्लकालोचनाचार्य । इनमें से नव भक्ति में सत्ताईस उच्छ्वास ही होते हैं, तथा वीर भक्ति में तीन सौ उच्छ्वास होते हैं । एक वार णमोकार मन्त्र के जप में तीन उच्छ्वास होते हैं, यथा—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धांण, इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास; णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास, णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक पद के उच्चारण में एक उच्छ्वास ऐसे तीन होते हैं ।

चातुर्मासिक और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ और सांवत्सारिक में पाँचसौ इस तरह इन पाँच स्थानों में कायोत्सर्ग के उच्छ्वास जानना चाहिए ॥६६०॥

आचारवृत्ति—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ उच्छ्वासों का चिंतवन करना और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में पाँच सौ उच्छ्वासों का चिन्तवन करना । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमान्त—वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में होता है । शेष भक्तियों में पूर्ववत् सत्ताईस

---

१ क °विशेषेषु । २ क संवच्छराय ।

कायोत्सर्गोच्छ्वासाः पंचसु स्थानेषु ज्ञातव्याः ॥६६०॥

शेषेषु स्थानेषूच्छ्वासप्रमाणमाह—

[1]पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥६६१॥

[2]प्राणिवधातीचारे मृषावादातीचारे अदत्तग्रहणातीचारे मैथुनातिचारे परिग्रहातीचारे च कायोत्सर्गे चोच्छ्वासानामष्टोत्तरशतं कर्त्तव्यं नियमान्ते' सर्वत्र द्रष्टव्यं शेषेषु पूर्ववदिति ॥६६१॥

पुनरपि कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा ॥६६२॥

भक्ते पाने च गोचरे प्रतिक्रमणविषये गोचरादागतस्य कायोत्सर्गे पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या भवन्ति, प्रस्तुतात् ग्रामादन्यग्रामो ग्रामान्तरं ग्रामान्तरगमनविषये च कायोत्सर्गे च पंचविंशतिरुच्छ्वासाः

उच्छ्वास करना चाहिए। इस तरह कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का वर्णन पांच स्थानों में किया गया है।

भावार्थ—पाक्षिक के समान चातुर्मासिक और वार्षिक में भी ग्यारह भक्तियां होती हैं जिनके नाम ऊपर भावार्थ में बताए गए हैं। उनमें से वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में उपर्युक्त प्रमाण है। बाकी भक्तियों में नववार णमोकार मन्त्र का जाप्य होता है। इस तरह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक ऐसे पांच स्थानों के कायोत्सर्ग सम्बन्धी उच्छ्वासों का प्रमाण बताया है।

अब शेष स्थानों में उच्छ्वासों का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन दोषों के हो जाने पर कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए ॥६६१॥

आचारवृत्ति—प्राणिवध के अतीचार में, असत्यभाषण के अतीचार में, अदत्तग्रहण के अतीचार में, मैथुन के अतीचार में और परिग्रह के अतीचार में कायोत्सर्ग करने में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए। यहां भी वीरभक्ति के कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का यह प्रमाण है, शेष भक्तियों में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए।

पुनरपि कायोत्सर्ग का प्रमाण बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हंत के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में और मल-मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्वास होते हैं ॥६६२॥

आचारवृत्ति—गोचर प्रतिक्रमण अर्थात् आहार से आकर कायोत्सर्ग करने में पच्चीस उच्छ्वास करने होते हैं। प्रस्तुत ग्राम से अन्य ग्राम को ग्रामान्तर कहते हैं अर्थात् एक ग्राम से

---

१ क पाण°। २ क प्राण°। ३ क °षेषु।

कर्त्तव्याः तथार्हच्छय्यायां जिनेन्द्रनिर्वाणसमवसृतिकेवलज्ञानोत्पत्तिनिष्क्रमणजन्मभूमिस्थानेषु वन्दनाभक्तिहेतोर्गतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्याः। तथा श्रमणशय्यायां निषद्यिकास्थानं गत्वाऽऽगतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्यास्तथोच्चारे वहिर्भूमिगमनं कृत्वा[1] प्रस्रवणे प्रस्रवणं च कृत्वा यः कायोत्सर्गः क्रियते तत्र नियमेनेति ॥६६२॥

तथा—

उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥६६३॥

उद्देशे ग्रन्थादिप्रारम्भकाले निर्देशे प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तौ च कायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः। तथा स्वाध्याये स्वाध्यायविषये कायोत्सर्गास्तेषु च सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः। तथा वन्दनायां ये कायोत्सर्गास्तेषु च प्रणिधाने च मनोविकारे चाशुभपरिणामे तत्क्षणोत्पन्ने सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्या इति ॥६६३॥

एवं प्रतिपादितक्रमं कायोत्सर्गं किमर्थमधितिष्ठन्तीत्याह—

काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि।
वोसट्ठचत्तदहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥६६५॥

दूसरे ग्राम में जाने पर कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। जिनेन्द्रदेव की निर्वाण भूमि, समवसरण भूमि, केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान, निष्क्रमणभूमि और जन्मभूमि इन स्थानों की वन्दना भक्ति के लिए जाने पर कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। श्रमण शय्या—मुनियों के निषद्या स्थान में जाकर आने से कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। तथा वहिर्भूमि गमन—मलविसर्जन के वाद और मूत्र विसर्जन के वाद नियम से पच्चीस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

उसी प्रकार और भी वताते हैं—

गाथार्थ—ग्रन्थ के प्रारम्भ में, समाप्ति में, स्वाध्याय में, वन्दना में और अशुभ परिणाम के होने पर कायोत्सर्ग करने में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए ॥६६३॥

आचारवृत्ति—उद्देश—ग्रन्थादि के प्रारम्भ करते समय, निर्देश—प्रारम्भ किए ग्रन्थादि की समाप्ति के समय कायोत्सर्ग में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए। स्वाध्याय के कायोत्सर्गों में तथा वन्दना के कायोत्सर्गों में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए। इसी तरह प्रणिधान—मन के विकार के होने पर और अशुभ परिणाम के तत्क्षण उत्पन्न होने पर सत्ताईस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

इस प्रतिपादित क्रम से कायोत्सर्ग किसलिए करते हैं ? सो ही वताते हैं—

गाथार्थ—मोक्षमार्ग में स्थित होकर ईर्यापथ के अतीचार शोधन हेतु शरीर से ममत्व छोड़कर साधु दुःखों के क्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं ॥६६४॥

---

१ क कृत्वा यः कायोत्सर्गः क्रियते तत्र गतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे नियमेन कर्त्तव्या इति।

ईर्यापथातीचारनिमित्तं कायोत्सर्गं मोक्षमार्गे स्थित्वा व्युत्सृष्टत्यक्तदेहाः सन्तः शुद्धाः कुर्वन्ति दुःख-क्षयार्थमिति ॥६६४॥

तथा—

भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासियवरिसचरिमेसु ।
[1]णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ॥६६५॥*

भक्तपानग्रामान्तरचातुर्मासिकसांवत्सरिकचरमोत्तमार्थविषयं ज्ञात्वा कायोत्सर्गे तिष्ठति दैवसिका-दिषु च धीरा अत्यर्थं दुःखक्षयार्थं नान्येन कार्येणेति ॥६६५॥

यदर्थं कायोत्सर्गं करोति तमेवार्थं चिन्तयतीत्याह—

काओसग्गह्मि ठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अदिचारं ।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो ॥६६६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

तथा और भी हेतु बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन, पान, ग्रामान्तर गमन, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इनको जानकर धीर मुनि अत्यर्थ रूप से दुःखक्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं ॥६६५॥

आचारवृत्ति—आहार, विहार, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन विषयों को जानकर धैर्यवान् साधु अतिशय रूप से दुःखक्षय के लिए दैवसिक आदि प्रतिक्रमण क्रियाओं के कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं, अन्य प्रयोजन के लिए नहीं।

भावार्थ—साधु अपने आहार, विहार आदि चर्याओं के दोष शोधन में तथा पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण सम्बन्धी क्रियाओं में कायोत्सर्ग धारण करते हैं, सो केवल संसार के दुःखों से छूटने के लिए ही करते हैं, न कि अन्य किसी लौकिक प्रयोजन आदि के लिए, ऐसा अभिप्राय समझना।

साधु जिस लिए कायोत्सर्ग करते हैं उसी अर्थ का चिन्तवन करते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग में स्थित हुआ साधु ईर्यापथ के अतिचार के विनाश का चिन्तवन करता हुआ उन सबको समाप्त करके धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करे ॥६६६॥

---

1 क णाऊण वंति धीरा घणिदं ।

*फलटन से गाथा में अन्तर है—

एवं दिवसियराइयपक्खियचादुम्मासियवरिसचरिमेसु ।
णादूण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ॥

अर्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन सम्बन्धी प्रतिक्रमणों के विषय को जानकर धीर साधु दुःखों का अत्यन्त क्षय करने के लिए कायोत्सर्ग धारण करते हैं, अन्य प्रयोजन के लिए नहीं।

कायोत्सर्गे स्थितः सन् ईर्यापथस्यातीचारं विनाशं चिन्तयन् तं नियमं सर्वं निरवशेषं समाप्य समाप्ति नीत्वा पश्चाद्धर्मध्यानं शुक्लध्यानं च चिन्तयत्विति ॥६६६॥

तथा—

तह दिवसियरादियपक्खियचदुमासियवरिसचरिमेसु।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो ॥६६७॥

एवं यथा ईर्यापथातीचारार्थं दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकोत्तमार्थान् नियमान् तान् समाप्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं ध्यायेत्, न तावन्मात्रेण तिष्ठेदित्यनेनालस्याद्यभावः कथितो भवतीति ॥६६७॥

कायोत्सर्गस्य दृष्टं फलमाह—

काओसग्गह्मि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ।
तह भिज्जदि कम्मरयं काउस्सग्गस्स करणेण ॥६६८॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग में स्थित होकर साधु ईर्यापथ के अतीचार के विनाश का चिन्तवन करते हुए उन सब नियमों को समाप्त करके पुनः धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अवलम्बन लेवे।

उसी को और बताते हैं—

गाथार्थ—उसी प्रकार से दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन सब नियमों को समाप्त करके धर्म और शुक्ल ध्यान का चिंतवन करे ॥६६७॥

आचारवृत्ति—जैसे पूर्व की गाथा में ईर्यापथ के अतीचार के लिए बताया है वैसे ही दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थ इन नियम—प्रतिक्रमणों को समाप्त करके—पूर्ण करके पुनः वह साधु धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को ध्यावे, उतने मात्र से ही संतोष नहीं कर लेवे, इस कथन से आलस्य आदि का अभाव कहा गया है।

भावार्थ—ईर्यापथ, दैवसिक, रात्रिक आदि भेदों से प्रतिक्रमण के सात भेद कहे गए हैं, सो ये अपने-अपने नामों के अनुसार उन-उन सम्बन्धी दोषों के दूर करने हेतु ही हैं। इन प्रतिक्रमणों के मध्य कायोत्सर्ग करना होता है, उसके उच्छ्वासों का प्रमाण बता चुके हैं। यहाँ यह कहना है कि इन प्रतिक्रमणों को पूर्ण करके साधु उतने मात्र से ही संतुष्ट न हो जावे, किन्तु आगे आलस्य को छोड़कर धर्मध्यान करे या शक्तिवान् है तो शुक्लध्यान करे, प्रतिक्रमण मात्र से ही अपने को कृतकृत्य न मान बैठे।

कायोत्सर्ग का प्रत्यक्ष फल दिखाते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग करने पर जैसे अंग-उपांगों की संधियाँ भिद जाती हैं। वैसे ही कायोत्सर्ग के करने से कर्मरज अलग हो जाती है ॥६६८॥

कायोत्सर्गे हि स्फुटं कृते यथा भिद्यन्तेंऽगोपांगसंधयः शरीरावयवास्तथा भिद्यते कर्मरजः कायोत्सर्ग-करणेनेति ॥६६८॥

द्रव्यादिचतुष्टयापेक्षमाह—

> बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं।
> काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ॥६६९॥

बलवीर्यं चौषधाद्याहारशक्ति वीर्यान्तरायक्षयोपशमं वाऽऽश्रित्य क्षेत्रबलं कालबलं चाश्रित्य शरीरं व्याध्यनुपहतसंहननवज्रर्षभनाराचादिकमपेक्ष्य कायोत्सर्गं कुर्यात्, इमांस्तु वक्ष्यमाणान् दोषान्परि-हरन्निति ॥६६९॥

तान् दोषानाह—

> घोडय लदा य खंभे कुड्डे माले सवरवधू णिगले।
> लंबुत्तरथणदिट्ठी वायस खलिणे जुग कविट्ठे ॥६७०॥

> सीसपकंपिय मुइयं अंगुलि भूविकार वारुणीपेयी।
> काओसग्गेण ठिदो एदे दोसे परिहरेज्जो ॥६७१॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग में हलन-चलन रहित शरीर के स्थिर होने से जैसे शरीर के अवयव भिद जाते हैं वैसे ही कायोत्सर्ग के द्वारा कर्मधूलि भी आत्मा से पृथक् हो जाती है।

द्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा को कहते हैं—

गाथार्थ—बल-वीर्य, क्षेत्र, काल और शरीर के संहनन का आश्रय लेकर इन दोषों का परिहार करते हुए साधु कायोत्सर्ग करे ॥६६९॥

आचारवृत्ति—औषधि और आहार आदि से हुई शक्ति को बल कहते हैं तथा वीर्या-न्तराय के क्षयोपशम की शक्ति को वीर्य कहते हैं। इन बल और वीर्य को देखकर तथा क्षेत्रबल और कालबल का भी आश्रय लेकर व्याधि से रहित शरीर एवं वज्रवृषभनाराच आदि संहनन की भी अपेक्षा करके साधु कायोत्सर्ग करे। तथा आगे कहे जाने वाले दोषों का परिहार करते हुए कायोत्सर्ग धारण करे। अर्थात् अपनी शरीर शक्ति, क्षेत्र, काल आदि को देखकर उनके अनुरूप कायोत्सर्ग करे। अधिक शक्ति होने से अधिक समय तक कायोत्सर्ग में स्थित रह सकती है अतः अपनी शक्ति को न छिपाकर कायोत्सर्ग करे।

कायोत्सर्ग के दोषों को कहते हैं—

गाथार्थ—घोटक, लता, स्तम्भ, कुड्य, माला, शबरवधू, निगड, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस, खलिन, युग और कपित्थ—ये तेरह दोष हुए।

शीश-प्रकम्पित, मूकत्व, अंगुलि, भ्रूविकार और वारुणीपायी ये दोष हुए, इस प्रकार इन अठारह दोषों का परिहार करे।

आलोगणं दिसाणं गीवाउण्णामणं पणमणं च ।
णिट्ठीवणंगमरिसो काउसग्गह्मि वज्जिज्जो ॥६७२॥

घोडय घोटकस्तुरगः स यथा एकं पादमुत्क्षिप्य विनम्य वा तिष्ठति तथा यः कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य घोटकसदृशो घोटकदोषः, तथा लता इवांगानि चालयन्यः तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य लतादोषः। स्तंभमाश्रित्य यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य स्तंभदोष । स्तंभवत् शून्यहृदयो वा तत्साहचर्येण स एवोच्यते । तथा कुड्यमाश्रित्य कायोत्सर्गेण यस्तिष्ठति तस्य कुड्यदोषः। साहचर्यादुपलक्षणमात्रमेतदन्यदप्याश्रित्य न स्थातव्यमिति ज्ञापयति, तथा मालापीठाद्युपरि स्थानं अथवा मस्तकादूर्ध्वं यत्तदाश्रित्य मस्तकस्योपरि यदि किंचिदत्र गतिस्तथापि यदि कायोत्सर्गः क्रियते स मालदोषः। तथा शबरवधूरिव जंघाभ्यां जघनं निपीड्य कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य शबरवधूदोषः, तथा निगडपीडित इव पादयोर्महदन्तरालं कृत्वा यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य निगडदोषः, तथा लंबमानो नाभेरूर्ध्वभागो भवति वा कायोत्सर्गस्यस्योन्नमनमधोनमनं वा च भवति तस्य

दश दिशाओं का अवलोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन और अंगामर्श कायोत्सर्ग में इन बत्तीस दोषों का परिहार करे ॥६७०-६७२॥

आचारवृत्ति—वन्दना के सदृश कायोत्सर्ग के भी बत्तीस दोष होते हैं, उनको पृथक्-पृथक् दिखाते हैं।

१. घोटक—घोड़ा जैसे एक पैर को उठाकर अथवा झुकाकर खड़ा होता है उसी प्रकार से जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके घोटक सदृश यह घोटक नाम का दोष होता है।

२. लता—लता के समान अंगों को हिलाते हुए जो कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह लता दोष होता है।

३. स्तम्भ—जो खम्भे का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करते हैं अथवा स्तम्भ के समान शून्य हृदय होकर करते हैं उसके साहचर्य से यह वही दोष हो जाता है अर्थात् उनके यह स्तम्भ दोष होता है।

४. कुड्य—भित्ती—दीवाल का आश्रय लेकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह कुड्य दोष होता है। अथवा साहचर्य से यह उपलक्षण मात्र है। इससे अन्य का भी आश्रय लेकर नहीं खड़े होना चाहिए ऐसा सूचित होता है।

५. माला—माला—पीठ-आसन आदि के ऊपर खड़े होना अथवा सिर के ऊपर कोई रज्जु वगैरह का आश्रय लेकर अथवा सिर के ऊपर जो कुछ वहाँ हो, फिर भी कायोत्सर्ग करना वह मालदोष है।

६. शबरवधू—भिल्लनी के समान दोनों जंघाओं से जंघाओं को पीड़ित करके जो कायोत्सर्ग से खड़े होते हैं उनके यह शबरवधू नाम का दोष है।

७. निगड—वेड़ी से पीड़ित हुए के समान पैरों में बहुत सा अन्तराल करके जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके निगडदोष होता है।

- लम्बोत्तर—नाभि से ऊपर का भाग लम्बा करके कायोत्सर्ग करना अथवा कायो-

लंबोत्तरदोषो भवति। तथा यस्य कायोत्सर्गस्थस्य स्तनयोर्दृष्टिरात्मीयौ स्तनौ यः पश्यति तस्य स्तनदृष्टिनामा दोषः। तथा यः कायोत्सर्गस्थो वायस इव काक इव पार्श्वं पश्यति तस्य वायसदोषः। तथा यः खलीनपीडितोऽश्व इव दन्तकटकटं मस्तकं कृत्वा कायोत्सर्गं करोति तस्य खलीनदोषः। तथा यो युगनिपीडितबलीवर्दवत् ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य युगदोषः। तथा यः कपित्थफलवन्मुष्टिं कृत्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य कपित्थदोषः।।६७०।।

तथा—

शिरःप्रकंपितं कायोत्सर्गेण स्थितो यः शिरः प्रकंपयति चालयति तस्य शिरःप्रकंपितदोषः, मूक इव कायोत्सर्गेण स्थितो मुखविकारं नासिकाविकारं च करोति तस्य मूकितदोषः, तथा यः कायोत्सर्गेण स्थितोंऽगुलि-गणनां करोति तस्यांगुलिदोषः, तथा भ्रूविकारः कायोत्सर्गेण स्थितो यो भ्रूविक्षेपं करोति तस्य भ्रूविकार-दोषः पादांगुलिनर्तनं वा, तथा यो वारुणीपायीव—सुरापायीवेति घूर्णमानः कायोत्सर्गं करोति तस्य वारुणी-पायीदोषः, तस्मादेतान् दोषान् कायोत्सर्गेण स्थितः सन् परिहरेद्वर्जयेदिति।।६७१।।

तथेमांश्च दोषान् परिहरेदित्याह—

त्सर्ग में स्थित होकर शरीर को अधिक ऊँचा करना या अधिक झुकाना सो लम्बोत्तर दोष है।

९. स्तनदृष्टि—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जिसकी दृष्टि अपने स्तनभाग पर रहती है उसके स्तनदृष्टि नाम का दोष होता है।

१०. वायस—कायोत्सर्ग में स्थित होकर कौवे के समान जो पार्श्वभाग को देखते हैं उनके वायस दोष होता है।

११. खलीन—लगाम से पीडित हुए घोड़े के समान दाँत कटकटाते हुए मस्तक को करके जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके खलीन दोष होता है।

१२. युग—जूआ से पीड़ित हुए बैल के समान गर्दन पसार कर जो कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह युग नाम का दोष होता है।

१३. कपित्थ—जो कपित्थ—कैथे के फल के समान मुट्ठी को करके कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह कपित्थ दोष होता है।

१४. शिरःप्रकंपित—कायोत्सर्ग में स्थित हुए जो शिर को कंपाते हैं उनके शिरः-प्रकंपित दोष होता है।

१५. मूकत्व—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जो मूक के समान मुखविकार व नाक सिकोड़ना करते हैं उनके मूकित नाम का दोष होता है।

१६. अंगुलि—जो कायोत्सर्ग से स्थित होकर अंगुलियों से गणना करते हैं उनके अंगुलि दोष होता है।

१७. भ्रूविकार—जो कायोत्सर्ग से खड़े हुए भौंहों को चलाते हैं या पैरों की अंगुलियाँ नचाते हैं उनके भ्रूविकार दोष होता है।

१८. वारुणीपायी—मदिरापायी के समान झूमते हुए जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके

कायोत्सर्गेण स्थितो दिशामालोकनं वर्जयेत्, तथा कायोत्सर्गेण स्थितो ग्रीवोन्नमनं वर्जयेत् तथा कायोत्सर्गेण स्थितः सन् प्रणमनं च वर्जयेत्, तथा कायोत्सर्गेण स्थितो निष्ठीवनं पादकरणं च वर्जयेत् तथा कायोत्सर्गेण स्थितोऽङ्गामर्शं शरीरपरामर्शं वर्जयेदेतेऽपि दोषाः सन्त्यतो वर्जनीयाः। दशानां दिशामवलोकनानि दश दोषाः, शेषा एकैका इति ॥६७२॥

यथा यथोक्तं कायोत्सर्गं[1] कुर्वन्ति तथाह—

णिक्कूडं सविसेसं बलाणरूवं वयाणुरूवं च।
काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥६७३॥

निःकूटं मायाप्रपंचान्निर्गतं, सह विशेषेण वर्त्तत इति सविशेषस्तं सविशेषं विशेषतासमन्वितं बलानुरूपं स्वशक्त्यनुरूपं, वयोऽनुरूपं, बालयौवनवार्द्धक्यानुरूपं तथा वीर्यानुरूपं कालानुरूपं च कायोत्सर्गं धीरा दुःखक्षयार्थं कुर्वन्ति तिष्ठन्तीति ॥६७३॥

मायां प्रदर्शयन्नाह—

वारुणीपायी दोष होता है।

१६ से २८. दिशा अवलोकन—कायोत्सर्ग से स्थित हुए दिशाओं का अवलोकन करना। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः। इन दश दिशाओं के निमित्त से दश दोष हो जाते हैं। ये दिशावलोकन दोष हैं।

२६. ग्रीवोन्नमन—कायोत्सर्ग में स्थित होकर गरदन को अधिक ऊंची करना यह ग्रीवा उन्नमन दोष है।

३०. प्रणमन—कायोत्सर्ग में स्थित हुए गरदन को अधिक झुकाना या प्रणाम करना यह प्रणमन दोष है।

३१. निष्ठीवन—कायोत्सर्ग में स्थित होकर खखारना, थूकना यह निष्ठीवन दोष है।

३२. अंगामर्श—कायोत्सर्ग में स्थित हुए शरीर का स्पर्श करना यह अंगामर्श दोष है।

कायोत्सर्ग करते समय इन बत्तीस दोषों का परिहार करना चाहिए।

जिन-जिन विशेषताओं से यथोक्त कायोत्सर्ग को करते हैं उन्हें ही बताते हैं—

गाथार्थ—धीर मुनि मायाचार रहित, विशेष सहित, बल के अनुरूप और उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग को दुःखों के क्षयहेतु करते हैं ॥६७३॥

आचारवृत्ति—धीर मुनि दुःखों का क्षय करने के लिए माया प्रपंच से रहित, विशेषताओं से सहित, अपनी शक्ति के अनुरूप और अपनी बाल, युवा या वृद्धावस्था के अनुरूप तथा अपने वीर्य के अनुरूप एवं काल के अनुरूप कायोत्सर्ग को करते हैं।

माया को दिखलाते हैं—

---

१ क करोति।

जो पुण तीसदिवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणाय समो ।
विसमो य कूडवादी णिव्विण्णाणी य सोय जडो ॥६७४॥

यः पुनस्त्रिशद्वर्षप्रमाणो यौवनस्थः शक्तः सप्ततिसंवत्सरेण सप्ततिसंवत्सरायुःप्रमाणेन वृद्धेन निःशक्तिकेन पारणेनानुष्ठानेन कायोत्सर्गादिसमाप्त्या समः सदृशशक्तिको निःशक्तिकेन सह यः स्पर्द्धां करोति सः साधुर्विषमश्च शान्तरूपो न भवति कूटवादी मायाप्रपंचतत्परो निर्विज्ञानी विज्ञानरहितश्चारित्ररहितश्च जडश्च मूर्खो, न तस्येहलोको नाऽपि परलोक इति ॥६७४॥

कायोत्सर्गस्य भेदानाह—

उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठउट्ठिदो चेव ।
उवविट्ठणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो ॥६७५॥

उत्थितश्चासावुत्थितश्चोत्थितोत्थितो महतोऽपि महान्, तथोत्थितनिविष्टः पूर्वमुत्थितः पश्चान्निविष्ट उत्थितनिविष्टः, कायोत्सर्गेण स्थितोप्यसावासीनो द्रष्टव्यः। उत्थितः, उपविष्टो भूत्वा स्थितो आसीनोऽप्यसो कायोत्सर्गस्थश्चैव । तथोपविष्टो[1]ऽपि चासावासीनः। एवं कायोत्सर्गः चत्वारि स्थानानि यस्यासौ

गाथार्थ—जो साधु तीस वर्ष की वय वाला है पुनः सत्तर वर्ष वाले के कायोत्सर्ग से समानता करता है वह विषम है, कूटवादी, अज्ञानी और मूढ़ है ॥६७४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि तीस वर्ष की उम्रवाला है—युवावस्था में स्थित है, शक्तिमान है फिर भी यदि वह सत्तर वर्ष की आयु वाले वृद्ध ऐसे अशक्त मुनि के कायोत्सर्ग आदि की समाप्ति रूप अनुष्ठान के साथ बराबरी करता है अर्थात् आप शक्तिमान होकर भी अशक्त मुनि के साथ स्पर्द्धा करता है वह साधु विषम—शान्तरूप नहीं है, माया प्रपंच में तत्पर है, निर्विज्ञानी—विज्ञान रहित और चारित्ररहित है तथा मूर्ख है। न उसका इहलोक ही सुधरता है और न परलोक ही सुधरता है। अर्थात् अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। वृद्धावस्था में शक्ति के ह्रास हो जाने से स्थिरता कम हो जाती है किन्तु युवावस्था में प्रत्येक अनुष्ठान विशेष और अधिक हो सकते हैं।

कायोत्सर्ग के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्टनिविष्ट ऐसे चार भेदरूप कायोत्सर्ग होता है ॥६७५॥

आचारवृत्ति—उत्थितोत्थित—दोनों प्रकार से खड़े होकर जो कायोत्सर्ग होता है अर्थात् जिसमें शरीर से भी खड़े हुए हैं और परिणाम भी धर्म या शुक्ल ध्यान रूप हैं वह कायोत्सर्ग महान् से भी महान् है। पूर्व में उत्थित और पश्चात् निविष्ट अर्थात् कायोत्सर्ग में शरीर से तो खड़े हैं फिर भी भावों से बैठे हुए हैं अर्थात् आर्त या रौद्रध्यान रूप भाव कर रहे हैं, इनका कायोत्सर्ग उत्थित-निविष्ट कहलाता है। जो बैठे हुए भी खड़े हुए हैं अर्थात् बैठकर पद्मासन से कायोत्सर्ग करते हुए भी जिनके परिणाम उज्ज्वल हैं उनका यह कायोत्सर्ग उप-

---

[1] क °विष्टनिविष्टोऽपि चासावासीनादप्यासीनः ।

चतुःस्थानश्चतुर्विकल्प इति ॥६७५॥

उक्तं च—

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥१॥

आर्त्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥२॥

[1]धर्मशुक्लद्वयं यत्रोपविष्टेन विधीयते।
तामुपविष्टोत्थितां तांका निगदंति महाधियः ॥३॥

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुपविष्टोत्थितांकां निगदंति महाधियः ॥४॥

धर्मशुक्लद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते।
उत्थितोत्थितनाम्ना तामाभाषन्ते विपश्चितः[2] ॥५॥

उत्थितोत्थितकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

विष्टोत्थित है। तथा जो शरीर से भी बैठे हुए हैं और भावों से भी, उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टनिविष्ट कहलाता है। इस तरह कायोत्सर्ग के चार विकल्प हो जाते हैं।

अन्यत्र कहा भी है—

श्लोकार्थ—देह से ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग कहलाता है। उपविष्टोपविष्ट आदि के भेद से वह चार प्रकार का हो जाता है ॥१॥

जिस कायोत्सर्ग में बैठे हुए मुनि आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों का चिन्तवन करते हैं वह उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग कहलाता है ॥२॥

जिस कायोत्सर्ग में बैठे हुए मुनि धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करते हैं बुद्धिमान् लोग उसको उपविष्टोत्थित कहते हैं ॥३॥

जिस कायोत्सर्ग में खड़े हुए साधु आर्तरौद्र का चिन्तवन करते हैं उसको उत्थितोपविष्ट कहते हैं ॥४॥

जिस कायोत्सर्ग में खड़े होकर मुनि धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करते हैं विद्वान लोग उसको उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५॥

उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग का लक्षण कहते हैं—

---

१ क धर्म शुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
तामासीनोत्थितां लक्ष्मां निगदन्ति महाधियः ॥

२ क उपासकाचारे उक्तमास्ते।

धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम ॥६७६॥

धर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं द्वे ध्याने यः कायोत्सर्गस्थितः सन् ध्यायति तस्यैव इह कायोत्सर्गं उत्थितोत्थितो नामेति ॥६७६॥

तयोत्थितनिविष्टकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठदो णाम ॥६७७॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानं च द्वे ध्याने यः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितो ध्यायति तस्यैव कायोत्सर्गं उत्थितनिविष्टनामेति ॥६७७॥

धम्मं सुक्कं च दवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो उवविट्ठउट्ठिदो णाम ॥६७८॥

धर्म्यं शौक्ल्यं च द्वे ध्याने यो निविष्टो ध्यायति तस्यैव कायोत्सर्गं इहागमे उपविष्टोत्थितो नामेति ॥६७८॥

उपविष्टोपविष्टकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम ॥६७९॥

गाथार्थ—जो ध्यान में खड़े हुए धर्म और शुक्ल इन दो ध्यान को करते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उत्थितोत्थित नाम वाला है ॥६७६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उत्थितनिविष्ट कायोत्सर्ग कहते हैं—

गाथार्थ—जो कायोत्सर्ग में स्थित हुए आर्त और रौद्र इन दो ध्यान को ध्याते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उत्थितनिविष्ट नाम वाला है ॥६७७॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उपविष्टोत्थित का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो बैठे हुए धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों को ध्याते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित नाम वाला है ॥६७८॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग का लक्षण करते हैं—

गाथार्थ—जो बैठे हुए ध्यान में आर्त और रौद्र का ध्यान करते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उपविष्टोपविष्ट नामवाला है ॥६७९॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानं च द्वे ध्याने यः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितो ध्यायति तस्यैप कायोत्सर्ग उपविष्टोपविष्टो नाम ॥६७९॥

कायोत्सर्गेण स्थितः शुभं मनःसंकल्पं कुर्यात् परन्तु कः शुभो मनःसंकल्प इत्याह—

दंसणणाणचरित्ते उवओगे संजमे विउस्सग्गे ।
पच्चक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु ॥६८०॥

विज्जाचरणमहव्वदसमाधिगुणबंभचेरछक्काए ।
खमणिग्गह अज्जवमद्दवमुत्तीविणए च सद्दहणे ॥६८१॥

एवंगुणो महत्थो मणसंकप्पो पसत्थ वीसत्थो ।
संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासणसम्मदं सव्वं ॥६८२॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु यो मनःसंकल्प उपयोगे ज्ञानदर्शनोपयोगे यश्चित्तव्यापारः संयमविषये यः परिणामः कायोत्सर्गस्य हेतोर्यत् ध्यानं प्रत्याख्यानग्रहणे यः परिणामः करणेषु पंचनमस्कारषडावश्यकासिकानिषद्यकाविषये शुभयोगस्तथा प्रणिधानेषु धर्मध्यानादिविषयपरिणामः समितिषु समितिविषयः परिणामः ॥६८०॥

तथा—

विद्यायां द्वादशांगचतुर्दशपूर्वविषयः संकल्पः, आचरणे भिक्षाशुद्ध्यादिपरिणामः, महाव्रतेषु अहिंसा-

---

आचारवृत्ति—गाथा सरल है ।

कायोत्सर्ग से स्थित हुए मुनि शुभ मनःसंकल्प करें, तो पुनः शुभ मनःसंकल्प क्या है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र में, उपयोग में, संयम में, व्युत्सर्ग में, प्रत्याख्यान में, क्रियाओं में, धर्मध्यान आदि परिणाम में, तथा समितियों में ॥६८०॥

विद्या, आचरण, महाव्रत, समाधि, गुण और ब्रह्मचर्य में, छह जीवकायों में, क्षमा, निग्रह, आर्जव, मार्दव, मुक्ति, विनय तथा श्रद्धान में ॥६८१॥

मन का संकल्प होना, सो इन गुणों से विशिष्ट महार्थ, प्रशस्त और विश्वस्त संकल्प है। यह सब जिनशासन में सम्मत है ऐसा जानो ॥६८२॥

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो मन का संकल्प है वह शुभ संकल्प है, ऐसे ही उपयोग—ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग में जो चित्त का व्यापार, संयम के विषय में परिणाम, कायोत्सर्ग के लिए ध्यान, प्रत्याख्यान के ग्रहण में परिणाम तथा करण में अर्थात् पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रिया, आसिका और निषद्यिका इन तेरह क्रियाओं के विषय में शुभयोग तथा प्रणिधान—धर्म-ध्यान आदि विषयक परिणाम और समिति विषयक जो परिणाम है वह सब शुभ है ।

विद्या—द्वादशांग और चौदह पूर्व विषयक संकल्प अर्थात् उस विषयक परिणाम, आचरण—भिक्षा शुद्धि आदि रूप परिणाम, महाव्रत—अहिंसा आदि पांच महाव्रत विषयक

परिवार: पुत्रकलत्रादिक: शिष्यसामान्यसाधुश्रावकादिक: ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वद्रव्यादिका, सत्कार: कार्यादिष्वग्रत: करणं पूजनमर्चनं अशनं भक्तादिकं पानं सुगन्धजलादिकं हेतु: कारणं वा विकल्पार्थ:, लयनं उत्कीर्णपर्वतप्रदेश:, शयनं पल्यंकतूलिकादिकं, आसनं वेत्रासनादिकं, भक्तो भक्तियुक्तो जन आत्मभक्तिर्वा, प्राण: सामर्थ्यं दशप्रकारा: प्राणा वा, कामो मैथुनेच्छा, अर्थो द्रव्यादिप्रयोजनं, इत्येवंकारणेन कायोत्सर्गं य: करोति परिवारनिमित्तं विभूतिनिमित्तं सत्कारपूजानिमित्तं चाशनपाननिमित्तं वा लयनशयनासननिमित्तं मम भक्तो जनो भवत्विति मदीया भक्तिर्वा ख्यातिं गच्छत्विति, मदीयं प्राणसामर्थ्यं लोको जानातु मम प्राणरक्षको देवो वा मनुष्यो वा भवत्विति हेतो य: कायोत्सर्गं करोति, कामहेतुरर्थहेतुश्च य: कायोत्सर्ग: स सर्वोऽप्यप्रशस्तो मन:संकल्प इति ॥६८३॥

करोतु, मां प्रभावयन्तु सर्वेऽपि मदीयान् गुणान् सर्वेऽपि विस्तारयन्त्वित्यर्थं कायोत्सर्गेण ध्यानमिदमप्रशस्तमेवंविधो मनःसंकल्पोऽविश्वस्तोऽविश्वसनीयो न चिन्तनीयोऽप्रशस्तो यत इति ॥६८४॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिमुपसंहरन्नाह—

काउस्सग्गणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
संजमतवड्ढियाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥६८५।

कायोत्सर्गनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन, संयमतपोवृद्धिमिच्छतां निर्ग्रन्थानां महर्षीणामिति, नात्र पौनरुक्त्यमाशंकनीयं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहणात्सूत्रवार्तिकस्वरूपेण कथनाच्चेति ॥६८५॥

षडावश्यकचूलिकामाह—

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति ॥६८६॥

आवश्यकानां फलमाह—अनया गाथया सर्वैरावश्यकैर्नियुक्तः सम्पूर्णैरस्खलितैः समताद्यावश्य-

---

करें, सभी लोग मेरे गुणों का विस्तार करें, इन प्रयोजनों से जो कायोत्सर्ग करते हैं उनका यह सब ध्यान अप्रशस्त कहलाता है। इस प्रकार का मनःसंकल्प अविश्वस्त है अर्थात् ये सब चिन्तवन अप्रशस्त हैं ऐसा समझना चाहिए।

कायोत्सर्ग निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संयम, तप और ऋद्धि के इच्छुक, निर्ग्रंथ महर्षियों के लिए मैंने संक्षेप से यह कायोत्सर्ग निर्युक्ति कही है ॥६८५॥

आचारवृत्ति—संयम और तप की वृद्धि की इच्छा रखनेवाले निर्ग्रंथ महर्षियों की कायोत्सर्ग निर्युक्ति मैंने संक्षेप से कही है। यहाँ पर पुनरुक्त दोष नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यों का संग्रह किया गया है, तथा सूत्र और वार्तिक के स्वरूप से कथन किया गया है। अर्थात् जैसे सूत्र को पुनः वार्तिक के द्वारा स्पष्ट किया जाता है उसमें पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता है उसी प्रकार से यहाँ द्रव्यार्थिक शिष्यों के लिए संक्षिप्त वर्णन किया गया है पुनः पर्यायार्थिक शिष्यों के लिए उसी के भेद-प्रभेदों से विशेष वर्णन भी किया गया है। ऐसा समझना।

अब छह आवश्यकों की चूलिका का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—सर्व आवश्यकों से परिपूर्ण हुए मुनि नियम से सिद्ध हो जाते हैं ऐसा जानना। जो परिपूर्ण रूप नहीं करते हैं वे नियम से स्वर्गादि में आवास करते हैं ॥६८६॥

आचारवृत्ति—इस गाथा के द्वारा आवश्यक क्रियाओं का फल कह रहे हैं—जो सम्पूर्ण—अस्खलित रूप से समता आदि छहों आवश्यकों से परिणत हो चुके हैं वे निश्चय से सिद्ध हैं। अर्थात् यहाँ भावी में वर्तमान का बहुप्रचार—उपचार है क्योंकि ये मुनि अंतर्मुहूर्त के ऊपर सिद्ध हो जाते हैं। अथवा सिद्ध ही सर्व आवश्यकों से युक्त हैं—सम्पूर्ण हैं,

परिवारः पुत्रकलत्रादिकः शिष्यसामान्यसाधुश्रावकादिकः ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वद्रव्यादिका, सत्कारः कार्यादिष्वग्रतः करणं पूजनमर्चनं अशनं भक्तादिकं पानं सुगन्धजलादिकं हेतुः कारणं वा विकल्पार्थः, लयनं उत्कीर्णपर्वतप्रदेशः, शयनं पल्यंकतूलिकादिकं, आसनं वेत्रासनादिकं, भक्तो भक्तियुक्तो जन आत्मभक्तिर्वा, प्राणः सामर्थ्यं दशप्रकाराः प्राणा वा, कामो मैथुनेच्छा, अर्थो द्रव्यादिप्रयोजनं, इत्येवंकारणेन कायोत्सर्गं यः करोति परिवारनिमित्तं विभूतिनिमित्तं सत्कारपूजानिमित्तं चाशनपाननिमित्तं वा लयनशयनासननिमित्तं मम भक्तो जनो भवत्विति मदीया भक्तिर्वा ख्यातिं गच्छत्विति, मदीयं प्राणसामर्थ्यं लोको जानातु मम प्राणरक्षको देवो वा मनुष्यो वा भवत्विति हेतो यः कायोत्सर्गं करोति, कामहेतुरर्थहेतुश्च यः कायोत्सर्गः स सर्वोऽप्यप्रशस्तो मनःसंकल्प इति ॥६८३॥

आज्ञा आदेशमन्तरेण नीत्वा वर्त्तनं। निर्देशः आदेशो वचनस्यानन्यथा करणं। प्रमाणं सर्वत्र प्रमाणीकरणं। कीर्त्तिः ख्यातिस्तस्या वर्णनं प्रशंसनं। प्रभावनं प्रकाशनं। गुणाः शास्त्रज्ञातृत्वादयोऽर्थः प्रयोजनं, आज्ञां मम सर्वोऽपि करोतु निदेशं मम सर्वोऽपि करोतु प्रमाणीभूतं मां सर्वोऽपि करोतु मम कीर्त्तिवर्णनं सर्वोऽपि

आचारवृत्ति—पुत्र, कलत्र आदि, अथवा शिष्य, सामान्य साधु व श्रावक आदि परिवार कहलाते हैं। हाथी, घोड़े, द्रव्य आदि का वैभव ऋद्धि है,। किसी कार्य आदि में आगे करना सत्कार है, अर्चा करना पूजन है, भोजन आदि अशन है और सुगन्ध जल आदि पान हैं। इनके लिए कायोत्सर्ग करना अप्रशस्त है। उकेरे हुए पर्वत आदि के प्रदेश को लयन—लेनी कहते हैं, पलंग या गद्दे आदि शयन हैं, वेत्रासन—मोढ़ा, सिंहासन, कुर्सी आदि आसन हैं। भक्ति से सहित लोग भक्त हैं अथवा अपनी भक्ति होना भक्त है। सामर्थ्य को प्राण कहते हैं अथवा दश प्रकार के प्राण होते हैं, मैथुन की इच्छा काम है, द्रव्य आदि का प्रयोजन अर्थ कहलाता है। तात्पर्य यह है कि—

जो मुनि इन उपर्युक्त कारणों से कायोत्सर्ग करते हैं अर्थात् परिवार के निमित्त, विभूति के निमित्त, सत्कार व पूजा के लिए तथा भोजन पान के हेतु अथवा लयन-शयन-आसन के लिए तथा लोग मेरे भक्त हो जावें या मेरी भक्ति खूब होवे, मेरी ख्याति फैले, मेरे प्राण सामर्थ्य को लोग जानें, देव या मनुष्य मेरे प्राणों के रक्षक होवें, इन हेतुओं से जो कायोत्सर्ग करते हैं तथा कामहेतु और अर्थहेतु जो कायोत्सर्ग है वह सब कायोत्सर्ग अप्रशस्त मन का परिणाम है ऐसा समझना।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

आदेश के बिना आज्ञा लेकर वर्तन करें वह आज्ञा है। वचन को अन्यथा न करें अर्थात् कहे हुए वचन के अनुसार ही लोग प्रवृत्ति करें सो आदेश है। सभी स्थानों में प्रमाणभूत स्वीकार करें सो प्रमाणता है। कीर्ति—ख्याति से प्रशंसा होवे, प्रभावना होवे, शास्त्र के जानने आदि रूप गुण प्रगट होवें। प्रयोजन को अर्थ कहते हैं—सो हमारा प्रयोजन सिद्ध होवे। तात्पर्य यह है कि सभी लोग मेरी आज्ञा पालन करें, सभी लोग मेरे आदेश के अनुसार प्रवृत्ति करें, सभी मुझे प्रमाणीभूत स्वीकार करें, सभी लोग मेरी प्रशंसा करें, सभी लोग मेरी प्रभावना

करोतु, मां प्रभावयन्तु सर्वेऽपि मदीयान् गुणान् सर्वेऽपि विस्तारयन्त्वित्यर्थं कायोत्सर्गेण ध्यानमिदमप्रशस्तमेवंविधो मनःसंकल्पोऽविश्वस्तोऽविश्वसनीयो न चिन्तनीयोऽप्रशस्तो यत इति ॥६८४॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिमुपसंहरन्नाह—

काउस्सग्गणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
संजमतवड्ढियाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥६८५॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन, संयमतपोवृद्धिमिच्छतां निर्ग्रन्थानां महर्षीणामिति, नात्र पौनरुक्त्यमाशंकनीयं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहणात्सूत्रवार्तिकस्वरूपेण कथनाच्चेति ॥६८५॥

षडावश्यकचूलिकामाह—

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति ॥६८६॥

आवश्यकानां फलमाह—अनया गाथया सर्वैरावश्यकैर्निर्युक्तः सम्पूर्णैरस्खलितैः समताद्यावश्य-

---

करें, सभी लोग मेरे गुणों का विस्तार करें, इन प्रयोजनों से जो कायोत्सर्ग करते हैं उनका यह सब ध्यान अप्रशस्त कहलाता है। इस प्रकार का मनःसंकल्प अविश्वस्त है अर्थात् ये सब चिन्तवन अप्रशस्त हैं ऐसा समझना चाहिए।

कायोत्सर्ग निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संयम, तप और ऋद्धि के इच्छुक, निर्ग्रंथ महर्षियों के लिए मैंने संक्षेप से यह कायोत्सर्ग निर्युक्ति कही है ॥६८५॥

आचारवृत्ति—संयम और तप की वृद्धि की इच्छा रखनेवाले निर्ग्रंथ महर्षियों की कायोत्सर्ग निर्युक्ति मैंने संक्षेप से कही है। यहाँ पर पुनरुक्त दोष नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यों का संग्रह किया गया है, तथा सूत्र और वार्तिक के स्वरूप से कथन किया गया है। अर्थात् जैसे सूत्र को पुनः वार्तिक के द्वारा स्पष्ट किया जाता है उसमें पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता है उसी प्रकार से यहाँ द्रव्यार्थिक शिष्यों के लिए संक्षिप्त वर्णन किया गया है पुनः पर्यायार्थिक शिष्यों के लिए उसी के भेद-प्रभेदों से विशेष वर्णन भी किया गया है। ऐसा समझना।

अब छह आवश्यकों की चूलिका का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—सर्व आवश्यकों से परिपूर्ण हुए मुनि नियम से सिद्ध हो जाते हैं ऐसा जानना। जो परिपूर्ण रूप नहीं करते हैं वे नियम से स्वर्गादि में आवास करते हैं ॥६८६॥

आचारवृत्ति—इस गाथा के द्वारा आवश्यक क्रियाओं का फल कह रहे हैं—जो सम्पूर्ण—अस्खलित रूप से समता आदि छहों आवश्यकों से परिणत हो चुके हैं वे निश्चय से सिद्ध हैं। अर्थात् यहाँ भावी में वर्तमान का उपचार—उपचार है क्योंकि वे मुनि अंतर्मुहूर्त के ऊपर सिद्ध हो जाते हैं। अथवा सिद्ध ही सर्व आवश्यकों से युक्त हैं—सम्पूर्ण हैं,

कैरुद्युक्त: परिणतो नियमात् निश्चयेन सिद्ध इति भवति ज्ञातव्यो [1]भाविनि वर्त्तमानवहुप्रचारोऽन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं सिद्धो भवति, अथवा सिद्ध एवं सर्वावश्यकैर्युक्त: सम्पूर्णो नान्य इति, अथ पुन: शेपात् स्तोकात् निर्गतानि नि:शेपाणि[2] न स्तोकरहितानि सावशेपाणि न सम्पूर्णानि करोत्यावश्यकानि तदा तस्य नियमान्निश्चयात् आवासका:[3] स्वर्गाद्यावासा भवन्ति तेनैव भवेन न मोक्ष: स्यादिति यदि सविशेपान्नियमात्करोति तदा तु सिद्ध: कर्मक्षयसमर्थ: स्यात्, अथ निर्विशेपान्नियमाच्छैथिल्यभावेन करोति तदा तस्य यतेर्नियमा: समतादिक्रिया आवासयन्ति प्रच्छादयन्तीति आवासका: प्रच्छादका: नियमाद्भवन्तीत्यर्थ:। अथ वा संसारे आवासयन्ति स्थापयन्तीत्यर्थ: ॥६८६॥

अथ वाऽऽवासकानामयमर्थं इत्याह—

आवासयं तु आवसएसु सव्वेसु अपरिहीणेसु।
मणवयणकायगुत्तिंदियस्स आवासया होंति ॥६८७॥

मनोवचनकायैर्गुप्तानीद्रियाणि यस्यासौ मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्तस्य मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्य सर्वेष्वावश्यकेष्वपरिहीणेष्वावसनमवस्थानं यत्तेन आवश्यका: साधोर्भवंति परमार्थतोऽन्ये पुनरावासका: कर्मा-

---

अन्य कोई नहीं। पुन: जो नि:शेप आवश्यकों को नहीं करते हैं वे निश्चय से स्वर्ग आदि में ही आवास करनेवाले हो जाते हैं, उसी भव से उन्हें मोक्ष नहीं हो पाता है ऐसा अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि—

यदि सविशेषरूप से आवश्यक करते हैं तब तो ये सिद्ध अर्थात् कर्मों के क्षय में समर्थ हो जाते हैं और यदि निर्विशेष—शिथिलभाव से करते हैं तो उस यति के वे नियम—सामायिक आदि आवश्यक क्रियाएँ उसे आवासित—प्रच्छादित कर देते हैं अर्थात् वे कर्मों से आत्मा को ढक लेते हैं, सर्वथा कर्म निर्जीर्ण नहीं हो पाते हैं। अथवा वे शिथिलभाव—अतीचार आदि सहित आवश्यक उनका संसार में आवास कराते हैं अर्थात् कुछ दिन संसार में रोके रखते हैं।

भावार्थ—जो मुनि इन आवश्यक क्रियाओं को निरतिचार करते हुए पुन: उन रूप परिणत हो जाते हैं—निश्चय आवश्यक क्रिया रूप हो जाते हैं वे निश्चय आवश्यक क्रियामय कहलाते हैं। वे अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। तथा जो मुनि इनको करते हुए भी अतीचारों से नहीं वच पाते हैं वे इनके प्रभाव से कुछ काल तक स्वर्गों व मनुष्यलोक के सुखों को प्राप्त करके पुन: परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं, ऐसा समझना।

अथवा आवासकों का यह अर्थ है, सो ही वताते हैं—

गाथार्थ—हीनता रहित सभी आवश्यकों में जो आवास करना है वह ही मन-वचन-काय से इन्द्रियों को वश करनेवाले के आवश्यक होते हैं ॥६८७॥

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय से जिसकी इन्द्रियाँ गुप्त हैं—वशीभूत हैं वह मनवचन-काय गुप्तेंद्रिय अर्थात् त्रिकरण जितेन्द्रिय कहलाता है। उसका जो न्यूनता रहित सम्पूर्ण आवश्यकों में अवस्थान है—रहना है उसी हेतु से साधु के परमार्थ से आवश्यक होते हैं, किन्तु अन्य जो

---

१ क भाविनि भूतवदुपचार:। अन्त°। २ क न सम्पूर्णानि। ३ क °कात् स्वर्गादौ निवासो भवति

गमहेतव एवेति, अथ वा आवासयन्तु इति प्रश्नवचनं, आवश्यकानि सम्पूर्णानि कथंभूतस्य पुरुषस्य भवन्तीति प्रश्ने तत आह—सर्वेषु चापरिहीणेषु मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियास्यावश्यकानि भवन्तीति निर्देशः कृत इति ॥६८७॥

आवश्यककरणविधानमाह—

तियरण सव्वविसुद्धो दव्वे खेत्ते यथुत्तकालह्मि ।
मोणेणव्वाखित्तो कुज्जा आवासया णिच्चं ॥६८८॥

त्रिकरणैर्मनोवचनकायैः सर्वथा शुद्धो द्रव्यविषये क्षेत्रविषये यथोक्तकाले आवश्यकानि नित्यं मौनेनाव्याक्षिप्तः सन् कुर्याद्यतिरिति ॥६८८॥

अथासिकानिषिद्यकयोः किंलक्षणमित्याशंकायामाह—

जो होदि णिसीदप्पा णिसीहिया तस्स भावदो होदि ।
अणिसिद्धस्स णिसीहियसद्दो हवदि केवलं तस्स ॥६८९॥

यो भवति निसितो बद्ध आत्मपरिणामो येनासौ निसितात्मा निगृहीतेन्द्रियकषायचित्तादिपरिणा-

---

हैं वे आवासक अर्थात् कर्मागमन के हेतु ही हैं। अर्थात् न्यून आवश्यकों से कर्मों का आश्रव होता है—पूर्ण निर्जरा नहीं हो पाती है। अथवा 'आवासयंतु' यह प्रश्नवचन है। वह इस तरह है कि—

ये आवश्यक सम्पूर्ण कैसे पुरुष के होते हैं?

जो सम्पूर्ण रूप से न्यूनता रहित हैं, जो मनवचनकाय से इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं उनके ही ये आवश्यक परिपूर्ण होते हैं ऐसा निर्देश है। अथवा जिसने परिपूर्ण आवश्यकों का पालन किया है उस साधु के ही मन-वचन-कायपूर्वक इन्द्रियाँ वशीभूत हो पाती हैं।

आवश्यक करने की विधि बताते हैं—

गाथार्थ—मन-वचन-काय से सर्वविशुद्ध हो द्रव्य, क्षेत्र में और आगमकथित काल में मौनपूर्वक निराकुलचित्त होकर नित्य ही आवश्यकों को करे ॥६८८॥

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय से सर्वथा शुद्ध हुए मुनि द्रव्य के विषय में, क्षेत्र के विषय में तथा आगम में कहे गए काल में निराकुलचित्त होकर नित्य ही मौनपूर्वक आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करें।

अब आसिका और निषिद्यका का क्या लक्षण है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो नियमित आत्मा है उसके भाव से निषिद्यका होती है। जो अनियंत्रित है उसके निषिद्यका शब्द मात्र होता है ॥६८९॥

आचारवृत्ति—जिसने अपनी आत्मा के परिणाम को बांधा हुआ है वह निसितात्मा है अर्थात् इन्द्रिय, कषाय और चित्त आदि परिणाम का निग्रह किया हुआ है। अथवा निषिद्धात्मा—सर्वथा जिनकी नियमित—नियंत्रित मति है ऐसे मुनि निषिद्धात्मा हैं। ऐसे मुनि

मोऽसा नासिताऽत्माऽथ वा निषिद्धात्मा सर्वथा नियमितमतिस्तस्य भावतो निषिद्यका भवति। [1]अनिषिद्धस्य स्वेच्छाप्रवृत्तस्यानिषिद्धात्मनश्चलचित्तस्य कषायादिवशवर्तिनो निषिद्यकाशब्दो भवति केवलं शब्दमात्रकरणं तस्येति ॥६८६॥

आसिकार्थमाह—

आसाए विप्पमुक्कस्स आसिया होदि भावदो।
आसाए अविप्पमुक्कस्स सद्दो हवदि केवलं ॥६९०॥

आशया कांक्षया विविधप्रकारेण मुक्तस्य आसिका भवति भावतः परमार्थतः, आशया पुनरविप्रमुक्तस्यासिकाकरणं शब्दो भवति केवलं, किमर्थमासिकानिषिद्यकयोरत्र निरूपणमिति चेन्न त्रयोदशकरण-

---

के भाव से निषिद्यका होती है। किन्तु जो अनिषिद्ध हैं—स्वेच्छा से प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जिनका चित्त चंचल है अर्थात् जो कषाय के वशीभूत हो रहे हैं उनके निषिद्यका शब्द केवल शब्दमात्र ही है।

आसिका का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—आशा से रहित मुनि के भाव से आसिका होती है किन्तु आशा से सहित के शब्दमात्र होती है ॥६९०॥

आचारवृत्ति—कांक्षा से जो विविध प्रकार से मुक्त हैं—छूट चुके हैं उनके परमार्थ से आसिका होती है। किन्तु जो आशा से मुक्त नहीं हुए हैं उनके आसिका करना केवल शब्द-मात्र ही है।

यहाँ पर आसिका और निषिद्यका का निरूपण किसलिए किया है?

तेरह प्रकार के करण में इनको लिया गया है, इसलिए यहाँ पर इनका निरूपण करना जरूरी था। जिस प्रकार से यहाँ पर पंचनमस्कार का निरूपण किया गया है और छह आवश्यक क्रियाओं का निरूपण किया गया है उसी प्रकार से यहाँ पर इन दोनों का भी अधिकार है इसलिए नाम के स्थान में इनका निरूपण किया है।

विशेषार्थ—करण शब्द से तेरह प्रकार की क्रियाएँ ली जाती हैं। पाँच परमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रिया तथा असही और निसही ये तेरह प्रकार हैं। इस अध्याय में पाँचों परमेष्ठी का वर्णन किया है। छह आवश्यक क्रियाओं की तो प्रमुखता है ही अतः इसी अधिकार में आसिका और निषिद्यका का वर्णन भी आवश्यक ही था। यहाँ पर दो गाथाओं में भाव निषिद्यका और भावआसिका की सार्थकता बतलायी है। और शब्द बोलना केवल शब्द-मात्र है ऐसा कहा है किन्तु शब्दोच्चारण की विधि नहीं बतलाई है जोकि अन्यत्र ग्रन्थों में कही गई हैं। अनगार धर्मामृत में असही और निसही का विवेचन इस प्रकार से है—

वसत्यादौ विशेत्तत्स्थं भूतादिं निसहीगिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा ॥१३२॥ अनगार. अ० ८, पृ० ६२५-२६

---

१ क अनिश्चितस्य।

मध्ये पठितत्वात्, यथाऽत्र पंचनमस्कारनिरूपणं षडावश्यकानां च निरूपणं कृतमेवमनयोरप्यधिकारात् भवतीति नामस्थाने निरूपणमनयोरिति ॥६९०॥

चूलिकामुपसंहरन्नाह—

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ॥६९१॥

निर्युक्तेर्निर्युक्तिरावश्यकचूलिकावश्यकनिर्युक्तिरेषा[1] कथिता मया समासेन संक्षेपेणार्थविस्तार-प्रसंगोऽनियोगादाचारांगाद्भवति ज्ञातव्य इति ॥६९१॥

आवश्यकनिर्युक्ति सचूलिकामुपसंहरन्नाह—

अर्थ—वसतिका, जिनमंदिर आदि में प्रवेश करते समय वहाँ रहनेवाले भूत, यक्ष आदि को 'निसही' शब्द द्वारा पूछकर प्रवेश करना चाहिए अर्थात् वसतिका आदि में प्रवेश करते समय 'निसही' शब्द बोलकर प्रवेश करना चाहिए। तथा वहाँ से बाहर निकलते समय 'असही' शब्द द्वारा पूछकर निकलना चाहिए अर्थात् निकलते समय 'असही' का उच्चारण करके निकलना चाहिए। पुनः कहते हैं—

आचारसार में भी ऐसा ही कथन है। यथा—

आत्मन्यात्मासितो येन त्यक्त्वा वाऽऽशास्य भावतः ।
निसह्यसह्यौ स्तोऽन्यस्य तदुच्चारणमात्रकं ॥१३३॥

अर्थ—जिसने अपनी आत्मा को आत्मा में स्थापित किया है और जिसने लोक आदि की आशा—अभिलाषा को छोड़ दिया है उसके भाव से अर्थात् निश्चयनय से निसही होते हैं। अन्य जीव के शब्दोच्चारण मात्र ही हैं।

निष्कर्ष यह निकलता है कि ये शब्द तो बोलने ही चाहिए। उनके साथ-साथ भाव आसिका, भाव निषिद्यका के अर्थों का भी ध्यान रखना चाहिए। शब्दोच्चारण तो आवश्यक है ही। यदि वह भावसहित है तो सम्पूर्ण फल को देने वाला है, भावशून्य मात्र शब्द किंचित् ही फलदायक हैं ऐसा समझना। शब्द रूप निसही असही व्यवहार धर्म है और भावरूप निसही असही निश्चय धर्म है।

चूलिका का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह निर्युक्ति की निर्युक्ति कही है और विस्तार रूप से अनि-योग ग्रन्थों से जानना चाहिए ॥६९१॥

आचारवृत्ति—मैंने संक्षेप से यह निर्युक्ति की निर्युक्ति अर्थात् आवश्यक चूलिका की आवश्यक निर्युक्ति कही है। यदि आपको विस्तार से अर्थ जानना है तो अनियोग—आचारांग से जानना चाहिए।

अब चूलिका सहित आवश्यक निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

१ क 'क्तिन्याये वा एषा।

आवासयणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा।
जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्पा ॥६९२॥

आवश्यकनिर्युक्तिरेवंप्रकारेण कथिता समासतः संक्षेपतो विधिना, तां य उपयुंक्ते समाचरति नित्यं सर्वकालं स सिद्धिं याति विशुद्धात्मा सर्वकर्मनिर्मुक्त इति ॥६९२॥

गाथार्थ—इस तरह संक्षेप से मैंने विधिवत् आवश्यक निर्युक्ति कही है। जो नित्य ही इनका प्रयोग करता है वह विशुद्ध आत्मा सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥६९२॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार संक्षेप से मैंने विधिपूर्वक आवश्यक निर्युक्ति कही है जो मुनि सर्वकाल इस रूप आचरण करते हैं वे विशुद्ध आत्मा—सर्वकर्म से मुक्त होकर सिद्धपद को प्राप्त कर लेते हैं।

विशेषार्थ—अनगार धर्मामृत के आठवें अध्याय में छह आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करके नवम अध्याय में नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का अथवा इन आवश्यक क्रियाओं के प्रयोग का वर्णन बहुत ही सरल ढंग से किया है। यथा—

अर्धरात्रि के दो घड़ी अनन्तर से अपर रात्रिक स्वाध्याय का काल हो जाता है। उस समय पहले 'अपररात्रिक' स्वाध्याय करके पुनः सूर्योदय के दो घड़ी शेष रह जाने पर स्वाध्याय समाप्त कर 'रात्रिक प्रतिक्रमण' करके रात्रियोग समाप्त कर देवे। फिर सूर्योदय के समय से दो घड़ी तक 'देववन्दना' अर्थात् सामायिक करके गुरुवन्दना' करे। पुनः 'पौर्वाह्णिक' स्वाध्याय प्रारम्भ करके मध्याह्न के दो घड़ी शेष रहने पर स्वाध्याय समाप्त कर 'देववन्दना' करे। मध्याह्न समय देववन्दना समाप्त कर 'गुरुवन्दना' करके 'आहार हेतु 'जावे। यदि उपवास हो तो उस समय जाप्य या आराधना का चिन्तवन करे। गोचरी से आकर गोचार प्रतिक्रमण करके व प्रत्याख्यान ग्रहण करके पुनः 'अपराह्णिक' स्वाध्याय प्रारम्भ कर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले समाप्त कर 'दैवसिक' प्रतिक्रमण करे। पुनः गुरुवन्दना करके रात्रियोग ग्रहण करे तथा सूर्यास्त के अनन्तर 'देववन्दना' सामायिक करे। रात्रि के दो घड़ी व्यतीत हो जाने पर 'पूर्व रात्रिक' स्वाध्याय प्रारम्भ करके अर्धरात्रि के दो घड़ी पहले ही स्वाध्याय समाप्त करके शयन करे। यह अहोरात्र सम्बन्धी क्रियाएँ हुईं।

इसी तरह नैमित्तिक क्रियाओं में अष्टमी, चतुर्दशी की क्रिया, चौदश अमावस या पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण, श्रुतपंचमी को श्रुतपंचमी क्रिया, वीर निर्वाण समय वीर निर्वाण क्रिया इत्यादि क्रियाएँ करे।

किन-किन क्रियाओं में किन-किन भक्तियों का प्रयोग होता है, सो देखिए—

स्वाध्याय के प्रारम्भ में लघु श्रुत, लघु आचार्य भक्ति तथा समाप्ति के समय लघु

---

१. मध्याह्न देववन्दना के अनन्तर ही आहार का विधान इसी मूलाचार ग्रन्थ में पंचाचार अधिकार के अशनसमिति के लक्षण की गाथा ३१८ की टीका में भी स्पष्टतया उल्लेख है। यथा—"मध्याह्नदेववन्दनां कृत्वा......भिक्षावेलायां ज्ञात्वा प्रशांते धूममुशलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः।"
[अधिकार ५, पृष्ठ २६२]

श्रुतभक्ति होती है। देववन्दना में चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति होती है। आचार्यवन्दना में लघु सिद्ध आचार्यभक्ति। यदि आचार्य सिद्धांतविद् हैं तो इनके मध्य लघु श्रुतभक्ति होती है। दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विशति तीर्थंकर ऐसी चार भक्ति हैं तथा रात्रियोग ग्रहण, मोचन में योग भक्ति होती है। आहार-ग्रहण के समय प्रत्याख्यान निष्ठापन में लघु सिद्धभक्ति तथा आहार के अनन्तर प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन में लघु सिद्धभक्ति होती है। पुनः आचार्य के समीप आकर लघु सिद्ध व योगभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करके लघु आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य वन्दना का विधान है।

नैमित्तिक क्रिया में चतुर्दशी के दिन त्रिकालदेववन्दना में चैत्यभक्ति के अनन्तर श्रुत भक्ति करके पंचगुरु भक्ति की जाती है अथवा सिद्ध, चैत्य, श्रुत, पंचगुरु और शान्ति ये पाँच भक्तियाँ हैं। अष्टमी को सिद्ध, श्रुत, सालोचना चारित्र व शान्ति भक्ति हैं। सिद्ध प्रतिमा की वन्दना में सिद्धभक्ति व जिन-प्रतिमा की वन्दना में सिद्ध, चारित्र, चैत्य, पंचगुरु व शान्ति भक्ति करे। पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियाकलाप व धर्मध्यानदीपक में प्रकाशित है तदनुसार पूर्ण विधि करे। वही प्रतिक्रमण चातुर्मासिक व सांवत्सरिक में भी पढ़ा जाता है। श्रुतपंचमी में बृहत् सिद्ध, श्रुतभक्ति से श्रुतस्कंध की स्थापना करके, बृहत् वाचना करके श्रुत, आचार्य भक्तिपूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके पश्चात् श्रुतभक्ति और शान्तिभक्ति करके स्वाध्याय समाप्त करे। नन्दीश्वरपर्व क्रिया में सिद्ध, नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्ति भक्ति करे तथा अभिषेक वन्दना में सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शान्ति भक्ति पढ़े।

आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के मध्याह्न में मंगलगोचर मध्याह्न देववन्दना करते समय, सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु व शान्ति भक्ति करे। मंगलगोचर के प्रत्याख्यान ग्रहण में बृहत् सिद्ध भक्ति, योग भक्ति करके प्रत्याख्यान लेकर बृहत् आचार्य भक्ति से आचार्यवन्दना कर शान्ति भक्ति पढ़े। यही क्रिया कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को भी होती है। यह क्रिया वर्षा योग के ग्रहण के प्रारम्भ और अन्त में कही गई है। पुनः आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी के पूर्व रात्रि में वर्षा योग प्रतिष्ठापन क्रिया में—सिद्धभक्ति, योगभक्ति करके लघु चैत्यभक्ति के द्वारा चारों दिशाओं में प्रदक्षिणा विधि करके, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति करे। यही क्रिया कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षा योग निष्ठापना में होती है। पुनः वर्षा योग निष्ठापना के अनन्तर वीर निर्वाण वेला में सिद्ध, निर्वाण पंचगुरु और शान्ति भक्ति करे।

जिनवर के पाँचों कल्याणकों में क्रमशः गर्भ-जन्म में सिद्ध, चारित्र, शान्ति भक्ति हैं। तप कल्याण में सिद्ध, चारित्र, योग, शान्ति भक्ति तथा ज्ञानकल्याण में सिद्ध, चारित्र, योग, श्रुत और शान्ति भक्ति हैं। निर्वाणकल्याण में शान्ति भक्ति के पूर्व निर्वाणभक्ति और पढ़ना चाहिए। यदि प्रतिमायोगधारी योगी दीक्षा में छोटे भी हों तो भी उनकी वन्दना करनी चाहिए। उसमें सिद्ध, योग और शान्ति भक्ति करना चाहिए। केशलोंचके प्रारम्भ में लघु सिद्ध और योगि भक्ति करें। अनन्तर केशलोंच समाप्ति पर लघु सिद्धभक्ति करनी होती है।

सामान्य मुनि की समाधि होने पर उनके शरीर की क्रिया और निषद्या क्रिया में

सिद्ध, योगि, शान्ति भक्ति करना चाहिए। आचार्य समाधि पर सिद्ध, योगि, आचार्य और शांति भक्ति करनी होती है। इस तरह संक्षेप से कहा है।

इनका और भी विशेष विवरण आचारसार, मूलाचार प्रदीप, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

इन भक्तियों को यथास्थान करते समय कृतिकर्म विधि की जाती है। इसमें "अड्ढाइज्जदीव दोसमुद्देसु" आदि पाठ सामायिक दण्डक कहलाता है। 'थोस्सामि' पाठ चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव है। मध्य में कायोत्सर्ग होता ही है, तथा 'जयति भगवान् हेमांभोज' इत्यादि चैत्य भक्ति आदि के पाठ वन्दना कहलाते हैं। अतः देववन्दना व गुरुवन्दना में सामायिक, स्तव, वन्दना और कायोत्सर्ग ये चार आवश्यक सम्मिलित हो जाते हैं। तथा कायोत्सर्ग अन्य-अन्य स्थानों में पृथक् से भी किये जाते हैं। प्रतिक्रमण में भी कृतिकर्म में सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग और चतुर्विंशति स्तव हैं। वीर भक्ति आदि के पाठ वन्दना रूप हैं। अतः इसमें भी ये सब गर्भित हो जाते हैं। आहार के अनन्तर प्रत्याख्यान ग्रहण किया ही जाता है तथा अन्य भी वस्तुओं के त्याग करने में व उपवास आदि करने में प्रत्याख्यान आवश्यक हो जाता है। इस तरह ये छहों आवश्यक प्रतिदिन किए जाते हैं।

कृतिकर्म प्रयोग में चार प्रकार की मुद्रायें मानी गयी हैं—यथा जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्ति-मुद्रा (अनगार धर्मामृत, अध्याय ८, पृष्ठ ६०३)

दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर दोनों भुजाओं को लटकाकर कायोत्सर्ग से खड़े होना जिनमुद्रा है। बैठकर पद्मासन, अर्ध पर्यंकासन या पर्यंकासन से बायें हाथ की हथेली पर दायें हाथ की हथेली रखना योगमुद्रा है। मुकुलित कमल के समान अंजुली जोड़ना वन्दना-मुद्रा है और दोनों हाथों की अंगुलियों को मिलाकर जोड़ना मुक्ताशुक्तिमुद्रा है।

सामायिक दण्डक और थोस्सामि इनके पाठ में 'मुक्ताशुक्ति' मुद्रा का प्रयोग होता है। 'जयति' इत्यादि भक्ति बोलते हुए वन्दना करते समय 'वन्दना मुद्रा' होती है। खड़े होकर कायोत्सर्ग करने में 'जिनमुद्रा' एवं बैठकर कायोत्सर्ग करने में 'योगमुद्रा' होती है।

मुनि और आर्यिका देव या गुरु को नमस्कार करते समय पंचांग प्रणाम गवासन से बैठकर करते हैं।

कृतिकर्म प्रयोग विधि—'अथ देव-वन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तव—समेतं चैत्यभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहं।'

(इस प्रतिज्ञा को करके खड़े होकर पंचांग नमस्कार करे। पुनः खड़े होकर तीन आवर्त, एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर सामायिक दण्डक पढ़े।)

सामायिक दण्डक स्तव—

णमो अरहंताणं. णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

चत्तारिमंगलं—अरहंतमंगलं सिद्धमंगलं साहूमंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मोमंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंतसरणं पव्वज्जामि,सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु, जाव अरहंताणं भयवंताणं आदियराणं तित्थयराणं जिणाणं जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं बुद्धाणं परिणिव्वुदाणं अंतयडाणं पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मणायगाणं, धम्मवर-चाउरंग-चक्कवट्टीणं देवाहिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं सदा करेमि, किंरियम्मं।

करेमि भन्ते! सामाइयं सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा कायेण ण करेमि ण कारेमि कीरंतंपि ण समणुमणामि। तस्स भंत्ते! अइचारं पच्चक्खामि, णिंदामि गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि ताव कालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके जिनमुद्रा या योगमुद्रा से सत्ताईस उच्छ्वास में नव बार णमोकार मन्त्र जपकर पुनः पंचांग नमस्कार करे। अनन्तर खड़े होकर तीन आवर्त एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर 'थोस्मामि' पढ़े।)

थोस्सामिस्तव—

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेवि केवलिणो ॥२॥

उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥

सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥

कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥५॥

एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥

कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥

चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपयासंता।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

इति श्रीवट्टकेराचार्यवर्यप्रणीतमूलाचारस्य वसुनंद्याचार्यविरचितायाम्
आचारवृत्तावावश्यकनिर्युक्तिनामकः सप्तमः परिच्छेदः ॥७॥

(पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके वन्दना मुद्रा से हाथ जोड़कर "जयति भगवान् हेमांभोज" इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़े ।)

इस तरह इस कृतिकर्म में प्रतिज्ञा के अनन्तर तथा कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार पंचांग नमस्कार करने से दो अवनति—प्रणाम हो जाते हैं। सामायिक स्तव के आदि-अन्त में तथा 'थोस्सामिस्तव' के आदि-अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं।

लघु भक्तियों के पाठ में कृतिकर्म में लघु सामायिकस्तव और थोस्सामिस्तव भी होता है। यथा—

अथ पौर्वाह्णिकस्वाध्याय-प्रतिष्ठापन-क्रियायां...श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(पूर्ववत् पंचांग नमस्कार करके, तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। पुनः सामायिक दण्डक पढ़े।)

सामायिकस्तव—णमो अरंहताणं, णमोसिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरंहत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंत-सरणं पव्वज्जामि, सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, ताव कालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास में ९ बार णमोकार मन्त्र जपकर पुनः पंचांग नमस्कार करे। अनन्तर तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'थोस्सामि' पढ़े।)

पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'श्रुतमपि जिनवरविहितं' इत्यादि लघु श्रुत-भक्ति पढ़े। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिए।

यदि पुनः पुनः खड़े होकर क्रिया करने की शक्ति नहीं है तो बैठकर भी ये क्रियाएँ की जा सकती हैं।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्यवर्य प्रणीत मूलाचार की
श्री वसुनन्दि आचार्य विरचित आचारवृत्ति नामक टीका में
आवश्यक निर्युक्ति—नामक सातवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ।

मूलाचारस्य गाथानुक्रमणिका

नोट :—इस अनुक्रमणिका में प्रथम अंक अधिकार का द्वितीय अंक गाथा का और तृतीय अंक पृष्ठ का है। टिप्पणगत गाथाओं के परिचय के लिए द्वितीय अंक के स्थान पर (टि) लिखा गया है।

पारिभाषिक शब्द कोष

सूचना—प्रथम अंक गाथा का और दूसरा पृष्ठ का जानना चाहिए।

□□